जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के एक ऐसे विरल एवं विदग्ध रचनाकार हैं, जिन्होंने भाषा और साहित्य को अपनी मौलिकता, सहजता व दार्शनिकता से समृद्ध किया। हिन्दी के विराट आकाश में जैनेन्द्र कुमार का रचनात्मक आलोक तेज पुंज के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। उन्होंने प्रेमचन्द के समय में ही समानान्तर कथा-परम्परा का प्रखर प्रस्थान निर्मित किया। अभिव्यक्ति की अनेक इकाइयों के प्रचलित स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने कथ्य, विचार, संवेदना व संरचना के नवीन पथ प्रशस्त किए। परतन्त्रता और जड़ता के अनेकानेक सामयिक व सनातन प्रश्नों से संवाद करते हुए उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, ललित निबन्ध और चिन्तनपरक लेखन में युगान्तर किया। वस्तुतः जैनेन्द्र कुमार स्वयं एक कालजयी शब्द-साधना के प्रतीक बन चुके हैं। एक गूढ़ अर्थ में उनका साहित्य व्यक्ति व समाज की नई नैतिकता का उपनिषद है। उन्होंने धर्म, अध्यात्म, अस्तित्व, जीवन-मूल्य तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि को अपनी क्रान्तिदर्शिता से पुनः व्याख्यायित किया। पराधीन भारत के क्रान्तिकारी अहिंसावादी से स्वतन्त्र भारत के मनीषी रचनाकार तक की उनकी यात्रा जीवन और साहित्य में अनेक प्रतिमान स्थापित करती है।

'जैनेन्द्र रचनावली' भारतीय ज्ञानपीठ का एक महत्त्वाकांक्षी आयोजन है। रचनावली के बारह खण्डों में जैनेन्द्र कुमार के विपुल लेखन को संयोजित किया गया है। प्रथम तीन खण्डों में उनके समस्त उपन्यास संग्रहीत हैं। खण्ड चार और पाँच में जैनेन्द्र कुमार के दस कहानी संग्रहों में प्रकाशित समग्र कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं। खण्ड छः, सात, आठ, नौ व दस में सैद्धान्तिक, वैचारिक व दार्शनिक निबन्ध संकलित हैं। खण्ड ग्यारह में ललित निबन्ध तथा संस्मरण और खण्ड बारह में साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक निबन्ध उपस्थित हैं। जैनेन्द्र रचनावली के बारह खण्डों के 8100 पृष्ठों में सर्जना का एक स्वायत्त संसार जगमगा रहा है। प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय।

ISBN 978-81-263-1490-4 (Set)
978-81-263-1484-3 (Vol. 11)
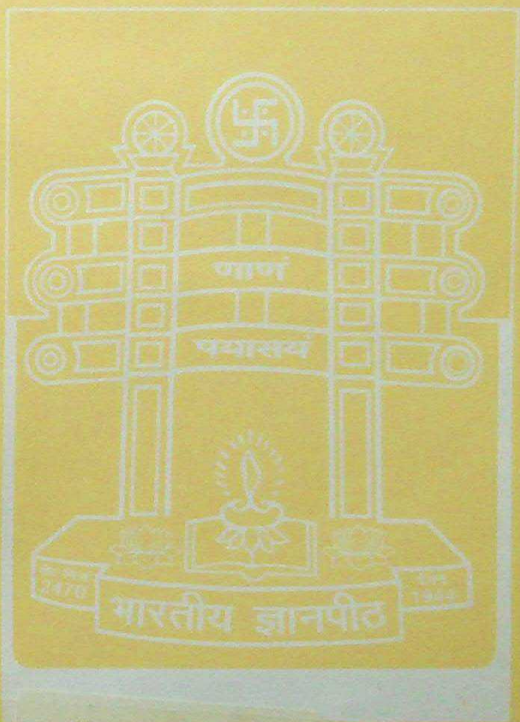
जैनेन्द्र रचनावली : खण्ड-11

(निबन्ध-संग्रह)

जैनेन्द्र रचनावली

खण्ड–11

जैनेन्द्र कुमार

सम्पादक

निर्मला जैन

सहयोग

प्रदीप कुमार
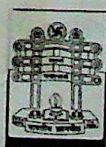
भारतीय ज्ञानपीठ

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 917

ग्रन्थमाला सम्पादक

रवीन्द्र कालिया

सह-सम्पादक

गुलाबचन्द्र जैन

ISBN : 978-81-263-1490-4 (Set)
: 978-81-263-1484-3 (Vol. 11)

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003
ई-मेल : *jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net*
वेब-साइट : *www.jnanpith.net*

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण-चित्र : राधेश्याम अग्रवाल
आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

पहला संस्करण : 2008
मूल्य : 750 रुपये (खंड : 11)
: 9000 रुपये (बारह खंडों का सेट)

JAINENDRA RACHNAVALI (Vol. 11)
(Essays)
by Jainendra Kumar
Edited by : Dr. Nirmala Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2008
Price : Rs. 750 (Vol. 11)
: Rs. 9000 (One set of Twelve Vols)

अनुक्रम

राष्ट्र और राज्य

प्रश्न और प्रश्न

कहानी : अनुभव और शिल्प

इतस्ततः

भाग : एक
प्रेम विवाह और व्यक्तित्व

भाग : दो
नग्नता और सभ्यता

भाग : तीन
श्मशान

भाग : चार

प्याले में तूफ़ान

भाग : पाँच

धर्म और विज्ञान

भाग : छह

पैसे का सत्य

भाग : सात
नवाब और आदर्श

राष्ट्र और राज्य

युद्ध के उपकरणों का निर्माण आज विज्ञान का सबसे महत्त्व का निर्माण है। क्या वह सब व्यर्थ है? नहीं, तो सार्थकता के लिए युद्ध को होना ही चाहिए। युद्ध की सम्भवता जुड़ी है आधार में राष्ट्र (राज्य) की सत्ता के साथ। विश्व में विज्ञान की अधुनातम उपलब्धियाँ भी रहें और उसकी व्यवस्था के मूल में राष्ट्र-राज्य सत्ता भी ज्यों-की-त्यों रहे तो युद्ध टल सकता है, कट नहीं सकता है। अणु शक्ति के उदय के बाद बड़े युद्ध की सम्भावना जड़-मूल से कटे, तभी मानव के लिए भवितव्यता शेष बचती है, अन्यथा प्रलय की भीषिका उसे उबरने न देगी।

उसी दृष्टि से राष्ट्र-राज्य पर प्रस्तुत लेख में कुछ विचार का प्रयत्न किया गया है। तत्काल के सन्दर्भ में, प्रकाशकों को आशा है कि, लेख उपयोगी हो सकेगा। इसलिए अलग पुस्तिका के रूप में वह यहाँ प्रस्तुत है।

जैनेन्द्रकुमार

1.1.65

एक

राज्य के बारे में आज सोचने की आवश्यकता है कि जीवन में उसकी जगह क्या हो? मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ राज्य बड़े होते गये हैं। पहले कोई विजेता फौज खड़ी करके बढ़ जाता था और काफी बड़ा इलाका अपने काबू में कर लेता था, लेकिन यह राज्य और साम्राज्य बहुत सवाल पैदा नहीं करता था। कारण साफ था कि वह ताकत की हुकूमत पर खड़ा है। उसके केन्द्र में एक आदमी होता था जिसका आतंक चलता था और उसको मानवोत्तर मान दिया जाता था। वहाँ से कुछ पीढ़ियों तक हुआ तो पैतृक उत्तराधिकार भी चल जाता था। अब केन्द्र में व्यक्ति नहीं है और माना जाता है कि तलवार की नंगी ताकत भी नहीं है। अब शासन प्रशासन है और हुकूमत व्यवस्था है। इस स्थिति तक आकर आवश्यक रूप में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि विकास के क्रम के साथ राज्य को अब किस ओर बढ़ना है।

इस समय हम राष्ट्र-राज्य तक आ गये हैं। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ देखा यह जा रहा है कि दुनिया छोटी बन रही है, देश अलग-अलग स्वायत्त नहीं रह सकते हैं। उनमें आवाजाही बढ़ रही है और आपसी लेन-देन द्रुत और सघन बन रहा है। राष्ट्रों के लिए अन्तरराष्ट्रीयता का प्रश्न प्रमुख हो गया है। हर स्वदेश के लिए विदेश नीति का प्रश्न सबसे प्रधान होता जा रहा है। इस आवश्यकता को देखते हुए पहले लीग ऑफ नेशन्स बनी थी, अब यूनाइटेड नेशन्स है। लेकिन इन अन्तरराष्ट्रीय प्रतीकों और संघों के बावजूद राष्ट्र-राज्यों की प्रभु सत्ता अखण्ड बनी रही है, और जैसे ये अन्तरराष्ट्रीय सभाएँ देशों के आपसी सम्बन्धों पर कुछ अधिक नियमन नहीं ला पाती हैं। देशों के पास आज के दिन अपने-अपने अणु-शस्त्र हैं और वे एक-दूसरे के खिलाफ काम आ सकते हैं। विश्व-विचार के हाथ में निर्णय नहीं है, उन अणु-शस्त्रों के काम आने- न आने के बारे में निर्णय राष्ट्र-सत्ताओं के पास है। संक्षेप में, और मूल में व्यावहारिक सत्ता राष्ट्र-राज्य में निहित है और युद्ध होगा कि न होगा, यह उनकी मति-गति पर निर्भर करता है।

विज्ञान की प्रगति के साथ शस्त्रास्त्र नये-नये किस्म के बन रहे हैं। मालूम होता है कि, क्या छोटे क्या बड़े, सभी देशों को उनकी जरूरत है। इस तरह उनके निर्माण का और वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार खड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे बड़ी मशीनें हों और उनका शिल्प-कौशल हो, वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अर्धविकसित या अविकसित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम-से-कम अर्थनीतिक प्रभाव के अधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एकत्रित रूप में सुख-सुविधा प्रदान करने से अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम आ रहा है। और जो अणु शक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपनों को जो साकार कर सकती थी, वह घातक बमों के बनाने के ही काम आ रही है। सोचना होगा कि मानव-जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फेर-फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बड़ा हुआ ज्ञान-विज्ञान हमें खतरे की ओर न ले जाए, बल्कि सुख और श्रेयस् की उपलब्धि की ओर बढ़ाए।

हमारी मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पाती गयी और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गयी। यह तो शुभ ही था। अमुक अपने को आज यदि भारतीय अनुभव करता है तो इससे वह व्यापक ही बनता है। भारतीय शब्द के सहारे मानो हम चालीस करोड़ आदमी आपस में आत्मीय और बन्धु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में बन्द और नितान्त मान ली जाती है, जब वह भौगोलिक और राजनीतिक रेखाओं से घिर जाती है, तो मानो स्वदेश की एकता के लिए विदेश की स्पर्धा अथवा शत्रुता का सहारा आवश्यक होंने लगता है। स्वदेश के बन्धुओं की आपसी मित्रता मानो विदेश के प्रति शत्रुता को सार्थक करने तक टिकती है, अन्यथा यह बन्धुता और मित्रता स्खलित होने लग जाती है। राष्ट्रीयता की जगह प्रान्तीयता और प्रादेशिकता उभरने लग जाती है। मिलाने-जुटानेवाली शक्ति तब केवल नकारात्मक रह जाती है और बिखरने-बिखराने वाली शक्ति ऊपर आ जाती है। तब देश अन्दरूनी प्रतिस्पर्धा से आक्रान्त होने लगता है, सरकार ढीली होती और अपने को सिर्फ कानून के डण्डे के जोर से बचाने को मजबूर होती है। लोक विश्वास की पूँजी उसके पास उतनी रह नहीं जाती है और जोरो-जब्र से उसे काम लेना होता है। नागरिक के विरोध में सैनिक शक्ति तुल आती है और तन्त्र, लोकतन्त्र की जगह मानो दण्ड तन्त्र बनने लग जाता है।

उस पद्धति से राज्य के पास रहनेवाली सैन्य शक्ति केवल देश-विदेश की सीमा की सुरक्षा के ही काम नहीं आती है, बल्कि खुद घर में उसके लिए काम

पैदा होने लग जाता है। सैन्य सत्ता को ऐसी परिस्थिति में बेहद मजबूत करने की आवश्यकता होती है। अव्वल तो पड़ोसी देशों के मुकाबले सैन्य बल किसी का उन्नीस रह जाए, इसी में संकट की सम्भावना देखी जाती है। फिर अगर आन्तरिक मामलों में उसके उपयोग की आवश्यकता होने लग जाए तब तो संकट दुगुना हो जाता है। इस प्रकार देश की अर्थ-रचना नागरिक से हटकर फौजी होने लग जाती है। एक सिविल लॉ हुआ करता है, दूसरा मार्शल लॉ। इसी तरह एक सिविल व्यवस्था होती है, दूसरी मार्शल व्यवस्था। मार्शल व्यवस्था में जनहित पीछे पड़ जाता है समझा जानेवाला राष्ट्र हित उसको ढँककर ऊपर आ जाता है। मानो नागरिक के ऊपर सैनिक आ बैठता है और श्रमिक को श्रम केवल इसलिए रह जाता है कि वह शासक और सैनिक को बहाल रखे। अनुत्पादक और व्यवस्थापक कामों का बोझ उत्पादक वर्गों पर बहुत अधिक पड़ने लग जाता है। करों से प्राप्त हुई राशि प्रभूत हो जाती है और इस बढ़ी-चढ़ी राशि के हाथ में सारा कर्म-व्यापार आ जाता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति का अभिक्रम घुटने लग जाता है और नीति तक की बागडोर शासन-सत्ता के हाथ में आ जाती है। इस व्यवस्था को चाहे तो ऊपर से जनतन्त्र कह सकते हैं लेकिन जन उसमें साधन से अधिक नहीं रहता। और चाहे सिंहासन पर राजा न हो, वह जकड़ा हुआ राजतन्त्र जैसा हो जाता है। राजा जन्म से ही नहीं होता, चुनाव से भी हो सकता है। बल्कि चुनाव से उसका रूप घोरतर तक हो सकता है।

इस समय राज्य का एक रूप तो निश्चित और स्पष्ट है। साम्यवादी राज्य सर्वहारा के नाम पर खुला अधिनायक राज्य है। वहाँ बस एक दल है और वह परिवेष्टित है। यद्यपि देखा जा रहा है कि व्यक्ति-पथ के नाम पर एक के बाद एक आदमी उस शक्ति के शीर्ष पर से गिर रहा है, लेकिन फिर भी नीचे-से -नीचे जानेवाली रचना ऐसी स्तूपाकार है कि शक्ति के शीर्ष पर दो का रहना नहीं बन सकता, एक ही का होना पड़ता है। साम्यवाद का यह प्रत्यक्ष रूप है, यद्यपि उसका एक शास्त्रीय परोक्ष रूप भी है। उस शास्त्रीय रूप में, जो सर्वथा परोक्ष बन गया है, कल्पना है कि राज्य रहेगा नहीं, असंगत होकर झर जाएगा। दूसरे शब्दों में, उसकी आवश्यकता समाज में समा जाएगी और व्यवस्था बाहरी किसी तन्त्र से नहीं चलेगी, बल्कि समाज में अन्तर्भूत प्रकृत नियमों के आधार पर चलेगी और वही समीचीन और पर्याप्त होगी। स्पष्टतः वह सर्वथा असैनिक व्यवस्था होगी, न वह किसी को चुनौती देगी, न किसी के टक्कर में आएगी। साम्यवादी शास्त्र का यह विधान चाहे व्यवहार में कितना भी झुठलाया जाता हो, अन्त में राज्य-विचार के लिए एक उपयोगी निर्देश देता है।

दूसरा प्रचलित रूप है लोकतन्त्र। दो ही तो पक्ष हैं आज, जिनमें दुनिया

बँटी मानी जाती है— अधिनायक तन्त्र और लोकतन्त्र। लोकतन्त्र का कोई एक मूलभूत प्रामाणिक शास्त्र नहीं है। यह तो एक उगती हुई व्यवस्था है जिसके विविध प्रयोग हैं। चुनाव की पद्धति यों तो अधिनायक व्यवस्थाओं में भी है किन्तु वहाँ राय अधिकांश निन्यानवे प्रतिशत से कम नहीं आती। एक प्रतिशत भी सम्भावना के लिए छोड़ा जा रहा है, नहीं तो अन्तर दशमलव एक प्रतिशत का रहा करता है। चुनाव की विविध विधियों से लोकतन्त्र के रूपों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर रहता है, किन्तु सब में चुने हुए अधिकार की अवधि हुआ करती है। अवधि के बाद पहले व्यक्ति को रखने या हटाने का अधिकार मतदाता के हाथ में आ रहता है।

यह है लोकतन्त्र। इसमें मत स्वतन्त्र है, इसलिए माना जा सकता है कि मतदाता स्वतन्त्र है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कुछ विवशताएँ हैं जो परिस्थिति में भर दी जाती हैं और मत स्वतन्त्र रहते हुए भी विवश हो जाता है। जो सुविधा है लोकतन्त्र में, और जो उसकी विशेषता मानी जाती है, वह यह कि बहुमत से शासन पर आनेवाले दल के मुकाबले एक विरोधी दल भी हुआ करता है। इस दूसरे विरोधी दल को अनिवार्य माना जाता है जनतन्त्र के लिए, और समझा जाता है कि उसकी उपस्थिति के कारण शासक दल मर्यादा में रहेगा और उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह जन-मन को राजी रखे, अन्यथा उस शासन को गिरना होगा और बहुमत अल्पमत में आ जाएगा।

सच यह है कि जन-प्रधान व्यवस्था से भी अन्त में आशा यही है, यद्यपि अभी तक वह शास्त्रबद्ध नहीं हो सकी है कि राज्य अन्त में जन-मन के पास पहुँच जाएगा और अलग लवाज़मे के रूप में उसकी आवश्यकता नहीं रह जाएगी। जनजीवन का यथावश्यक नियमन अन्तर्व्याप्त वृत्तियों के अनुसार सहज परस्परता में से होता जाएगा। ऐसे राज्य को सैन्य-संरक्षित रहने की आवश्यकता नहीं होगी।

अधिकांश लोकतन्त्रों में लोकरचना की जो धारणा आज अमल में आ रही है उसे समाजवादी माना जाता है। भारतीय काँग्रेस ने समाजवादी संरचना की घोषणा की है।

यहाँ स्वीकार करना चाहिए कि शब्दों का कुछ अजब हाल है। साम्यवादी देश सब मिलाकर अपने को समाजवादी कहते हैं। साम्यवाद के कट्टर विरोधी देश भी जाहिर करते हैं कि हम अपने यहाँ समाजवादी रचना चाहते हैं।

शब्दों के उपयोग की इस अवस्था में चर्चा को परिणाम तक ले जाना कुछ कठिन हो जाता है। इसलिए राजनीतिक भाषा अविश्वसनीय समझी जाती है। उस भाषा में इसीलिए आए-रोज नयी-नयी तरकीबें बनी दीखती हैं। सोशलिज़्म शब्द की देश या राष्ट्र से कोई संगति नहीं समझी जाती थी। नारा था—वर्कर्स ऑफ

द वर्ल्ड यूनाइट अर्थात सच्चाई में वर्कर्स ही एक हैं, नेशनल्स एक नहीं हैं। इन दोनों धारणाओं में विसंगति और विरोध तक माना जाता था। लेकिन 'नेशनल सोशलिज़्म' जैसी चीज भी बन आयी, इसी तरह 'सोशल नेशनलिस्ट' भी मिल जाएँगे। सोशलिज़्म में समाज की प्रधानता है, डेमोक्रेसी में जन-स्वातन्त्र्य की। दोनों कल्पनाओं की दिशा अलग है। लेकिन भारतीय काँग्रेस का संकल्प 'डेमोक्रेटिक सोशलिज़्म' दूसरी जगह आपको 'सोशल डेमोक्रेट' मिल जाते हैं। राजनीतिक शब्दावली इस तरह बड़ी लचकदार हुआ करती है। आज जो दो शब्द विग्रह में ठने हैं, कल वही सन्धि में सधे नहीं, बल्कि समास में संयुक्त दीखते हैं। उस शब्दावली के सहारे बात की तह तक पहुँचना इसलिए आसान नहीं होता। राजनेता परिस्थिति के साथ रहता है, इसलिए यथार्थ में वह शब्दों का जोड़-तोड़ कर लिया करता है। कठिनाई उन सामान्य जनों को होती है जो शब्दों को खेल की चीज नहीं मानते, बल्कि उनके साथ भावनाओं को जोड़ने लग जाते हैं। शब्दों पर पक्ष खड़े हुए हैं और दोनों ओर से, यहाँ तक कि कभी लाखों को कुर्बान कर दिया गया है। पर अन्त में देखा गया है कि उन दोनों शब्दों ने आपस में अनायास सन्धि कर ली है! इसलिए राजनीति नहीं टिकती, साहित्य टिक जाता है। कारण, साहित्य पहले से ही चेता देता है कि शब्द में से सच न लेना, केवल सूचना लेना जब कि राजनीति शब्दों को नारों के तौर पर ऊँचा उठाकर उनके प्रति आवेश उभारती और बलिदान माँगा करती है। स्वयं राजनेता शब्द से बँधा नहीं होता, केवल अमुक शब्दों के द्वारा जनता को हाँकने का वह अपना हक मानता है!

तो साम्यवादी और समाजवादी, नेतावादी और जनवादी राज्य हैं और उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। प्रेसीडेण्ट है, कहीं फर्स्ट सेक्रेटरी, कहीं प्राइम मिनिस्टर और कहीं-कहीं राजा भी अभी तक वर्तमान हैं। हमें उन राजविधानों के अन्तर में अभी नहीं जाना है। पर जो चीज सब कहीं है वह है बढ़ती हुई सेना, अस्त्र-शस्त्र, बढ़ता हुआ सुरक्षा-खर्च, बढ़ाया जाता हुआ निर्यात, औद्योगिक उत्पादन, केन्द्रित अर्थ नीति, मुद्रा स्फीति और मुद्रा निर्भरता। जन की विवशता और तन्त्र की विधायक अधिनायकता। अर्थात राज्य के रूप में, थोड़ी-बहुत विविधता के अवकाश के साथ, हम केन्द्रितता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। शर्त केवल यह कि हमारा इकाई का रूप राष्ट्र-राज्य रहे, उसका स्वत्व पक्का और मजबूत रहे, उस पर आँच न आए और उसका तनिक भी कहीं विसर्जन न करना पड़े। अन्तरराष्ट्रीयता हमको पसन्द है, बशर्ते कि हमारी राष्ट्र सत्ता अखण्ड और अक्षुण्ण रहे, बल्कि उसकी प्रभुता का सिक्का चमके और चढ़े।

मानव जाति की मुख्य चेष्टा इन राष्ट्र-राज्यों की अलग-अलग सत्ताओं को

आपसी प्रतिस्पर्धा में बने-ठने रखने में खर्च हो रही है। जितना जो कुछ किया-धरा जा रहा है, उद्यम-उद्योग, व्यापार-उत्पादन, प्रचार-प्रवचन, मानो सब उसी खाते लग रहा है। सारा श्रम-योग और अर्थ-विनियोग स्वदेश-सुरक्षा की नीति के अधीन काम आ रहा है। युद्ध न होने देने और हो तो युद्ध में किसी के मुकाबले किसी तरह न हारने की भाषा में अपनी देशीय सरकारों के अधीन हमें रहना हो रहा है। सारे रहने की भाषा आज अस्तित्व-रक्षा की बनी हुई है। पशु जंगल में अगर भिट में रहता है, झाड़ी में रहता है, खोह में रहता है तो इसी भावना के अधीन होकर रहता है। हर दूसरे जानवर से उसे डर है और मौका होने पर उसे अपना शिकार और भक्ष्य बनाने की तैयारी है। इस तरह एक को दूसरे की तरफ से डरे और ठने रहने का ढंग अगर आज आदमी का भी बना हुआ है तो वह जानवर के ढंग से अलग नहीं है। ठीक है कि आदमी भी एक जानवर है, लेकिन बहुत दिनों से वह इंसान भी बन गया है और इधर बहुत-बहुत दिनों के बाद आकर अपने बुद्धि-विज्ञान के रास्ते से उसने अणु शक्ति को पा लिया और अणु बम बना डाला है। इसलिए जो बात बेहद सोचने की बन गयी है वह यह कि क्या अब भी उसके लिए मौका बाकी है कि वह जानवर बना रहे, या जानवर की नीति को अपने बीच में चलाये रखे!

निश्चय है कि अणु बम ने सारी मानव जाति के विचार को खखोल डाला है। यह भी कहा जा सकता है कि इस अणु बम ने ही बड़े युद्ध को रोक रखा है। ठीक यही समय है कि विचार हो कि मानव-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था की एक नयी धारणा की और तत्सम्बन्धी नये दर्शन की ही तो कहीं आवश्यकता नहीं है कि जिससे भय मिटे और आश्वासन आए! भय आपस का यदि नहीं मिटता है तो यह मानवता की विडम्बना ही मानी जाएगी। उस भय में अब आगे रचनात्मकता की सम्भावना नहीं रह गयी है। भय हो सकता है और रचनात्मक भी हो सकता है। जैसे पाप का भय, ईश्वर का भय। लेकिन भय को तनिक विवेक से काम लेने पर आपस के सन्दर्भ से अवश्य दूर किया जा सकता है। यही मानव जाति की प्राथमिक आवश्यकता है।

□

दो

युद्ध से सबको डर है। वह छिड़ा तो पल भर में आणविक रूप लिये बिना न रहेगा और फिर कोई जीता न बचेगा। इस युद्ध को न होने देने के लिए तैयारियाँ युद्ध की ही की जा रही हैं। तर्क है कि सामने अस्त्र-शस्त्र रहेगा और हम उस तैयारी में शत्रु से कम रह जाएँगे, तो उसमें जीत का लोभ होगा और हमले की सम्भावना भी बढ़ेगी। एक करता है तो उतनी दूसरे को भी करनी होती है। वह क्रम कहाँ रुकनेवाला है, पता नहीं। यदि अणु शस्त्र की ही रोक एक रोक है, और आतंक को बढ़ाते जाने एवं उसको परस्पर सन्तुलित रखने का ही एक उपाय है तो यह अवस्था कायमी शीत-युद्ध की बन जाती है। अर्थात उस भाँति आवश्यक होता है कि प्रत्येक क्षण हम ज्वालामुखी के मुख पर रहें, अन्दर से जो ज्वाला भभक-धधक रही है उसमें ईंधन डालते रहें और वह बाहर कब फट पड़ती है, उसकी बाट देखा करें।

लेकिन क्या विवशता है कि राजनेता उस दिशा की तैयारी को रोक नहीं सकते हैं और नयी दिशा खोल नहीं सकते हैं? भय से त्राण की उन्हें बेहद आवश्यकता है बहुत-कुछ रचनात्मक काम उनके सामने हैं। शान्ति की वे साँस चाहते हैं कि उन कामों की तरफ योग दिया जा सके। सबके मन में अपने देश के लिए उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं। युद्ध का आतंक टले और उन योजनाओं को हाथ में लिया जाए। लेकिन पूरी इच्छा रखते भी यदि यह नहीं हो पाता है तो कहीं-न-कहीं हमारे विचार-व्यवहार में गहरी विवशता घर किये बैठी है। नहीं तो क्यों है कि जो नहीं चाहते, उधर चलना पड़ता है? और जो चाहते हैं, उधर एक कदम भी नहीं रखा जा सकता है।

विश्व व्यवस्था के विचार और व्यवहार की इकाई आज राष्ट्र-राज्य है; अर्थात राज्य-केन्द्रित और राज्य-परिचालित राष्ट्रीय समाज। इसके अतिरिक्त और किसी तरह के व्यवस्थित समाज की कल्पना हमारे पास नहीं है। क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञ अथवा कल्पनाशील कवि को छोड़ दें तो राज्य-नियन्त्रण के अभाव में मानो हमारी आँखों

के आगे व्यवस्थाहीन अराजकता का चित्र उपस्थित हो आता है कि जहाँ मर्यादा रहेगी नहीं और पशुता खुली खेलने लग जाएगी। यों मार्क्स ने कहा और दूसरे मनीषियों ने भी कहा, लेकिन उस शासन-श्रेणी-मुक्त समाज की कल्पना को यथार्थ में उतारने की दिशा में जो भी आगे बढ़ा, वह या तो कवि-लेखक-चिन्तक रह गया; नहीं तो उसे सहा नहीं गया, समाप्त कर दिया गया।

शुरू से समाज में दो तरह के लोग होते आए हैं। तन और है। जो तन की मेहनत से वस्तु के तल पर काम करते हैं, ऐसे तो बहुसंख्यक जन हैं। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका तन-मन इन दो से जीवन चलता है। बाहर वस्तु है, अन्दर बुद्धि का कष्ट नहीं उठाते, वे बुद्धि-बल से रहते हैं। पहले श्रमिक, दूसरे बौद्धिक। श्रमिक तो श्रम करता है, बौद्धिक उसे बताता है। श्रम से उत्पादन तो होगा, लेकिन उत्पन्न द्रव्य के वितरण और सामाजिक भोगोपभोग के लिए व्यवस्था आवश्यक होती है। तो बौद्धिक उस श्रम और द्रव्य के विनियोग से व्यवस्था लाने का काम अपनाता है। श्रमिक पर और वस्तु-विनियोग पर ऐसे वह अपना नियन्त्रण ही ले आता है। इस प्रक्रिया में श्रमिक उत्पन्न करता है लेकिन उत्पन्न द्रव्य खिंचकर जमा हो आता बौद्धिक के पास। इसमें मुद्रा सहायक होती है। मुद्रा किसी भी भोगोपभोग में काम नहीं आती है, पर अनायास धन वही बन जाती है। लोग चीजें जमा करने के बजाय मुद्रा जमा करना अधिक उपयोगी और सुरक्षित मानते हैं। मुद्रा का शास्त्र और शिल्प, उसका मन्त्र और तन्त्र, बौद्धिक के पास रहता है। परिणाम यह कि मेहनती के पास अपनी मेहनत का फल नहीं बचता और बातून के पास वही अनायास प्रचुर मात्रा में इकट्ठा हो आता है। यह चलन इतना आम हो गया है, उसके हम इतने आदी हो गये हैं, कि विशेष उसकी चिन्ता की झंझट में नहीं पड़ते हैं, उसको आदि-सत्य मानकर स्वीकृत भाव से चलते चले जाते हैं। इन बौद्धिकों में ही मार्क्स हुआ और दूसरे लोग हुए, पर इन्होंने जो बुद्धि को अपने स्वार्थ से स्वतन्त्र रखा तो ऐसे बुद्धि-वैज्ञानिक बुद्धि-व्यावहारिकों की जमात के लिए बड़े खतरनाक बन जाते हैं। कारण, वे संचालक, व्यवस्थापक, नेता-वक्ता बनने के बजाय बुद्धि को सत्य की जिज्ञासा में लगाने लग जाते हैं। अर्थात वे समाज की मान्य श्रेणी से नहीं जुड़ते और मानो स्वेच्छा से अमान्य बन जाने में उन्हें कोई विपदा नहीं मालूम होती है। ये लोग इस तन और मन के भेद को गहरा करने के नहीं, बल्कि उसको भरने के काम आने लगते हैं। नतीजा होता है कि समाज में हलचल होती है। सुविधा-प्राप्त और सुविधाहीन, भाग्यवान और अभागे—इन दो श्रेणियों का अन्तर मानो तब कृत्रिम और अपना बनाया हुआ मालूम होने लगता है। इस अनुभव के साथ मनों में उथल-पुथल हो आती है जिसके फल को क्रान्ति भी कह देते हैं।

मार्क्स ने सिक्के-पूँजी की संस्था का अन्वेषण-विश्लेषण किया। उसमें से पूँजीवाद के नाश का और साम्यवाद की व्यवस्था का स्वप्न जागा। लेकिन यह स्वप्न फिर बुद्धि-व्यवसायियों के हाथ आया और साम्यवाद ने राज्यवाद का रूप ले लिया। उससे बिखरी पूँजी तो खतम हुई, पर केन्द्रित पूँजी शुरू हो गयी। सिक्का जब राज ढालता है और छापता है तो आसान काम है कि पूँजी सब राज की हो जाए, पूँजीपति को बीच में से खत्म किया जा सके तो पतियों की जमात तो गयी, पर पूँजी और उसकी ताकत रह गयी राज्य में केन्द्रित होने के लिए, अर्थात अधिपति के लिए। मार्क्स से जुड़े रहने के कारण यह अधिपतित्व चला सर्वहारा वर्ग के नाम पर, लेकिन अधिपति वर्ग के समाप्त होने का अवसर न आ सका। कुछ बौद्धिक लोग जनमे, जिन्होंने मार्क्स से मिली नयी भाषा द्वारा 'करने' और 'कराने' वालों का भेद अपने हित में मजबूत कर लिया! अर्थात उन्होंने अपने पास सर्वथा 'कराने' का काम रखा और 'करने' का काम अनायास उस वर्ग के पास रह गया जिसे सर्वहारा कहा गया था! 'कराने' वालों का राज्य हुआ और वह राज्य 'करने' वालों से तरह-तरह के काम कराने लगा! वैज्ञानिकों से विज्ञान का काम, विद्वानों से विद्याओं का काम, उद्यमियों और श्रमिकों से उन-उनका काम!

जान पड़ता है कि जो खाई पूँजी और श्रम के बीच समझी गयी, जिस खाई को तात्त्विक भूमिका देकर गहरी और असली बताया गया, और जिसमें से श्रेणी-शासन से मुक्त नहीं बल्कि उससे बेहद युक्त समाज पैदा हुआ, वह खाई बाहरी थी। उसको थामने वाला द्वैत और भी गहरा और भीतरी था, और वह था बुद्धि और श्रम का द्वैत। बुद्धि अपनी जगह रहकर सोच सकती है कि वह तन को चलाने के लिए है। उसी में वह अपना गर्व मान सकती है। इस तरह बुद्धि यदि अपने को अलग और ऊपर मानने का अवसर पा जाए तो काम करने के लिए केवल शरीर रह जाता और दोनों में द्वित्व पड़ जाता है। मानव जाति के शरीर के साथ लगभग यही हुआ है। सिर ने अपने को धड़ से ऊपर माना है और सिर राजा बनकर रह गया है और धड़ प्रजा बनने के लिए शेष रह गया है!

सहसा इस प्रक्रिया में हमें दोष नहीं दिखाई देता, मानो वह प्रकृत है। सिर मानव शरीर में ऊपर रहता है, इसमें आपत्ति की कोई बात भी नहीं है। लेकिन जीवन-रक्त यदि किसी पद्धति से सिर की ओर अधिक पहुँचे और शेष शरीर के लिए उसका संचरण मन्द हो जाए तो वह अस्वास्थ्य का कारण होता है। रक्त का दबाव बढ़ जाता है और मस्तिष्क प्रमत्त होने लगता है!

मार्क्स ने एक शब्द दिया था, 'डिक्लास्ड इण्टलेक्च्युअल'। पर इण्टलेक्च्युअल होते ही मानो उसका एक [illegible] हो जाता है। बहुत मुश्किल है बौद्धिक के [illegible] ने जोड़े। बुद्धि मात्र

के योग से उसे अच्छी कमाई और बेहतर रहन-सहन मिल सकता है तो इस सुविधा को इनकार करना उसके लिए बहुत कठिन होता है। वह मान सकता है कि यह उसकी उपयोगिता के एवज में आ रहा है और यथाधिकृत है, व्यवस्था के हित में यथोचित दाय के रूप में यह सुख-सुविधा हठात उसे दी जा रही है—इनकार उसका अहंकृत और अनुचित ही हो सकता है! वह श्रमिक का भला चाहता है, उस भला करने में लगा भी रहना चाहता है। पर श्रमिक की दशा यदि धीरे-धीरे सुधरे और यथावश्यक सब सुख-सुविधाएँ उस तक पहुँचाने में कुछ समय लगे तो कोई कारण नहीं है कि यह प्रयत्न को ढीला करे और अपने को वंचित और अक्षम बनाए। यदि आज के दिन उसे औसत श्रमिक से कुछ अधिक और विशिष्ट वेतन आदि का सुभीता स्वीकार करना पड़ रहा है तो केवल इसीलिए कि वह सुविधा ज्ञान-विज्ञान के और मशीनी उत्पादन के जोर से जल्दी-से-जल्दी इतनी प्रचुर कर दी जाए कि सबको प्राप्त हो सके। इस प्रयत्न में यदि उसे भरपूर जोर से लगे रहना है तो इन छोटी-मोटी बातों को वह कैसे ध्यान में ले सकता है कि श्रमिक से उसका रहन-सहन थोड़ा-बहुत ऊँचा और बढ़िया है। बौद्धिक को वह भेद चुभता नहीं है। उसको लगता है कि बुद्धि को वह सार्वजनिक हित में जो लगाये रखना चाहता है, सो क्या उसी कारण उसे इन विशिष्ट सुविधाओं का अधिकार नहीं मिल जाना चाहिए! अधिक लोग श्रम नहीं करेंगे, उनमें झगड़े-बखेड़े होंगे, व्यवस्था टूट जाएगी यदि वह अपने बुद्धि-दान से इसमें योग नहीं देगा!

ऐसे श्रेणी बनती है, विभेद बनता है, और व्यवस्था सुगम होती है। सब समान होने चाहिए, इसका मतलब इतना ही तो है कि सबको समान अवसर होना चाहिए। ऊपर से समान सब हो नहीं सकते हैं। इसलिए व्यावहारिक बनना है और पद-दायित्व के अनुसार अगर स्तरों का अन्तर है तो इस पर ज्यादा अटकने की आवश्यकता नहीं है।

अतः राज्य का नियन्त्रक रूप मजबूत होता और फैलता जाता है तो कहीं इसीलिए तो नहीं कि वह नियन्त्रण बौद्धिकों का स्थापित स्वार्थ बन चुका है? वे और कुछ कर नहीं सकते, नियन्त्रण ही कर सकते हैं। उनका अस्तित्व-दायित्व जैसे सार्थक होता है तो तभी कि जब नियन्त्रण में आने को लोग हों। असमानता यदि रहती ही है, श्रेणी और वर्ग रहते हैं, तो नियन्त्रण का औचित्य और उसकी अनिवार्यता अपने-आप बन आती है। नियन्त्रक के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता हर कहीं और हर हमेशा रहती है। रोज की बात है कि कितना जुल्म होता है, अत्याचार होते हैं, हत्याएँ होती हैं, जुर्म और पाप होते हैं। आखिर इन्हें बन्द होना चाहिए कि नहीं? कैसे बन्द होंगे, अगर ऊपर से नियन्त्रण न होगा? इसलिए

नियन्त्रक को ऊपर होना पड़ता है और सिर्फ नियन्त्रण का काम करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य पूरे समय का काम हो जाता है, और वह काम इतना-इतना बड़ा होता जाता है कि लाखों-लाख के लिए वही एक पूरा और हर समय का काम हो रहता है। यह आदमी उपजा नहीं सकता, दूसरा कुछ बना-जुटा नहीं सकता, एक नियन्त्रण का ही धन्धा कर सकता है। आज्ञा दे सकता है, आदेश-निर्देश दे सकता है और कर-वसूली कर सकता है। उस जमा हुए तरह-तरह के करों से यह लाखों-लाख का वर्ग राजकीय नियन्त्रण का काम किया करता है। करते-करते यह उसका स्थापित स्वार्थ हो जाता है। यह स्थिति आने पर उसमें फिर निरन्तर अभिवृद्धि और संवृद्धि की आवश्यकता होती रहती है।

राज्य का आज रूप कुछ ऐसा ही है। उसके लिए फैलना और बढ़ना जरूरी है। सत्ता का स्वरूप मिलते ही उसे अपना वर्चस्व बढ़ाना पड़ता है। इस काम के लिए धीरे-धीरे जीवन के सभी संविभाग उसे अपनी संरक्षा में लेने होते हैं। यह स्थापित स्वार्थ निश्चित रूप से दूसरों में स्पर्द्धा जगाता और उनसे टक्कर में आता है। तब उसको अपनी फौज बढ़ानी पड़ती है। अपने आधीन देश-प्रदेश में कर-उगाही के लिए सम्पन्नता बढ़ानी पड़ती है, जो अन्त में राजकीय सम्पन्नता ही होती है। अन्दर के और बाहरी दबावों के बीच यदि एक बार प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य खड़ा हो जाता है तो अपनी प्रेरणा और परिस्थिति के तर्क से उसे अपना लवाज़मा बढ़ाते ही जाना होता है।

इस विवशता से कोई भी राष्ट्र-राज्य बचा हुआ नहीं है। तन्त्र उसका अधिनायकवादी हो कि लोकवादी हो। कुछ दिमागी लोग यदि हैं और बेबस हैं कि वे दिमाग से ही जिएँगे, और सबसे बढ़-चढ़कर जिएँगे, और इस तरह का जीना यदि उपादेय और उन्नत समझा जाता है, तो कोई उपाय नहीं रह जाता सिवा इसके कि चतुराई का तन्त्र चले, और मेहनती का काम निरी मेहनत रह जाए। बुद्धितन्त्र दूसरे शब्दों में मुद्रातन्त्र हो जाता है। दिमागी श्रेणी के पास अपने समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह रहता है कि वह स्थानीय बातों में नहीं बँधता, विश्व की और मानव जाति की भाषा में रहता और सोचता है। इसलिए अनायास वह अपने को ऊँचा और बड़ा अनुभव कर आता है। इनसान वह भी होता है, उसी तरह सुख-दुःख अनुभव करता है, राग-द्वेष उसमें होते हैं, आशा-आकांक्षा होती है, पुत्र-कलत्र की आवश्यकता होती है। यानि वह अन्दर से औसत आदमी से विशेष अलग नहीं होता, लेकिन श्रम से मुक्त रहने के कारण दिमाग उसका उड़ने लगता है। उस उड़ते दिमाग के सहारे वह तरह-तरह के मनोहारी शब्द रचता और लोगों में सपना और तृष्णा जगा देता है। बस, बुद्धि की इस चतुराई से वह विशिष्ट बन आता है और श्रमिकों के मन में यह भ्रम भर देता है कि उसे विशिष्टता

और उच्चता पर रखना उनका काम है।

व्यवस्था में इसमें सचमुच आसानी हो जाती है। मर्यादाएँ पैदा होती हैं और स्पर्धा की जगह नम्रता उपजती है। विग्रह की जगह सहयोग की सम्भावना पैदा होती है। लेकिन कुल मिलाकर बुद्धि-चातुर्य का पलड़ा भारी होने लग जाता है और शरीर-श्रम चुसने-पिसने लग जाता है।

श्रम और बुद्धि का द्वैत एक बार पैदा हुआ और उचित बना तो फिर वह कहाँ तक बढ़ता जा सकता है, इसका ठिकाना नहीं है। आज सभ्यता का जो संकट अनुभव में आ रहा है उसमें इस द्वैत का चरम देखा जा सकता है। मजूर और हुजूर ये दो श्रेणियाँ ही बन आयी हैं। ध्यान रहे कि यह श्रम और पूँजी का बँटवारा नहीं है, क्योंकि पूँजीपति के ऊपर उसका भी हुजूर बनकर एक शासक अधिपति बना बैठा हुआ होता है। वह पूँजीपति नहीं है, फिर भी बड़ा हुजूर है। अर्थात श्रम-पूँजी के बँटवारे के आधार पर उस समस्या को आर्थिक मान लेना और इस तरह उसे आर्थिक विचार-विवेचन में डाल देना पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ ऐसा होता है वहाँ निस्तार फिर प्रशासनिक नियन्त्रणों में जान पड़ने लगता है। अर्थात, बीच के हुजूर को हटाओ-मिटाओ, बड़े हुजूर को बढ़ाओ-चढ़ाओ। संक्षेप में बड़ी हुजूरी का दरबार चलाओ। अर्थात, पारमार्थिक को घटाकर आर्थिक को ही जब हम पकड़ते हैं, और अधिकांश ऐसा ही हो रहा है, तो समाज में समता लाने के लिए हमको एक गहरी विषमता को हमेशा के लिए बीच में पैदा कर लेना आवश्यक लगने लग जाता है। एक वह श्रेणी जो व्यवस्था करे, दूसरी वह श्रेणी जो काम करे और ताक़ीद में रहे। अर्थात एक वर्ग प्रशासन का आवश्यक होने लग जाता है, जो शेष दूसरों को अनुशासन में रखे और अनुशासन से जरा निकलने पर उन्हें प्रशासन में दण्डित करे।

आर्थिक बनते ही सवाल भावना का नहीं रहता, हिसाब का हो जाता है। वह आपसीपन की भूमिका से उठकर विधि-व्यवस्था अथवा कानून का बनने लग जाता है। उसका रूप होने लग जाता है कि समान बाँटो। इसमें दो के बीच समान बँटवारा करने के लिए तीसरे की आवश्यकता होती है। दो बिल्लियों में बराबरी का झगड़ा हो तो बीच में बन्दर आकर उन दोनों को समान आसानी से इस तरह बना दे सकता है कि सब खुद हड़प जाए। आर्थिक प्रश्न इस तरह सदा प्रशासन के लिए काम पैदा करता है और आईन कानून का बन जाता है। प्रशासन को इससे समर्थन मिलता है और उसके मजबूत होते जाने की परिस्थिति का निर्माण होता है।

राजनीति की इसीलिए सदा आर्थिक-आंकिक दृष्टि होती है। योजनाएँ उसकी आर्थिक होती हैं और जितना यह ऊपर से आर्थिक आयोजन-संयोजन-

विनियोजन हुआ करता है, उतना ही अस्तित्व का प्रश्न अनिवार्यतः सबके लिए प्रमुख और विकट बनता जाता है। एक को मानो दूसरे की स्पर्धा में जीना होता है। जीने की भाषा नैतिक से आर्थिक, गुणात्मक से परिमाणात्मक होती जाती है। आदमी के लिए यह प्रश्न कि अन्दर से वह क्या है, क्या हो, गौण पड़ जाता है। प्रश्न मुख्य यह हो जाता है कि वह बाहर से क्या है, उसके पास क्या-कितना है। यह स्थिति आने पर ईमान से अधिक संग्रह का मूल्य बढ़ जाता है। गुण से ऊपर संख्या, क्वालिटी से ऊपर क्वांटिटी आ जाती है। आदमी खुद होने की नहीं सोचता, गुट बनाने की सोचने लग जाता है। जीवन का प्रवाह इस तरह मानवता से उलटकर वस्तुता की ओर बढ़ने लग जाता है और इस पर गर्व होने लगता है कि हम आदर्श से मुक्त हैं, इतने यथार्थवादी हैं। यथार्थ मूर्त लगता है पैसे में, और सबसे बड़ी बुद्धिमानी पैसे से वर्तमान को फला-फूला बनाए रखने में हो जाती है। भविष्य खामखयाली का दूसरा नाम हो आता है। वर्तमान का अर्थात पैसे का भोग सबसे बड़ा सत्य बन आता है। विचार को अर्थनीतिक रखने में विश्वास करनेवाली विचारधारा से राज चलाने से यह स्थिति अपने-आप पैदा हो आती है।

उदाहरण के लिए, भारत को ही लीजिए। यह स्वतन्त्र हुआ और बड़ी योजनाओं का निर्माण हुआ। उसके शासक त्यागी पुरुष थे। गाँधी के अनुगामी रहे थे, जो महात्मा था। लेकिन योजनाओं के अनुसार जो धड़ल्ले-से तरक्की हुई तो मालूम हुआ कि साथ-साथ आपसी सम्बन्धों से बुना हुआ समाज का पट झीना बन रहा है। उन सम्बन्धों में भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। धन जितना बढ़ा है, धन का लोभ उससे अधिक बढ़ा है। और इन सब कारणों से सबसे अधिक फैलना और बढ़ना पड़ा है राज्य के तन्त्र को और लवाज़मे को। यह परिणाम इष्ट और प्रत्याशित था, सो नहीं। शायद शासक नेताओं को अनिष्ट और अप्रत्याशित ही वह लगा। यद्यपि वह एकदम तर्कसंगत और अपरिहार्य था। पर उपाय न था। बाढ़ खुल चुकी थी और अपने ही कृत्यों और कृत्य के परिणामों से बचना सम्भव कैसे हो सकता था?

कारण परम-आर्थिक से जीवन दृष्टि को निरी आर्थिक तक ले आया गया था।

□

तीन

दो किसान हैं। उनके खेत साथ-साथ लगे हैं। रोज आपस में मिलते-बोलते हैं और बड़े मित्र हैं। लेकिन मान लीजिए, उनके खेतों की मेंड़ पर से दो देशों की सीमा-रेखा जाती है। तब दोनों पड़ोसी नहीं रहते, विदेशी बन जाते हैं। उनमें स्वाभाविक सहानुभूति का सम्बन्ध फिर नहीं रह सकता। जो सम्बन्ध होगा वह उन दोनों देशों की विदेशी नीति से रँगा होगा। इस तरह आसपास के पड़ोसी अकारण आपस में गैर और दुश्मन तक बनने को मजबूर हो जाते हैं।

अभी जर्मनी में देखा कि पूर्वी को पश्चिमी बर्लिन से अलग करनेवाली लकीर कहीं-कहीं एक मकान के बीच से आर-पार होकर गयी है। कुछ कमरे एक राज्य में आये हैं, दूसरे दूसरे राज्य में। उस ही नगर के पूर्वी और पश्चिमी भागों में आपस में कोई सद्भाव नहीं है। राजनीतिक इस दुर्भाव की यह दरार नक्शे की लकीर से कागज़ पर ऐसे खिंची कि उससे परिवारों और घरों के दिल मानो आरी से चीर दिए गये हैं। पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के बीच की हद से एक जगह एक गाँव देखा कि पूरा पश्चिमी में आ गया है, सिर्फ एक घर पूरब में बच गया है। अब यह एक अकेला घर सारे गाँव के सहयोग के अभाव में जाने किस तरह जी रहा होगा!

राज्य की हदबन्दी इस तरह मानव-सहानुभूतियों के प्रकृत सूत्रों को काटे-तोड़े बिना नहीं होती। उन सीमा-रेखाओं के आर-पार के सम्बन्ध सहज मानवीय नहीं रह जाते, राष्ट्रीय के नाम पर विषम संदिग्ध बन जाते हैं। कहना चाहिए कि ऐसे राजनीति मानव-नीति में उलटी पड़ जाती है और मानव के विकास में बाधा डालती है।

होना चाहिए था कि राजनीति मानव के उत्कर्ष की द्योतक होती और उसके विकास की अग्रिम रेखा समझी जाती। इतिहास का आरम्भ कुछ इसी क्रम से हुआ होगा। परिवार और समाज बना, तो अपने आपसीपन के विकास की अनिवार्यता के कारण। मनुष्य के अन्दर एक-दूसरे के लिए सहज संवदेना है। उसी

में से पारिवारिकता और सामाजिकता का उदय हुआ। यह बढ़ती-फैलती हुई मानव की एकता निश्चय ही अनायास सिद्ध नहीं हुई, घटकों में आपस में मुठभेड़ भी हुई। ये घटक तरह-तरह से बने। भूगोल की, रक्त की, जातीयता की या कभी विचार की एकता से भी इन घटकों का निर्माण हुआ। उनमें अपना-अपना पृथक स्वत्व-भाव जागा और सहानुभूति दुर्गम बनी। जब पहले-पहल ये घटक एक-दूसरे के स्पर्श में आए, उनमें रगड़ और टक्कर हुई। लेकिन जीवन के अनिवार्य तर्क से पीछे उनमें लेन-देन बढ़ा और एक-दूसरे की समझ पैदा हुई। राजनीति हमारी इसी पद्धति से विकास पाती गयी और इकाइयाँ वे अन्ततः आपसी समाई और समझौते से फैलती-बढ़ती गयीं।

लेकिन इस क्रम में कोई दो सदियों से अवरोध आया दीखता है। विग्रहों के इतिहास में से संग्रह इन सदियों में पहले की भाँति फलित नहीं होता दिख रहा है। राष्ट्र-राज्य क़ायमी-सा बना जा रहा है और उससे पार जाने और ऊँचे उठने के निमित्त उपयुक्त संज्ञाएँ और संस्थाएँ हमारे बीच पैदा नहीं हो रही हैं। विज्ञान अवश्य तेजी से बढ़ रहा है। उसकी रफ्तार यहाँ तक है कि धरती का ग्रह अपने उपग्रह चाँद की ओर ही हाथ बढ़ानेवाला नहीं है, पर मंगल आदि साथी ग्रहों के साथ भी उसका परिचय और आवागमन शुरू हो सकता है। लेकिन इस उत्कर्ष को वैज्ञानिक और बौद्धिक भर माना जाना चाहिए। कारण, व्यवस्था-व्यवहार की परिपाटियाँ समाज में तदनुकूल बन नहीं पायी हैं। अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ हैं और कुछ सेवाएँ भी उस स्तर पर काम कर रही हैं, लेकिन इस अन्तरराट्रीयता के मूल में प्रभुसत्तात्मक राष्ट्र-राज्य की स्वीकारिता है और राष्ट्रीय स्वार्थों के ताने-बाने के हिसाब से उस अन्तरराष्ट्रीयता का परिचालन होता है। उस अन्तरराष्ट्रीयता के नीचे राष्ट्रीय आवेश-विद्वेष मजे से काम करते और बढ़ते-फैलते रह सकते हैं। राष्ट्रों में आपसी प्रतिस्पर्धा, कटाकटी और शीत युद्ध चलता रह सकता है। सह-अस्तित्व की बातें यद्यपि हैं, तो भी दूसरे का अस्तित्व निभते हुए भी खलता है, प्रीतिकारक नहीं होता है। अन्दर-ही-अन्दर सम्बन्ध, संशय और प्रतिस्पर्धा का बना रह सकता है।

मानव एकता के सहज विकास की गति में यह बाधा उस सभ्यता और उन्नति की धारणा में से आयी कि जिसके कारण यूरोप के छोटे-छोटे देश आपस में सैकड़ों वर्षों से लड़ते ही चले आ रहे हैं। इधर दो विश्व युद्धों को जन्म देकर उसने सारी दुनिया के चैन को हराम कर दिया है। उस 'सभ्यता और उन्नति' ने फैलकर करीब सारी दुनिया को छा लिया है और राष्ट्रवाद जड़ में पक्के और अटल हो गये हैं। यूरोप विचार-व्यवहार की दृष्टि से बहुत उन्नत था। कहा जाता था कि शायद भारत के समान सम्प्रदायों, जातियों और बिरादरियों में बँटा हुआ नहीं है। खुले शादी-ब्याह के उनमें सम्बन्ध थे और अंग्रेजी-जर्मन राजा लोग आपस

में नजदीकी रिश्तेदार थे। लेकिन राष्ट्रवाद का आवेश भड़का तो पारिवारिक विवाह-सम्बन्ध कुछ भी सहायता नहीं कर सके, और युद्ध ने लाखों-लाख की बलि ले डाली। छोटे से छोटा देश भी यूरोप का सभ्य और सम्पन्न समझा जाता है, पर वह सभ्यता और सम्पन्नता ही उनके स्वकीय राष्ट्रवादों को चहकाये रखती हैं। सबको अपने स्वप्न का दर्प है। वे मिलते हैं तो सम्मिलित स्वार्थ के नाते मिल भी पाते हैं, अन्यथा राष्ट्रीय अस्मिता में प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र सत्ता में सिर तानकर खड़े रहना चाहता है। राष्ट्रवादी या राजवादी अभिनिवेश इस आर्थिक सभ्यता के सबसे बड़े आधार हैं। उन्हीं के अनुसरण में सब जगह राष्ट्र तन्त्र मजबूत और शस्त्रास्त्र से लैस बनाये जाते हैं।

जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता और भोगोपभोग की सामग्री की अतिशयता बढ़ती है, वैसे ही वैसे मानो ये राष्ट्र सत्ताएँ अपनी पृथकता में आग्रही और अटूट बनती जाती हैं। स्थिति विज्ञान की उन्नति के कारण ऐसी बन गयी है कि शक्ति-सन्तुलन में तनिक अन्तर आया कि सारी दुनिया में झनझनाहट पैदा हो जाती है। इस तरह छोटे-से-छोटे राष्ट्र लगभग बाध्य हैं कि वे अपनी विदेशी-नीति को सहानुभूति और सद्भाव के सिद्धान्त पर न चला सकें, बल्कि प्रभु सत्ता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर चलाएँ और इस प्रकार प्रस्तुत सन्तुलन में कोई फेरफार न आने दें।

विश्व स्थिति इस तरह आज जकड़बन्द बनी हुई है। दो बड़े-बड़े अत्यन्त शक्तिशाली राज्य हैं, अमेरिका और रूस। दोनों के पास इतनी शक्ति है कि उसके स्फोट से जीवन का कण-कण इस दुनिया पर से नेस्तनाबूद हो सकता है। दोनों ये महाबली देश आमने-सामने तुले हैं और दुनिया पर अपने प्रभाव का विस्तार चाहते हैं। करीब आधी-आधी दुनिया इस तरह दो छावनियों में बँट गयी है। इन्हीं के बीच कुछ देश हैं जो छोटे हैं और अपेक्षाकृत शक्ति में कम हैं। अभी ये पक्षमुक्त देश अपना अधिवेशन करके आपस में मिले थे। अफ्रीका के महाद्वीप में से अनेक ऐसे स्वतन्त्र देश जनमे हैं, जिन्होंने राष्ट्र-स्वत्व का पहली बार भोग पाया है और अपने अस्तित्व का वे सिक्का चाहते हैं। यों सारा राजनीतिक विश्व उद्ग्रीव होकर खड़ी हुई राष्ट्र-राज्यों की अस्मिताओं से आक्रान्त है और आए दिन नयी-नयी समस्याएँ उस स्तर पर उत्पन्न हो रही हैं।

इस स्थिति में दो देश विशेष उल्लेखनीय बन जाते हैं। एक चीन दूसरा भारत। पहले दोनों हिमालय से अलग-अलग थे। अब उसी हिमालय से वे पास नहीं आ गये, बल्कि मिल गये हैं। चीन दुनिया का सबसे बड़ा देश है और दुनिया की एक-तिहाई आबादी यहाँ बसी हुई है। साम्यवाद कुछ पहले तक एक अखण्ड सिद्धान्त ही नहीं था, बल्किं अखण्ड साम्राज्य भी था। समझा जाता था कि

राष्ट्रीयताएँ इस अखण्डता में लीन हो गयी हैं और एक वैचारिक राष्ट्रीयोत्तरता का उदय हुआ है। यह नयी सम्भावना और नयी घटना थी और कल्पना को पकड़ती थी। लेकिन इस वैचारिक अखण्डता में दरारें दीख रही हैं। यद्यपि तरह-तरह की लिपी-पुती सफाई उस विषय में दी जाती है, लेकिन सच यह है कि मूल में राष्ट्रीय भाव की समाप्ति हुई ही न थी। अतः स्वार्थिक हितों की भूमिका पर वह मानी गयी अखण्डता, आज खण्डित हुई पड़ी है। रूस कम्युनिस्ट है, चीन कम्युनिस्ट है, लेकिन दोनों के बीच एक लम्बी सीमा-रेखा भी है। वहाँ पर ऐक्य नहीं है, अनैक्य है। उतना ही नहीं, बल्कि निरन्तर रगड़-झगड़ तक है। मास्को के पास अणु बम हैं तो इससे पेकिंग को आश्वासन नहीं प्राप्त हुआ। बल्कि उलटे उसको अपने अणु बम का निर्माण आवश्यक मालूम हो आया। उधर मास्को के लिए चीन का यह अणु शक्ति-सम्पन्न होना हर्ष का विषय नहीं हो सका। दोनों आज धर्म से मुक्त हैं, या कहिए, दोनों मार्क्स-लेनिन वाले धर्म के अनुयायी हैं। लेकिन जान पड़ता है कि धर्म अथवा वाद की एकता किन्हीं दो राष्ट्रीय स्थानों को आपस में मिला नहीं पाती है। चीन जनसंख्या से महादेश होकर भी महानों की गणना में नहीं आता था, इसी से अब मानो वह कटिबद्ध है कि संख्या के तर्क से ही नहीं बल्कि बल और शस्त्र के तर्क से भी वह सबसे बढ़ा-चढ़ा होकर ही रहेगा!

उसी हिमालय के दक्षिण का देश भारत है। तिब्बत अब है नहीं, जो पहले था और चीन के भारत की ओर के दबाव को, जब वह हो तो, अपने में सोख लेता था। अब चीन की बढ़ती हुई शक्ति का दबाव भारत की सीमा पर सीधा पड़ रहा है। कुछ पहले खुली मुठभेड़ तक हो चुकी है, जिसमें साफ चीन की शक्ति प्रबलतर सिद्ध हुई। फिर भी चीन वापस लौटा। इससे माना जा सकता है कि नीति का पक्ष भारत का ऊँचा रहा होगा।

भारत देश कुछेक वर्षों से ही स्वतन्त्र है। पहले यहाँ अँग्रेजी राज था। स्वतन्त्रता भारत देश ने अपने ही तरीके से जीती। वह तरीका इससे पहले इतिहास में कभी काम में नहीं लाया गया था। माना जाने लगा है कि राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह की भूमिका पर वह तरीका आगे भी कभी काम में आने लायक नहीं है। खुद भारत स्वतन्त्र होकर अपने बीच जिस राष्ट्रवाद को पनपा रहा है, उससे प्रकट होता है कि वह भी उस तरीके में से अपना विश्वास खो बैठा है। परतन्त्रता में जो चला सो चला, शायद गाँधी का महात्मापन उन परिस्थितियों में कारगर हो सकता था। अब, जब कि परिस्थितियाँ आगे बढ़ आयी हैं, देश को स्वराज्य पाना नहीं है बल्कि उसको बनाना है, तब सन्त-तरीके नहीं चला जा सकता है। कुर्बानी करने और जेल जाने की बात अब नहीं है, प्रशासन और शासन करने

की बात है। इसलिए महात्मा को और बातों में याद रखना जरूरी हो सकता है, राजनीति के क्षेत्र में उनको कष्ट देने से बचना और बचाना चाहिए!

स्वतन्त्र भारत के राजकर्ता गाँधीजी के मार्ग पर चलनेवाले लोगों में से ही थे। गाँधी को वे भूले नहीं थे, लेकिन अपने सामने आयी नयी परिस्थितियों के मुकाबले के लिए उन्हें भूलना आवश्यक अवश्य मानने लग गये थे। फिर भी एक मात्रा तक ही यह सम्भव था, सर्वथा सम्भव न था। शायद उस आत्मा का प्रताप हो (यद्यपि एक अणु बम कोई चालीस-पचास करोड़ रुपये के खर्च से बनता है और उतना खर्च यहाँ की अर्थ-रचना को गड़बड़ में डाल सकता है) कि अणु-विज्ञान और अणु शिल्प के पास रहते भी भारत ने अणु शस्त्र न बनाने का संकल्प किया है। अर्थात, कितने भी भारतीय नेता राजनीतिक हों, पर नैतिक मूल्य से वे उतने उदासीन नहीं हो पाते। तो यह नैतिक भूमिका पर रहना चाहने वाला स्वतन्त्र भारत देश विश्व की राजनीति में अपना एक स्थान रखता है। जन-बल और शस्त्र-बल से चीन यदि दुनिया का बहुत बड़ा देश है तो नीति-संस्कार की दृष्टि से और अपने आधुनिक इतिहास की उज्ज्वलता के बल पर भारत भी कम प्रमुख नहीं है।

कहा जा सकता है कि भारत के समान चीन भी स्वतन्त्र भाव से अभी हाल में अपने पाँवों खड़ा हुआ है। पहले का चीन था, पर मानो अन्तरराष्ट्रीयता में नगण्य था। कम्युनिस्ट चीन एकदम गणनीय बन उठा है। यह नया दर्पी चीन जिस रीति से उदय में आया वह भारत से एकदम उलटी थी। यहाँ अहिंसा का आग्रह था, तो वहाँ हिंसक भावों और साधनों का ही सहारा था।

महात्मा गाँधी भारत के पास नहीं रह गये हैं। इससे न वह दर्शन, न नीति ही सक्रिय रूप में यहाँ के राष्ट्रीय व्यापारों में उपयुक्त दीखती है। किन्तु माओ-त्से-तुंग जोर-शोर के साथ हैं। अत: उनकी अधिनायकता में चीन की सैन्य-सत्ता का जो हमला भारत की उत्तरी सीमा पर हुआ, तो उसका उत्तर भारतीय नेतृत्व गाँधी की भाषा में नहीं दे सकता था। उत्तर दिया गया और उसकी भाषा आमतौर पर समझी जानेवाली फौजी भाषा ही थी।

दूसरे शब्दों में, दुनिया का कोई देश नहीं है आज जहाँ मूलत: राज्य-सत्ता का भरोसा ही न हो। यह राज्य अथवा राष्ट्र सत्ता का ही मूल्य था जिसको उभार देकर यह सभ्यता चलकर यहाँ तक आ गयी और अब आगे मार्ग बन्द पाती है! मार्ग आगे बन्द इसलिए है कि वहाँ अणु बम आ बैठा है। अभी तक तो निपटारा होता रहा है, राष्ट्र-राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा का युद्ध के उपाय से। अब वह उपाय निपटारा नहीं कर सकता, करेगा तो पूरा खात्मा ही करेगा। इसलिए प्रश्न जो प्रस्तुत है वह यही नहीं है कि इस बीच की हालत को कैसे पार किया जाए,

शस्त्रास्त्र की होड़ में कोई पक्ष निश्चित रूप से अधिक बलशाली बनकर समस्या को निपटा सकता है, यह सम्भावना ही नहीं है। ऐसा नहीं होनेवाला है कि अमरीका और रूस में कोई आणविक या आकाशीय विज्ञता में निश्चित रूप से काफी आगे निकल जाए और इसलिए दूसरा देश नीचे झुक आए। ऐसी स्थिति आने से पूर्व आहत अभिमान में वह देश जो भी हो सके, किये बिना न रहेगा और परिणामत: अणु युद्ध का विस्फोट हुए बिना न रहेगा। इस आशंका को होड़ की पद्धति से किसी तरह टाला नहीं जा सकता है।

संकट को काटने के लिए जरूरी यह हो आया है कि जड़ में जाकर देखा जाए कि संकट बनने ही में कैसे आया। कोई उस संकट की अवस्था से प्रसन्न नहीं है। किसी में आज यह शेखी भी नहीं है कि वह दूसरे पक्ष को पछाड़ ही देगा। पिछले दो विश्व युद्धों में सचमुच ऐसे सपने जाग आए थे। व्यावहारिक राजनीति में आज उस मूर्खता के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। भभकियाँ तक ही ठीक है, लेकिन क्यूबा में जब अनी की स्थिति आ बनी तो ख्रुश्चेव जैसे विश्वस्त अधिनायक नेता को भी कदम वापस लेना पड़ा। चीन के माओ-त्से-तुंग ने उस समय कुछ भी क्यों न कहा हो, लेकिन अगर स्वयं अणु बम निर्माण के बाद उन्हें ऐसी स्थिति में पड़ना पड़े, तो उनके लिए भी अगर वह होश में रहे, तो दूसरी गति न हो सकेगी। मानव जाति को ही भस्म कर डालने का दायित्व कोई अपने सिर नहीं लेना चाहेगा!

अर्थात आगे राह बन्द है, और बन्द सामने चिने हुए अणु-शस्त्रास्त्रों के पहाड़ से है। तो यह न हो सकेगा कि राह अणु विस्फोट के बीज में से निकाली जाए! साफ है कि राह उधर है ही नहीं, वरना वहाँ पहले ही सर्वनाश बैठा है। यह भी स्पष्ट है कि संकट इच्छापूर्वक नहीं बना है और आगे बढ़ते जाने के संकल्प-मात्र में से वह कटेगा भी नहीं। राह जो हम चलते आये हैं, वही अनिवार्यत: इस संकट के बिन्दु तक हमें ले आयी है। अभी तक जानने का अवसर न था कि जिस उन्नति की राह पर गर्वातिरेक में हम भागे चले आ रहे हैं, वह आगे जाकर बन्द मिल जाएगी। शायद अनुभवी कोई बताता, और सिद्धान्त रूप से सभी अनुभवियों ने पहले बता ही रखा था, तो हम सुननेवाले न थे। गति हमारी तेज थी और विजय सामने मुस्कुराती दिखती थी। पर अणु बम की उपस्थिति ने समय ला दिया है कि हम पहचानें कि वह आशा प्रवंचना थी और स्वप्न मायामय था। गति हमारी शायद उन्मत्त थी और राह वह झूठी थी जो हमने पकड़ी थी। आवश्यकता उस मायावी दर्शन के कटने की है कि जिसने इस राह हमें भटकाया। एक बार उस राह-पड़े की माया का मोह बढ़ता ही चला गया और बीच में रुकना सम्भव न हुआ। रुकना पड़ गया है इस अन्त पर आकर, फिर भी अब तक का

गतिवेग मानो हमें अणु विस्फोट की ओर ठेलता ही जा रहा है। नहीं चाहते हैं, पर अतीत का तर्क मानो वर्तमान को विवश किये हुए है, और यद्यपि अणु-अस्त्र से निर्माण नहीं निकलता, निपट संहार ही निकलता है, तो भी जानते-बूझते, एक-दूसरे की शत्रुता के सहारे, अणु-अस्त्रों का अपना ढेर हम बढ़ाते ही जा रहे हैं।

अजब दुविधा की स्थिति है! बढ़ने को विवश हैं, उतने ही ठिठकने को भी विवश हैं। चीन के पास क्यूबा के समय अणु बम नहीं था और वह बढ़ते जाने की ही भाषा में बोलता था, पर रूस के पास उसकी कमी नहीं थी, इसलिए उसे सोचना और ठिठकना पड़ गया। अब भी चीन अणु-क्षेत्र में आत्महीनता की अनुभूति के कारण जीत के मद में आगे बढ़ते जाने की सोच सकता है। पर कमी जब उसके पास नहीं रह जाएगी तो अपनी भरपूरता में ही उसे देखना होगा कि आगे बढ़ने के लिए अब एक कदम की भी गुंजाइश नहीं रह गयी है। कारण, आगे विनाश का महा अतल गर्त खुला हुआ है।

राष्ट्र-राज्य अनेक हैं और अपनी प्रभु सत्ता में सब बराबर हैं। इसलिए वस्तु-सत्ता में भी वे हर बड़े-से-बड़े के बराबर होने की इच्छा रख सकते हैं। हीनता में से गर्व निकलता ही है। शायद इस प्रेरणा में सभी देश औद्योगिक उत्कर्ष पर पहुँच जाना चाहते हैं। अर्ध-विकसित या अविकसित बनकर कोई रहना नहीं चाहता। सभ्यता मशीनी है और मशीन के जोर से हर देश आयात कम करके अपना निर्यात बढ़ा डालना चाहता है।

स्पष्ट है कि सारी दुनिया के सन्दर्भ में निर्यात आयात जितना ही हो सकता है। निर्यात को बढ़ाने की कोशिश अन्त में मण्डी बढ़ाने की कोशिश ही रह जाती है। सम्पन्नता की यह धारणा आवश्यक है कि आधी दुनिया को मण्डी के रूप में देखें और फिर ऐसी सम्पन्नता से जरूरी होता है कि विपन्नता जारी रहे। प्रचुरता के लिए कोई तर्क अपने को बढ़ाते जाने का नहीं रह जाएगा, अगर साथ-साथ कहीं अभाव भी उत्पन्न नहीं होता जाएगा।

ऐसा मालूम होता है कि दुनिया इसी चक्कर में, जिच में आकर फँस गयी है। कोई देश भी अगर ऐसा नहीं रह जाता है जो परतन्त्र हो, या उपनिवेश या मण्डी बनकर रहना गवारा करे तो दुनिया की अर्थ व्यवस्था एकदम गड़बड़ में पड़ जाने वाली है। और राष्ट्र-राज्य की गरिमा के स्वप्न ने लगभग वही भाव सबमें भर दिया है। 'स्वतन्त्र' हुए बिना कोई भी अब रहनेवाला नहीं है। देश ही स्वतन्त्र होकर नहीं बैठनेवाले हैं, बल्कि प्रदेश भी स्वतन्त्रता की माँग में उठ सकते हैं। यह स्वतन्त्रता अगर परस्पर की स्पर्धा में टकरानेवाली हो तो अव्यवस्था की स्थिति आ जाएगी। पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अथवा कि राष्ट्र-राज्य की इससे दूसरी धारणा हमारे पास है नहीं। परिणाम यह है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले

आन्दोलन होता है, और स्वतन्त्रता के बाद उसकी रक्षा के लिए भी उतना ही आन्दोलित रहना पड़ता है। मानो हर स्वतन्त्र राष्ट्र का अपने पड़ोसी के लिए खतरा हो आना आवश्यक हो।

राष्ट्रों के आपसी सहयोग-सन्धि से कुछ अन्तरराष्ट्रीय समुदायों का भी निर्माण हुआ है। 'यूनाइटेड नेशन्स' को वैधानिक मान लें, तो भी स्वेच्छा से कुछ आपसी संघ बने हैं। सबसे महत्त्व का इस सम्बन्ध में पक्षमुक्त देशों का अभी हाल में हुआ काहिरा अधिवेशन है। उन सभी के अनुभवों से जान पड़ता है कि केवल स्वतन्त्रता से समस्या का हल नहीं होता, बल्कि समस्या का केवल रूप बदलता है। बल्कि कहा जा सकता है कि उससे नये रूप की समस्या का आरम्भ हो जाता है।

उदाहरण के लिए सन ४७ से ठीक पहले और ठीक बाद के भारत को लिया जा सकता है। पहले का भारत एक संकल्प से एकत्रित भारत था। बाद में वही विकल्पों में बिखरा-सा हो आया। प्राणों की एकता और भाव की जो उत्कर्षता पहले थी, बाद में वह खिसक गयी। पहले मानो जीवन के पास एक लक्ष्य था और उसके लिए प्रयत्न पुरुषार्थ जगा रहता था। बाद वह लक्ष्य अस्त हुआ तो उसकी जगह दूसरा कोई उदय में नहीं आया, और औसत नेता और औसत नागरिक के लिए तत्काल का भोग ही प्रधान हो गया। जो दल बलिदान के मार्ग पर होकर परस्पर संयुक्त और संगठित था, वही विभक्त और विघटित होने लगा। राष्ट्रीय था, वह दलीय हो गया और ऐक्य में दरारें पड़ने लगीं। हार्दिक सहयोग उड़ने लगा और वैधानिक संयोग ही उसकी जगह भरने का उपाय रह गया। संक्षेप में, स्वतन्त्रता समाधान के रूप में नहीं आयी, उलटे समस्या के रूप में उतरी मालूम हुई।

स्वराज्य दूर था, तो हिन्दू और मुस्लिम यहाँ एक थे, और मिलकर जेल जा रहे और खून दे रहे थे। स्वराज्य आता-सा दिखाई दिया तो काँग्रेस के मुकाबले लीग बन आयी। परिणाम कि स्वतन्त्र होने के साथ भारत का विभाजन भी हुआ। विभाजन वह सैकड़ों सालों से बनने आते हुए मानव सम्बन्धों के नाजुक तन्तुओं पर फरसे के मानिन्द पड़ा और इतिहास की वह लोमहर्षक घटना हुई कि याद करते भी जी काँपता है। यह सब प्रमाणित करता है कि देशों का स्वायत्त और स्वतन्त्र होना अपने आप में कोई समाधानकारक स्थिति नहीं है। विश्व के सन्दर्भ में देखें तो समस्या में उस कारण बल्कि एक नया कोण और उभर आता है।

और वह समस्या जो दुनिया को आक्रान्त किये हुए है, मानव जाति के प्रभूत परिश्रम को संहार की तैयारियों में लगे रहने को विवश किये हुए है, जिसके कारण मानव भय और चिन्ता और अभाव में रहने को विवश हो रहा है,वह है राष्ट्र-राज्यों का नितान्त प्रभुसत्तात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक रूप।

चार

एक विचार है सामाजिक न्याय। उस विचार से मनुष्य निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसी की अनिवार्यता में से हम अपने संस्कारों और संस्थानों का निर्माण करते हैं। प्रबल जब दुर्बल को दबाता-सताता है तो मन कहता है, यह अन्याय है, न्याय होना चाहिए। न्याय की माँग मानवीय चेतना में गर्भित है और विकास मानो इस न्याय की चेतना का ही विकास है।

व्यक्तियों के सम्बन्ध में हम स्पष्ट देख पाते हैं कि महान वे नहीं हुए जो धनाढ्य थे, प्रत्युत जिनकी महानता इतिहास में से प्रमाणित और परिपुष्ट बनी, वे हुए हैं जिन्होंने धन कमाने की तरफ रुख भी नहीं किया। धनपति अपने प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा मान सकता है, लेकिन उसके सम्बन्ध आसपास संशय और ईर्ष्या के बन जाते हैं। इन विरोधात्मक सम्बन्धों की निषेध-वृत्ति के कष्ट से वह बच नहीं सकता। उसकी धनिकता जो किसी दूसरे की निर्धनता से जुड़ जाती है, सो उसके दबाव से उसकी मनःस्थिति स्वस्थ और प्रफुल्लित नहीं रह पाती। उसे दुश्चिन्ता में रहना पड़ता है, उसकी चेतना रक्षात्मक हो जाती है। उसके लिए फिर आत्मदान सम्भव नहीं रहता और हर 'पर' से अपने 'स्वत्व' को बचाये रखने के चक्कर में उसे चकराना पड़ता है।

वैयक्तिक क्षेत्र में इस अनुभव को स्वीकार किया ही गया है और तदनुकूल धर्म के शास्त्र एवं सिद्धान्त बने हैं। नैतिकता की धारणाएँ उत्पन्न हुई हैं। कृतार्थ भाव से हमने उन लोगों को मस्तक झुकाया है जिनका जीवन बलिदान का उदाहरण बन सका है। स्वार्थ से हम व्यक्तिशः मुक्त न हों, लेकिन परमार्थ को हमने मूल्य माना है। उस मान से हम अपने को और सब को नापा करते हैं। अर्थात वैयक्तिक क्षेत्र में हमारे मान-मूल्य नैतिक ही होते हैं।

पर राष्ट्र पर आकर मानो मूल्य अनायास बदल जाते हैं। राष्ट्र के रूप में अपने को सम्पन्न और समृद्ध बनाते जाना मानो हमको सबसे संगत और उचित जान पड़ता है। मानो उस जगह न्याय का प्रश्न उठने के लिए रहता ही नहीं।

व्यक्ति स्वयं में ही नहीं है, दूसरों के साथ है, इसलिए नैतिकता का मान, समाज के अर्थ में, सहज आवश्यक जान पड़ता है। समाज अपनी ओर से राज्य की सृष्टि करता है कि जो नैतिक मानों की रक्षा के अर्थ रोकथाम के उपाय, जिसे कानून कहते हैं, बनाता और अपनाता है। पर उसी तरह राष्ट्र भी अनेक हैं और परस्परता के बिना उनमें आज किसी का काम नहीं चल सकता। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिक मूल्यों की उतनी संगति नहीं समझी जा रही है। प्रत्येक स्वतन्त्र और प्रभुसत्ताशाली है और जिन भी उपायों से सम्भव हो, जल्दी-से-जल्दी बलशाली बन जाना चाहता है। बल का आशय पड़ोसी से प्रबल। इस अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी कल्पना इससे ऊँचे जा ही नहीं पाती है। सबके लिए जो स्वयं बलिदान का जीवन अपनाता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है; लेकिन राष्ट्र की श्रेष्ठता और सफलता के लिए भी बलिदान की यह नीति हो सकती है, यह बात किसी तरह हमारे मन में नहीं बैठती। मालूम होता है कि राष्ट्र के लिए तो स्वरक्षा और सुरक्षा का विचार प्रमुख है। राष्ट्र का मुख्य पुरुषार्थ मानो इसी में सम्पूर्ण हो जाता है। इसी तर्क की सीध में अपने प्रभाव-विस्तार और विजय-विस्तार की बात सूझा करती है। राष्ट्र के रूप में दूसरा कोई आदर्श ही मानो संगत नहीं रह जाता। राज्य को विभूतिमय बनाना और राजन्यों के लिए ठाठ-बाट जुटाना जरूरी होता है, अन्यथा देश अपने को महिमान्वित नहीं मान पाता। उसका ऐश्वर्य बढ़ा-चढ़ा न हो, तो मानो यह हीनता का प्रमाण हो जाता है। अर्थात राज्य को अपनी अस्मिता का गर्व रखना ही चाहिए। प्रतिस्पर्धा में अपने दर्प को किसी से दोयम मानना उसके लिए क्षम्य नहीं हो सकता है।

इस पद्धति से औसत नागरिक मनुष्य पर दो तरह के खिंचाव काम करने लगते हैं। वैयक्तिक क्षेत्र में उसके लिए आदर्श धर्म-नैतिक रहता है, पारस्परिक क्षेत्र में मानो वही अर्थ-लौकिक हो आता है। यदि राज्य का आदर्श खुली समृद्धि और सम्पन्नता का हो; वैभव, ऐश्वर्य, मान और प्रभुता का हो, तो नागरिक के लिए भी मानो मान-मूल्य वही हो जाता है। परिणाम कि राजकीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या-विद्वेष सामान्य मूल्य बन आते हैं। सबको अपने लिए पदभोग चाहिए और सत्ता-विभुता चाहिए। इस मूल्य-द्वैत की स्थिति में नैतिक मानो केवल मध्यम और अधम स्तरवालों के लिए ही रह जाता है। उत्तम श्रेणी वह बनती है जो शक्ति को मूल्य मानती है और नैतिक में मूलतः विश्वास नहीं रखती है। यह श्रेणी नैतिक को केवल उपाय मानती है जिससे नीचेवालों को मर्यादित और संयत रखा जाए। उनसे काम लिया और कराया जाए और धन-सत्ता की सुविधा इधर अपनी ही ओर रोक रखी जाए।

ज्ञान और विज्ञान ने ऐसी परिस्थिति और मानसिकता का निर्माण कर दिया

है कि मूल्यों और श्रेणियों का यह अन्तर अधिक चल नहीं सकता। ज्ञान प्राप्त हो गया है लगभग हममें से प्रत्येक को कि धन का विषय विभाजन प्रकृत नहीं, कृत्रिम है और जब तक यह रहता है तब तक मानव-सम्बन्धों में अन्याय भी समाया रहता है। स्वस्थ समाज यदि होगा तो वह होगा जिसमें समाज-शरीर के अवयवों अथवा वर्गों-श्रेणियों में अन्यान्य का यह तनाव नहीं होगा, उनमें परस्पर समवाय और सौहार्द होगा, और एक की सुविधा दूसरे की दुविधा नहीं बनेगी।

इसी तरह विज्ञान ने उठकर बता दिया है कि यहाँ ऊँचा और नीचा नहीं है, दूर और पास नहीं है, प्रकृति की ओर से कोई बाधा और कृपणता नहीं है। वस्तु के अभाव का प्रश्न ही नहीं है; कारण, अणु में भी परम है। समय और स्थान का अन्तर अन्तर नहीं है और अगर कष्ट है तो विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उसके अमुक उपयोग और स्वामित्व के कारण है। विज्ञान की उपलब्धि अब सीमित नहीं रहने वाली है, सुलभ हो जानेवाली है, और ऐसी सुविधाएँ बनती जा रही हैं कि व्यक्ति-मात्र उन उपलब्धियों से अवगत हो जाए और किसी भी हालत में वह परित्यक्त बनकर रहना सहन न करे।

इस अवस्था में व्यवस्था का वर्तमान रूप, विस्फोट से यदि सब कुछ इस बीच विध्वंस नहीं हो गया तो, अधिक काल रह नहीं सकता है। सारी धारणा में हेर-फेर लाना होगा और जान पड़ता है कि मानव एकता अधिक देर अब काव्यादर्श के लोक की कल्पना नहीं रह जाएगी, बल्कि व्यावहारिकता बन आएगी। राष्ट्रों की सत्ता मानवता से निरपेक्ष न होगी और मानव मूल्यों को प्रभु सत्ता प्राप्त होगी। आज नहीं समझ में आता है कि विभु सत्ता अमुक कार्यकारी-यन्त्र (गवर्नमेण्ट) से अयन्त्र रह कैसे सकती है—सत्ता को स्थूल तन्त्र के रूप में देखने के हम इतने आदी हैं। लेकिन मानव अन्तःकरण जैसी शक्ति का बोध आज भी होने लगा है। विश्व-लोकमत जैसी चीज आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव क्षेत्र में संगत होने लगी है। राजनीतिक सत्ता के स्तर पर भी अनुभव किया जाने लगा है कि 'ह्यमन कान्साइन्स' जैसा कोई तत्त्व है,अपनी जगह वह अमोघ है, और उसको उपेक्षा में रखकर अधिक चला नहीं जा सकता है।

इस भावात्मक सत्य के अनुरूप कोई सत्त्वशील संस्था वर्तमान विश्व व्यवस्था के बीच उदय में आए, इसमें समय लग सकता है। लेकिन ज्ञान-विज्ञान के अद्यतन उत्कर्ष के प्रकाश में मानवान्तःकरण की उस भावात्मक सत्ता से इनकार किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र नेता और राज्य सत्ता को घोषित और प्रमाणित करना पड़ता है कि युद्ध में भी वह नृशंसता से बचता है और अन्तरराष्ट्रीय मर्यादाओं का पालन करता है। राजनीतिक विवाद से वातावरण को अनिश्चित और आक्रान्त ही न कर दिया जाए तो सत्य और न्याय की वाणी में आज भी बल

है। सत्य और न्याय की निष्ठा मानव हृदय में इतनी गहराई पर बद्धमूल है कि वह शक्ति, यदि उदय में लायी जाए तो, अमोघ हो सकती है। राष्ट्रीय स्वार्थों के विग्रह में राजनीतिकों ने मानव दृष्टि को ऐसा चकरा रखा है कि वह शक्ति जाग नहीं पाती है। सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय को घपले में डाल दिया जाता है और वह मानवता, जो राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह की छाया में शुद्ध श्रम और प्रेम में रहती है, जो एक-दूसरे के लिए जी रही और एक-दूसरे को थाम रही है, बौद्धिकों के इस बुद्धि-भेद के नीचे विस्मित और विभ्रान्त बनी रह जाती है। वह मानवता सुनती है विज्ञप्तियों और वक्तव्यों को कि सब विवाद-विग्रह उन्हीं के हित में किया जा रहा है, यद्यपि वह उस विवाद-विग्रह को अपने हित से किसी तरह जोड़ नहीं पाती है। पर इस तरह मानवता को कब तक बिखराए रखा जा सकेगा? कब तक राष्ट्रीयता के नाम पर उसे सुलाए रखा जा सकेगा? राष्ट्र ऊपर से नहीं बने हैं। उनको अलग करनेवाली लकीरें धरती पर कटी और खुदी हुई नहीं हैं। सीमाएँ हमने मानी हैं और वे आपसी सुविधा-व्यवस्था के काम आने के लिए आती हैं। उन्हीं को जब मानवता की काट-छाँट के काम में लाया जाता है तो अवश्य कहीं कोई बहुत बड़ी भूल है, या बहुत बड़ा षड्यन्त्र है।

इस विराट मनोदर्शन और मनोभाव की भूमिका पर राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य को तनिक कसकर देखना होगा और अन्त में, यदि आवश्यक हो तो, उन्हें अपनी खरी कसौटी के अनुकूल बनाना होगा। व्यक्ति का वह विकास और विस्तार, जो दूसरों को दलता और कुचलता है, इष्ट और सह्य नहीं माना जा रहा है। प्रकट होता जा रहा है कि व्यक्ति की ऐसी उन्नति वास्तविक नहीं होती, प्रतिक्रियात्मक होती है। समाज वह स्वस्थ है जहाँ व्यक्तियों का हित परस्पर टकराता नहीं है, विरोधात्मक नहीं है; बल्कि वह परस्परावलम्बी और सहयोगात्मक है। यही धारणा राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी हमें विकसित करनी होगी और उनके अस्तित्व के स्वस्थ उत्कर्ष को भी उसी नैतिक मान में देखना, मानना-परखना होगा। देश कोई बहुत सम्पन्न हो सकता है, ठीक जैसे कि अमुक व्यक्ति अतिशय धनाढ्य हो सकता है। लेकिन न व्यक्ति की वह धनाढ्यता, न देश की वैसी समृद्धि अपने-आप में स्पृहणीय है। उस धनाढ्यता से समाज में विषमता बनती है और उस प्रकार की राष्ट्रीय सम्पन्नता से विश्व में अशान्ति का कारण पैदा होता है।

किन्तु जिस जीवन दृष्टि और जीवन पद्धति को व्यक्तिगत सम्बन्धों में हम हेय मान चुके हैं और क्रमशः जिसका परिहार करते आ रहे हैं, उसी को राष्ट्र-सन्दर्भ में हमने विधेय और उपादेय बना रखा है। ऐसा मान कर चला आ रहा है कि जैसे यह अपरिहार्य हो और राष्ट्र के लिए उत्कर्ष-बोधक हो। जिन अहिंसा और अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों को व्यक्ति-सम्बन्धों में हम उचित और उपयोगी

ठहरा चुके हैं मानो राष्ट्रों के सम्बन्ध में वही नितान्त असंगत हो जाते हैं। मनुष्य के विषय में हमें यह देखने और समझने में कठिनाई नहीं है कि उसे अपने पड़ोसी के हित की कीमत पर फूलना नहीं चाहिए, न उसके और अपने बीच में कोई काँटे की दीवार खड़ी की जानी चाहिए। सामान्य सामाजिक व्यवहार बल्कि बताता कि उन दोनों के द्वारों पर एक-दूसरे के लिए स्वागत लिखा रहना चाहिए और एक-दूसरे की उपस्थिति उनके लिए हर्ष और आश्वासन का विषय होना चाहिए। राष्ट्रों के बारे में हमारा व्यवहार ठीक इससे उलटा होता है। सीमाओं पर सन्नद्ध फौजें न हों तो मानो यह सुरक्षा-नीति की त्रुटि है और खतरे का बुलावा बन जाता है। विकासशील जीवन की आवश्यकताएँ यद्यपि आलाप-संलाप और आवागमन को द्रुत और घनिष्ठ करती जा रही हैं तो भी सीमा की यह सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र-राज्यों के लिए मुख्य चिन्ता का विषय बना रहता है। सीमा के इधर-उधर सरकार बदल जाती है, निगरानी बदल जाती है। इस सरकार और सिक्के की बदली का भरपूर लाभ लेकर भ्रष्टाचार और अपराध बढ़ते हैं। अपराध एक सीमा के पार दण्डनीय नहीं रह जाता है, और सिक्के की अदल-बदल में से तो सैकड़ों-हजारों बिना कुछ श्रम-उद्यम के मालामाल बन जाते हैं। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सन्नद्धता के नाते ही परस्पर सुरक्षित बनी रहती है, नहीं तो एक-दूसरे के लिए खतरा समझी जाती है। चीजों के दामों में इस सीमा के अन्तर से बेहद ऊँच-नीच आ सकती और भ्रष्टाचार को जन्म दे सकती है। व्यवस्था का यह रूप, कि जहाँ मानी हुई लकीर-भर के भेद से कीमतों में एक और दस का अन्तर पड़ जाता है, शान्ति और समाधान कैसे ला सकता है? किन्तु राष्ट्र-राज्य के पास मानो उपाय नहीं है। राष्ट्र की एकता राज्य के अधीन बनती है और माना जाता है कि वह एकता अखण्ड और पुष्ट बनेगी तो उसके लिए राज्य के यन्त्र और तन्त्र को भी उतना ही दृढ़ और चौकस बनना होगा। ऐसे उस तन्त्र का शरीर बहुत फूल और फैल जाता है और उसकी खुराक और दूसरी जरूरतें भी बढ़ती चली जाती हैं। यह तन्त्र पैदा नहीं करता, केवल व्यवस्था करता है। इस तरह उत्पादन पर इस बढ़ते हुए तन्त्र के उपभोग का बोझ बढ़ता जाता है। उत्पादक दबता है और अनुत्पादक उस पर सवारी गाँठ कर ऊँचा उठता जाता है। ऐसी अवस्था में उस सारे उच्च वर्ग के लिए सरकार एक स्थापित स्वार्थ बन जाती है। इस स्वार्थ द्वैत पर खड़ा राष्ट्रवाद समाज को ऊँच-नीच के दो स्तरों में बाँट देता है। श्रमजीवियों का नीच वर्ग, बुद्धिजीवियों का उच्च वर्ग। श्रमजीवियों का स्वार्थ कटा-बँटा नहीं है, वह मानव-जाति भर का एक और अखण्ड है। किन्तु बुद्धिजीवियों के लिए अखण्ड मानवता स्वप्न-रूप में कितनी भी प्रिय हो, यथार्थ में उनके स्वार्थ के साथ निभ नहीं पाती है। इसीलिए राष्ट्र का वह वाद जो पृथकता और प्रतिस्पर्धा में ही जिये

और फले-फूले, उन्हें अपने अनुकूल पड़ता है और इसीलिए उसको चँहकाये रखा जाता है।

क्या यह असम्भव है कि राष्ट्र की एक अविरोधी धारणा हो और विकास इस रूप में हो कि पास-पड़ोस के राष्ट्रों में हितैक्य बढ़े कि वे परस्पर के लिए आश्वासन हों, आशंका न बनें?

अपने देश भारत को ही लीजिए। भारत एक अखण्ड कल्पना है और सहस्रों वर्षों पीछे तक गया उसका इतिहास है। उसका अस्तित्व सफल और गौरवपूर्ण रहा और उसकी संस्कृति अविच्छिन्न और अजस्र रही है। किन्तु यह भारत क्या था? प्रकृति की ओर से जो सीमा बन गयी वह तो थी, लेकिन जहाँ वह सीमा प्रकृति ने ही बनाकर नहीं दी थी वहाँ भारत की सीमाएँ बराबर इधर-से-उधर होती गयीं। कभी अफगानिस्तान पूरा इसमें था, आज लाहौर भी नहीं है। इन राजनीतिक परिवर्तनों और हलचलों के नीचे किन्तु कुछ था जो अडिग बना रहा। असल भारत वही था। आपस में मिले-जुले रहन-सहन में से विकसित हुआ वह एक मानसिक, सांस्कृतिक स्वरूप या जो सदियों के अन्तराल से अभंग टिका चला आया। उसे किसी से ईर्ष्या न हो सकती थी, न द्वेष, और बस वह अपनी रचनात्मक निष्ठा में ही सम्पन्न-निष्पन्न था। इस भारत की किसी से टक्कर नहीं हो सकती थी, न किसी पर उसका आक्रमण हो सकता था। उसकी स्वत्व-रक्षा के लिए निषेध-प्रतिषेध की आवश्यकता न थी। तत्त्व बाहर से आकर जो मिल-खप जाते थे वे मूल को और पुष्ट ही करते थे, उसकी अन्तः प्रकृति को विविध और समृद्ध बना जाते थे। अनमिल रहते, वे तत्त्व मानो अपने-आप झर जाते थे। बुद्ध यहाँ हुए, किन्तु बौद्ध परिव्राजकों को ऐसा नहीं मालूम हुआ कि स्वदेश से वे विदेश जा रहे हैं। विस्तार सहज भाव से होता गया, किसी को कष्टकर जैसा हुआ ही नहीं। यह विस्तार था जिसमें दोनों ओर एक समान पुरुषार्थ का जागरण हुआ।

राष्ट्र इस प्रकार एक सम-सामान्य जीवन की सांस्कृतिक इकाई का नाम हो सकता है। इकाई कहने का आशय किसी बन्द घटक का नहीं है। सांस्कृतिक विशेषण का अभिप्राय ही यह है कि एकता है, किन्तु परस्परता उसे इष्ट है, पृथकता उसे प्रिय नहीं है। यह हर दूसरे की ओर योगभाव से बढ़ने की वृत्ति स्वार्थिक अथवा राजनीतिक नहीं रहती, पारमार्थिक और नैतिक हो जाती है। राजनीति समाप्त तो नहीं हो सकती,उसके बीज मानव प्रकृति में पड़े हैं; लेकिन राष्ट्र के नाम पर विराट सेना-शस्त्र-सन्नद्ध होकर चुनौती देते हुए दम्भ के साथ किसी जय यात्रा पर बढ़ने की आवश्यकता उसके लिए नहीं रहती।

इतिहासकारों की शिकायत है कि भारत पहले राष्ट्र न था, राष्ट्र तो अब

आकर वह अंग्रेजों के आगमन के बाद बना है। शायद शिकायत ठीक हो। राष्ट्र की वह धारणा, जहाँ राजा एक होता है, जो हर राष्ट्र से पृथक् और प्रतिस्पर्धी होता है, भारत के पास न थी। न उसकी धर्म-धारणा ही ऐसी एकान्त थी। धर्म अक्सर अमुक व्यक्ति और सिद्धान्तवाद को लेकर गठित होता है। उसी प्रकार राष्ट्र एक राजा और एक केन्द्रस्थ शासन-तन्त्र को लेकर रूप पाता है। ये दोनों धारणाएँ भारतीय स्वत्व के लिए आवश्यक नहीं हुईं। धर्म भी यहाँ जीवन्त रहा, इसी तरह देश भी गरिमामय बना। किन्तु ये दोनों उसके लिए बन्द और सिगटी धारणाएँ न थीं, उनकी निर्दिष्ट और कटी-जकड़ी सीमाएँ न थीं। फिर भी समय उस देश-धर्म को क्षति नहीं पहुँचा सका। हिन्द देश और हिन्दू धर्म बिना किसी प्रचार-प्राचीर की सहायता के प्रबल और प्रकाण्ड बनते चले गये।

प्रतीत होता है कि राष्ट्र का व्यक्तित्व अगर राजनीतिक ही रहा तो विग्रह और युद्ध से बचने का कोई उपाय न होगा। कारण, राजनीतिक रूप के लिए सत्ता के तन्त्र को फैलते ही जाना होगा। फिर उस सत्ता के लिए अपना अस्तित्व ही सर्वप्रधान होने लग जाएगा। सत्ता और जनता का सम्बन्ध शासक और शासित का बनेगा और शासनार्थियों के आपसी मनमुटाव जनता की छाती पर दले और भुगताये जाते रहेंगे।

युद्ध की घोषणा कभी जनता से नहीं आ सकती। जनता तो उसमें झोंकी और फूँकी ही जाती है। युद्ध की ज्वाला यदि फूटती है तो सत्ताओं के आपसी स्वार्थों की रगड़ में से ही फूटती है। जनता के स्वार्थ अनबन में आ ही नहीं सकते। फिर भी लाखों-करोड़ों की संख्या में विविध राष्ट्रवासी आपस में एक-दूसरे को नेस्तनाबूद करने में लग जाते हैं, तो अवश्य कहीं कोई जादू या छल है, और शायद वह छल राष्ट्रवाद के उस रूप में से फलता है जो स्वत्व को परत्व के विरोधी-रूप में ही देखता और साधता है। पर बढ़ते हुए विज्ञान के प्रकाश में स्पष्ट है कि इस स्व-परत्व में परस्परत्व का विकास न हुआ तो महानाश का ताण्डव ही होगा, दूसरी सम्भावना नहीं रह जाएगी। सृजनशील परस्परत्व निजत्व के उस रूप में से विकसित हो सकता है जो अहम्-प्रमुख नहीं है; जो स्वार्जन से उठकर स्वार्पण की भाषा में सोच सकता है; जो दूसरे को अपने लिए ही नहीं समझता, अपने को भी दूसरे के लिए समझ सकता है।

राष्ट्र की और उसके उत्कर्ष की यह कल्पना हमारे मानस पर उतर सकी, तो उसका अर्थ होगा कि हमारी राजनीति और अर्थ नीति में एक साथ मौलिक परिवर्तन घटित हो। वह अन्तर्गत परिवर्तन राष्ट्र नीति को उत्तरोत्तर मानव नीति के निकट लाकर दोनों को अभिन्न बना सकेगा। और यदि कोई एक ही राष्ट्र आज हिम्मत के साथ मानव नीति के ध्रुव को अपनी आस्था और आचरणों में उतार

लेता है तो वह आज के विश्व संकट में एक नयी किरण का आविर्भाव कर सकता है। इस अवस्था का परिणाम स्पष्ट ही राज्य को दण्ड-शस्त्रादि से अधिकाधिक स्थूल तन्त्र बनाने की अपेक्षा उसे उत्तरोत्तर नीतिसक्षम इसलिए सूक्ष्म-तन्त्र बनाने की दिशा में होगा। तब पैसे की प्रभुता श्रम से स्वतन्त्र और विमुख नहीं रह जाएगी, बल्कि वह उत्तरोत्तर श्रमोन्मुख और अन्ततः श्रमाधीन होगी।

□

पाँच

एक-दूसरे से पाँच-सात मील दूर पर दसियों हजार आदमियों की दो पाँतें पड़ी हैं। वे किर्च-बन्दूक से लैस हैं और मुकाबले को तैयार हैं। वे फौजें एक-दूसरे को देख नहीं पातीं, सिर्फ इन्तज़ार में रहती हैं। बस, यही उनका काम है। पच्चीस-पचास वर्ष बाद कहीं मुठभेड़ की नौबत आ जाए तो बात दूसरी है, बाकी वर्षों-वर्ष बस उन्हें यही फर्ज है कि वे संगीन की नोक ताने एक-दूसरे के मुकाबले तैनात और होशियार हालत में रहें। इसी काम के लिए उनके खातिर सब सुभीते जुटाये जाते हैं और पूरा सम्मान दिया जाता है।

पच्चीस-पचास वर्ष में जाकर 'दो-एक दिन के काम के लिए उन्हें कौन इस तरह आमादा और सुख-सुभीते की सामग्री से भरपूर रखता है? किसकी ओर से वे हजारों-लाखों आदमी इस निगरानी पर तैनात रहते और दूसरे सब उपयोग के कामों से बरी रहते हैं? किसके हुक्म पर? कौन उनके लिए सामग्री जुटाता और मान-सम्मान, इनाम-इकराम का इन्तज़ाम करता है। जो यह सब करता है, उसको राज्य कहते हैं।

राज्य यह सब इन्तज़ाम रखने के लिए रसद और पैसा कहाँ से जुटाता है? जिनकी मेहनत में से यह सब लिया जाता है, उन्हें प्रजा कहते हैं।

बरसों-बरस खाली और तैयार रहे जाकर जो आखिर चन्द रोज़ के लिए मरने-मारने का काम करता है, वह सैनिक है। जो वर्ष के बारहों महीने और महीने के तीसों दिन और दिन के दसियों घण्टे बराबर मेहनत किये जाकर सैनिकों के लिए सामान जुटाये रखता है, वह नागरिक कहलाते हैं।

अद्यतन स्थिति यह है कि राज्य के सारे बजट का तिहाई या उससे अधिक भाग सुरक्षा के विभाग और सुरक्षा सैन्य के पक्ष में सुरक्षित रखा जाता है। यह हालत इसलिए है कि दुनिया अनेक राज्यों में बँटी है और हर राज्य पूरी तौर पर खुद-मुखतार है। कुछ या कोई उसकी तबीयत को रोकनेवाला नहीं है और जो मूल्य सर्वोपरि है, वह राज्य की स्वायत्तता और प्रभु सत्ता है। हर राज्य एक राष्ट्र

का द्योतक है। हर राष्ट्र ऐसी खुदी है कि उसके ऊपर खुदा नहीं है। नेता ध्रुव स्वत्व है कि ऊपर नीति या धर्म का कोई अंकुश नहीं हो सकता है।

क्या यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित श्रम का एक बहुत बड़ा भाग आतंक को बचाने या बढ़ाने के व्यर्थ काम में ही स्वाहा हो जाता है? अपने बीच में इस भय और आतंक को कायम रखने की अनिवार्यता मानवता के लिए क्यों बनी ही चली जा रही है? क्यों नहीं हो पाता है कि बीच में से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो? गैरियत की जगह उनमें पारस्पर्य हो, संशय की जगह सहानुभूति हो, धमकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्‌भाव हो? क्यों न उनमें अभियोग की जगह सहयोग हो?

सब मानते हैं कि यह होना चाहिए। स्पष्ट तर्क से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए। फिर भी नहीं हो पाता है। कोई भय से मुक्त नहीं है और भय से बचाव के लिए भय के ही शस्त्रास्त्र बनाने-बढ़ाने को सब विवश हैं, तो क्यों?

कारण वही है राष्ट्र और राज्य की बन्द और विरोधी धारणा!

भारत के हाल के इतिहास की घटना लें। भारत को स्वराज्य लेना था। यहाँ की राष्ट्रीय काँग्रेस को गाँधी ने कहा कि हिंसा से आनेवाला स्वराज्य उन्हें मंजूर न होगा। राष्ट्रीय काँग्रेस को यह बात मान्य न हुई। उसे हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था। वह तो गाँधी के सिवा कोई नेतृत्व उपलब्ध न था, इससे गाँधी की बात तो नहीं रखी फिर भी काँग्रेस ने गाँधी के नेतृत्व को अवश्य माने रखा। गाँधी ने समझाया कि हिंसा से आनेवाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा। सिर्फ जो राजनीतिक हो वह तो पूरा और असल होता नहीं, आगे बढ़कर स्वराज्य को समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर काँग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने-आप होगा, शायद ऐसी उसकी मान्यता रही हो। जो हो, स्वराज्य आने पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति-शून्य होने को स्वतन्त्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गयी कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आयी!

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल आर्थिक-लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वार्थ को मानवीय परमार्थ से हटे एक स्वतन्त्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयं-प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पन्नों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो आती है और समर्पण का धर्म भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ आफेन्स-डिफेंस का ही एक धर्म शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य को जब हम उस रूप में—बलिष्ठ सन्नद्ध

संघटना के रूप में—देखते और चाहते हैं तो समाज और अर्थ-रचना का भी तदनुकूल आयोजन-संयोजन हमें सूझता है। एक व्यवस्था खड़ी होती है जिसे 'नेशनल इकोनॉमी' माना जाता है। उसमें समाज की विविध प्रवृत्तियों का ऐसा नियम होता है कि जिससे राष्ट्र-राज्य का तन्त्र सम्पन्न एवं बलशाली हो। तब आदमी को जन-जन के रूप में नहीं, जनता के रूप में देखा जाता है और उसका व्यक्तित्व आनुषंगिक एवं गौण पड़ जाता है, प्रधान गुट और समूह होने लगते हैं।

मानव जाति को यदि कभी एक होना है—और ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को देखते हुए यह आसन्न भविष्य में ही अनिवार्य दीखता है—तो उसके आदि और ध्रुव घटक के रूप में मानव व्यक्ति को स्वीकार करना होगा, देश और राष्ट्र आदि धारणाओं को मानव-व्यक्ति-निरपेक्ष बनाने से बचाना होगा। सामूहिक संज्ञाएँ जब स्वयं-सिद्ध मूल्य प्राप्त करने लग जाती हैं, तब मानव नीति का सन्दर्भ उनसे छूट जाता है। तब मानो समुदाय के लिए व्यक्ति हो चलता है, समुदाय व्यक्ति के लिए नहीं होता है।

मूलतः हमारा यह बौद्धिक युग इसी भूल में चल रहा है। मानसिक संज्ञाओं-धारणाओं और आदर्शों-सिद्धान्तों को हमने एकान्त (ऐब्सोल्यूट) भाव से मान लिया है। लक्ष्य को फिर उन्हीं में प्रतिष्ठित करके मानव-व्यक्ति का उपयोग और उत्सर्ग लेना आरम्भ कर दिया है। इस तरह जातीय और राष्ट्रीय मानवीय से उलटा पड़ता चला गया है और अन्त में दीख पड़ रहा है कि राष्ट्र जितने सम्पन्न और समृद्ध होते हैं मानव संकट वहाँ उतना ही उत्कट होता जाता है।

इसका उपाय यही है कि हमारी संस्थाओं और संघटनाओं की रचना इस प्रकार हो कि मूल मानव व्यक्ति का उसमें स्वीकार और समादर समाया हो, केवल मात्र उसका उपयोग और उपयोजन इष्ट न हो।

वैज्ञानिक दृष्टि के अधीन मानव जीवन और मानव समाज को व्यवस्थित-संयोजित करने के प्रयत्न में हमने मानव घटक के साथ उसी प्रकार व्यवहार करना शुरू कर दिया है, जैसे मकान बनाते वक्त ईंट का उपयोग किया जाता है। ईंट को आसानी से हम छील-छालकर मनचाहा आकार दे देते हैं। पर मनुष्य मनस्वी है और किसी छीलनेवाले के हाथों स्वयं को देने को आसानी से इसलिए तैयार नहीं है कि स्वयं यह देखता है कि किसी छीलने का दावा करनेवाले से भिन्न या अलग वह नहीं है। बढ़ते हुए ज्ञान ने उसकी इस कदर आँखें खोल दी हैं कि जब वह अपने को इनसान मानता है तो बड़े-से-बड़े राजा और नेता को भी वह अपनी तरह का इनसान ही मानता है। सामान्य को सामान्य और राजन्य को विशिष्ट राजकीय इन दो विभिन्न कोटि की परिस्थितियों में रखकर अब यह नहीं

माना जा सकता कि एक अपने को हीन माने रहेगा और दूसरा स्वभावत: उच्च। अन्तर मिट रहे हैं और कृत्रिमताएँ टूट रही हैं। इसलिए एक इनसान कर्ता बने और दूसरा उसके हाथ में सिर्फ करण बनने को रह जाए, यह आगे सम्भव नहीं रहनेवाला है। अर्थात केवल विज्ञान-सम्मत विनियोजन-संयोजन सामाजिक प्रवृत्तियों में काम नहीं देगा। मनुष्य निश्चेतन पदार्थ नहीं है और देखा जाता है कि जब वह स्वत: प्रेरणा से कुछ करता है तो कितना ही कर जाता है, बेगार में करना पड़ता है तो उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं कर पाता है।

इन अनुभवों से हम आन्तरिक क्षेत्रों में विवश हुए हैं कि उत्पादन सम्बन्धी योजनाओं में श्रमिक के हित का और सुख का भी पूरा ध्यान रखें। ऐसा कुछ बराबर करते रहें जिससे श्रमजीवी में प्रेरणा बनी रहे। और काम को वह अपना काम समझे। ऐसा जब नहीं होता है तो उत्पादन के परिणाम में तत्काल क्षति दीखने लगती है। अर्थात मानसिकता से अलग व्यक्ति मनुष्य को लेना अथवा उसकी समस्याओं को केवल आंकिक विज्ञान की दृष्टि से सुलझाना सम्भव न हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति में निजत्व है और जब अमुक समूह में उसके निजत्व को लीन मान लेते हैं तो बड़ी भूल कर जाया करते हैं। लीनता स्वेच्छित समर्पण में से तो प्राप्त होती है, अन्यथा प्राप्त नहीं होती है। राजनीति और राष्ट्र नीति में अक्सर मानवीय व्यक्तियों का उपयोग तो हुआ करता है, समर्पण अधिकांश वहाँ नहीं होता। परिणामत: राजनीति सदा अस्थिर रहती है और उस क्षेत्र में हमेशा हलचल मची दिखाई देती है।

व्यक्ति की निजता जब कि एक अपरिहार्य तथ्य है, तब उसकी प्रकृति को भी समझने की आवश्यकता है। केवल निजता से तो निश्चय ही समाज नहीं बनता है। काम भी ऐसे कोई नहीं बन सकता है। हर प्रवृत्ति सहयोग माँगती है। परस्परता के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं हो सकती। मनुष्य पशु की तरह से स्वाधीन नहीं जी सकता है। प्रकृति की ओर से ही वह ऐसा जनमा है कि उसे मिल-जुलकर जीना होता है। कन्द-मूल या कच्चे अन्न-फल-मांस से उसका भोजन नहीं हो जाता। न उसको ऐसी छाल-खाल मिली है कि वस्तु के बिना चल जाए। जीने मात्र के लिए उसे उद्यम करना पड़ता है और अपने में से निकलकर परस्परता को जुटाना पड़ता है। यह पारस्पर्य मनुष्य का लक्षण है, यही उसकी क्षमता है।

क्या यह सम्भव नहीं है कि अनिवार्य यह उसका उद्यम इस तरह व्यवस्थित हो कि उसमें पड़ोसियों के हित आपस में बिछुड़ें नहीं, बल्कि जुड़ें। पशु निकला और जिस अन्य को देखा, देखते ही शिकार बना डाला। क्या मनुष्य के लिए भी यही विधि जीने की मानी जाएगी? नहीं, मनुष्य को अपने जीवन के लिए समाज का विकास करना पड़ा है और अपनी निजता को परस्परता के अनुकूल ढालना

पड़ा है। क्या आरम्भ से ही ऐसा कुछ नहीं हो सकता है कि उसके रहन-सहन की प्राथमिक आवश्यकताएँ आपस के सहयोग द्वारा इस तरह पूरी हों कि उनमें हित-विरोध न पड़ने पाए, बल्कि हितैक्य बढ़ता जाए?

संक्षेप में क्या ऐसी कोई 'नेशनल इकोनॉमी' नहीं हो सकती है जो मूलतः 'ह्यूमन इकोनॉमी' भी हो? यदि वह बुनियाद में ह्यूमन होती है तो यह सम्भावना कि राष्ट्रीय स्तर पर वह अमानवीय हो उठे, अपने-आप कट जाती है। सहयोगात्मक की जगह जब हम प्रतिस्पर्धात्मक, दूसरे शब्दों में मनुष्य-प्रधान से वस्तु-प्रधान, इकोनॉमी को अपनाते हैं तभी आगे जाकर झगड़े-बखेड़े बड़े बनते हैं, और राष्ट्र-राज्यों के तल पर भीषण युद्ध अनिवार्य हो जाते हैं।

यही वह बीज है जिसमें से युद्ध का विषफल फलित होता है। यह स्पर्धाजन्य, स्वास्थजन्य उद्यम-उद्योग की प्रथा है जिसमें से प्रति क्षण आपसी वैर-विरोध और वैमनस्य के कीटाणु स्रष्ट होते हैं। वे ही बड़े-बड़े समुदाय-समूहों में संघटित होकर विग्रहों और युद्धों को जन्म दिया करते हैं। अपनी नित्य-प्रति की जीवन-व्यवस्था में से हम कण-कण उस विष को उपजाते हैं जिसके संघीभूत उत्स्फोट से अन्त में स्वयं हम ही चकित बने रह जाते हैं।

गाँधी अभी भारत में हो गये हैं। भारत देश उन्हें राष्ट्र पिता मानता है और साथ महात्मा भी कहता है। उनके नेतृत्व में भारत को स्वाधीन राष्ट्र का रूप मिला, पर स्वाधीनता प्राप्त होने पर वह किसी राष्ट्र पद पर दिखाई नहीं दिये। जिस पद्धति से उन्होंने स्वराज्य दिलाया, उसमें तलवार के लिए जगह नहीं थी, उसकी जगह बल्कि चरखा था। उनका बल चरखे पर इतना था कि शायद प्रार्थना पर ही उतना रहा हो। उन्होंने चरखे को राष्ट्र ध्वज के केन्द्र में रखने को कहा।

पराधीन भारत में सात समुन्दर पार लंकाशायर से कपड़ा आता था। खद्दर द्वारा सिर्फ उसको रोकने की ही बात न थी। उसके लिए तो कपड़े की मिलें खड़ी की जा सकती थीं। बाद में वे मिलें हुईं भी और अब हिन्दुस्तान कपड़ा मँगाता लगभग नहीं है, ज्यादातर बाहर भेजता ही है। अर्थात चरखा केवल आर्थिक संयोजन का ही प्रतीक नहीं था, बल्कि उसके पीछे आर्थिक से बड़ी एक पारमार्थिक दृष्टि भी थी। पारमार्थिक दृष्टि यह कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति और पूर्ति इस प्रकार हो कि वितरण की पूँजीवादी समस्या न बने और मानवीय सम्बन्ध मूलतः हितैक्य के आधार पर खड़े हों, उनमें हित-विग्रह और श्रेणी-विग्रह न उपजे। अर्थ-रचना का क्रम राष्ट्रीय से अधिक मानवीय हो। इस आधार पर खड़ा होनेवाला राष्ट्र और फिर उस राष्ट्र में से निष्पन्न होनेवाला राजतन्त्र उत्तरोत्तर ऐसा हो सकेगा जिसका उत्कर्ष मानवता से अविरोधी हो और जो इसलिए हिंसा के उपकरणों की निर्भरता से मुक्त हो सके।

आज के दिन गाँधी को याद करना उपयोगी होगा। गाँधी की सबसे बड़ी विशेषता इस सन्दर्भ में यह है कि वह पूर्णत: राष्ट्रीय और राजकीय रहे, साथ ही उसी पूर्णता के साथ वह मानवीय और जागतिक भी रह सके। राष्ट्रीय उनके साथ मानवीय का विरोध धारण नहीं कर सका और राष्ट्र पिता एकच्छत्र राष्ट्र नेता होने के नाते उन्हें जगत भर के लिए महात्मा बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कहीं आदर्श-द्विविधा की समस्या उन्हें नहीं हुई और वे सब चुनौतियाँ उन्होंने लीं, उनका उत्तर दिया, कि जिनका उपाय केवल हिंसा में देखा जाता है।

राष्ट्र सत्ता को अब सॉवरेन माना तो जाता है, पर हम जानते हैं कि आज की विश्व स्थिति में कोई देश अकेला होकर नहीं जी रहा है, न जी सकता है। फिर भी सिद्धान्त में इस सॉवरेन्टी की रक्षा करने और उसका घोष रखने में से विश्व-व्यवहार में गाँठें पड़ जाती हैं। जैसा चाहिए वैसा किसी अन्त:करण का बोध उनसे नहीं होता है। आत्मवान मनुष्य है, वह स्वचालित है। उसी की सृजनशीलता में से जो श्रम और कर्म निकलता है, उसमें से संस्कृति और सभ्यता की सृष्टि होती है।

इसलिए राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इस अखण्डता और अभंगता (इन्बायोलेबिलिटी) के मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें व्यक्ति के भीतर का स्नेह और सबके बीच का पारस्पर्य छिन्न-भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और संयुक्त होता चला जाए।

ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। सत्य दो नहीं हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नहीं हैं। राज्य की नीति के लिए अत: मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानव-नीति के बारे में अब बहुत विभ्रम नहीं है। वह मनुष्य मूल से नीतिवान् प्राणी है। पाप में जाते हुए भी वह अन्त:करण की व्यथा से मुक्त नहीं हो पाता है। अनिवार्यत: उसका जीवन-मान नैतिक होता है। इस नैतिकता को आधार शिला मानकर यदि हम अपनी अर्थ-रचना, समाज-रचना, राष्ट्र और राज्य-रचना के सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधी व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो ज्ञान-विज्ञान के आज के विकास-बिन्दु तक आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और सँभाल सकेगा। सार्वभौम 'सॉवरेन्टी' का भाव तब राज्य के पास न होकर स्वयं नीति के पास होगा और जिस शक्ति से काम हुआ करेगा वह विग्रह-संघर्ष-जनित न होगी, बल्कि वह हर स्तर पर स्निग्ध परस्परता की होगी। उस शक्ति का सत्त्व भौतिक से अधिक नैतिक होगा।

□

प्रश्न और प्रश्न

लेखकीय

प्रश्न का उत्तर हो सकता है, हुआ भी करता है, लेकिन वह उत्तर प्रश्न को बन्द नहीं कर देता। समाधान समाप्ति का नाम नहीं है यदि है तो प्रश्न से बढ़कर अगले और उन्नत प्रश्न तक जाने का ही नाम हो सकता है। जीना जब तक हो, पुरुषार्थ के लिए अवकाश बना ही रहता है। पुरुषार्थ प्रश्न की चुनौती में से उदय में आता है। आशा है मेरे द्वारा दिये गये उत्तरों में किसी प्रश्न को बन्द नहीं कर डाला गया है, बल्कि मानो उत्तर द्वारा उस प्रश्न को और खुलने ही दिया गया है। प्रश्न गाँठ की भाँति जब भीतर गड़ने लगता है तो चाहिए कि हम उसके मुँह को बाहर की ओर मोड़कर मानो जीवन के और चिन्तन के खुले विस्तार में खोलकर छोड़ दें। तब प्रश्न का काँटा ही दूर होता है, उसकी आवश्यकता निश्शेष नहीं होती।

—जैनेन्द्र कुमार

ऋषिभवन, दरियागंज
दिल्ली
23 मार्च, 1966

नीति और राजनीति

सम्प्रदाय की व राष्ट्र की परिभाषा क्या है? हिन्दू एक सम्प्रदाय है या राष्ट्र?

—परिभाषा की चिन्ता में न पड़िए। राष्ट्र भौगोलिक और राजनीतिक (एकांश) यूनिट है। मत, वर्ग और वर्ण वहाँ अनेक हो सकते हैं। समानता की एकता भूगोल से नहीं बनती, अमुक मत आदि की समानता से बनती है। अर्थात राष्ट्र तो भी प्राकृतिक है, सम्प्रदाय मानसिक है।

हिन्दू शब्द हमें दूसरों से मिला है। वह सिन्धु से बना है। अर्थात सिन्ध से इधर रहनेवालों ने हिन्दू कहना शुरू कर दिया। उसमें सम्प्रदाय भाव न था, राष्ट्र कह भी सकते हैं। क्योंकि उसकी इयत्ता की पहचान भौगोलिक सीमा से होती है। राष्ट्र-संस्कृति के रूप में हिन्दू संस्कृति ने विकास पाया। वह जकड़बन्द चीज न थी। न किसी एक प्रवर्तक से जुड़ी थी, न शास्त्र से, न किसी एक दर्शन से। अत: संस्कृति के रूप में हिन्दू भाव विकास होता गया, पर इतिहास में एक जगह जाकर हिन्दू शब्द जैसे भौगोलिक से अधिक मतवादी सीमा भी अपना उठा। वहाँ से कहना होगा कि उसे तनिक सम्प्रदाय का रूप भी मिल चला

अभी जो हमारे बीच गाँधी हो गये हैं, उनकी वही विशाल समन्वय की दृष्टि थी। वह हिन्दू शब्द को सीमित मानसिकता से उठाकर फिर मानव संस्कृति में प्रतिष्ठत कर देना चाहते थे। भौगोलिक सीमा व्यवहार को सुगम करती है, आत्मा पर वह नहीं आती। हिन्दुत्व की आत्मा को गाँधीजी मुक्ति करके उसी शुद्ध संस्कृति के रूप में उठा ले आना चाहते थे। दूसरे मत अमुक एक शास्त्र और व्यक्ति से जुड़ सकते हों, हिन्दू उन शास्त्रों और व्यक्तियों को भी समादर में समा सकता है।

हिन्दुत्व के उस उद्धार के लिए गाँधीजी जिये। लेकिन हिन्दुत्व की ओर से ही उन्हें मारा भी गया। पहला हिन्दुत्व राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और मानवीय था। दूसरा हिन्दुत्व साम्प्रदायिक, मतवादी, वर्गीय था।

संविधान में भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य कहा गया है। इसका क्या अर्थ हो सकता है? क्या सरकार की धर्म-निरपेक्ष नीति के कारण भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला, ऐसा आप मानते हैं?

—मैं वैधानिकों का प्रतिनिधि नहीं हो सकता हूँ। मानना चाहिए कि धर्म निरपेक्ष से उनका आशय सब धर्मों के प्रति समान व्यवहार रहा होगा। किसी अमुक धर्म के प्रति पक्षपात नहीं होगा, इतना ही अभिप्राय रहा हो सकता है। इसमें अनिष्ट भी कुछ नहीं है। लेकिन हवा में जो धर्म निरपेक्षता बन गयी है, और जो भारत के प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व का हठात सहारा ले लिया करती है उसमें धर्म का समान आदर नहीं है केवल समान उपेक्षा है। आदर की भी समानता हो सकती है, अनादर की भी एक सपाट तटस्थता हो सकती है। लेकिन इन दोनों में जमीन-आसमान का फर्क हो जाता है। अनादर की समानता धर्मप्राण भारत देश के लिए बहुत ही अभारतीय हो जाती है, मानो उसमें विदेशी अवज्ञा का पुट हो।

हाँ, इस प्रकार की धर्म निरपेक्षता ने हमारा बहुत अनिष्ट किया है। एक विशेष प्रकार की दुनियासाजी को इसने बढ़ावा दिया है जो अन्तःकरण की ओर से कोई रोकथाम स्वीकार नहीं करना चाहती। उसे संयम में रखने का साधन एक कानून ही रह जाता है। सामाजिक परम्परागत नीति-नियम इस धर्म निरपेक्ष से नीचे ही छूट जाते है। जैसे यह मानस उन सब 'तुच्छताओं' से उत्तीर्ण होने से प्रगतिशील हो। इस प्रकार की मानसिकता समाज के लिए एक बड़ा खतरा पैदा करती है। विद्यार्थियों एवं युवकों के क्षेत्र में सम्प्रति जिस अनुशासनहीनता और अनियमता की शिकायतें सुनी जाती हैं, उसके मूल में ऐसी ही निरपेक्षता की भावना है।

आज इस सम्बन्ध में पुनर्विचार भी हो रहा है। सवेरे की ही अखबार में खबर है कि अमुक राज्य धर्म शिक्षा को अपने यहाँ अनिवार्य करने जा रहा है। अगर प्रशासन को ही सब नियन्त्रण ऊपर से लाने और पुलिस के जोर से नहीं मनवाने हैं तो आवश्यक है कि समाज में आत्म नियन्त्रण के तत्व पुष्ट हों। जिसे निरपेक्षता कहते हैं उससे उन तत्वों को बल नहीं पहुँचता। धार्मिक और नैतिक आदर्श आत्म नियन्त्रण के निमित्त से ही बन खड़े हुए हैं। उनकी बड़ी उपयोगिता है। मानना होगा कि जब यह आत्म नियन्त्रण आन्तरिकता से हटकर बाहर समाज में संस्था के रूप में जमने लग जाता है तो वहाँ भी स्थापित स्वार्थ और तज्जनित अनिष्ट बन खड़े होते हैं। लेकिन केवल उनके संगठित स्थूल रूप से डरकर आत्म नियन्त्रण तत्त्व से ही छुट्टी पा जाना समाज के हित में खतरनाक होता है। हाँ, इस प्रकार की अवज्ञाशील धर्म निरपेक्षता से उल्टे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता तो हो मुझे तनिक भी अचरज न होगा। नैतिकता के बिना तो मानव समाज का

काम चल नहीं सकता है। उस ओर की उदासीनता यदि सरकार में दिखाई दे तो उस अभाव को लेकर धर्माभिमानी तत्त्व राजनीति में सिर उठाने का बहाना पा जाते हैं। वैसे राजनीति के क्षेत्र में उनकी बात असंगत और अनसुनी रह जाती, लेकिन सांस्कृतिक और नैतिक नारे उनको यह अवसर देने लग जाते हैं। ऐसे दलों को आत्म समर्थन इस बात से मिल जाता है कि शासन उनका दमन आवश्यक बताता है। मानो यह दमन ही उनको ताकत दे देता और उनकी जड़ों को मजबूत बना देता है। उनको यह मानने का मौका मिलता है कि वे एक राजनीतिक सम्प्रदायवाद की शक्ति के हाथों शहीद किये जा रहे हैं। यह भाव उन्हें आत्म गौरव से भर देता है।

मेरा मानना है कि साम्प्रदायिकता कानून और शक्ति के जोर से नहीं कट सकती। धर्मवादी साम्प्रदायिकता स्वयं धार्मिकता से ही कट सकती है। गाँधीजी का यही रास्ता था। हिन्दू सच्चा हिन्दू बने, मुस्लिम सच्चा मुस्लिम बने, बौद्ध और सिख सच्चे बौद्ध और सिख बने तो इसी में वे सब अपनी-अपनी जगह पर सच्चे और खरे इन्सान बन उठेंगे। इस प्रकार उनकी अनबन खुद कटेगी और उनमें एकता पैदा होती। धर्म जितने आए जोड़ने के लिए आए थे, तोड़ने के लिए नहीं। उनके आसपास सत्ता-सम्पत्ति जुड़ गयी तब तोड़ने-फोड़ने का काम धर्म से लिया जाने लगा। अगर धर्म को फिर सत्ता-सम्पदा से उलटे अन्तरता की ओर मोड़ दिया जाय तो प्रत्येक धर्म एक महान समन्वयकारी शक्ति के रूप में प्रगट हो सकता है। धर्मों की यह सम्भावना धर्म निरपेक्षता से छूटी रह जाती है, उचित प्रस्फुटन नहीं पा सकती। इस तरह मैं मानता हूँ कि धर्म निरपेक्षता के दावे को ऊँचा उठाकर चलने वाली राजनीति अधूरी और ओछी पड़ने लग जाती है। जनता से मिलने वाली अपरंपार शक्ति से वह अपने को वंचित बनाती है। उसके पास वोट का बल ही रह जाता है, उससे अधिक बल नहीं पहुँचता।

गाँधीजी का सर्व धर्म समभाव उस समय की साम्प्रदायिकता को दूर कर सका, इसमें सन्देह है। उनको तो देश के प्रति जो लोगों में बलिदान होने की भावना थी, उसका लाभ मिला। और इस महत्कार्य के पीछे सब अपनी हठवादिता उस समय के लिए छोड़ बैठे थे। कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो साम्प्रदायिकता पनपी, वह इस बात का प्रमाण है। आपका क्या कहना है?

—लोगों में बलिदान होने की भावना तब क्यों थी, आज क्यों नहीं है? कह दिया जाएगा कि तब पराधीनता थी, आज स्वाधीनता है। तो क्या देखने में ही यह उलटी बात नहीं लगती है कि पराधीन में त्याग और बलिदान का भाव हो और स्वाधीन हालत में वह भाव समाप्त हो जाए!

गाँधीजी को उस बलिदान की भावना का लाभ मिला तो इसलिए मिला कि बलिदान की भावना को उन्होंने जगाया भी था। किस प्रकार उस भावना को वह जगा सके, यह प्रश्न हो तो उसका एक ही उत्तर है। वह उत्तर यह है कि वह राजनीतिक न थे, सर्वथा धार्मिक थे। उनकी धार्मिकता ने राजनीति को एक नया रंग दिया और वह घटना घटी जो इससे पूर्व कभी इतिहास में घट नहीं पायी थी। यहाँ तक कि शायद अगली पीढ़ियों को उस पर विश्वास लाना मुश्किल हो।

यह ठीक है कि महत्भाव और महत्कार्य में अपनी-अपनी हठवादिता गलकर बह जाती है। लेकिन यह महत्भाव लोगों में किस प्रकार जागता है? जिस पद्धति से आदमी स्वयं अपने को होमने चल पड़ता और दूसरों में इस प्रकार की प्रेरणा जगा देता है, उसी को गम्भीर धर्म भाव कहना चाहिए। गम्भीर धर्म भाव इसलिए कह रहा हूँ कि उसमें सबके लिए प्रेम और आदर होता है, मतवादी हठीलापन तनिक नहीं होता। इसी में से साम्प्रदायिकता अपने आप गलने लग जाती है।

इतिहास में आप एक अचरज देखियेगा। धर्म प्रवर्तक पुरुष धर्मज्ञ पण्डितों के हाथ सदा कष्ट और यातना ही पाते रहे हैं। कहना चाहिए कि साम्प्रदायिक और धार्मिक में सदा विरोध रहा है। किन्तु वह विरोध अकेले साम्प्रदायिक की ओर से हुआ है, धार्मिक की ओर से तो अविरोध प्रेम और आदर ही काम करता रहा है। इसी प्रेम और द्वेष की मुठभेड़ और लड़ाई में से नये धर्म का आविर्भाव और प्रसार हुआ है। अर्थात उन पुरुषों के प्रकाश से लोगों ने उनके उपदेशों के तले आपस में मिलने और एक-दूसरे के लिए कुरबानी करते हुए जीने की सूझ और पद्धति पाई। यह बलिदान और कुरबानी की प्रेरणा जब तक काम करती रही, धर्म फैलता गया। जब वहाँ भोग आया, सत्ता-सम्पदा का अभिमान पैठा, तब ही से ह्रास शुरू हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के और अनन्तर साम्प्रदायिकता पनपी तो क्यों? इसलिए नहीं कि अन्य धर्म का आदर गलत था, बल्कि इसलिए कि स्वतन्त्रता में से आते हुए भोग के प्रति लोगों की लालसा की आँखें जा लगी थीं। लीग ने इस्लाम का झंडा उठाया था, लेकिन उसके अलमबरदार नमाजी लोग नहीं थे, वे तो अँग्रेजीदां लोग थे। इस्लाम के धर्म से अधिक इस्लाम का नाम उन्हें प्यारा है और इस्लाम के इस नारे में शक्ति इसलिए पड़ती चली गयी कि धर्म की शक्ति की ओर तब की राजनीति का ध्यान ही नहीं जा सकता था। गाँधीजी का ध्यान था, लेकिन काँग्रेस का ध्यान तो सबका सब आनेवाले स्वराज के भोग पर लगा हुआ था। इसलिए लीग के मुकाबले में जमीअत की ताकत घटती चली गयी। जमीअत कुरान और मजहब के नजदीक थी, लीग दोनों से दूर थी। लेकिन जिस ताकत

को इस्लामी माना गया वही लीग में पड़ती चली गयी, जमीअत से हटती चली गयी। ऐसा हुआ कि इसलिए धर्म निरपेक्ष मानते-मानते राजनीति को धर्म के प्रति हमने अवज्ञाशील बना डाला था।

गाँधीजी के रहते साम्प्रदायिकता पनपी और फूटी, इससे पर-धर्म-मर्म-भाव को गलत ठहराना भूल करना होगा। नेशनल काँग्रेस वह जमात थी जिसने तात्कालिक राजनीति का नेतृत्व किया था। वह गाँधीजी का स्पर्श पाकर भी राष्ट्रीय और राजनीतिक से गहरी नहीं हो सकी। सच पूछिए तो साम्प्रदायिकता का विस्फोट काँग्रेस की इसी अक्षमता की प्रतिक्रिया थी। अर्थात माने जाने वाले सैक्युलेरिज्म (धर्म निरपेक्षता) का यह परिणाम था कि लोग जो एक मेज पर खाना साथ-साथ खाते थे वे ही अपनी नेतागिरि के अलग-अलग खेमे पैदा करके एक दूसरे के दुश्मन हो गये। दुनियासाजी से आगे अगर वे मन से धर्मभावी भी होते तो ऐसा कभी नहीं हो सकता था। मेरा मानना है कि जिन अनन्त और अथाह जिज्ञासाओं को लेकर धर्म जन्म पाते हैं उनसे वंचित बनाकर जो मनुष्य को कोरमकोर राजनीतिक बना देना चाहती है, वह दृष्टि ओछी है। उसके सहारे कभी युद्ध से पार नहीं पाया जा सकता, कभी उससे शान्ति मिलने वाली नहीं है।

राष्ट्रीय एकता (नेशनल इंटीग्रेशन) पैदा करने के लिए अँग्रेजी पर जोर दिया जा रहा है। इस पर आपके विचार?

—राष्ट्रीय एकता ऊपरी काज-व्यहौर की ही चीज नहीं है। वह भावना की गहराई में से आनी चाहिए। अँग्रेजी से ऊपरी सुभीता होता है। लेकिन भीतर से आनेवाली एकता अलग है। पर क्या इसी वर्ग में से वे तत्व नहीं निकले हैं जो प्रान्तवाद, भाषावाद इत्यादि का नारा उठाकर अपना दल रचते और नेतृत्व करते हैं?

एकता आन्तरिक प्रश्न है। वह भावनात्मक है। अँग्रेजी के द्वारा भारतवर्ष में भौतिक उन्नति के मार्ग खुलते मालूम होते हैं। इसलिए स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा की वासना को उससे उत्तेजना भी मिलती है। एकता के लिए कुछ वह चाहिए जो हममें महद्‌भाव जगाए, स्वार्पण की प्रवृत्ति पैदा करे। पहले कभी ऊपरी तौर पर भारत एक नहीं था, लेकिन भारतीयता सहस्रों वर्षों से अखण्ड बनी चली आयी। कारण, जिन मूल्यों पर हमारा जीवन चलता था उसमें निज को प्रधानता न थी, अन्य का आदर भी समाया था। इसलिए ऊपर विभेद रखते हुए भी अभ्यंतर में एक अभेद निभता चला गया। जब हम अँग्रेजी के सहारे पर जोर देते हैं तो मानो प्रधान को ओझल करते और गौण को महत्व देने लग जाते हैं। प्रधान यह है कि निज का अन्य के प्रति किस नीति से व्यवहार हो। यदि राजनीति प्रमुख है तो भाषा इत्यादि की एकता से भी परस्पर का शोषण और विग्रह कम नहीं होनेवाला

है। यदि प्रधान धर्मनीति है तो भाषाओं का भेद रहते भी एक-दूसरे की भाषा सीखने की वृत्ति पैदा हो सकती है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अँग्रेजी भारत के लिए हृदय की नहीं, काम-काज की मात्रा है। तब उस भाषा के जरिये लोग पहले अपना-अपना काम बनाने की सोचें, व्यवसाय-व्यापार फैलाएँ, और जहाँ परस्परार्पण का क्षेत्र है, वहाँ संकीर्ण बनें तो यह विस्मय की बात नहीं है। अँग्रेजी भारतीय भाषाओं में से किसी के निकट नहीं है। भारत को मिलानेवाली कोई वही भाषा हो सकती है जो भारतीयों के आपसी आदान-प्रदान से बनी हो और इस भाँति विभिन्न को आत्मीयता के तल पर अभिन्न कर सकती हो। अँग्रेजी उस आत्मीयता से एकदम विच्छिन्न है। तमिल या मलयाली, गुजराती या बंगाली सबको सुविधा है कि हिन्दी बोलते हुए अपनी प्रान्तीयता का स्पर्श भी वे उसे दे दें। सब हिन्दी की आत्मीयता में ढाल ले सकते हैं। वैसी सुविधा अँग्रेजी में तनिक भी नहीं है। हिन्दी निज में कोई अलग भाषा है ही नहीं। वह मेल की भाषा है। हिन्दी प्रदेश जिसे कहा जाता है, वहाँ अलग-अलग जनपदों में अपनी-अपनी बोलियाँ हैं। ऐसे ही हिन्दी में दूसरी प्रादेशिकताओं का भी समावेश हो सकता है। जाने-अनजाने वह हो ही रहा है। सच में तो निर्माण जीवन का तर्क करता है। राजनीति का तर्क थोड़ी देर की उलझन-भर पैदा कर पाता है। मैं मानता हूँ कि देश में यदि आत्मिक और हार्दिक एकता नीचे से बनती हुई आएगी तो वह अनायास हिन्दी का माध्यम अपनाएगी। यह किसी कानून के जोर से नहीं होगा, स्थिति-तर्क की अनिवार्यता में से ही ऐसा घटित होगा। अँग्रेजी में किन्हीं भी प्रदेश-वासियों का आत्मदान उस प्रकार सम्भव नहीं है। राष्ट्र-भाषा का निर्माण उसी सहयोग, सहकार और सहदान द्वारा होनेवाला है। अँग्रेजी के द्वारा लाई और बनाई गयी एकता बौद्धिक और श्रमिक इन दो भागों में देश को बँटा रखेगी। यह फटाव और भयानक होगा, जैसा अब भी दिखाई देता है। भारत में शक्ति तब आएगी जब एकता वैधानिक ही न हो बल्कि जन-जन के हृदय में उसका अनुभव हो। वैसा नहीं हो सकता कि जब तक प्रत्येक अपने को राष्ट्र-भाषा के निकट न अनुभव करे। वह भाषा मेलों-पर्वों और राहों-बाजारों में जन-सम्पर्क के द्वारा आप बनेगी। हिन्दी का इतिहास वही है। वह समागम और संयोग में से बनी है। यदि राज्य और कानून की नहीं तो जनता के बीच आज भी वही राष्ट्र भाषा का काम दे रही है।

राष्ट्र व्यापी विघटन के लिए आप किन तत्त्वों को जिम्मेवार मानते हैं?

—उन मूल्यों को जिनसे मानसिकता का निर्माण होता है। आज वे राजनीतिक हैं। इस कारण विघटन है। यदि और जब वे नैतिक होंगे तो विघटन रुकेगा और संघटन

संपन्न होगा?

क्या साम्प्रदायिकता इन्हीं राजनीतिक मूल्यों की देन है? यदि हाँ, तो इसके निवारण के क्या विकल्प आप रखना चाहेंगे?

—साम्प्रदायिकता एक गठित स्वार्थता का ही नाम है। राजनीतिक मूल्य स्वार्थ-गठन के अतिरिक्त दूसरा है क्या? दल पद्धति को शायद हम साम्प्रदायिक नहीं मानते हैं। लेकिन केवल इस कारण कि मत धार्मिक नहीं राजनीतिक है, क्या मत-दलबन्दी स्वार्थहीन हो जाती है? राजनीतिक मतवाद को लेकर होनेवाला आग्रह-विग्रह भी वह साम्प्रदायिकता नहीं तो और क्या है? राजनीतिक मूल्य होने का आशय यही है कि हम संगठन और संख्या को महत्त्व देते हैं, नीति और गुण को गौण कर देते हैं। मूल्यों के इस विपर्यय का ही यह परिणाम है कि बल का बोलबाला होता है और आदमी का मन रचनात्मक नहीं रह जाता।

निराकरण के लिए सीधा मन्त्र यह है कि मैं सच हूँ तो दूसरे का भी उतना ही सच होने का हक़ मानूँ। स्वमत के साथ विमत का भी जब हम समान आदर करेंगे तो सम्प्रदाय जीवन का अनिष्ट नहीं कर सकेंगे। यदि परस्पर आदर का मूल्य चलन में आ जाता है तो सब प्रकार के सम्प्रदाय समाज-जीवन की शोभा और सम्पन्नता बढ़ानेवाले हो जाएँगे, वे हानि नहीं करेंगे।

आज जो बड़ा भ्रम चल रहा है वह यह कि राजनीति के नाम पर दल-सम्प्रदाय रखे और बनाये जा सकते हैं। धर्म के नाम पर होने पर ही वे अनिष्ट समझे जाते हैं, जैसे राजनीतिक होते ही जड़ता और कट्टरता गलत से सही हो जाती हो!

तो क्या काँग्रेस को भी स्वय में एक सम्प्रदाय आप मानेंगे? यहाँ सम्प्रदाय की कुछ खुलासा व्याख्या करने की जरूरत महसूस होती है।

—बड़ी आसानी से काँग्रेस एक सम्प्रदाय बन सकती है। अगर उसमें से दूसरे का आदर खत्म हो जाता है, सचाई को वह अपनी मुट्ठी में मानने लग जाती है, इतर के लिए उसमें अवज्ञा का भाव भी पैदा हो जाता है—तब वह सम्प्रदाय नहीं तो क्या है?

वे सब घेरेबन्द समुदाय जो अपने से बाहर सहानुभूति का विस्तार सह नहीं सकते, सम्प्रदाय हैं। नहीं तो दूसरी उनकी क्या परिभाषा हो सकती है। इतिहास में से जिसकी हदबन्दी निश्चित चली आयी है, उन्हीं के लिए साम्प्रदायिकता सम्भव मानना और आधुनिक नामों पर बनी हुई घेरेबन्दी को उचित ठहरा लेना एक भ्रममात्र है। अपने बचाव में ऐसा हम अक्सर किया करते हैं। परम्परागत मत से छुटकारा लेकर अपने को हम असाम्प्रदायिक ठहरा लिया करते हैं, पर स्वार्थता,

कट्टरता और हठवादिता नये आधार ढूँढ़कर जमने लग जाए तो भी वह उतनी ही अनिष्ट बनी रहती है। बल्कि इस कारण उसे ओर भी अनिष्ट मानना चाहिए कि उसकी अनिष्टता का सहसा पता नहीं चलता है!

ऊपर का प्रश्न कुछ बच गया। मैं जानना चाहता था कि काँग्रेस द्वारा किये गये अब तक के कृत्यों को दृष्टि में लेते हुए, और परिणाम स्वरूप, जो साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा है, उसमें मूल दोष क्या काँग्रेस का ही नहीं है? और वह भी इस कारण क्या वह स्वयं एक सम्प्रदाय नहीं बन बैठी है? क्या आप स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट कर सकेंगे?

काँग्रेस का दोष किसी राजनीतिक दल से कम या अधिक नहीं है। कम इस अपेक्षा में कह सकते हैं कि गाँधीजी से जिन्होंने अपने जीवन में प्रभाव प्राप्त किया है ऐसे लोग काँग्रेस में काफी हैं। लेकिन नीति से जब हम राजनीति को पृथक कर लेते हैं तब अनायास जिन मूल्यों को महत्व मिलता है वे विग्रहवादी हो जाते हैं, संग्रहकारी नहीं रहते। काँग्रेस पर ध्यान इसलिए विशेष जाता है कि एक तो वह शासन प्राप्त है, दूसरे स्वराज्य से पहले उसने देशवासियों को स्फूर्ति और आदर्श का दान दिया था। इन दोनों बातों से अलग करके देखें तो काँग्रेस का दोष अधिक नहीं रह जाता, सिर्फ इतना रह जाता है कि वह भी बहाव में आकर अपने को भारतीय आधारों पर संभाले नहीं रख सकी।

इसके अतिरिक्त काँग्रेस के कृत्यों की कोई दूसरी आलोचना नहीं है। उस संस्था ने जो और जितना किया दूसरा कोई दल शायद नहीं कर सकता था। हाँ, यह सच है कि जितना काँग्रेस ने अपने को गिना उतना ही दूसरों के लिए भी अपनी-अपनी अस्मिता को उभारना आवश्यक हो गया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता काँग्रेस की किसी प्रच्छन्न अस्मिता की प्रतिक्रियास्वरूप निकली हो तो भी विस्मय नहीं है। यह मुस्लिम साम्प्रदायिकता अपने लिए पाकिस्तान बना बैठी। काँग्रेस ने उसको स्वीकार किया, तो एक तरह से अपने लिए भी वह साम्प्रदायिकता का स्वीकार हो गया। उस स्वनिष्ठता और स्वमान के भाव से काँग्रेस मुक्त नहीं है। उसके बाहर और उसके भीतर भी इस अभिमान की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। उसके भीतर ही गुट बन रहे हैं और उनमें यादवी चला करती है। यह प्रतिक्रिया अनिवार्य ही है, यदि शासन का मूल्य प्रथम और सेवा द्वितीय हो। पद को महत्व देने मात्र से साम्प्रदायिकता या धड़ेबँधी को उत्तेजना मिलती है। किन्तु यह दूसरा प्रश्न है और संस्था-संघटन के स्तर पर काँग्रेस को किसी से हीन ठहराने के आधार पर इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो सकता है।

साम्प्रदायिक दलों पर रोक लगाने के लिए कानून का सहारा लेने की बात काँग्रेस

सोच रही है। क्या इसके कुछ अच्छे परिणाम निकलने की सम्भावना है अथवा यह राष्ट्रव्यापी विघटन की ही ओर एक और कदम होगा?

नहीं, मैं उसमें कोई इष्ट नहीं देखता हूँ।

फिर वर्तमान स्थिति में क्या आप कुछ ठोस सुझाव दे सकते हैं?

—हमने वयस्क मताधिकार को अपनाने की हिम्मत की है। हम क्यों साहस और विश्वास से डिगें? प्रत्येक वयस्क को निर्माण अपने हाथ में लेने दीजिए। उसको स्वयं समझने दीजिए। नारों और घोषों से सहज बुद्धि क्षुब्ध होती है और कृत्रिम वातावरण उत्पन्न होता है। सम्प्रदाय के नाश का घोष उठाने वाला स्वयं सम्प्रदाय नहीं है, इसका यदि सबूत हो तो यह कि वैसा घोष ही न उठाए। अन्यथा बहसा-बहसी, छिद्रान्वेषण और आरोपण-प्रत्यारोपण का वातावरण बनेगा जिसमें नागरिकता डूबेगी और कोरमकोर राजनीतिकता उभरेगी। इसमें मैं कोई जीवन का लाभ नहीं देखता हूँ। एक दूसरे की काट और घात की तबीयत ही इस प्रकार बढ़नेवाली है। यदि हमें अपने व्यस्क मतदाता देशवासी की सद्‌बुद्धि पर भरोसा हो तो शब्दों से नहीं कृत्यों से उसका विश्वास हम संपादन करें और निर्वाचन में जहाँ तक हो मुक्त मतदान होने दें।

चुनाव आनेवाला है। यह समय है कि नारों का उद्‌घोष कम हो और जनता का सच्चा राजनीतिक शिक्षण संभव हो। काट, निन्दा और लांछन के शब्दों को बीच में डालने से आवेश उभरते हैं। उससे स्वस्थ मानसिकता का निर्माण कठिन होता और अभिनिवेषों से वातावरण घुटने लग जाता है।

चुनाव जीत ले जाना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है जनता का मन जीतना। यह आसानी से बन सकता है कि मत-पर्चियाँ आ जाएँ और मन छूटा रह जाए। भारतवर्ष में यह दृश्य असाधारण नहीं है कि वोट आदमी को नहीं पड़ रहा है, बैलों की जोड़ी को दिया जा रहा है! मत के साथ जब मन भी आता है तब शासन को सच्चा जन-बल प्राप्त होता है। लोकतन्त्र का सार आशय भी तभी सिद्ध होता है। राज्यवादी मत पर प्रसन्न हो सकता है पर नीतिवादी के लिए मन का ध्यान रखना आवश्यक है।

सच यह कि जन-मन में जगह पाये हुए लोग जब जन जीवन में उभर कर आएँगे तब लोक राज्य सार्थक होगा। अधिकांश ये लोग पद से अलग रहते हैं। चुनाव में आगे बढ़कर उम्मीदवार बनना उन्हें सूझता ही नहीं। जब ऐसे सेवकों की जमात प्रभावशाली होगी तब राजतन्त्र व्यवस्था पर भारी नहीं पड़ेगा ओर शासक मानो प्रजानुशासन के अधीन रह सकेगा। यह परिणति तब होगी जब राजनीति में से राज की प्रमुखता हटेगी और नीति की प्रभुता बढ़ेगी। जब पद पर पहुँचना

और पहुँचाना ही चुनाव का इष्ट प्रयोजन रह जाता है तो राज्य सिर पर चढ़ता और प्रजा पाँव तले पड़ जाती है। सारे मूल्यों का ऐसे विपर्यास होने लगता है।

क्या आपको याद है कि गाँधीजी ने सुझाया था कि स्वराज्य में राष्ट्रपति के पद पर वंचित मानवता के किसी निरीह और पवित्र प्रतीक हो बिठा दो। जब हम वहाँ शान-शौकत को बिठाते हैं तो मानों जीवन में उसी चीज के महत्त्व को ऊँचा चढ़ा देते हैं। तब सीधा सच्चापन अपने में लज्जित होने लगता है और श्रम से लोग जी चुराते हैं। फिर वे सब उपाय जिनसे सत्ता या साधन हाथ आते हों बुद्धिमानी के बन जाते हैं और वह ढंग जिनमें सीधी सही मेहनत की जाती हो निपट मूर्खता के मालूम होने लगते हैं। मूल्य असल का नहीं रहता मुलम्मे का होता है अगर लोग अन्तरात्मा से उल्टे बाहरी दिखावे में मन रखते हैं।

आपकी राय में अँग्रेजी का भारत की संस्कृति और राजनीति में कोई स्थान अभी बाकी है? क्या एक दिन उर्दू की तरह वह भी भारतीय भाषाओं की सूची में अपना स्थान बना लेगी? क्या राजाजी, जो अँग्रेजी की जोरदार वकालत करते आये हैं, अराष्ट्रीय नहीं है?

—अँग्रेजी के जरिये भारत को यह सुविधा रहेगी कि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में वह अपना महत्व का स्थान बनाए रहे। अँग्रेजी उसके संस्कार में दाखिल हो गयी है। यह भी प्रकट है कि अन्तरराष्ट्रीय कारोबार में अँग्रेजी ही बहुमान्य भाषा बनने वाली है। इस सुविधा से भारत को वंचित नहीं किया जा सकता।

लेकिन इसके आगे उस भाषा की निर्भरता भारत के हित में नहीं है। भारत इस पराश्रय के कारण खंडित हुआ पड़ा है। ऊपर अँग्रेजीदाँ लोग हैं जो श्रेणी के रूप में अलग कटे-छंटे दीखते हैं। नीचे असंख्य जनता है, जो इस वर्ग को विस्मय से देखती रह जाती है और आसानी से उसके आतंक में दबी रहती है। यह विशिष्ट-सामान्य का वर्ग विभाजन भारत का अमित अहित कर रहा है। यह सच्चे अर्थों में भारत का लोकतन्त्र नहीं बनने देगा। इस कारण गणतन्त्र वर्ग तन्त्र बना रहता है, लोक-शक्ति भारत के राजकारण में आ नहीं पाती, भारत का आत्मबल कर्म-बल नहीं बन पाता। परिणाम यह है कि भारत पश्चिम की उन्नति की पीली नकल-सा रह जाता है, आत्मनिष्ठ नहीं बन पाता। यदि भारत के पास कुछ देने को है, तो वह उसका आत्म-दान है। अँग्रेजी के द्वारा हम सिर्फ पश्चिम का अक्स दुनिया को देते हैं, अपना आत्म नहीं दे पाते। दुनिया की भी इस तरह बहुत बड़ी क्षति हो रही है। एक महादेश, जिसके पास हजारों वर्ष गहरी गयी हुई और अविच्छिन्न साँस्कृतिक परम्परा है, जिसके पास धर्मनीतिक क्षेत्र का अमित अनुभव और ज्ञान-कोष है, वह देश मानो केवल अँग्रेजी की निर्भरता के कारण

मानव जाति के संचित कोष में से एक साथ ऋण हो जाता है।

यह अपने देश की और मानव जाति की इतनी बड़ी क्षति है कि राजनेता जागेंगे तो एक क्षण भी उसे नहीं सह पाएँगे जितनी देर सहते हैं, उतना ही उन्हें पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वे अनुभव करेंगे कि भारतीयता की असंख्य जनता में से प्राप्त होनेवाला बल जो है उसे वे अर्जित नहीं कर पाये, लोक शक्ति से वंचित और विहीन बने रहे, उसी के कारण उन्हें एक दिन वहाँ से गिरना पड़ा। कोई भी दल जब तक लोक भाषा का सहारा नहीं लेगा, स्थिरता के साथ भारतीय राज्य के शीर्ष पर नहीं बैठ पाएगा। और यदि किसी युक्तिबल से वह वहाँ बैठेगा और बैठा रहेगा, तो ठीक वही बल भारत की आत्मा को कुचलने वाला होगा। भारत के पास एक नहीं, अनेक समृद्ध लोक भाषाएँ हैं, उनमें कोई भी एक राजभाषा का स्थान ले सकती है। सामर्थ्य की दृष्टि से अपनी लोक भाषाओं में कमी मानना पश्चिमी प्रभुता की पूजा में पड़ना और मानसिक दासता को सिर लेना है। यह कभी सत्य नहीं हो सकता कि भाषा में कमी है, होती है तो कमी उन लोगों के मनों में होती है जिनकी वह भाषा है। अँग्रेजी के द्वारा काम चलाने वाला वर्ग यदि अपनी लोक भाषाओं में वह सामर्थ्य अनुभव नहीं करता कि राजकाज चला सके, तो यह स्वयं अँग्रेजी भाषा की आलोचना है। अँग्रेजी यदि व्यक्ति को इतना निर्वीर्य बनाती है कि वह अँग्रेजी का योग नहीं साधता बल्कि उसकी प्रभुता के नीचे आ जाता है, तो इसी में अँग्रेजी का दोष प्रकट हो जाता है। अँग्रेजी को यदि शक्ति मिली कि भारतीय उससे अभारतीय हो जाएँ, अपने देशवासियों से बात करने और काम लेने के लायक न रह जाएँ, तो यह शक्ति अँग्रेजी की न थी; उन लोगों के आत्मविश्वास की त्रुटि ने वह शक्ति दी थी। राजनेताओं की दुर्बलता कहनी चाहिए, आत्महीनता कहनी चाहिए कि वे अँग्रेजी से काम नहीं लेते, जितने अँग्रेजी के काम आते हैं। यह अतिरिक्त क्षमता उन्होंने अँग्रेजी को दी है। अँग्रेजी यों बहुत बड़ा सुभीता है हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी के लिए सुविधा न बन सके, उन्हीं के हाथ की सुविधा बनी रहे। हम पश्चिम के और उसकी सभ्यता के हाथ खेल रहे होंगे यदि अँग्रेजी को अपनी सुविधा न बनाएँगे, बल्कि अपनी निर्भरता बना लेंगे।

राजाजी का घाव

राजाजी व्यक्तिशः इस बात को नहीं पहचानते, यह नहीं माना जा सकता। अँग्रेजी पर उनकी इतनी प्रभुता है कि उस भाषा के प्रति वह अब तनिक भी मोह की आवश्यकता में नहीं रह जाते। उस भाषा का तनिक भी आतंक उन पर नहीं है। इसीलिए लेखक वह तमिल भाषा के हैं और उनकी लेखनी मुक्त और सहज

है। किन्तु राजनीतिक ब्यामोह से जो वह छूट नहीं पाते हैं, उसी कारण उनमें संशय पैदा होता है। उत्तर-बनाम-दक्षिण की बात मन में उठते ही उन्हें अँग्रेजी में सुरक्षा मालूम होती है। राजनीति की चोटों से उनका मन अस्वस्थ न बन गया होता, तो वह कभी ऐसी बात कहनेवाले न थे। वह ऋषि हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं। केवल राजनीति ने जो उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, उसी के कारण गलत प्रलाप या विलाप उनकी ओर से आ सकता है। उस वाणी में राजाजी नहीं है, केवल उनका घाव है। इसलिए वैसे उद्‌गारों पर विशेष अटकने की आवश्यकता नहीं है।

अँग्रेजी को भारतीय मान लिया जाए

अँग्रेजी, चाहे एक वर्ग में सही, यहाँ सदा के लिए रच-पच गयी है। इसलिए आत्माभिव्यक्ति की एक भाषा के रूप में उसे भी भारतीय स्वीकार कर लेने में हर्ज नहीं। साहित्य अकादमी में उसे भारतीय भाषाओं की गिनती में रख ही लिया गया है। यहाँ बहुत-कुछ मौलिक है जो अँग्रेजी में लिखा गया है। विवेकानन्द और गाँधी तो नेहरू नहीं है, लेकिन उनका अधिकांश लेखन अँग्रेजी में हुआ। राधाकृष्णन ने जितना लिखा भारतीय दर्शन को लेकर लिखा, लेकिन अँग्रेजी में लिखा। श्री अरबिन्द भारतीय योग के अप्रतिम व्याख्याकार हैं, लेकिन इस प्रयोग की भाषा अँग्रेजी है। इस सब निधि को भारत खो नहीं सकता। अनुवाद द्वारा उसे अपना बनाए, मूल को पराया गिने, यह गलती भी उससे सम्भव नहीं है। यह सब देखकर अँग्रेजी को भी एक भारतीय भाषा मान रखने में ही सत्य का आदर है, यह स्पष्ट है।

उर्दू हिन्दुस्तान की है

लेकिन उर्दू की तरह अँग्रेजी कभी न हो पायी। पाकिस्तान तो कल बना है लेकिन उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं आपको नहीं मिलेगी। वह एकदम हिन्दुस्तान की भाषा है। प्रदेश की नहीं है, हिन्दुस्तान की है। उस भाषा को एक अपना प्रदेश मिले, यह खब्त अगर उर्दू में हुआ, (हुआ तो था, और शायद अब भी कहीं उनका अवशेष हो) तो यह अक्लमन्दी नहीं कहलायेगी। हिन्दी का क्षेत्र जाने-अनजाने उर्दू का भी क्षेत्र है और केवल पाकिस्तान बन जाने से यह तथ्य बदल नहीं जाता है। बोली में ये दो भाषाएँ नहीं है, केवल एक भाषा की दो शैलियाँ हैं। लिपि के कारण वे दो हैं, लेकिन लिपिवाला यह दोपन एक सीमा तक ही काम करता है। सत्य के आग्रह पर चलनेवाले गाँधीजी ने हिन्दी यानी हिन्दुस्तान का सूत्र इसीलिए दिया था। वह सूत्र पुराना पड़ गया है, लेकिन उसकी सत्यता को याद रखना भाषा के क्षेत्र में आज भी उपयोगी हो सकता है और उलझन को

सुझाने में बड़े काम आ सकता है।

अभी आपके किसी लेख में पढ़ने को मिला कि गाँधीजी स्वराज्य प्राप्ति के बाद काँग्रेस जमात को लोक सेवक संघ के रूप में देखना चाहते थे। राजनीति और सत्ता से दूर रहने की सलाह काँग्रेस को गाँधीजी ने दी थी। पर वैसा न हुआ और मेरा मानना है कि वह सम्भव नहीं था, क्योंकि तब सत्तारूढ़ होने और उस समय की राजनीतिक स्थिति सँभालने के लिए जो भी दल आता उसमें जनता का विश्वास होना तो अनिवार्य था ही। और उस समय काँग्रेस से अलावा ऐसा कोई दल नहीं था जिसे जनता का विश्वास प्राप्त हो। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि काँग्रेस ही राज्य चलाने का भार अपने पर ले।

—सबसे अधिक विश्वास उस समय देश का स्वयं गाँधीजी पर था। गाँधीजी के लिए तो अनिवार्य नहीं हुआ कि प्राइम मिनिस्टर बनें। मिनिस्टर और प्राइम मिनिस्टर अपने में से स्वयं बनाकर काँग्रेस को देना है। वह भी अपने चोटी-से-चोटी के लोगों को उस काम के लिए फेंक देना है। यह तो कोई ईश्वर का या परिस्थिति का आदेश न था। उन पदों के लिए उम्मीदवारों की कमी न हो सकती थी। न पात्र व्यक्तियों की देश में कमी थी या कमी है। गाँधीजी ने सुझाया था कि सरकार और केबिनेट दलीय बने, यह जरूरी नहीं मानना चाहिए। अधिक-से-अधिक योग्य बने, यह ध्यान रखना चाहिए। ऐसा होता तो इस प्रयोग से भारत द्वारा दलमुक्त लोकतन्त्र का नमूना दुनिया को मिल सकता था। भारत वह देश बन सकता था जिसके उदाहरण से लोग देख सकें कि राज्य शासन कोई सबसे मुख्य काम नहीं है। ऐसा नहीं है कि उसके लिए हत्या या होड़ हो, बल्कि लोग हो सकते हैं जो मुट्ठी में रहने पर भी शासन के पदों को दूसरे के हाथ में देकर खुश हैं। एक नई हवा उससे दुनिया में बँधती और जीवन के मूल्य शुद्ध होते। विज्ञान के उत्कर्ष के साथ जब कि भौतिक रूप से दुनिया छोटी पड़ती जा रही है, तब नैतिक क्षेत्र में भी लोग होते जो दुनिया को और मानव जाति को एक मानकर सोचते-विचारते और मानसिक दृष्टि से उसी स्तर पर अपना व्यवहार चलाते। दुनिया की मानसिकता तब अपने-अपने विभिन्न और विरोधी देश-खेमों में बँधी न होती । और भारत वह देश होता जो मनुष्य और विश्व की एकता के क्षेत्र में मार्ग-दर्शक होता।

पर काँग्रेस के चित्त में तो राज्य बैठा था। वह चित्त राजनीति से ऊपर न देख पाता था। उसे समय पर मूल्यों की पहचान न हुई। जो क्रान्ति गाँधीजी लाना चाह रहे थे उसका उन्हें आभास न हो पाया। राष्ट्र नेता तक तो काँग्रेस ने गाँधीजी को माने रखा, आगे जब गाँधीजी ने मानव नेतृत्व की राह उनके सामने खोलकर रखी तो उनको वह समझ न आयी। हमारे राजनायकों को लगा कि गाँधीजी के

लोक सेवक संघ की बात निरी अव्यवहार्य और आदर्शवादी है। यही कारण था कि उसे कोई और मार्ग इसके सिवा नहीं सूझा कि स्वयं शासन के पदों पर जा बैठा जाए। इससे ऊँचा और उसे स्वधर्म ही समझ न आया।

भारतीय विश्वास की बात अगर कही जाए तो भारत के सहस्त्रों वर्षों का इतिहास सामने है। उसने विश्वास दिया है सन्त को, ऋषि को। विश्वास दिया है उन राम और कृष्ण को जिन्होंने राज्य को महत्व में कभी लिया ही नहीं। यदि उस विश्वास के प्रति काँग्रेस को सच्चा रहना था तो सीधा मार्ग था कि वह उन महापुरुषों के उदाहरण को सामने रखे, स्वयं गाँधीजी को ही सामने ले, जिन्होंने राज्य को क्षत्रिय के लिए नियुक्त किया, स्वयं उससे उन्नत, उत्तम और उत्तीर्ण मार्ग अपनाया।

पर वह नहीं हो सका। कारण यह नहीं कि जन-विश्वास की कोई विवशता थी, बल्कि कारण यह कि काँग्रेस नायकों के चित्त में मोह था। अब तक गुलाम रहे थे, एकाएक मालिक बन देखने का स्वाद लिए बिना रहना मुश्किल था। कहीं अवश्य तृष्णा नीचे थी, नहीं तो बीज न होता तो आगे के बरसों में वह जहर फैला, फला कहाँ से दिखायी देता। गाँधीजी सेवा-बलिदान के मार्ग पर चले थे तो इसलिए नहीं कि वह मार्ग उन्हें प्रिय था बल्कि, इसलिए कि काम उससे निकलता था। काम यों देश का स्वराज्य था, लेकिन उस देश के स्वराज्य के स्वप्न में कहीं-न-कहीं उनका स्वार्थ मिल गया था।

गाँधीजी ने जो कहा उसका आशय यही था कि वह स्वराज्य जो आया है उसे पूरे देश का बनने दो। स्वराज्य वह काँग्रेस का रह जाएगा तो गलती होती। काँग्रेस का बनकर वह स्वराज्य राष्ट्र-राज्य से अधिक कहीं पार्टी-राज्य न हो जाए। काँग्रेस अपने सम्बन्ध में राजनीतिक दल की भाषा में ही यदि विचार करेगी तो अवश्य यही दुर्घटना घटेगी। यदि काँग्रेस सेवकों की जमात रहेगी तो फिर यह किसी तरह नहीं हो पाएगा कि स्वराज्य आकर ऊपर विधान और विधायक वर्ग तक रुक जाए। सारे देश में भरपूर वह कोने-काने तक न पहुँच जाए। सेवक होकर काँग्रेस इससे पहले सन्तुष्ट हो नहीं सकती थी। तब राजनीतिक स्वराज्य सामाजिक, आर्थिक और ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचकर जीवन सम्पन्न करता हुआ दिखायी देता।

पर हुआ क्या? काँग्रेस कोई राजनीतिक पार्टी बन गयी। स्वराज्य एक अवसर और भोग उसके लिए हो गया। इस तरह देश स्वराज्य पार्टी स्वराज्य हो गया। कहाँ तो राजनीतिक से आगे के क्षेत्रों में उसे विस्तृत होना था, कहाँ काँग्रेस के बहुमत के दावे से लदकर वह पूरे अर्थों में राजनीतिक भी नहीं रह गया, दलीय बन रहा।

दुनिया में डेमोक्रेसी संकट में है। उसका पार्लियामेण्टरी और दलीय स्वरूप

ही हमारे समक्ष है। साफ दीखता है कि दौड़ में वह कुछ पिछड़ रहा है। स्वराज्य का एक रूप कम्युनिज्म ने लिया है। वहाँ समाज और राज्य एक बन जाते हैं। वही वैज्ञानिक समाजवाद या वैज्ञानिक राज्यवाद भौतिक दौड़ में मालूम होता है कि वैज्ञानिक राज्यवाद या केन्द्रित राज्यतन्त्रवाद अधिक सुविधा की स्थिति में हो जाता है।

गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस के द्वारा जो इस भारत देश में महाप्रयोग हो सकता था और होने वाला था, वह काँग्रेस की पदलोलुप त्रुटि के कारण सर्वथा असम्भव हो गया। वह क्रान्ति, जिसका बीज गाँधी ने डाला था, काँग्रेस की अदूरदर्शिता के कारण धरती में ही सुखाकर नष्ट कर डाला गया। शायद काँग्रेस को इन सब सम्भावनाओं का पता न था। शायद उस महान हानि का अब तक भी उसे पता नहीं है। पर यह कि उस गाँधी का देश, जिसमें विश्व के विचारक आगामी सम्भावनाएँ देखते हैं, आज असुरक्षित और निर्भर दशा में है, काफी है चेताने के लिए कि गाँधीजी की वसीयत को खोकर देश के किस परम भाग्य के अवसर को खो दिया है।

आज के युग में हर ओर नैतिकता का ह्रास हो रहा है। देश की प्राचीनतम संस्था काँग्रेस में दूषित वातावरण है। केरल और चीन के बाद कम्युनिज्म का सही रूप सामने आ गया है। प्रजा समाजवादी दल अस्पष्ट नीति के कारण जनता में जम नहीं रहा है, इन्हीं घपलों में स्वतन्त्र पार्टी का जन्म हो गया है। समझ नहीं आ रहा है ये सब देश को किधर ले जाना चाह रहे हैं। आपकी नजर में जनतन्त्र और प्रजातन्त्र का क्या भविष्य है? क्या ऐसा भी दिन आएगा जब हमारा देश अधिनायकवाद की ओर बढ़ने लगेगा?

—राज्य और उसकी नीति जिसमें प्रधान रही है ऐसे तत्व दर्शन में पनपने वाली सभ्यता और उससे सम्पन्न देश हर कुछ सालों के बाद समक्ष युद्ध पाते हैं। अपने देश की राजनीतिक पार्टियाँ, काँग्रेस और स्वतन्त्र भी उनमें शामिल हैं, बहुत-कुछ उसी सभ्यता की प्रेरणा से पनप रही हैं। उनसे पारस्परिक मानव सम्बन्ध और स्पर्धामूलक बनते हें। उनके आगे विग्रह और संघर्ष न आए, यह असम्भव है। जनतन्त्र और प्रजातन्त्र का भविष्य अहिंसा के साथ है। बल और प्रहार-संहार शक्ति के हाथ यदि निर्णय हो और रहे तो साम्यवादी और अधिनायकवादी तन्त्र ही अधिक अनुकूल जान पड़ेगा।

गाँधीजी की कल्पना से देश दूर भी अभी तो जा रहा है। निकट कब आएगा, कौन कहे?

कुछ वर्षों में, पन्द्रह-बीस वर्ष कहिए, गाँधी का मूल रूप उनके राजनीतिक

रूप से ऊपर आ रहेगा, ऐसी मेरी आशा है। राजनीतिक मानस के दूसरे भ्रम भी तब तक टूट चुके होंगे। उस समय सम्भव है कि मानवता नयी करवट और नयी हुंकार ले और उसमें से नया उदय फूटे।

विश्व उन्नति के लिए सैनिक हितकर है या किसान?

—सैनिक की सुरक्षा में किसान अपना काम कर पाता है। इसी तरह सैनिक अपने खाने के लिए किसान की मेहनत से अन्न पाता है। आगे जब दुनिया एक कुनबा बनने के नजदीक आएगी और हमलों का डर न होगा, सैनिक धीरे-धीरे अनावश्यक हो जाएगा और वह किसान बनना पसन्द करेगा।

भारत कुटीर उद्योगों द्वारा उन्नत हो सकता है या बड़े उद्योगों द्वारा?

—पहली बात यह कि उद्योग का सम्बन्ध आवश्यकता से हो। तब उत्पादन की खातिर उत्पादन न होगा बल्कि माँग की पूर्ति में होगा। ऐसे कृत्रिम माँग की जरूरत नहीं पैदा की जाएगी। इस आधार पर उद्योग का कुटीर रूप अधिक होगा। उनसे सहयोग बढ़ेगा, वर्गीय स्पर्धा नहीं बढ़ेगी। बड़े उद्योग भी अवश्य होंगे, पर दूसरे उद्योगों से उनकी होड़ न होगी और ये पूरक होंगे।

जिस कसौटी पर उद्योगों को स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाएगा, वह होगी मानव सम्बन्धों की कसौटी। जिनसे द्वेष और विग्रह उन सम्बन्धों में हठात प्रवेश पाए, उद्योगों का वह रूप वर्जनीय होना चाहिए।

'जिस साँप ने मुझे काटा है उसे तो अभय दान मिलना ही चाहिए।' गाँधी जी की इस बात को लोगों ने क्यों नहीं माना?

—जहाँ तक मुझे पता है गाँधीजी की वह बात मानी गयी थी, यानी गाँधीजी को काटने वाले साँप को उनके कहने पर अभय दान मिला था। प्रश्न का आशय यदि यह हो कि साँप जैनेन्द्र को काटता है तो जैनेन्द्र उसे अभयदान क्यों नहीं देता तो प्रश्न बदल जाता है। गाँधीजी की नकल करना गलत होगा। साँप का डर मेरे अन्दर हो, द्वेष भी हो और ऊपर से उसे अभय देने का-सा व्यवहार करूँ तो यह दम्भ होगा। गाँधीजी कभी यह न चाहते।

साँप को अभय दिया, लेकिन बन्दरों को खत्म करने की सलाह भी दी। इन दो बातों में विरोधी दिखायी देगा। लेकिन इस विरोध को ही भीतर गहरे जाकर समझेंगे तो गाँधीजी का अहिंसा का साथ हाथ आएगा।

गाँधी-अहिंसा सत्य से हट नहीं सकती। भीतर द्वेष और भय हो तो बाहर का अहिंसक आचरण थोथा और मिथ्या है। वह अहिंसक ही नहीं है, हिंसक है। साँप से डरना एक तरह मन से उसे मारने की सोचने के बराबर ही है। फिर

लोक दिखावे के लिए ऊपर से हम साँप को नहीं भी मारते हैं तो इसमें कोई भी आध्यात्मिक लाभ नहीं होता है। अभय यदि भीतर है तो बाहर भी आ जा सकता है। भीतर भय है तो बाहर दिया गया अभय झूठा हो जाता है।

मुझे प्रसन्नता है कि गाँधीजी की कई बातों को हमने ज्यों-का-त्यों नहीं माना। खेद यही है कि गाँधीजी की ऊपरी बातों को मानने का हमने दिखावा रखा है, इसलिए उनकी असली बात से पल्ला छुड़ा लिया है। असली यह कि निर्भीक रहो और बटोरो मत। भय रखते हैं और बटोरते रहते हैं, फिर गाँधी का नाम लेते हैं। दु:ख की बात मेरे लिए यह है।

गाँधीजी ने एक बार कहा था, 'पाँव छूने की कोशिश न कीजिए, विचार छूइये।' क्या आज का भारत बापू के विचारों के अनुकूल चल रहा है? यदि हाँ तो सम्पूर्ण देश आज त्रिताप से क्यों व्याधित हे?

—गाँधीजी ने ठीक कहा था कि विचार छूइये। पाँव छूने की परम्परा को मैं अच्छी मानता हूँ। सिर धन्यता में आदमी ही झुका सकता है। यह पशु नहीं कर सकता। वह मन्दता में ही झुकता है, नहीं तो चढ़ आना चाहता है। झुककर पाँव छूने के दृश्य को देखकर मेरा मन पावन हो आता है। पाँव छूना लेकिन विचार और आत्मा छूने की भूमिका रूप होना चाहिए।

आज का भारत क्या बापू के विचारों के अनुकूल चल रहा है? नहीं, एकदम नहीं चल रहा है।

देश आज त्रिताप से क्यों व्याधित है? इसलिए नहीं कि अनुकूल नहीं चल रहा है, बल्कि इसलिए कि जतलाया यह जाता है कि अनुकूल चल रहा है। यह झूठ टूटेगा, इसको तोड़ना होगा।

और देश हैं। गाँधी के बिना मजे में चले रहे हैं। त्रिताप की बाधा वहाँ नहीं है। यह भारत में भी हो सकता है, लेकिन तब जब नेता ईमानदार हो।

ईमानदारी रुपये-पैसे की नहीं, यह तो छोटी और तन की ईमानदारी है। इससे गहरी मन की ईमानदारी की बात कहता हूँ। तन की बेईमानी क्षम्य हो जाएगी। नेताजन भौतिक सुख-सुविधा में रहें, बढ़-चढ़कर रहें, यह सह लिया जा सकता है। राजा लोग कब ऐश्वर्य में नहीं रहे। लेकिन असह्य होता है तब जब दुहाई गाँधीजी की दी जाती है।

उपाय यह है कि सचाई को हम हाथ में लें। ऐसा होगा तो पहली बात जो साफ और उजागर सबके लिए हो जाएगी, वह यह कि काँग्रेस अलग है, गाँधी अलग हैं।

सन् 47 में भारत ने स्वराज्य पाया। भारत की ओर से काँग्रेस ने वह स्वराज्य

सँभाला। तब से बल्कि उससे भी कई बरस पहले से यह भ्रम जान-बूझकर क़ायम रखा जा रहा है कि काँग्रेस-गाँधी एक हैं। यह असत्य था, असत्य है। इस भ्रम को मन में पालना काँग्रेस के लिए अधर्म है। जनता में रहने देना और भ्रामक है।

स्पष्ट है कि अगर भारत के मानस में यह साफ हो आता है कि काँग्रेस अलग है, गाँधी अलग हैं, तो काँग्रेस गिर जाती है। चुनाव में वह किसी तरह से आ नहीं सकती।

काँग्रेस को हिम्मत से काम लेना चाहिए। उसमें हारना और गिरना भी पड़े तो कोई हर्ज नहीं है। नेहरू की काँग्रेस तब साफ होगी। उसे सफाई की जरूरत है। नेहरू की ताकत जितनी. है, उतने से काम होगा। उस तरह से काम होगा। गाँधी के नाम को साथ रखना काँग्रेस को बेसाफ बनाता है। दोनों तरफ इससे अन्याय होता है। गाँधी की तरफ और नेहरू की तरफ। कितना बड़ा जुल्म है कि गाँधीजी मर गये हैं और राज के तख्त के पायों को हमने उनके कन्धों पर टिकाया हुआ है। काँग्रेस के लिए यह शोभा की बात नहीं है।

अरे, गाँधी के इलाज में विश्वास नहीं है तो दुसरा इलाज हाथ में क्यों नहीं लेते। शीशी गाँधी की लेकर उसमें अपनी दवा जो देश को देते हो, सो उससे संकट बढ़ता है। देश रुग्ण है। गाँधी की शफ़ा में देश को विश्वास है तो कृपया उस विकास का लाभ लेकर, उस नाम पर अपनी दवा न दो।

इलाज अपनी दवा का करना है तो भी घबराओ नहीं। विश्वास से काम लो और देश को कह दो कि दवा यह हमारी है। ये योजनाएँ पहली, दूसरी और तीसरी, गाँधी की नहीं हैं। और यही सही है। तब देश चाहेगा तो तुम्हारी दवा लेगा। नहीं चाहेगा तो तुमसे हाथ जोड़ लेगा। लेकिन गाँधी की चिकित्सा के नाम पर अपनी दवाएँ मेहरबानी करके देश को मत पिलाए जाओ।

ऐसा हो रहा है, इसी से त्रिताप की व्याधि है। रोगी और वैद्य में किसी अन्तरंग विश्वास का सम्बन्ध नहीं है। यह सत्य संकट का मूल है।

एक तरफ भूदान, ग्रामदान, तन्त्रमुक्त समाज और विकेन्द्रीकरण के समर्थन में विनोबाजी द्वारा सतत प्रयत्न चल रहा है और दूसरी ओर वर्तमान शासन के नीचे केन्द्रीकरण, दलगत राजनीति, तन्त्रयुक्त समाज का बल मिला रहा है। इस प्रकार बीच की खाई निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। तो इस प्रकार सर्वोदय में जिसका अभाव है वह संघर्ष तत्व से नहीं है। क्या गाँधीजी द्वारा दिये गये 'सत्याग्रह' अस्त्र का प्रयोग अब अपने स्वराज्य में निषिद्ध अथवा अनुपयुक्त मान लिया जाए?

—'सत्याग्रह' प्रगतिशील जीवन का नियम है। प्रगति को स्थगित करने के साथ

ही उसे स्थगित किया जा सकता है। प्रगति स्थगित की नहीं जा सकती। वह तो काल का स्थगन ही बन जाएगा। हाँ, यह हो सकता है कि प्रगति की जगह अवगति होने लग जाए। सत्याग्रह जब जीवन में स्थगित होता है तो सत्याग्रह शुरू हो जाता है। सत्य का आग्रह छोड़ेंगे तो असत्य प्रवेश पाएगा ही। तब स्वार्थ और हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ेगी। यों कहना चाहिए कि सत्याग्रह के साथ जीवन का उत्कर्ष है। अपकर्ष के लिए अधिक आवश्यक नहीं है, इतना ही काफी है कि आप सत्य के आग्रह को शिथिल या स्थागित कर दें। केवल स्थित जैसी दशा तो संसार में कहीं ही नहीं। सब संसरणशील है। काल तक क्षण-क्षण बह रहा है। इस अवस्था में सत्य के आग्रह को छोड़ रहना बहुत काफी है कि आप उठने के बजाय गिरने लग जाएँ। असहयोग और सत्याग्रह विदेशी सरकार या पराये लोगों के साथ हो सकता है, अपनी सरकार और अपने लोगों के साथ उसका अवकाश नहीं रह जाता है, यह समझना एकदम गाँधीजी को न समझना है। बल्कि सच इससे उल्टा है। जो आत्मीयवत हमारे लिए हैं नहीं, उनके प्रति तो हमारा कुछ अधिकार ही नहीं बनने में आता है। अर्थात उनके प्रति तो आरम्भ में कर्तव्य ही रहता है और वह आदर और शिष्टाचार का होता है। गाँधीजी ने असहयोग और सत्याग्रह का अधिकार जताया तो इस आधार पर जताया था कि अँग्रेज विदेशी हों पर वह उन्हें आत्मीय की भाँति प्रिय हैं। जीवन में यह प्रियता और आत्मीयता उन्होंने सिद्ध कर ली, तभी उनके प्रति उन्हें असहयोग और सत्याग्रह का अधिकार हो पाया था।

खाई बढ़ रही है, यह मानना होगा। सरकारी प्रयत्न केन्द्रीकरण बढ़ाते हैं, सर्वोदय प्रयत्न विकेन्द्रित दिशा में है, यह सही है। लेकिन उस कारण सत्याग्रह आए यह आवश्यक नहीं है। बल्कि केवल उतने कारण से तो सत्याग्रह कभी आना नहीं चाहिए। दोनों पक्षों के मनों में अगर अनात्मीयता है, बीच में दरार और खाई है तो सम्बन्ध शिष्टाचार का ही बना रहना चाहिए। दुनिया इतनी बड़ी है कि हर तरह का सहअस्तित्व यहाँ सम्भव है और कोई कारण नहीं है कि सर्वोदय वाले चाहें कि सब उन्हीं के अनुसार सोचें और सरकार उन्हीं के अनुसार चले। सबका धर्म है कि अपने-अपने मन्तव्यों और विश्वासों के अनुकूल चलें और न केवल यह कि किसी के प्रति बाधा न बनें बल्कि जहाँ तक हो सहायक बनें। यह सहयोग ओर प्रेम अहिंसा की पहचान है।

बहुत ही गलत यह मानना होगा कि सहयोग तभी हो सकता है जब सहमति भी हो। मति सदा भिन्न होती है। इस भिन्नता के रहते ही सहयोग का मूल्य है। प्रेम सच्चा वही है जो शर्त नहीं रखता। एवज में भी प्रेम हो तो प्रेम हुआ तो क्या हुआ। अहिंसा तो वह जो यूनिलेटरल है। सामने से हिंसा आती हो तभी

अहिंसा की कीमत और कसौटी है। सत्याग्रह भी इसी तरह यूनिलेटरल है, अर्थात वह दूसरे को किसी शर्त में नहीं बाँधता। दूसरे को हत्या तक की स्वतन्त्रता देता है। वह बाँधता अपने को ही है और समस्त कष्ट अपने ऊपर ही स्वीकार करता है। सदा सविनय रहने की मर्यादा अपने लिए ही रखता है। दूसरे की उद्दण्डता और उत्कीर्ण पर भी क्रोध और आवेश नहीं ला सकता। आज की स्थिति का संकट यह है कि खाई मन और कर्म की ही नहीं है, स्वयं मनों में शायद बसने लग गयी है। आवश्यक आत्मीयता सर्वोदय में काँग्रेस के प्रति नहीं है। इसलिए जो खाई बनती जा रही है, उसमें से यह तो हो सकता है कि अलगाव बढ़ते-बढ़ते अप्रेम को जगह दे आए और अन्त में हठात विद्वेष और विस्फोट फूट आए। लेकिन बीच में मन का यह पार्थक्य लेकर अप्रेम की भूमिका पर सच्चे किस्म का असहयोग और सत्याग्रह तो आ नहीं सकता।

सर्वोदय बन्धुओं के लिए यह सम्भावना बहुत ही अनिष्ट जान पड़ेगी कि किसी पक्ष के प्रति खासकर काँग्रेस के प्रति, उसमें अलगाव, अप्रेम और द्वेष का भाव पैदा हो। लेकिन इन दु:सम्भावनाओं को बचाने का उपाय सविनय असहयोग और सत्याग्रह के सिवाय दूसरा और नहीं है। इस उपाय का इसी आधार पर दूर रखा या बनाया जा सकता है कि प्रेम और आत्मीयता अभी पर्याप्त धनिष्ठ नहीं है। सर्वोदय में वह आत्मभाव कांग्रेस के प्रति या किसी के प्रति तब तक नहीं आ सकता जब तक वह अपने-आपमें एक मतवाद अथवा मत सम्प्रदाय बना रहता है। मत-प्रचार और विचार-प्रसार का ही काम जिसके लिए मुख्य हो, वह टोली शनैः-शनैः सम्प्रदाय का रूप पाए बिना रह कैसे सकेगी। दूसरे की ओर सबके सुख-दुख में सम्मिलित और एक हो जाने की बात तो उसके लिए दोयम पड़ जाती है। अपने सतृदर्शन के प्रसार और प्रचार का काम पहला हो जाता है। इस भूमिका पर काम करनेवाले वर्ग में से विग्रह निकले तो निकले, सत्याग्रह नहीं निकल सकता। कारण सत्याग्रह उसी तीव्र सहानुभूति की व्यथा में से सम्भव बनता है। प्राणी के प्रेम और सत्य के प्रेम के उत्कट तनाव में से जो एक विवशता की स्थिति मनुष्य के अन्तःकरण में प्राप्त होती है, सत्याग्रह की सृष्टि वहाँ से है।

ऐसा अनुभूतिशील अन्तःकरण सर्वोदय के पास न हो, किन्चित मतवादी अन्तरभाव ही हो, तो किसी सत्याग्रह की आशा वहाँ से नहीं हो सकती। गाँधीजी नेहरू के प्रति जो तड़प रखते थे उसी के साथ जैसी संलग्रता और व्यथा सत्य के प्रति अनुभव करते थे—तो उस तनाव में से गाँधीजी के पास से सत्याग्रह शायद आ भी सकता था। विनोबा में नेहरू के प्रति वह आत्मभाव है नहीं, बल्कि दूरी का भाव है। उस व्यवधान में शिष्टाचार को, लिहाज को, नॉन-एम्बैरेसमेण्ट की नीति को बीच में पड़े ही रहना है। उत्कट आत्मीय भाव इधर व्यक्तियों के प्रति, उससे भी असह्य एकात्म भाव अपने सत्य के प्रति, इन दोनों ओर-छोर के बीच

विनोबा इतने विवश नहीं हो सकते कि उन्हें सत्याग्रह की शरण लेनी पड़े। वह अधिक संयमी, अधिक विचारक, अधिक ज्ञानी हैं। उनके भाग्य में शायद उतना आर्त प्रार्थी और बेबस होना बदा नहीं है जो उन्हें बागी बनाए।

भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान जीवनदान आदि शब्द अब निश्चेतन और शुष्क-से बने जा रहे हैं। इस माध्यम से तन्त्र मुक्त समाज की स्थापना का विचार भी निर्बल होता दीख रहा है। इन सबके पीछे किस जीवन्त शक्ति का अभाव हो सकता है?

—प्रश्न यह मुझे गहरे में उतार ले जाता है। कारण, सर्वोदय के प्रति मुझमें प्रीति है। आगे बढ़कर आस्था तक है। उसे मोह भी कहा जा सकता है। मैं स्वयं उत्तर के लिए टटोलता रहा जाता हूँ। भूदान में प्राप्त हुई ज़मीन के आँकड़े विस्मय में डाल देते हैं। हज़ारों-हजार की संख्या में पूरे ग्रामों का दान प्राप्त हो गया है। परिणाम में देखा जाए तो गाँधीजी के जीवन में कोई ऐसी उपलब्धि नहीं हुई। इससे बड़ी मार्के की बात दुनिया के इतिहास में होनी मुश्किल है। हिंसा के नज़ारे इससे बड़े मिल सकते हैं, अहिंसा का इससे बड़ा दृश्य नहीं मिलेगा।

फिर भी क्यों है कि समझाना पड़ता है कि सर्वोदय में क्रान्ति है। क्रान्ति को क्या समझाने की जरूरत चाहिए? क्या वह बिजली की तरह छूते ही थर्रा देनेवाली चीज नहीं है? बरबस मानना पड़े कि वहीं तो क्रान्ति है मेरे मन में वैसा स्पर्श क्यों नहीं प्राप्त होता? कारण सोचता रह जाता हूँ और सोचता रह जाता हूँ।

शायद मेरे ही मन में कोई मंदता हो। शायद अठारह वर्ष की अवस्था में मन जवान होता हो और अनायास उत्साह पा लेता हो। आयु के साथ मन धीमा हो जाता हो। पर गाँधी के समय मुझमें समझ न थी, प्रतीक्षा न थी, उन्मुखता न थी। संसार का रंग सामने था और उधर मन भी था। लेकिन आँधी आयी कि सारा रुख ही बदल गया। आज समझ है, सर्वोदय की सम्भावनाओं की पहचान है, उन्मुखता है। जीवन जैसे प्रतीक्षा में है। फिर क्या बात है कि सारे भू-ग्राम सम्पत्ति आदि दानों के विपुल परिणाम के रहते भी 'नहीं कुछ' आ रहा है जो छूए जाए और मुझे जला दे। आसक्तियों में से उखाड़कर मुझे विसर्जन की राह पर लगा दे।

मैं आस्तिक हूँ और सब शक्ति परमेश्वर की मानता हूँ। हिंसा में शक्ति है? बुराई में शक्ति हे? अगर शक्ति है तो परमेश्वर की ही हो सकती है। पर परमेश्वर तो बुरा नहीं है। हिंसक नहीं, वह दयालु है। परमेश्वर प्रेम है। फिर क्या बात है कि शक्ति हिंसा में दीखती है, अहिंसा में वह दीखती नहीं है।

मेरी कठिनाई यह है कि जो निर्मल है, उसको मैं प्रेम नहीं मान सकता। उसको अहिंसा नहीं मान सकता। कारण परमेश्वर से बड़ा बल मैं मानता नहीं। साथ ही परमेश्वर प्रेम में है, यह भी जानता हूँ। तो बल सदा प्रेम ही है, इस सिद्धान्त से बचने का उपाय मेरे पास नहीं रह जाता।

लेकिन क्या दीखता है बाहर। दीखता है कि अच्छाई के पास ताकत नहीं है। सब ताकत बुराई के पास है। भलाई का काम करने वाले परेशान हैं कि पैसा वहाँ से आए। उनकी मुख्य चिनता फण्ड और बजट की रहती है। भलाई की बात करते हैं पर उस बात के लिए जो काम करना आवश्यक है, और उस काम के लिए जो पैसा होना आवश्यक है, तो मालूम होता है कि उस रास्ते उनकी चिन्ता आसानी से अन्त में पैसे की आ बनती है। उसी के अभाव में और इसलिए उ़सी की योजना में घुलते और घूमते हैं। उधर जिनके सोचने की भाषा अहिंसा नहीं हिंसा और युद्ध है, वे अरब-खरब-नील-पदम-संख्य-दससंख्य की गणना से भी आगे के बजट की बात सोचें तो भी चिन्ता उन्हें व्यापती नहीं जान पड़ती। जैसे वे अनुभव करते हैं कि दुनिया उनके साथ है और उनके हाथ में है। किसी निर्बलता की अनुभूति उन्हें नहीं होती।

बाहर यह देखकर आस्तिक्य पर बहुत ही जोर पड़ता है। जी नास्तिक होने को कहता है। भगवान से लड़ाई ठनी रहती है। कभी-कभी बकने को जी होता है कि अरे भगवान, तू प्रेम नहीं है, तू नितान्त आदिम बर्बर बल है। बता सकता है कि कैसे तू निरा और शुद्ध हिंसा का समर्थक अधिपति ही नहीं है?

मार्क्स के डाइलेक्टिकल मैटिरियलिज्म की बात याद आती है और वह सामने डालकर भगवान से पूछना चाहता हूँ कि बता वही सही क्यों नहीं है? युद्ध और विग्रह ही काल-नियम के रूप में सही और सत्य क्यों नहीं है? अरे बता कि तेरा प्रेम कहाँ सही और कहाँ सच है?

बुराई को मूल में हमारे यहाँ असत कहते हैं। यानी उसकी हस्ती ही नहीं है। तब बुराई में अगर ताकत है तो वह उसकी अपनी नहीं हो सकती है। अच्छाई की तरफ से ही वह वहाँ भेजी और डाली गयी हो सकती है। अच्छाई के ऊपर बैठकर ही बुराई बलवान बन सकती है। अच्छाई किसी मोह में बुराई को अपने ऊपर ले नहीं तो बुराई एकदम गिरी दिखाई दे आए।

इस तरह देखें तो अच्छाई की दोहरी जिम्मेदारी हो जाती है। दायित्व उस पर इतना ही नहीं है कि वह अच्छी बनी रहे। यह देखते रहना भी उसका जरूरी है कि वह बुराई के लिए सहारा तो नहीं होती । बुराई में बल तो है नहीं। लेकिन अच्छाई नीचे होकर अगर स्वयं उसे कंधा देने लग जाए तो वह अपने आप ऊँची और बलाढ्य हो आती है।

मुझे जान पड़ता है कि गाँधीजी ने जो एक नई बात दी, वह यही थी, यानी कि अच्छाई का काम सहयोग ही नहीं है, असहयोग भी है। अहिंसा सब-कुछ मानते रहना और सहते रहना ही नहीं है, उसमें सत्याग्रह भी आता है।

यह न सहना नीति के और धर्म के लक्षणों में यों नहीं गिना जाता था। सहना ही एक धर्म था। इस तरह भले आदमी भोले रहना जरूरी समझते थे। भक्त पुरुष गऊ बनता था। सज्जन सहते ही थे। परिणाम यह होता था कि सक्रियता दुर्जन के लिए बच रहती थी। ओर क्योंकि सज्जन सहते थे, सो उनके सहयोग के ऊपर बल और अंकुश दुर्जनता के हाथ हो आता था।

गाँधी से अच्छाई में एक नकारात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव और दर्शन हुआ। मालूम हुआ कि अच्छाई अपने में ही अच्छी होकर तुष्ट नहीं रह सकती, जीवित तक नहीं रह सकती, क्योंकि ऐसे उसे सिमटते जाना पड़ता है। नहीं, अच्छाई को बुराई की ओर इस अर्थ में पहल लेकर बढ़ना होगा कि बुरा का शिकार होने से छूटकर अपने प्राकृत रूप में निज-स्वरूप में आए और बुराई ऐसे समाप्त होती जाय। बुराई को यह चुनौती गाँधी से इस अदम्य रूप में मिली कि गाँधी का जीवन अधिकांश जेल में ही कटा। अर्थात बुराई की ओर से उन्हें रुकावटें मिलीं, मुकाबला मिला। उनसे लड़ना, लड़ते रहना उनका जीवन-कार्य बना। और इसी के लिए उन्हें महात्मा कहा गया।

सर्वोदय के सन्दर्भ में सोचता हूँ कि उन तमाम महान दानों की कड़ी में कहीं यह गाँधी-तत्व किन्चित अनुपस्थित तो नहीं रह गया है।

सर्वोदय में सत्याग्रह का मुख्य आधार क्या होगा?

—सर्वोदय की भावना में गर्भित है कि कुछ अभी दलित हैं, उनका उदय होना है। यानी स्थिति सदोष है, उसमें परिवर्तन जरूरी है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में सत्याग्रह आ जाता है। हम एक-दूसरे से भिन्न हैं, और परस्पर स्वार्थों में रगड़ है। संघर्ष की इस स्थिति में से ही उन्नति और विकास को फलित होना है। सर्वोदय निष्ठा है कि विविध के मूल में एकता है और भेद में अभिन्नता। इसलिए उसके लिए अहिंसा की शर्त स्थायी हो जाती है। यानी ह्रास या विनाश किसी का चाहा नहीं जा सकता। तब सर्वोदय के पास एक ही उपाय रह जाता है और वह है सत्याग्रह। सत्याग्रह में कष्ट सब अपने ऊपर लिया जाता है। इस विधि से दूसरे के अन्तःकरण पर प्रभाव पड़ता है। आम तौर पर संघर्ष उपस्थित होने पर निबटारा बल के आधार पर होता है। जबरदस्त कमजोर को दबा बैठता है और चुप कर डालता है। कभी तो सबल निर्बल को एकदम मार ही देता है, लेकिन ऐसे संघर्ष खतम होता हुआ नहीं दीखता। हिंसा में से हिंसा ही फलती देखी गयी है।

सत्याग्रह में उस विषम चक्र का निवारण है। सत्य के इस आग्रह में जरूरी है कि आत्यंतिक चिन्ता और निरभिमानता हो और दूसरे के प्रति आदर का भाव। संघर्ष से निबटने की यह नीति गाँधीजी ने बड़े पैमाने पर अपनायी और देखा गया कि यह राजकारण तक के क्षेत्र में बड़ी कारगर होती है। राजकारण में तो बल का ही बोलवाला है। वहाँ धर्म नीति की कोई परवाह नहीं करता है। फिर भी सत्याग्रह वहाँ अमोघ सिद्ध हुआ। मुझे लगता है कि इस सत्याग्रह के अस्त्र को विधिवत अपना सकेगा तो सर्वोदय का आन्दोलन भावात्मक नहीं रहेगा बल्कि प्रबल क्रियात्मक होगा और उससे जगत के दलितों और वंचितों को बड़ा आश्वासन प्राप्त होगा। साथ ही उनमें कोई द्वेष के आधार पर पलनेवाली उद्दण्डता भी नहीं फलेगी। वर्ग-चेतना और वर्ग-विग्रह की गर्मी बच जाएगी और समाज के शरीर में दरार पड़ने की जरूरत नहीं रहेगी। किसी द्वेष के आधार पर ध्वंसात्मक शक्ति उत्पन्न करके जब सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति की जाती है तो समाज में गहरी फाँक पड़ जाती है, मानो शासक और शासित सदा के लिए ये दो दल हो पड़ते हैं। यहाँ स्थिति स्वास्थ्य की नहीं कही जा सकती। सर्वोदयी सत्याग्रह में से जिस शक्ति का उदय होता है वह समाज को समरस करनेवाली होगी। और जो परस्पर अन्तर रहेगा उसमें सौमनस्य होगा, अन्यथा मानो समाज दो पाटों की चक्की बना रहेगा, जिसमें नीचे का पाट स्थिर और जड़ होगा और ऊपर का पाट सक्रिय होकर मध्यवर्ती को पीसता रहेगा।

गाँधीजी के सत्याग्रह की रूपरेखा और सर्वोदय के सत्याग्रह की रूपरेखा और आन्तरिक मूल्यों में कुछ अन्तर होगा?

—गाँधीजी को सर्वोदय के पदार्थ-पाठ के रूप में हम ले सकते हैं, यानी उनसे सर्वोदय का दर्शन प्रत्यक्ष होता है। ऐसे गाँधी सत्याग्रह से अलग सर्वोदयी सत्याग्रह का कोई प्रकार नहीं रह जाता। सत्याग्रह गाँधीजी के साथ जन्मा और उनके साथ ही मर गया, यह नहीं मानना चाहिए। समाज-रूपान्तर की दृष्टि से इतिहास को गाँधीजी का कुछ स्थायी दान है तो वह सत्याग्रह ही है। समाजवाद के वह आगे का चरण है। समाजवाद बहुसंख्यक को लेता है, यानी समाज में से असामाजिक को खत्म कर डालने की सलाह भी दे सकता है। गाँधी ने इस नीति के आधार में भ्रम बतलाया। हर हिंसा की जड़ में उन्होंने बताया कि व्यक्ति या समूह का अभिमान छिपा ही होता है। इस तरह हिंसा में मनुष्य की हार है। मनुष्य की विजय के लिए अहिंसक सत्याग्रह की पद्धति को अपनाना होगा, यानी हम मारेंगे नहीं, नाश नहीं चाहेंगे बल्कि सत्य को ऊपर रखकर उसके लिए स्वयं मर तक जाने को तैयार होंगे। ऐसे किसी अभिमान की पराजय के आधार पर दूसरे अभिमान

की बिजय नहीं होती, बल्कि सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा होती है, जिसमें दोनों ओर के अभिमान अन्त में सम्मिलित होते हैं और एक नया समन्वय और ऐक्य प्रकट होता है।

ठीक है कि गाँधी के बाद होनेवाले सत्याग्रहों को गाँधी सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति भिन्न होने से उनका रूप भी भिन्न होगा। किन्तु यदि वे सत्याग्रह सच्चे अर्थों में सर्वोदयी होंगे तो कहा जा सकता है तभी होंगे जब गाँधी-सत्याग्रह की कसौटी पर सही कसे जा सकेंगे। दूसरे शब्दों में, गाँधीजी के सत्याग्रहों के उदाहरणों से हम सत्याग्रह मीमाँसा के तत्त्व निर्धारित कर सकेंगे।

सर्वोदय में सत्याग्रह को मान्यता मिल जाने के बाद, क्या वह सैद्धान्तिक ही होकर नहीं रह जाता?

—बाद हो या पहले, सत्याग्रह की चर्चा है तब तक ही वह सिद्धान्तकीय है और यहाँ कागज पर सत्याग्रह स्वयं छिड़ तो नहीं सकता अर्थात व्यावहारिक नहीं हो सकता। लेकिन सिद्धान्त कहकर कहीं हम अपने को बचाना तो नहीं चाहते। सिद्धान्त चेतना में पड़कर उसे मथ सकता है। सामूहिक चेतना के मन्थन में से क्रान्ति तक निकल आती है। विप्लव इस तरह घटना में होने से पहले मनों में, दिमागों में होता है। प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा जो घटना को ही लेने के आदी हैं वे उससे पहले के अदृश्य, किन्तु अनुभूति में आ सकने योग्य, रूप को ध्यान में नहीं लेते। लेकिन घटना काल के साथ जड़ित होती है, मानो होने के साथ ही बीत जाती है। इस तरह जानकार जानते हैं कि घटना का तथ्य उसी में नहीं रहता। असलियत उसकी पीछे चेतना में रह जाती है। यों मैं नहीं चाहूँगा कि सिद्धान्त शब्द लाकर आप सत्याग्रह या उसकी चर्चा को आज के लिए असंगत या अनुपादेय ठहराने का उपाय करें। यह स्वयं आपके विरुद्ध होगा, क्योंकि सत्याग्रह का प्रश्न फिर आपका उठाना ही व्यर्थ होगा।

एक और बात कहूँ, सिद्धान्त के साथ शायद आप कर्म की बात सीचेंगे और ऐसे कि सिद्धान्त एक हो और कर्म दूसरा। तो उनको मैं भी मान सकता हूँ। लेकिन आइए हम क्रिया को समझें, जिसके द्वारा विचार कर्म बनता चला जाता है। हाथ मेरा चले तो आपको यह क्रिया मालूम होगी। पर दिमाग से जो चला, जिसने फिर हाथ को चलाया, उस तत्व को हम सक्रिय नहीं कहेंगे। सिर्फ इसलिए कि वह क्रिया दीखती नहीं है। दिमाग की रगों पर आघात पहुँचने से पहले ही व्यक्तितत्व में कुछ प्रक्रिया हो चुकी है। उसके लिए मनोविज्ञान के पास भी अभी शब्द नहीं। कहूँगा कि यह भी क्रिया का अंग है। विचार स्वयं निष्क्रिय नहीं है। क्रिया का आन्तरिक क्षेत्र कम नहीं होता। शायद क्रिया शब्द स्थूल है और

उसकी व्याप्ति वहाँ तक नहीं जाती, लेकिन भाषा की इस असमर्थता का सहारा लेकर हम यह न मान लें कि सत्याग्रह की चर्चा का सत्याग्रह की आवश्यकता से कुछ सम्बन्ध नहीं है। सच पूछिये तो कर्म की सम्पन्नता के लिए अकर्म पर जोर देना मुझे अधिक आवश्यक मालूम होता है।

और भी लीजिए। इतने वर्षों से इंजीनियरिंग ने बड़े-बड़े करतब किये हैं। उनकी माप और तोल नहीं है। जगत का हर कोई उन अचम्भों पर चकित हो सकता है। लेकिन यह सब अकूत कारगुजारी क्या संभव हो सकती अगर न्यूटन के जीवन में क्षण न आता कि जब मानो प्रकाश की लकीर की भाँति गुरुत्वाकर्षण का रहस्य खिंचकर रह गया था। अनुभूति का वह क्षण, और उसको आत्मसात करने के प्रयत्न में बुद्धि-प्रयोग द्वारा सूत्रबद्ध गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त क्या इंजीनियरी के सारे कारनामों से कुछ कम महत्व के तत्व हैं? बल्कि मैं तो कहूँगा कि उनमें महत्व ज्यादा है, क्योंकि रूपाकारता कम है।

कहीं स्वयं सत्याग्रही ही तो आप होना नहीं चाहते। ऐसा हो तो तब तो और जरूरी है कि उस चाह को मूर्त पाने से पहले उनकी जानकारी को स्पष्ट पाया जाए।

आज की भारतीय परिस्थितियाँ विकट हैं। गाँधी का देश होने से भारत को आज अशान्ति और शीत युद्ध के पक्ष से अधिक शान्ति और निष्पक्षता का भाग कहा जा सकता है। लेकिन फौजी खर्च बेहिसाब बढ़ रहा है और अनुत्पादक वर्ग भी बेशुमार बढ़ती पर है। फौज का सिपाही और हुकूमत का अमलदार, यही वर्ग है जो मौज में है या उस वर्ग को भी कह सकते हैं जो इसमें सहायक है। बाकी जनता तो परेशान है। इस तरह अगर दावे और नारे को छोड़ दें तो भारत को तनाव का ही भाग कहना होगा। इसी भारत में सर्वोदय चल रहा है। वह सर्वोदय मेरा कहना है कि हवा में चलेगा, धरती पर उतर ही नहीं सकेगा, अगर सत्याग्रह को नहीं अपनाएगा। सत्याग्रह धूमधड़ाका नहीं है। लेकिन वह ऐसी रचनात्मकता है जो आवश्यक निषेध को साथ रखती है और खुला कहती है। आग्रह में ही आ जाता है कि उसमें नकार का बल है। परम में नकार रहता नहीं, वहाँ सब स्वीकार है। सम्पूर्ण सत्य में आग्रह को अवकाश नहीं। लेकिन व्यक्ति पूर्ण है और सम्पूर्णता तक जाने के लिए आत्मगत (चाहे अपूर्ण) सत्य के आग्रह के द्वारा चलने का ही उसके पास एक उपाय है। वह आग्रहपूर्ण सत्य-लाभ से पहले रुक या चुक भला कैसे सकता है।

गाँधी सत्याग्रह को ही आप कसौटी कैसे मान बैठे हैं? फिर तो इसका अर्थ हुआ सत्याग्रह में विकास की कोई गुंजाइश नहीं।

—विकास कसौटी में नहीं होता। इसलिए कसौटी से विकास रुक भी नहीं सकता। सत्याग्रह की कल्पना गाँधीजी से चली। फिर बताइये कसौटी के लिए कहाँ और जाना होगा?

कसौटी शब्द को पकड़िये नहीं। अभिप्राय था कि सत्याग्रह में विकास की गुंजाइश है या नहीं। कल्पना गाँधी जी ने दी यह तो ठीक ही है।

—क्यों नहीं?

गाँधीजी का सत्याग्रह को विकसित करने का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण था क्या?

—गाँधीजी शास्त्रकार नहीं थे। वह तीर्थंकर थे, यानी शास्त्र के वह स्रोत बने। तीर्थंकर के बाद शास्त्रकार तो होते रहते हैं और होते रहेंगे। सिद्ध की सिद्धि का अन्वेषण-विश्लेषण दूसरों द्वारा होता है।

दृष्टिकोण गाँधीजी का था लेकिन जानना उनके साथ होने और करने से भिन्न था, अर्थात वह स्वयं ही अपने विज्ञ न थे। उन्होंने एक बार तो कहा भी था कि किशोरलाल मशरूवाला मुझे मुझसे ज्यादा जानते हैं। इसी से राम राज्य वह कहते रहे, उस राम राज्य का व्यवस्थाविधान कभी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। गाँधीजी की विशेषता ही मेरी दृष्टि में है यह कि ज्ञान को उन्होंने आवश्यकता से दूर नहीं जाने दिया। इसी से कर्म पक्ष और भाव पक्ष उनमें मन्द नहीं हो पाया। ज्ञान, कर्म और भक्ति, साधना के ये तीन मार्ग समझे जाते हैं। तीन ये तीन रहते हैं, तब मुक्ति कैसे मिलती होगी मैं नहीं जानता। गाँधी में वे एक, यानी तत्वविद और बौद्धिक की यही विडम्बना है कि उनमें ज्ञान बढ़कर भाव और कर्म को लाँघ जाता है और समग्रता की जगह उनमें एकाँगिता रह जाती है। वे स्वयं होते हैं, युग या भाग्य या इतिहास नहीं बन पाते। गाँधी-दर्शन देने का काम गाँधी का न था, क्योंकि उन्हें स्वयं होने और होते जाने के काम से फुरसत न थी। अब उनकी कथनी, करनी और होनी में से अन्वेषक शोधक और ज्ञानार्थी-विद्यार्थी बहुत-कुछ निकालेंगे और संगति देकर बिठाएँगे और ऐसे जिस तत्ववाद की रचना होगी वहाँ शायद गाँधी दृष्टि को अधिक साँगोपाँग और सम्पूर्ण देखा जा सकेगा। मुझसे विश्लेषण माँगें तो कहूँगा कि वह सर्वथा निपट दृष्टि थी और उसे ईश्वर के सिवा कुछ न देखना चाहती थी जिसके दर्शन का नाम उन्होंने सत्य और भक्ति का नाम राम दिया था।

लेकिन इस सबके बाद यह भी है कि सत्याग्रह के बारे में उन्होंने कम नहीं लिखा है और उसमें नियमबद्ध काफी सूचनाएँ हैं। यह आप नहीं चाहते न कि मैं उनको दोहराऊँ। लेकिन वह साहित्य तो उपलब्ध है और अभी अँग्रेजी

की पुस्तक 'कांक्रेस्ट ऑफ वायलंस', 'दी गाँधीयन फिलासफी ऑफ कानफ्लिक्ट' में उसका अच्छा वर्गीकरण और विवेचन मेरे देखने में आया है।

गाँधीजी ने राम को साकार और सगुण देखा तो निराकार निर्गुण की आवश्यकता उन्हें क्यों पड़ी जिसे उन्होंने सत्य कहा ?

—आवश्यकता किसी की एक तरफ से पूरी नहीं हो सकती। गाँधी उसमें अपवाद नहीं थे। अपवाद कोई नहीं है। दो तट न हों तो कुछ हो नहीं सकता। इस तरह निर्गुण-सत्य और सगुण-राम विरोधी नहीं पूरक हैं। आदमी के पास दिमाग है तो दिल भी है। खतम दोनों में से किसी को नहीं किया जा सकता। दिमाग दूर जाएगा और स्थूल को पारकर सूक्ष्म को लेगा। दिल दूर को भी पास बनाकर चाहेगा। यह प्रक्रिया हरेक के साथ है। गाँधी के साथ भी थी।

सगुण-निर्गुण मान लेने के बाद कर्म कहाँ पैदा होता है? क्या वह बिलकुल ही छूट नहीं जाता?

—नहीं। छूट क्यों जाना चाहिए, बल्कि एक तरह इस कारण-कर्म को दिशा और अनिवार्यता मिलती है। हम मानते हैं कि एक वह है। उसे ईश्वर कहते हैं, सत्य कहते हैं। भक्ति में उसे राम और कृष्ण, बुद्ध, ईशु, मोहम्मद, जरथुस्त या महावीर कहते हैं। इनके ध्यान और मनन में अक्सर हमें आँख मूँदनी पड़ती है। यह इसलिए कि आँख खोलकर हर घड़ी जो हमें चारों ओर से मिलता है वह संसार है। संसार ईश्वर नहीं लगता, उससे भिन्न और विमुख तक लगता है। तब हम संसार के विरोध में स्वर्ग और बैकुण्ठ की कल्पना करते हैं, जहाँ ईश्वर को विराजमान करते हैं; यानी नित्य प्रति इन्द्रियों से मिलनेवाला जगत और निष्ठा से माना गया परमेश्वर—इन दोनों में एकता नहीं होती। यहीं पुरुषार्थ और कर्म की आवश्यकता होती है। मालूम होता है कि यह है, लेकिन आगे यह होना है। इस होने की चेतना में से समय बन आता है और वह भूत, वर्तमान, भविष्य में विभक्त दीखता है। वर्तमान को हम भविष्य के रूप में ढालने की सोचते हैं और भूत में से इस काल विकास की प्रक्रिया को समझना चाहते हैं। इसी में से सारे मानव व्यापार की सृष्टि होती है। यानी सीधे इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला जगत और श्रद्धा में से मिलने वाला ईश्वर, इन दोनों में व्यवधान बना रहता है। यह व्यवधान कभी पूरी तरह मर नहीं सकता। इसलिए समय अनन्त है और पुरुषार्थ चेष्टा का भी कभी अन्त आने वाला नहीं है। गाँधीजी को यहीं से अथक कर्म की प्राप्ति हुई और सूफियों, ज्ञानियों आदि के जीवन में इसी कारण-कर्म की इति और अन्त्येष्टि देखी जाती है। गाँधीजी ने उस व्यवधान को सदा स्वीकार किया और उनकी

अकुलाहट-छटपटाहट रही कि उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो! उसी प्रयास में उनमें से विराट कर्म की सृष्टि हुई, जो इस व्यवधान को किसी भी युक्ति से जीवन में से नष्ट कर डालते हैं, सचमुच ही कर्म से हीन बन जाते हैं।

विनोबाजी का कहना है कि हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू सच्चे गाँधीवादी थे और गाँधीवाद को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे थे, जब कि हो विपरीत रहा था; अर्थात हमारी आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक नीति किसी भी प्रकार गाँधीय नहीं कहीं जा सकती। इस सम्बन्ध में आपका क्या मानना है? कृपया अपने विचार स्पष्ट करें।

—विनोबा ने श्री नेहरू को गाँधीवादी कहा था, ऐसा मुझे मालूम नहीं है। मेरे देखने में नहीं आया। मानता हूँ कि ऐसा उन्होंने नहीं कहा होगा। गाँधी को वादी कहने में पण्डित नेहरू का सम्मान नहीं है। गाँधीजी के साथ श्री नेहरू के उससे अधिक घनिष्ठ और खुले सम्बन्ध थे।

गाँधी के नाम की अपेक्षा से श्री नेहरू की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में काफी देर तक वह अहिंसक नीति पर अमल करते रहे हैं। उस क्षेत्र में उनमें अहिंसा को देखने और प्रमाणित करना तर्क का मोहताज नहीं है। यह गाँधीजी का प्रभाव माना जाए तो गलत न कहा जाएगा। उस सीमा में गाँधीजी का अनुगमन कहा जाए तो भी गलत नहीं होगा।

सामान्यतया नेहरू को गाँधीजी से अलग देखा जा सकता है। गाँधीजी के जीवनकाल में भी नेहरू को अलग देखा जा सकता था। काँग्रेस के और देश के इतिहास में जो उतरेंगे वे इस अलगपन को परखे बिना रह नहीं सकेंगे। गाँधीजी ने उस अलगपन को कभी मिटाना नहीं चाहा, बल्कि उसे अपनी ओर से अतिरिक्त सम्मान ही दिया। उस कारण नेहरू को काँग्रेस में उन्होंने और बढ़ावा दिया। काँग्रेस के अन्तरंग परामर्श में अपने अनुयायियों को बल्कि रोका, नेहरू को उभारा। वे अनुयायी चाहे बहुमत में हों, और नेहरू और उनसे सहमत सदस्य कितने भी स्वल्प मत में रहे हों। गाँधीजी का नेहरू के प्रति यह अनुराग और पक्षपात इसी कारण रहा कि नेहरू उनसे अलग थे और इस बारे में स्पष्ट और ईमानदार रहने की कोशिश करते थे।

भारत के इतिहास का यह परिच्छेद अब उतना अप्रकट भी नहीं है। बहुत-कुछ साहित्य ऐसा निकला है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है। इस स्थिति में नेहरू को गाँधीवादी कहना न्याय न होगा।

'वाद' में नेहरू गाँधीजी के नहीं थे, न ही हैं। हृदय से अवश्य यह गाँधीजी के रहे हैं। अब भी उस याद और प्रभाव से छूट नहीं पाते हैं। इसी से कुछ उलझन

भी रहती है और स्थिति में असमंजस बना हुआ है। यह भी कहना आवश्यक है कि अनुयायी होने से कोई निकट अथवा दूर नहीं होता। नेहरू गाँधीजी के निकट थे, उन्हें प्रिय थे, विश्वासभाजन थे। अपना उत्तराधिकारी तक उन्होंने नेहरू को बनाया, पर अनुगामी वह अवश्य नहीं थे।

गाँधीजी आज नहीं है, इसलिए गाँधीजी का निजी प्रेम और निकटता आदि तत्त्व भी आज की स्थिति के लिए संगत तत्त्व नहीं है। जीवित गाँधी की बात दूसरी थी। आज जो चीज जिन्दा है, वह गाँधी नीति है। गाँधी की याद बहुत ताजा है, उनके साथी अभी मैदान में हैं, इस कारण स्थिति में एक असमंजस बना रहता है। सभी तो साथी हैं। राजाजी हैं, जयप्रकाश हैं, कृपलानी हैं, नेहरू तो हैं ही। फिर विनोबा हैं। इन सबकी बातें अलग-अलग हैं। जयप्रकाश यों विनोबा से एक हैं, लेकिन बातें दोनों की अलग-अलग भी सामने आती हैं। गाँधीजी के साथ के सम्बन्ध को विचार में लेंगे तो उलझन कभी कटेगी नहीं। गाँधीजी के शव की चीर-फाड़ करते हुए हम उन्हीं की छाती पर अपने खेल खेल रहे होंगे।

हाँ, राज्य की आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक नीति किसी भी प्रकार गाँधीय नहीं कही जा सकती, प्रश्नकर्ता की इस बात से मैं सहमत हूँ। यह भी सही है कि उस नीति के पक्ष में गाँधीजी के नाम और आदर्शवाद के बल का सहारा लिया जाता है। उस कारण उस स्थिति में एक तनाव और संकट पैदा हो जाता है। राज्य काँग्रेस दल का है। काँग्रेस वह संगठन था जिसके द्वारा इस देश में गाँधीजी ने अपना काम किया। स्वराज्य की लड़ाई लड़ी और अन्त में स्वराज्य हासिल भी किया। गाँधीजी के पुण्य-बल से जो जनश्रद्धा प्राप्त हुई, अनायास काँग्रेस-संगठन को भी उस श्रद्धा का भोग मिलता रहा। काँग्रेस का पुण्य (गुडविल) का मूल्य स्वराज्य मिलने के समय भारत के मन में गहरा था। उस पुण्य-बल पर काँग्रेस अब तक अपना काम चलाए जा रही है। अब अवश्य लग रहा है कि उस पुण्य का लगभग क्षय हो गया है। संचय इस बीच कुछ हुआ नहीं है, व्यय अनर्गल होता रहा है। पुण्य तपस्या से अर्जित होता है। गाँधीजी की, स्वराज्य मिलने पर, काँग्रेस संस्था को सलाह थी कि वह लोक सेवक संघ बन जाए। राजनीति का धर्म का रूप तो देश का स्वराज्य मिलने पर अनावश्यक हो जाता है। इसके बाद राजनीति एक काम-काज की चीज रह जाएगी। तपस्या और बलिदान तथा सेवा का क्षेत्र वह नहीं रहेगा। देश का उत्कर्ष तो सेवा और तपस्या के भाव से ही सधने वाला है। इसलिए राजनीति को गौण कर्म बन जाना चाहिए और काँग्रेस-जैसी जमात को, जो सेवा और बलिदान को अब तक अपनाए रही है, उस राह से हटना नहीं चाहिए। अब सेवा के नाते राजनीतिक पदों पर जाने के बजाए उसे शुद्ध लोकसेवा में उतर आना चाहिए।

गाँधीजी का वह कहना माना नहीं गया। काँग्रेस के नेताओं ने उस समय देख लिया कि गाँधी आसमानी जीव हैं, बेचारे आदर्शवादी हैं। वे जाने क्या-क्या बहकी बातें कहते हैं। काँग्रेस ठोस, जिम्मेदार व्यावहारिकों की जमात है। वह बहक कैसे सकती है। स्वराज्य मिलता है तो जिम्मेदारी को लेने से कैसे हट सकती है। इस कारण मृत्यु से पहले का गाँधीजी का अन्तिम वसीयतनामा भुला दिया गया। तब से अब तक राज्य ही सबसे बड़ी चीज रही आ रही है ओर काँग्रेस की सारी कार्यवाही उसी को केन्द्र में रखकर चलती है। और इन तेरह वर्षों के राज्यकाल में मालूम होता है कि पुण्य की वह सारी पूँजी, जो गाँधी की कमाई थी और काँग्रेस के हाथों में गयी थी, लूट-लुटाकर एकदम सिफर होने पर आ गयी है।

गाँधीवाद बटा हो सकता है। उसके अनेक आचार्य हो सकते हैं। व्याख्याएँ भी अनेक हो सकती हैं। आगे सचमुच जाने कितने न भाष्य और वाद-दर-वाद उसमें से निकाले जाएँगे। पर एक बात, जिसके बारे में दुविधा नहीं हो सकती है, यह है कि गाँधी का मार्ग प्रभुता का नहीं, सेवा का है। धन का नहीं, श्रम का है। भोग का नहीं, तपस्या का है। ऊपर से पद, धन और सत्ता पर से जनोपकार करने का नहीं, उनके बीच एक होकर अपने को सींच देने का है।

उस बात की याद काँग्रेस को कभी-कभी आती भी है। आती है तब जब हार होती है, अन्दर के झगड़े-बखेड़े दिल-दिमाग को बेहालकर देते हैं। लेकिन आती है कि फौरन भुला दी जाती है, क्योंकि राज छोटी चीज नहीं है, नशा उसका काफी होता है। पर त्राण उस मार्ग में नहीं है। अगर काँग्रेस की जमात समय रहते यह नहीं देख सकेगी, देखकर मार्ग नहीं बदल सकेगी, तो गिरना उसका अवश्यम्भावी है। तब क्या होगा इस देश का, राम ही जाने।

आज के युग में हिंसा की शक्तियाँ अधिक प्रबल बनती जा रही हैं। अहिंसा की भावनाएँ उदीयमान होते हुए भी हिंसा की प्रतिरोधात्मक शक्ति के समक्ष अपना तेज प्रस्फुटित क्यों नहीं कर पा रही हैं?

—हिंसा को जहाँ से वेग प्राप्त होता है उसी स्रोत से यदि अहिंसा भी निकल सके, तभी वह प्रबल सिद्ध हो सकती और हिंसक शक्तियों को निस्तेज बना सकती है। अहिंसा की अधिकतर बातें होती हैं, या तत्वविचार हुआ करता है। इस सबमें शक्ति नहीं होती। प्राण-स्तर से यदि उसका उदय हो तो फिर वैसी अहिंसा की शक्ति अप्रतिरोध्य होगी और उसमें से अपूर्व पराक्रम का जन्म हो सकेगा। जब तक वैसा नहीं होता, अहिंसा के प्रति लोगों की श्रद्धा नहीं जग सकती है, न शास्त्रास्त्र का भरोसा उनसे छूट सकता है।

क्या वर्तमान भारत में ऐसे तत्व आपको दिखायी दे रहे हैं, जहाँ से अहिंसा के प्राण तत्व का उदय हो? और यदि 'हाँ' तो यह अपेक्षा आप किससे करते हैं? मेरा अभिप्राय किसी व्यक्तित्व अथवा संस्थान से है।

—वर्तमान में जो मुखर होकर सामने आते हैं वे तत्व संदिग्ध और कृत्रिम हैं। वे अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अधिकांश श्रद्धा से खाली हैं। इस स्तर से अहिंसा की दिशा में कोई आशा नहीं हो पाती। धर्म-प्राण तत्त्व भारत की भूमि से लगे हुए शायद दृष्टि से ओझल रहते हैं। उन्हीं के बल पर भारतवर्ष की संस्कृति सहस्त्र-सहस्त्र वर्षों से आज तक अजस्त्र और अविच्छिन्न बनी हुई है। आज की राजनीति कुछ पराई नकल की है। वह दबाव हटे तो अवश्य भारत की भूमि से वे मूल तत्त्व उठ और उभर सकते हें जो स्थिति बदल दें। गाँधी उसी भारतीय आस्था और आत्म की देन थे। मैं भी नाम नहीं ले सकता हूँ, लेकिन साक्षर वर्ग जो समझ जाता है, वह अपना जीवन-मान (स्टैण्डर्ड ऑव लिविंग) बढ़ाने के लक्ष के चक्कर में प्रयासपूर्वक शोषक और हिंसक बनना पसन्द करता है। साधारण और धार्मिक माने जाने वाले क्षेत्र में अब भी व्यक्तित्व हो सकते हैं जिनमें से उस दिशा की सम्भावनाएँ अवसर मिलने पर जाग जाएँ। लेकिन ऊपर का राज तो अँग्रेजी में चल रहा है। वहाँ से प्रेरणा पानेवाली राजनीति इन मौलिक तत्वों के आविष्कार तक कैसे पहुँचे?

अहिंसा के जो-जो आन्दोलन बर्ट्रेण्ड रसेल, विनोबा या तुलसी के द्वारा चल रहे हैं, उन्हें आप किस दृष्टि से देखते हैं?

—मुझे सभी में सद्अभिलाषा दीखती है, लेकिन सत्याग्रह दीखने से रह जाता है। बर्ट्रेण्ड रसेल के आग्रह में दृढ़ता है, पर उतनी निस्संगता और आध्यात्मिकता भी है, इसमें संशय बना रहता है।

राजसत्ता आज लोक व्यवहार में सर्वत्र हावी होती जा रही है। अहिंसा में निष्ठाशील व्यक्तित्व और अहिंसक संस्थाएँ भी इसी प्रभाव से खाली नहीं हैं। क्या यह अहिंसा के लिए प्राण घातक नहीं है?

—हाँ, यह सत्ता और अर्थ का पाश जबर्दस्त है। अहिंसा को लेकर बनने और चलने वाली संस्थाएँ अर्थापेक्षी बनती हैं और उन्हें खिंचकर अर्थ के पास जाना पड़ता है। उनमें वह शक्ति जब तक न हो कि अर्थ अपनी विवशता से उधर खिंचकर आए, तब तक यह जकड़ टूट नहीं सकती। समस्त जन-व्यवहार पैसे के माध्यम से चलता है। अब कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो श्रम को मूल क्रय शक्ति में परिणत कर दे और समाज के भार-केन्द्र इस प्रकार सिक्के से हटकर

श्रम में आ जाएं। तब मनुष्य अपनी जगह पर स्वाधीन और स्वश्रयी हो सकेगा और पैसे में उसको बेचने-खरीदने की शक्ति नहीं रह जाएगी। यह नहीं हो पाता, तब तक लगता है कि आत्मवान व्यक्ति मूल्यहीन होगा और निश्चेतन सत्ता का तन्त्र बलशाली रहेगा। भावुक अहिंसा इस मूल्य परिवर्तन का काम नहीं कर सकती, उसको कठोर वैज्ञानिक ओर आर्थिक-सामाजिक भी बनना होगा।

राजनीति वाले कहीं-कहीं अपने स्वार्थ के लिए अहिंसा का नाम लेते हैं और तत्सम्बन्धी विश्व स्तर के आयोजन करते हैं। लेकिन उनका विश्वास अहिंसा में तो है नहीं। क्या इस स्थिति में अहिंसा उसी से पोषण पा सकती है? नहीं तो यह अहिंसा को कहाँ ले जाएँगे?

—राजसत्ता कुल मिलाकर अहिंसा से अधिक हिंसा का उपकरण है। जिनका मन उसमें हो, उन्हें अहिंसा का नेतृत्व नहीं करना चाहिए। न जिनका मन अहिंसा में हो, उन्हें राजनीतिकों के हाथों उस विचार या कर्म की बागडोर देनी चाहिए।

अहिंसा को यदि वे लोग हाथ में लेंगे तो स्पष्ट है कि अन्त में सत्ता-समर्थन से अतिरिक्त वे उसे कहीं अन्यत्र नहीं ले जर सकेंगे। राष्ट्रवाद और उसके आधार पर युद्धवाद तक से उसका मेल बिठा दिया जा सकेगा। हिंसक और अहिंसक के बीच तो सहअस्तित्व धर्म है, लेकिन हिंसा-अहिंसा के बीच मैं उसका कोई अवकाश नहीं देखता। कारण उन भावों का सम्बन्ध श्रद्धा से है और श्रद्धा एकाग्र और एकात्म ही हो सकती है।

कहीं-कहीं अहिंसा के मंच पर हिंसा के आयोजनकों द्वारा राजनेताओं को सम्मानित करना क्या अहिंसकों की दुर्बलता है, या अहिंसा का दुर्भाग्य अथवा आज की राजसत्ता का दुष्प्रभाव?

—राजनेता का अतिरिक्त सम्मान या अपमान दोनों ही अनिष्ट हैं।

मानना होगा कि आज राजसंस्था का प्रभाव हमारे मानस पर आवश्यकता से अधिक छाया हुआ है और उससे सम्यक दर्शन का आविर्भाव मुश्किल होता जा रहा है।

गोष्ठियों में राजनीति के क्षेत्र में काम करनेवाले लोगों को शामिल किया जा सकता है। उनका बहिष्कार उचित नहीं है। लेकिन अन्य सामान्य नागरिकों की भूमिका से ही मन्त्रित्व उसी तरह का एक काम है जैसे दुकानदारी या मास्टरी। उस कारण व्यक्ति न श्रेष्ठ बनता है, न निकृष्ट।

युद्ध अथवा अणु युद्ध का परिहार अहिंसा से सम्भव है? और है तो किस प्रकार?

—आज के जमाने में युद्ध को अणु युद्ध से अलग नहीं किया जा सकता। विश्व की राजनीति का शक्ति सन्तुलन आज इतना नाजुक है कि तनिक उलट-फेर अणुशस्त्र को उपयोग में खींच ला सकता है।

अणु बम बन जाने पर युद्ध का प्रतिकार स्पष्ट ही हिंसा के हाथ में नहीं रह जाता। अहिंसा के हाथ में इसलिए वह आ जाता है कि कूटनीति में तब अपनी हठ रखने और चलाने से हम ऊपर उठ सकते हैं। क्यूबा में से ख्रुश्चेव ने अपना कदम वापस खींच लिया, यह हिंसा की अव्यावहारिकता और अहिंसा की अनिवार्यता का ही लक्षण था।

अन्त में यदि रक्षा की जाती है तो जान की कीमत देने की तैयारी पर ही की जा सकती है। शस्त्रास्त्र से मुकाबला करते हों तो भी यह जान देने की तैयारी जरूरी होती है। अहिंसात्मक प्रतिकार का मतलब सिर्फ इतना है कि जान देने की तैयारी पूरी हो, सिर्फ एवज में जान लेने की इचछा न हो। इस प्रकार के प्रतिकार में, मैं मानता हूँ, उसका नैतिक आधार सुनिश्चित होने के कारण, कार्यकारी शक्ति बढ़ ही जाती है।

किन्तु अहिंसा का मुख्य उपयोग पहले युद्ध को न होने देने में है। फिर भी यदि [illegible] किसी के अविवेक से हो ही पड़ता है तो अवश्य दूसरी ओर से जान देने [illegible] तैयारी को लेकर उसका भली प्रकार मुकाबला किया जा सकता है।

अहिंसा की कर्म-भूमि होने के नाते भारत-चीन युद्ध पर विश्व की दृष्टि थी। क्या उसका प्रतिरोध सैनिक शक्ति की अपेक्षा अहिंसा-शक्ति से सम्भव था? यदि हाँ, तो उसका व्यावहारिक स्वरूप क्या है?

—व्यावहारिक स्वरूप जो अहिंसक हो उसकी बात अभी नहीं करूँगा। लेकिन सशस्त्र प्रतिरोध को तो व्यावहारिक स्वरूप माना गया। उसका परिणाम सामने है। बर्ट्रेण्ट रसेल चीन से अधिक भारत को दोषी बताते हैं। सशस्त्र प्रतिकार ही यदि व्यवहार्य माना जाय तो बर्ट्रेण्ड रसेल के तर्क को किसी तरह नहीं काटा जा सकता है। न आज जो युद्ध-विराम की पंक्ति चीन ने हमें दे दी है, उसको बाल बराबर पीछे सरकाया जा सकता है।

यदि हक की रक्षा शस्त्र से होगी तो निश्चय रखना चाहिए कि शस्त्र के हाथ में हक का निर्णय पहुँच जाएगा। यह भयंकर बात होगी। आज भारत उसी फन्दे में फँस गया है। और सारी सशस्त्र तैयारी के बावजूद युद्ध विराम की रेखा के इस तरफ सिर्फ सन्नद्ध खड़ा ही रह सकता है, कर कुछ नहीं सकता। बाजी चीन के हाथ में पड़ गयी दीखती है। यानी तब हक की बात पीछे रह जाती है और शस्त्र की बदाबदी ही सामने आ जाती है। यदि लड़ाई हक की रक्षा के

लिए हो तो स्पष्ट है कि शस्त्रास्त्र के बीच में आ जाने से हक या न्याय के मुद्दे ओझल हो जाते हैं और सब निर्णय शस्त्रास्त्र के बलाबल के निर्णय पर निर्भर हो रहते हैं।

इस तरह अत्यन्त स्पष्ट है कि सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अहिंसात्मक साधनों का ही उपयोग हो सकता है, अन्यथा सत्य का घात होता है और उसके ऊपर नंगी ताकत की प्रतिष्ठा होती है। समय है कि यह दुष्कर्म अब खत्म हो और कोई एक देश प्रण बाँधकर शान्ति के साधनों से ही युद्ध का मुकाबला करे। अणुयुग में सिवा इसके निस्तार का कोई मार्ग नहीं है।

दिल्ली से अहिंसा का शक्तिशाली उदय व्यवहार्यजन्य है? क्या दिल्ली अहिंसा का पथ-प्रदर्शक या केन्द्र बन सकता है और बने तो उसके लिए आपके मस्तिष्क में क्या रूपरेखा है जो इसकी रचना को साकार रूप दे?

—अहिंसा की शक्ति के उदय की दृष्टि से दिल्ली बिलकुल अनुपयुक्त है। यहाँ का सारा व्यवहार एक-दूसरे के लिए नहीं, बल्कि एक-दूसरे पर जीने के सिद्धान्त पर खड़ा हुआ है। मानव समाज अन्ध प्रतिस्पर्धा के मूल्य पर चलाया जा रहा है। उस समाज की राजधानी दिल्ली है। अहिंसा का मूल्य उससे अलग और उलटा है। वहाँ व्यक्ति अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीना सीखता है। इसीलिए ऐसा कोई केन्द्र यदि उदय में आनेवाला हो तो उसे दिल्ली से किनारा रखना चाहिए। उस प्रयोग के फल और विवरण को फिर दिल्ली के जीवन पर प्रयुक्त किया जाए, यह दूसरी बात है। उद्गम-स्थली के लिए दिल्ली नहीं हो सकती।

क्या आप अहिंसा की लोक शक्ति का संग्रह करने में पहल करेंगे? आज की अहिंसा का वैचारिक जगत आपकी ओर निहार रहा है।

—क्या करूँगा, मैं नहीं जानता। एकदम खाली हूँ और दुःखी हूँ, इतना जाना हूँ। साहित्यिक समझा जाता हूँ, लेकिन साहित्य में अपनी खातिर मेरा मन कभी नहीं रहा। लिखना है तो मेरे लिए साधन हैं, बोलना भी साधन हो सकता है। लेकिन साधन को साध्य से कैसे जोड़ूँ, साफ दीख नहीं रहा है। अँधेरा-सा मालूम होता है। साध्य को लेकर तड़प और छटपटाहट अवश्य है। उसमें कुछ कमी ही होगी कि प्रकाश वहाँ से फूटकर नहीं आ रहा है। अपनापन पूरी तरह गल जाएगा, घुल जाएगा, व्यथा इतनी तीव्र और सघन हो जाएगी तो शायद है कि कुछ मुझसे हो जाए। लेकिन उसका मैं अभी तो अनुमान भी करने का हक नहीं रखता हूँ।

यह मन में जरूर है कि अगर समय रहते भारत से कुछ इस प्रकार के अहिंसक प्रकाश का उदय नहीं हो सकता तो फिर शायद कहीं से उसकी आशा

नहीं है। फिर तो अणु प्रलय की ही राह देखना भर रह जाता है। आस्तिक हूँ और आशा नहीं छोड़ सकता कि प्रलय न होगा और सत्य की ही जय होगी।

क्या 'डेमोक्रेसी' राजकीय तन्त्र के ही एक रूप का नाम है? इसके विभिनन स्वरूप जो देखने में आते हैं वे सामाजिक विकास के हेतु को दृष्टि में रखकर अपनाए गये थे। तौ क्या आज 'डेमोक्रेसी' के मूल तत्व और सत्व उन तत्वों से सक्रिय दीखते हैं।

'डेमोक्रेसी' यानी लोकतन्त्र, लोकशाही, लोकराज्य। ये शब्द इसलिए चले कि अनुभव हुआ कि राजा और प्रजा में मेल चाहिए। आगे बढ़कर उनमें उत्तरोत्तर अभेद चाहिए। प्रजा में मेल चाहिए। आगे बढ़कर अनुभव हुआ कि राजा और प्रजा में मेल चाहिए। प्रजा की अनुमति से राजा रह सकता है। यहाँ से एक कदम आगे चलने पर मालूम हुआ कि प्रजा की अनुमति से ही राजा बनना भी चाहिए। आनुवंशिक राजा समाप्त हुए, निर्वाचित राजा शुरू हुए। निर्वाचन से जब हम अपने राजा को बनाते हैं तो उस विधि को प्रजातन्त्र और लोकतन्त्र कह दिया जाता है। आशा यह है कि इस तरह निर्वाचन से बना हुआ राजा राजकीय नहीं होगा, प्रजाकीय बना रहेगा। अर्थात प्रजा स्वयं राजा होगी। सिद्धान्त में और शास्त्र में यह भला लगता और सही लगता है, सम्भव भी जान पड़ता है। उद्यम हमारा उसी तरफ है, पर यथार्थ और आदर्श में अन्तर ही बना दीखता है।

—असल बात यह कि शब्द से दिमाग चलते और चलाये जाते हैं। जिन्दगी सचाइयों से चलती है। शब्दों के फेर से उसमें फर्क नहीं आता। इसीलिए होता है कि आज के अच्छे और ऊँचे शब्द कल झूठे और थोथे मालूम होते हैं। आज जिन पर उत्सर्ग होने की लालसा में युवक बलिवेदी पर चढ़ गये हैं कल वे ही निःसार और छलनामय जान पड़ने लगे हैं। शब्दों के इस खेल से राजनीतिज्ञों का अच्छा काम चलता है। पर सार के लिए उनके पार जाना होगा।

राजा और प्रजा ये दो शब्द एकदम व्यर्थ और असिद्ध बन गये तब मानना चाहिए कि डेमोक्रेसी की कल्पना सिद्ध हुई है। उन शब्दों को मनोभावों में से ही निर्मल बनना है। यानी कोई अनुभव न करे कि वह दीन और असहाय है, न दूसरा उसके विरोध में अनुभव करे कि वह सम्पन्न और अधिकारी है। हुकूमत हो नहीं, जो एक को हाकिम और दूसरे को महकूम बनाए। शासन बीच में अन्तर डालने को न हो कि नीचे कोई अपने को शासित माने और अपने ऊपर किसी को शासक पाए। ऐसी अवस्था समाज की हो तब लोक शासन आत्मानुशासन का रूप बन जाएगा और तब उस विचार की पूर्ति भी मानी जा सकेगी। उससे पहले उधर अपनी गति की दिशा रखकर बढ़ते जाए, इतना ही बन सकता है।

आज राजा शायद ही कहीं बचे हैं। हों तो वहाँ भी कोई-न-कोई सदन है जिससे अधिकार सिद्धान्ततः प्रजा के पास आ जाता है। फिर भी यदि संकट का अनुभव होता है, युद्ध का भय बना रहता है, प्रहार और प्रचार की तैयारियों में शस्त्रास्त्र बढ़ते चले जाते हें, तो मान लेना चाहिए लोक राज्य का आशय कहीं भी पूरी तरह चरितार्थ नहीं होता है। यों तो भाषा में दो शब्द चलते हैं।—डेमोक्रेसी और डिटेक्टरशिप। यह नहीं कि विविध देशों के राजतन्त्रों में अन्तर नहीं है और ये दो शब्द नितान्त निरर्थक है, फिर भी सच पूछिए तो यदि एक भी जगह डोमोक्रेसी शब्द सर्वांश सिद्ध हुआ होता तो संकट की घटाओं में उस ओर से साफ प्रकाश की रेखा आती दीख पड़ती। कम-अधिक अर्थों में सब जगह राजा और प्रजा ये दो वर्ग मौजूद हैं। विधान में शायद नहीं भी हों लेकिन जन-चेतना में हैं, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इस सचाई के प्रमाण हैं शस्त्रास्त्र। पूरा लोकराज्य नस्त्रशस्त्र के झमेले में क्यों पड़ेगा? कारण, जन-सामान्य सारे ही एक हैं और मानव-जाति के हित में फाँक नहीं है। राजन्यों में प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिविग्रह का भाव हो सकता है, प्रजाजनों के लिए तो वह अनिवार्य नहीं है। लोक राज्य को अपनी अन्तरव्यवस्था के लिए भय की आवश्यकता ही क्या? बाहरी हमले का भय हो तो भी शस्त्रास्त्र की निर्भरता उसे अपर्याप्त और गलत जान पड़ेगी है। यह सर्वसम्मत तत्त्व है कि आज प्रजा राजा का भेद होना चाहिए। फिर भी भेद है तो इसके निराकरण का उपाय क्या है? चुनाव के अधिकार को वह उपाय माना जाता है। पर चुनाव में से राजा और प्रजा के बीच का फासला कम होता नहीं दीखता। अधिक-से-अधिक उससे दल और व्यक्ति का ही अन्तर पड़ता है, राजपद पर आया आदमी अदल-बदल सकता है। सिर्फ उतने से उसके और सामान्य व्यक्ति के पद के अन्तर में कमी नहीं आती। इस तरह चुनाव का अस्त्र जनता के हाथ में रहकर भी जनता के काम नहीं आता है, राजन्यों की शक्ति को ही बढ़ाता है।

डेमोक्रेसी स्पष्टतः संकट में है। कई देश खिसक चुके हैं, कुछ खिसकने की प्रतीक्षा में हैं। कारण, उन्हें अनुभव होता है कि लोकतन्त्र का रूप रखकर लोक निर्माण की गति तीव्र नहीं की जा सकती। जहाँ तन्त्र की शिथिलता नहीं है, एकता और एकत्रीकरण है, वहाँ काम तेजी से होता है। वहाँ देश की जनसंख्या संगठित की जा सकती है और विवाद की व्यर्थता को बीच में से समाप्त कर दिया जा सकता है। लोकतन्त्रात्मक राज्य लोकतन्त्र के प्रेम पर गर्व रखते हुए भी इस त्रुटि को अनुभव करते और 'सोशलाइजेशन', 'नेशनलाइजेशन' आदि उपायों द्वारा उसे दूर करने की चेष्टा में रहते हैं।

अपने भारत देश को ही लीजिए। काँग्रेस ने सन् 47 में राज्य की बागडोर

सँभाली। बड़ी लगन से नेताओं ने काम किया। पंचवर्षीय योजनाएँ एक पर एक जारी कीं। छोटी-मोटी शिकायतें यों हुआ करें लेकिन ऑलीशान उन्होंने काम किया और नए चुनाव में फिर उनके चुने जाने की आशा की जा सकती है। लेकिन क्या यह माना जाए कि हालत सुधरी है और दुःख कटा है? काम हुआ है, उत्पत्ति और सम्पत्ति भी बढ़ी हो सकती है। पर वह बढ़वारी गयी कहाँ? क्या उसने काँग्रेस की साख को बढ़ाया है, जनता के सुख को बढ़ाया है? कुल मिलाकर ऐसा मालूम होता है कि विषमता बढ़ी है, सुख-समता तो बढ़ नहीं सकी।

क्यों? क्यों संकट अनुभव होता है?

कारण, काँग्रेस शासकीय है, इतनी है वह कि प्रजाकीय रह नहीं गयी है। चुनाव में चुनकर आ जाएगी। इसके बावजूद कहा जा सकता है कि वह प्रजा की नहीं हैं। चुनाव में संगठन जीतेगा, श्रद्धा की जीत वह नहीं होगी। कारण, काँग्रेस राज्य-परक है।

याद आती है चलते-चलते काँग्रेस को जो गाँधीजी ने दी वह अन्तिम हिदायत। वह यह थी कि काँग्रेस राजन्यों का वर्ग न बने, सेवकों की जमात बन जाए। बात वह पुरानी हो गयी और काँग्रेस ने राज्य बनाना पसन्द किया। मुझे प्रतीत होता है कि डेमोक्रेसी एक ही पद्धति से सही दिशा की ओर बढ़ती जा सकती है। वह यह कि राजा राजा भर हो, नेता न हो। जब राजा राज्य करता और नेतृत्व भी करता है, तब मानना चाहिए कि राजा और प्रजा दोनों का ह्रास अवश्यम्भावी है। नेता सदा प्रजा का ही हो सकता है। प्रजा में से ही होना और उसी के दुःख-सुख में उसे रहना बसना चाहिए। गाँधीजी की हिदायत में वही मूल दृष्टि थी। काँग्रेस की गहरी हित-दृष्टि उसमें समायी थी। पर हुआ यह कि कोई प्रजा के लिए खाली नहीं रह गया। एकाएक बड़े नेता लोग राज्य के पद पर जा पहुँचे!

आज का घोर संकट यह है कि प्रजा का कोई आदमी नेतृत्व कब उठ नहीं सकता। क्यों हम रूस-चीन को डिक्टेटरशिप कहते हैं? क्या यह सच नहीं वहाँ कि कम्युनिस्ट पार्टी यहाँ की काँग्रेस से अधिक व्यापक और लोकप्रिय है। वही फिर लोकप्रिय शासन पर भी है। अर्थात राजत्व-नेतृत्व दोनों एक हाथ में हैं। क्या शासन नीति के सख्त और तेज होने के कारण ही उसे डिक्टेटरशिप कहा जाए! सच यह कि जनता के पास सीधे साधन और शक्ति नहीं रह जाए कि लोकमत में से किसी को नेता बनाकर ऊपर ला सके, तब अवस्था चिन्ता की ही बन जाती है। प्रश्न यह नहीं कि फिर उसे कहा क्या जाता है।

भारतीय संस्कृति में समाज के शीर्ष पर एक व्यक्ति हुआ करता था। लोकाकांक्षाओं से वह संन्यास लिए रहता था। उसके नीचे एक लोकवर्ग था जिसका

मूल्य नीति था, शक्ति और उसके प्रयोग में उसे रस नहीं था। लोकमत का नेतृत्व यह वर्ग करता था। बाद में शक्ति को मूल्य मानने वाला राजन्य वर्ग आता था। उसके लिए साधु का आशीर्वाद पाना और नीतिज्ञों का निर्देशन पाते रहना आवश्यक था। स्पष्टत: ये समाज के भीतर के अंकुश थे जिससे शक्ति निरंकुश नहीं बन सकती थी। राजस्व केवल एक अमुक काम का दायित्व था, लोकमानस का नेतृत्व धर्म-नीति के हाथों में था।

शायद यह मन्त्र था जिससे भारतीय लोक-संस्कृति सहस्राब्दियों में से अविच्छिन्न रहती चली आयी। गाँधीजी ने इसको पहचाना था। लोकनीतिक तन्त्र की यह सही कुन्जी थी। इसी सहारे अन्त में वह तन्त्र प्रजा का हार्दिक आत्मानुशासन बन सकता था। पर वह नहीं हुआ और डेमोक्रेसी मानो केवल संख्या बल पर चलाई जानेवाली व्यवस्था रह गयी।

शब्दों को यदि हम सत्य की सेवा में नियुक्त माध्यम माने तो आज के लोकतन्त्रों से लोकमानस के आश्वासन का काम पूरा नहीं होता है, यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

□

जीवन और जगत्

'एक कदम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नहीं वही कदम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई कदम और कोई मंजिल अपने-आप में सच नहीं।' आपकी इस पंक्ति का अर्थ क्या है?

—जीवन एक सतत यात्रा है। यात्रा रुक जाती है, जब कदम रुक जाता है। वो कदम जिसके आगे दूसरा नहीं, मौत के सिवा और किसका माना जा सकता है। यानी वहाँ यात्रा बन्द है। इसलिए जीवन को भी वहाँ बन्द मान लेना चाहिए।

ऊपर की पंक्तियों का यह अर्थ है कि हम कहीं चिपके और चिपटे न रह जाएँ। इच्छाएँ हमें चलाती हैं, इसमें तो कोई दोष नहीं है। लेकिन वे ही अगर हमें रोकने लग जाएँ, तब मानना होगा कि इनसे हमारा अहित होता है। इसी को दूसरी भाषा में 'फलासक्ति' कहा गया है। फल में आसक्ति का अर्थ फल पर रुक रहना हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में ज्यादा दूर नहीं जा सकता। कारण, फल उसको बढ़ाता नहीं है, बाँधता है।

चलते हुए व्यक्ति की कल्पना कीजिए। मानिये कि उसका दायाँ पाँव उठा और आगे धरती पर टिका। अब यह टिका पाँव उस धरती को छोड़ने को तैयार नहीं, वहीं टिका-का-टिका रह जाता है। तो बताइए, क्या गति होगी? तब वह आदमी नहीं रहेगा। वहीं गड़ा बुत हो जाएगा। पाँव के चलने का मतलब ही सिवा इसके कुछ नहीं है कि पाँव धरती पर पड़ें, पर उसे पकड़ें नहीं। एक तरह वे सिर्फ़ उस धरती को लाँघते और नापते चले जाएँगे।

आपने लिखा है, गति स्थिति की शर्त है। क्या उसे शर्त कहना ठीक है? इसका आशय बताइए।

—विज्ञान ने स्थिरता की धारणा को समाप्त कर दिया। मैं इस समय बैठा हूँ और अपने को स्थित मान सकता हूँ। पर धरती तो चल रही है। वह गति धरती की कितनी तीव्र है, मुझे पता नहीं। केवल इस प्रकार रहने के कारण मैं

अपने को स्थित मान सकता हूँ।

साधन किसे कहते हैं तथा साध्य किसे कहते हैं? इन दोनों में क्या अन्तर है?

—साध्य अन्तिम हेतु है। उसकी बात न करना अच्छा। उसका पता हमें होता नहीं। असल में वह साध्य न होना है। निर्वाण, मोक्ष आदि उसी के नाम हैं।

जीते हुए हम मृत्यु को जान नहीं सकते। मृत्यु जीवन के लिए बन्द मंजिल है। बात मंजिल की नहीं, सफर की की जा सकती है।

तो यात्रा वह अनन्त है। साध्य अन्त को ही कह सकते हैं। उस अन्त की न याद करना ही अच्छा है। नदी का साध्य क्या है? यह कि वह रहे नहीं, सागर में खो जाए। अनजाने नदी उसी साध्य की ओर बढ़ती है। जिसको साध्य रूप में वह जान सकती है, अन्त में वह तट का तीर्थ ही रह जाता है। नदी को उससे आगे भी जाना पड़ता है।

साध्य-साधन ऐसे अभिन्न बनते हैं। साध्य वह जो दूर है, साधन जो समक्ष है। एकदम अगली कड़ी कर्त्तव्य का साधन है, तो दूर की कड़ी को हम साध्य मान लिया करते हैं।

छुटपन की मुझे याद है। चौथी क्लास में पढ़ता था। परीक्षा से पहले मन्दिर में जाकर मैंने भगवान से एक ही वरदान माँगा — 'हे भगवान, मैं परीक्षा में प्रथम आऊँ।' यानी वह मेरे लिए सर्वथा अन्तिम साध्य था। आगे किसी तरह की चाह न थी। पाँचवीं कक्षा की दृष्टि से चौथी की सफलता आखिर साधन बन गयी। इस तरह साधन साध्य भिन्न नहीं रह जाते हैं।

हर साधन के प्रति साध्य बुद्धि रखें तो कर्म-सुकौशल प्राप्त होता है। हर साध्य को साधन बनाने को तैयार रहें तो गति सतत रहती है।

स्पष्ट ही है कि साध्य साधन अनुकूल ही हो सकते हैं। उत्तम साध्य के लिए साधन उत्तम ही काम आ सकते हैं। चिन्ता इसलिए प्रथमतः उसकी नहीं करनी है जो साध्य है और दूर है। सावधानी सारी उसकी रखनी है जो हाथ में है, समतक्ष है और साधन है।

अगर मनुष्य के जीवन में हर क्षेत्र में निराशा ही मिले, तो उसे क्या करना चाहिए। वह उत्साह, प्रेरणा, नव-जीवन में संघर्ष करने की शक्ति कहाँ से लाए?

—निराशा मिलती हो तो मेरी सलाह होगी कि हम उससे लड़ें नहीं, उसे अपना लें। उसे भीतर तक रिसते जाने दें। तो एक गहरी संस्कारिता व्यक्तित्व को प्राप्त होगी।

निराशा टूटी आशा को कहते हैं। आशाएँ हम दूसरों से रखते हैं, मानो दूसरों

के प्रति दावा रखते हैं। इसमें स्वार्थ बुद्धि है। दूसरों को हमें स्वतन्त्र रहने देना चाहिए। अपनी आशाओं को पूर्ण करने का बोझ किसी पर लादना गलत है। पहले यह गलती करते हैं, फिर निराश होने पर आवेश में दोषारोपण करते हैं। निराशा का दोष हमें स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करेंगे तो असफलता के गहरे कारणों में हम उतरेंगे, और देखेंगे कि वे कारण शायद हमारे स्वभाव में ही पड़े हुए थे।

निराशा सदा आसक्तियों और इच्छाओं को मिलती है। फल अमुक चाहते हैं, मिलता दूसरा है, तो बस निराश हो जाते हैं। सच यह कि फल हमारे वश में नहीं है। इससे उस बारे में आग्रह रखना मूर्खता है। वश हमारा अपने तक है, अपने कर्त्तव्य तक है। आगे जो फल हो उसमें दूसरी अनेक बातों का हाथ होता है। फलासक्ति से इसलिए व्यक्ति को अन्त में मन की चोट ही मिलती है। अधिकार तो कर्त्तव्य तक है। फल में किंचित वह नहीं पहुँचता है। यह गीता ने समझाया, पर अनुभव से समझें तो सीधा मन में बैठ जाए।

उत्साह और प्रेरणा हममें फल को सामने रखकर आती होंगी तो अवश्य वह मार्ग जल्दी बन्द दिखाई दे जाएगा। तब शक्ति जैसे छिन जाएगी और कुण्ठा का अनुभव होगा। प्रेरणा का स्रोत कुछ वह हो जहाँ से प्रतिदान की अपेक्षा न हो तो जान पड़ेगा कि वह सोता कभी सूखता नहीं है। नया-नया उत्साह और नयी-नयी शक्ति वहाँ से मिलती जाती है।

मेरे घर के नीचे एक माँ रहती है। बड़ी साधों से उसे बालक मिला है। देखता हूँ कि दिन-रात वह उसमें मगन रहती है। बालक क्या देता है, घड़ी-घड़ी उसे भिगो देता और गन्दा कर देता है। हर तरह परेशान करता रहता है। पर माँ की उमंग कम नहीं होती। यह अजस्र आनन्द माँ को उस प्रेम के कारण मिलता है जो अकारण है, हर अपेक्षा से मुक्त है।

जीवन में संघर्ष करने की शक्ति संघर्ष की इच्छा में से नहीं आ सकती। संघर्ष सहना है, करना नहीं है। यहाँ अक्सर भूल हो जाती है। संघर्ष को सामने रखकर उत्साह पैदा किया जाता है। छोटे झगड़ों और बड़े युद्धों में यही होता है। आवेश की शक्ति से काम लिया जाता है, प्रतिक्रिया में उतनी ही मूर्च्छा और दुराशा हाथ आती है। माना जीवन युद्ध है और संघर्ष है। पर वह प्रक्रिया ही है, सार और अभिप्राय नहीं है। सार और अर्थ जीवन का है प्रेम, अर्थात प्रेम को मन के गहरे में रखकर जो युद्ध और संघर्ष करता है, वह टिका रह जाता है। वह ऐसा योद्धा है जो कभी थकता नहीं, हारता नहीं। जिसे मुँह मोड़ने की कभी जरूरत नहीं होती। जिसकी पराजय नहीं है, क्योंकि सामने वाले की पराजय वह चाहता नहीं है।

शक्ति संघर्ष में खर्च होती है, प्रेम में से उत्पन्न होती है। जो व्यय ज़्यादा

करता है और आय करता नहीं, वह डूबता है। शक्ति की आमद का स्रोत आदमी अपने भीतर खुला रखे, फिर शक्ति कितनी भी संघर्ष में व्यय करते जाओ, स्रोत सूखेगा नहीं।

आप अहिंसा के पक्षपाती हैं। पर क्या आप ईमानदारी से बता सकते हैं कि आपने अपने जीवन में किस स्तर की अहिंसा का व्यवहार किया है?

—हाँ, मैं अहिंसा का पक्षपाती हूँ। लेकिन अहिंसक व्यवहार और अहिंसक कर्म अपने-आप में कोई नहीं होता। अहिंसा तो उन्मुखता है। समूचे जीवन की दिशा में से उसका निर्णय हो सकता है। चिन्तित अहिंसा अहिंसा ही नहीं। अपने जीवन में मुझे लगता है कि मैंने अहिंसा का विचार ही किया होगा, जिससे वास्तव अहिंसा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। विचार द्वारा अहिंसा होती ही नहीं। अहिंसा का चिन्तन-मनन आदि करते-करते भी हमारा व्यवहार बड़ी आसानी से हिंसक बना रह सकता है। अहिंसा का आवास यदि है तो अभ्यन्तरीय व्यथा में है, वहाँ जहाँ कि प्रेरणा का स्रोत है। कर्म में फलित होते-होते उस व्यथा के साथ क्या बीतता है, इसका पूरा विज्ञान अभी मनुष्य के हाथ आया नहीं है। इसी से कहा जाता है निर्णय न करो, जज न बनो। व्यवस्था के नाते दण्ड या पुरस्कार दिया जाता हो, सो हो सकता है, लेकिन उससे हिंसा-अहिंसा का निर्णय नहीं होता।

मैं अपना मालिक नहीं बन सकता। अपना निर्णय मेरे हाथ में नहीं है। जिज्ञासु के नाते किसी का भी निर्णय मेरे हाथ में नहीं है। अहिंसा का सम्बन्ध बुद्धि से है ही नहीं। बुद्धि अधिक-से-अधिक तर्क देती है, शब्द देती है। तटों पर शब्दों के बीच में से जो व्यथा का प्रवहन होता है उसमें बुद्धि का वश नहीं है, इसलिए अहिंसा के विषय में बुद्धि विवश है।

अहिंसा है मुक्त भाव। साधारणतया अन्य से अहम रक्षा खोजता है। उसी की प्रतिक्रिया में अन्य पर अहं प्रहार भी करता है। इन दोनों वृत्तियों में हिंसा है। जहाँ न रक्षा है न प्रहार है, बल्कि अहं में अन्य के प्रति खुली प्रीति का भाव है, उन्मुखता है, सहानुभूति है, ऐक्य का आभास है, वहाँ अहिंसा माननी चाहिए।

जहाँ तक मैं अपने बारे में सोच सकता हूँ, मुझमें सामाजिकता की कमी है, इसको अहिंसकता की ही कमी कहना होगा। अन्य के प्रति यदि मेरा अहं खुल नहीं पाता तो निश्चय ही तब वह मन्द या बन्द होता है। तब वह अवस्था होती है जिसे सेल्फ-कौंशस कहा जाता है। मैं इस अवस्था का शिकार बहुधा रहता हूँ। इससे यही कहना चाहिए कि मैं बहुधा अहिंसा से दूर बना रहता हूँ। बहुत कम क्षण और सम्बन्ध हैं जहाँ मैं इस सेल्फ कौंशसनेस से छुटकारा पाता हूँ। इसलिए मानता हूँ कि उतने ही कम क्षण हैं जब मैं अहिंसा का स्पर्श पाता

हूँ। अहिंसा सम्बन्धी चर्चा-व्याख्या से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस व्यसन में मेरा कम समय नहीं जाता। जैसे यही कि आप अहिंसा के बारे में प्रश्न पूछ बैठे। इस शौक में थोड़ा भी समय खोना मुझे चुभना चाहिए। नहीं चुभता बल्कि उसमें रस आता है, इसी से मेरी दयनीय दशा प्रकट हो जाती है।

दो चीजें परस्पर विरोधी हैं—भय और अहिंसा। मुझमें भय बहुत है। अभाव का भय है, लोकापवाद का भय है। भय के साथ अहिंसा का मेल नहीं है। भविष्य का भय भीतर की हिंसा का लक्षण समझा जा सकता है। धन की इच्छा में मनुष्य का भय समाया है। धन में सुरक्षा देखी जाती है, सो वह हिंसा के भाव के कारण। अहिंसक अपरिग्रही और निमित्त होगा। कारण वह सबके प्रति खुला हो सकेगा और विश्वास से जुड़ा हो सकेगा। ऐसा नहीं हो पाता है, इसीलिए धन का और वस्तुओं का आसपास संग्रह किया जाता है।

अहिंसा में से अनायास अनासक्ति निकलनी चाहिए। वासना के डंक से मुक्ति मिलती जानी चाहिए। वैसा मेरे साथ तनिक भी नहीं हुआ। आसक्तियों में ही मालूम होता है जीना सम्भव है, अन्यथा नीचे से आधार समाप्त हुआ-सा लगता है। दिन-रात चिन्ता रहती है और यह आसक्ति का परिणाम है। अहिंसा मुझमें होती तो इस सबसे छुट्टी मिल जानी चाहिए थी। आजीविका का प्रश्न वहाँ समाप्त हो जाता है। और वह प्रश्न है जो मुझे सदा घेरे रहा है और अब भी घेरे रखता है। अहिंसा का मेरा विश्वास कहता है कि वह कृत्रिम प्रश्न है, किन्तु मन में हिंसा का अभाव उसी प्रश्न को महत्त्वपूर्ण बना देता है।

मत-मान्यता के रूप में अहिंसा का मेरे निकट कुछ भी महत्त्व नहीं है। बड़ी आसानी से हो सकता है कि अपने झण्डे पर अहिंसा लिखकर एक दल अपने नारे की विजय चाहता हुआ हिंसा पर उतर आए, और जान ही न पड़े उसे कि वह हिंसा है। मतवाद के आवेश में से अक्सर ऐसा ही घटित होता है।

सत्य के वाद में से ही सम्प्रदाय-वाद खड़े हुए हैं। यह उन्हें पता ही नहीं चल पाता कि अपने को तो सत्य और दूसरे को सर्वथा असत्य कहने में से ही सत्य असत्य बन जाता है, क्योंकि वह सम्प्रदाय और अस्मिता का गढ़ बनता है। इसलिए अहिंसा का पक्ष नहीं हो सकता, सब पक्ष हिंसा के ही होते हैं। और अहिंसा वह है जो उन सबको अपना मानने की तैयारी रखती है और इसलिए अपना अलग पक्ष बनाने की कभी नहीं सोच सकती।

अहिंसा को हम सीधी भाषा में प्यार नहीं कह सकते, या कहें तो उस प्यार को कह सकते हैं जो अप्यार के उत्तर में जाता है। अर्थात अहिंसा युनिलेटरल और बेशर्त होती है। उसमें अपेक्षा नहीं है। अपने प्रेम-व्यापारों में जैसे मानो हम अपेक्षा रखते हुए चलते हैं, इसलिए उन्हें अहिंसा कहना कठिन है। अहिंसा में

हिंसा का स्वागत है। अक्सर प्रेम में अप्रेम का स्वागत नहीं हो पाता। यहीं अहिंसा भिन्न हो जाती है। सामने के प्रतिपक्षी को वह अपनी ओर से मौका देती है कि वह जितना चाहे नृशंस बन देखे। अहिंसा प्रतिदान का रूप नहीं है। प्रेम के प्रति प्रेम सामान्य नियम है और अहिंसा का दिग्दर्शक नहीं है। अहिंसा का आरम्भ और उसकी कसौटी वहीं है जहाँ द्वेष के प्रति भी हमारी ओर से प्रेम है। ऊपर जिस अहिंसा की बात कही वह मुझे छू भी नहीं गयी है। लेकिन उस बात की सत्यता मुझ पर निर्भर नहीं है।

मुझे एक बार की याद है। सन् 1930 के दिन थे। और नमक सत्याग्रह का आरम्भ था। दिल्ली में जुलूस निकला और सरकार की ओर से लाठी चार्ज हुआ। सामने से आती हुई लाठियों को देखने का मेरा पहला मौका था। रास्ते में खोपड़ियाँ फटती जाती थीं और इधर-उधर लोग गिरते, लुढ़कते जाते थे। पुलिस घोड़ों पर सवार थी और कुछ सिपाही पैदल भी थे। मैं याद कर सकता हूँ कि मैं अगर अपनी जगह से भागा नहीं तो किसी वीरता के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि पैर बँधे रह गये। एक खौफ और हौल दिल में था। दो-तीन लाठियाँ मुझ पर पड़ीं और मुझे याद नहीं पड़ता। मैंने हाथों तक से उन्हें बचाने की कोशिश की। लेकिन इस व्यवहार में रंचमात्र वीरता या अहिंसा न थी, यह मैं प्रत्यक्ष देख सकता हूँ। ऊपर से व्यवहार निष्क्रिय और अहिंसक दिखाई दे, पर ऐसा तो इसलिए था कि डर ने अन्दर की सूझबूझ को खतम कर दिया था। तब से अब तक मेरे अन्दर कुछ बहुत परिवर्तन हुआ है ऐसा मैं अनुभव नहीं करता हूँ। इसलिए मेरे जीवन में किस स्तर की अहिंसा का पालन रहा है, इस प्रश्न को न उठाना ही अच्छा है। इसमें मुझे लज्जा ही हाथ लगेगी और आपको भी प्रकाश प्राप्त न होगा।

जीवन व्यवहार में अहिंसा आत्मीयता का नाम है। लाठीवाले घुड़सवार के प्रति यदि मैं आत्मीयता नहीं अनुभव कर सकता हूँ तो सिर्फ निष्क्रिय और निश्चेष्ट व्यवहार मुझे अहिंसक नहीं बना देता। केवल कष्ट सहना अहिंसा का लक्षण नहीं है। मीठी बोली भी अहिंसा का लक्षण नहीं है। कोई ऊपरी लक्षण अहिंसा के सम्बन्ध में निभ्रान्त नहीं ठहर सकता। उनकी प्रक्रिया इतनी भीतरी है कि उसका फल अतर्क्य रूप से होता है।

आपको अहिंसा प्रकट में दीख सकती है कि प्रतिपक्षी की दुष्टता को बढ़ावा दे रही है। सच यह कि दुष्ट का हृदय परिवर्तन कुछ सहज नहीं होता, बड़े घने अन्तर्द्वन्द्व के साथ होता है। अन्तर्द्वन्द्व के कारण शुरू में अहिंसक व्यवहार से दुष्ट की दुष्टता को उत्तेजन ही मिल सकता है, किन्तु यह निश्चित है कि अहिंसा उस शक्ति का नाम है जो जीवन को उत्कर्ष की ओर उठाती जाती है और इस तरह जो काल के विकास क्रम को धारण करती है।

अध्ययन के लिए मुझे थोड़े समय अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाकर रहना पड़ा है। तब विशेषकर स्त्रियों की तरफ से मुझे बहुत ही अविश्वास मिला है। इस कारण उन पारिवारिक स्त्रीजनों से घृणा भी हो गयी है, पर उन परिवारों के बच्चे मुझे स्नेह देते तथा पत्र लिखते हैं। मेरा हृदय उस नारी वर्ग के अविश्वास के कारण चीत्कार कर उठा है। ऐसी परिस्थिति में बताइए क्या मुझे बच्चों के प्रति स्नेह रखना और पत्रों का उत्तर देना चाहिए?

—स्नेह जहाँ रखा जा सके अवश्य रखना चाहिए और पत्रों का उत्तर भी, अगर सम्बन्ध भंग की आशंका न हो तो, अवश्य देना चाहिए। पर यह प्रश्न व्यापक और सम-सामान्य भी है। वह मानव सम्बन्ध का मूल प्रश्न है। मानव सम्बन्धों में ही उलझनें पैदा होती हैं, विग्रह और क्लेश उपजा करते हैं। हत्या और आत्महत्याएँ भी वहीं से निकलती हैं। इसलिए उस बारे में थोड़ा और विचार करें तो अयुक्त न होगा। हर संकट में हमें दोष दूसरे का दीखता है। इस बारे में हमारी बुद्धि में तनिक भ्रम नहीं रहता। इसलिए क्रोध उचित जान पड़ता है। यहाँ तक कि निर्णय और दण्ड हमारे हाथ में हो तो वैसा हम कर गुजरते हैं। अगर हमारी स्थिति पिता की है, पति की है, प्रधान की है तो डाँटते-फटकारते या दण्ड देते हमें देर नहीं लगती।

इस वृत्ति में से हमारे बीच में एक शासन संस्था का निर्माण हो गया है। ऊपर अधिकारी और अफसर हैं और वे शासकजन कानून की छड़ी से नियमानुसार प्रजाजन को चलाया करते हैं। उस छड़ी की सहायता के लिए न्याय की संस्था रहती है, जिसके पीछे पुलिस, फौज और जेलखाने रखे जाते हैं। यों अपराध होते और उनका दमन हुआ करता है। साधारण क्रम यही है। पर असाधारण समय में वह उलट भी जाता है। इसको क्रान्ति कहते हैं। तब प्रजाजन राजन्य वर्ग को ऊपर से खींचकर नीचे पटक देता और नाश तक कर देता है। फिर अपने में से मन मुताबिक नये शासक और शासन की स्थापना करता है।

इन राजनीतिक क्रान्तियों के इतिहास से जान पड़ेगा कि कानून और अपराध का प्रचलित सम्बन्ध स्थायी और स्थिर नहीं है। आज जो मन्त्री है कल जेल में दीख सकता है और आज जो जेल में है कल प्रधान मन्त्री के आसन पर बैठ सकता है। वही आज अपराधी है और कानून के पैरों तले है। कल वही अधिपति मान लिया जाता है और कानून के सिर पर बिठाया जाता है।

इससे स्पष्ट होगा कि सज्जन और दुर्जन, सभ्य आदि अपराधी, यह विशेषण कामचलाऊ से गहरे नहीं हैं; या गहरे जाते हैं तो वहाँ चलन व्यवहार की कीमत की दरें अदल-बदल जाती हैं।

जिसे साहित्य कहते हैं वहाँ अक्सर यही हुआ करता है। समाज में जिन्हें मान मिलता है, किताब में उन्हीं पर व्यंग्य हो सकता है। और जो यों भूखा-नंगा है साहित्य उसे सिर पर भी उठा सकता है। इस तरह साहित्य समाज में सन्तुलन बनाए रखता है। सन्तुलन आदर्श मूल्यों में और चलते हुए आज के मूल्यों में।

मानव सम्बन्धों की समस्या का वही निदान और समाधान अन्त में इस आध्यात्मिक सत्य में देखा जाएगा कि दोष कहीं बाहर नहीं होता, अपने में होता है। उसको अपने से बाहर रखना और वहाँ दण्ड डालना एक प्रकार से बुद्धि की बहक ही है। उससे अपना बचाव होता है, विशेष लाभ नहीं होता। इसी पहचान में से यह अनुभव हो रहा है कि अपराधी को रोगी मानना चाहिए और दण्ड की जगह उसे उपचार देना चाहिए। सुधार या दण्ड का मुँह अपनी ओर अधिक रखना चाहिए। अपराधी समझे जानेवाले व्यक्ति के प्रति बल्कि यथावश्यक रक्षा और समर्थन का भाव होना चाहिए।

जैसे-जैसे हमारी समाज नीति सुसंस्कृत होगी, प्रशासन अनुशासन में परिणत होता जाएगा। तब 'बड़े लोग' का लक्षण हाकिमाना रोब-दाब नहीं होगा, बल्कि सौम्य-समादर उनका लक्षण हुआ करेगा।

प्रश्नकर्त्ता की बुद्धि अविश्वास का दोष निश्चित रूप से परिवार की स्त्रियों पर डालती है। प्रश्नकर्त्ता को वह निर्दोष करार देती है। मैं उन्हें सलाह दूँगा कि वह स्वीकार करें कि यह प्रमत्त बुद्धि का निर्णय है। अविश्वास उनमें स्वयं भी रहा है, उस अविश्वास को वह अपने में से दूर कर दें। अपेक्षा कुछ न रखें और उन स्त्रियों की विवशता को समझें जहाँ उन्हें अध्ययन के लिए आश्रय लेना पड़ा था। मुक्त मन से वह उन महिलाओं के प्रति आदर और सेवा का भाव अपनाएँ। तब अधिक सम्भव है कि वह देखेंगे कि उन्हीं महिलाओं में स्नेह प्रकट हो आया है।

प्रेम की और सहानुभूति की माँग करना हमेशा गलत होता है। इन वस्तुओं का मूल्य दान में है। इसीलिए धर्म अप्रेम के प्रति प्रेम, क्रोध के प्रति अक्रोध और शत्रुता के प्रति मैत्री देने की सीख देता है; अर्थात अकारण करुणा, अकारण सेवा, अकारण स्नेह। जो इसमें कारण के लिए ठहरता है स्वयं ठगा ही जाता है।

असफलता के जरिये मिली हुई कुण्ठा जीवन की गति मन्द कर जाती है। मनुष्य के लिए इस कुण्ठा का बेहतर उपयोग आप क्या मानते हैं?

—असफलता से कुण्ठा मिली। कुण्ठा से जीवन मन्द हुआ, यह प्रश्नकर्त्ता मानते हैं। आगे प्रश्न उनका यह रहता है कि कुण्ठा का क्या ऐसा उपयोग नहीं हो सकता

कि जीवन मन्द के बजाय उत्तिष्ठ हो?

प्रश्नकर्त्ता के मन में कई शब्द आपस में उलझ गये मालूम होते हैं। पर उन शब्दों के और भाषा के झमेले से अलग और साफ़ निकाल सकें तो आशय प्रश्न का यह रह जाता है कि क्या असफलता स्वयं ऐसी चीज नहीं बन सकती है कि उससे मन्दता आने के बजाय उत्साह आए?

तो इसका उत्तर है कि असफलता अवश्य वही है जो सफलता की राह को खोलती है। सौवें कदम पर जो स्थान है, वहाँ हमें पहुँचना है तो स्पष्ट है कि उससे पहले के निन्यानवे कदम सफल नहीं हैं। उन निन्यानवे पगों की असफलता पर जो कुण्ठा से बैठ नहीं जाता है, वही सौवाँ कदम उठाएगा और इष्ट सफलता पा जाएगा। स्पष्ट है कि सफलता से पहले जो कुछ है वह विफल ही है। प्रयत्न इस तरह स्वयं में सफल होता ही नहीं, प्रयत्न केवल प्रयत्न होता है। सफलता है जहाँ वहाँ ही रहती है। प्रयत्न वहाँ तक पहुँचे इसके लिए मात्र यह आवश्यक है कि प्रयत्न अपने में प्रयत्न ही बना रहे।

हर सफलता अन्त में अधूरी हो आती है। किसी तृप्ति पर आप टिक नहीं सकते। बढ़ना आगे भी होता है। वह जो रुक गया मौत का कदम हो गया। जिसके आगे दूसरा भी है, वही कदम जीवन का है। इसी को दूसरी भाषा में कहें तो जीवन सतत यात्रा है। इसलिए प्रयत्न को सतत प्रयत्न रहना होगा। सफलताएँ इसमें आती जाएंगी और पार होती जाएँगी। सफलता को इस रूप में देखें तो जान पड़ेगा कि उसमें अपने में तृप्ति ही नहीं है। जहाँ पर आकर आप रुक बैठे, वही सफलता आपके लिए बाधक हो गयी।

इस सातत्य की ओर से देखें तो सफल-विफल शब्द ही नहीं रह जाते। यात्रा में हर कदम सफल है। और जिसको आगे-से-आगे जाना है कोई कदम उसका ऐसा नहीं हो सकता जो रुकना स्वीकार करे। सफल एक तरह विश्राम के लिए रुकने का संकेत है। जो थकना नहीं जानता है, आराम नहीं चाहता है, उसको तो बल्कि विफलता अधिक प्रिय होगी। या यों कहें कि किसी सफलता पर वह सन्तोष नहीं मानेगा।

असल में अनासक्ति आदि की बातें जो गीता जैसे शास्त्रों में मिलती हैं उनका वैज्ञानिक आशय इतना ही है। फल की आसक्ति प्रयत्न में शिथिलता और निराशा ला सकती है। आसक्ति यदि हमें स्वयं प्रयत्न की हो तो फल उससे निश्चय बढ़ता ही जाएगा। फिर भी वह हममें कोई मन्दता अथवा शिथिलता नहीं ला सकेगा। सफलता से शिथिलता भी आती है। फल को भगवदाधीन और भगवदर्पित मानता और करता हुआ जो चलता है वह उत्तरोत्तर प्रशस्त और मुक्त होता जाता है।

विफलता पर कुण्ठा ली जाए, और फिर प्रश्न किया जाए कि इस कुंठा का क्या सदुपयोग हो, तो आशय प्रश्न का नष्ट हो जाता है। कुण्ठा है ही वह जहाँ प्राण-चेतना में जैसे भँवर डाल दिया जाता है। प्रवाह उसका रुँधा रह गया है और वहाँ पर क्षोभ और जड़ता की गाँठ बन जाती है। यह कुण्ठा जीवन को मन्द न करे सो कैसे हो सकता है। जो सम्भव है वह यह कि इस परिस्थिति में चेतना को कुण्ठाग्रस्त तो न बनने दिया जाए, बल्कि तनिक शान्त और युक्त होकर प्राण-चेतना को विचार और वेग की ओर मोड़ा जाए। मान लीजिए कि शिखर से उतरकर एक जलधारा चलती है। चलते-चलते सामने बड़ी एक शिला आ जाती है। शिला वहाँ से हटनेवाली तो है नहीं, अब पानी क्या करेगा? वेग इतना हो कि शिला बह जाए तो ठीक, अन्यथा प्रवाह शिला पर आकर रुकेगा। रुककर कुण्ठित नहीं होगा, प्रवाह तो जारी ही रहेगा। तब शिला के मुँह पर आकर उस पानी का तल निरन्तर प्रवाह के कारण उठता जाएगा। तब या तो होते-होते पानी का तल ही इतना उठता जाएगा कि शिला डूब जाए, नहीं तो बराबर दाएँ-बाएँ से वह पानी अपनी राह बना लेगा।

नदियाँ जो छोटे-से स्रोत से निकलकर बहती हुई सागर में पहुँच जाती हैं सो क्या उनको राह में अवरोध नहीं मिलते हैं? वे तो बराबर मिलते ही जाते हैं। लेकिन जिसका बहना स्वभाव है वह पानी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। रुक जाता है तो वहीं उठता जाता है और ऐसे अपनी राह निकालकर ही छोड़ता है। पीछे से प्राण का वेग अगर रुक नहीं जाता, न चेतना में कोई गर्त पैदा किया जाता है कि पानी उसमें समाकर खो जाए, सूख जाए, तो आगे-पीछे मार्ग निकलेगा ही। और विफलता यों अन्त में सफलता की सीढ़ी हो रहेगी।

कुण्ठा जिसे कहते हैं वह अपने स्वभाव को भूलना है। बाहर से जब हम झटके-धक्के खाते हैं तो मानना चाहिए कि वे हमारे भले के लिए ही आते हैं। आस्तिक भाषा में कहिये कि भगवान के भेजे हुए वे हमें प्राप्त होते हैं। ऐसे अवसरों का जीवन को बड़ा लाभ मिलता है। बुद्धि को और विचार को उन्हीं अवरोधों से उत्तेजन मिलता है। राह में रुकावटें न हों तो बुद्धि को और विचार को हममें चेतन होने का ही मौका न आए। पशु में बुद्धि क्यों नहीं है? क्योंकि बल है। मनुष्य में बुद्धि का उदय इसी से हुआ कि उसने अपने को शरीर में कहीं अबल अनुभव किया।

जिनके मार्ग में कठिनाइयाँ आती नहीं हैं, सब सुगमता-ही-सुगमता रहती है, वे जीवन बहुत दूर तक और बहुत ऊँचे नहीं जा पाते। कठिनाइयों की चुनौती हम लेते हैं तभी उत्साह भीतर से स्फूर्त होकर सामना लेने को आता है। तभी बुद्धि का तेज भी उद्दीप्त होता है। उसमें सूझ-बूझ जागती है। इस तरह विफलता-विरोध आदि तो उन्नति की प्रक्रिया का अंग ही हैं। किन्तु अंग वे तब सिद्ध होते

हैं जब उनसे लिया जानेवाला परिणाम कुण्ठाग्रस्त प्रक्षोभ नहीं, विश्वस्त विचार होता है।

मनुष्य में विचार की प्रतिक्रिया इसी रूप में आरम्भ और उन्नत होती है। अन्दर से वेग उमगता ही रहता है। सामने के विरोध के प्रति द्वेष की बात मन में उठती नहीं। कठिनाइयों पर रोष और क्षोभ नहीं होता। लक्ष्य उसके कारण मन में से मिट नहीं जाता। श्रद्धा टूटती या क्षत-विक्षत नहीं होती। अवरोध और विरोध केवल मात्र विचार को जन्म देता है। तब देखा जाता है कि कठिनाइयों और अवरोधों ने ही अमुक जीवन में उन्नति के मार्ग को दिशा और स्वरूप दिया है।

हर समय एक ही धुन है कि उन्नति करूँ। पर परिस्थितियाँ निराश करती हैं। भरसक प्रयत्न असफल होता है। क्या उन्नति का स्वप्न त्याग दूँ?

—स्वप्न त्यागा नहीं जा सकता, उसे वरदान बनाया जा सकता है। सब उन्नति वहीं से आती है, लेकिन तब जब परिस्थिति से स्वप्न को टकराएँ नहीं, बल्कि योग साधें। परिस्थिति से नाराज होकर स्वप्न को हम विष बनाते हैं, अमृत नहीं बना सकते।

मेरी एक अत्यन्त प्रिय मित्र हैं, बड़ी योग्य। पर निरन्तर असफलता से उदास रहती है। उसकी उदास सूरत मुझे चिन्तित करती है। लेकिन मेरे कोई प्रयत्न काम नहीं आते। बहुत करती हूँ तो उसकी कृत्रिम हँसी मिलती है जो और कष्ट देती है। क्या करूँ कि वह प्रसन्न रहे?

—स्वयं प्रसन्न रहकर दूसरे को प्रसन्नता दी जा सकती है। आप कम कहें और उसे अधिक कहने तक ला सकें तो सम्भव है उसका बोझ उतरे और वह कुछ हल्की बने। स्नेही को अच्छा श्रोता बनना चाहिए।

मनुष्य को आर्थिक, पारिवारिक और दूसरी ऐसी परिस्थितियाँ लक्ष्य तक बढ़ने में असमर्थ कर दें, तो क्या करना चाहिए? 'पुरुषार्थ वही है जो भाग्य की रेखा मिटा दे,' यह कहाँ तक ठीक है?

—परिस्थिति और इच्छा में अन्तर रहना जरूरी है। इसी में से प्रयत्न और पुरुषार्थ को जन्म मिलता है। परिस्थिति प्राप्त होती है, इसलिए उसको स्वीकार करने के आधार पर ही बढ़ा जा सकता है। इच्छा पर अपना वश भी है, इसलिए इच्छा पर ही अपना वश डालकर परिस्थिति के अनुकूल अपने प्रयत्न को बनाना होगा। अन्यथा इच्छा त्रास ही देगी, उन्नति नहीं दे सकेगी।

'पुरुषार्थ वह सही है जो भाग्य की रेखा बना दे।'

किसी की निगाह में जो एक बार गिरता है वह हमेशा गिरा रहता है, इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या है?

नहीं। हमेशा गिरा रहना अनिवार्य नहीं है।

एक बार गिरे के प्रति फिर उठे का भाव होना असाधारण कारणों से ही होना चाहिए। वह भाव सहज न बदले, यह स्वाभाविक है। मनोवैज्ञानिक गुत्थी जैसा उसमें कुछ नहीं है।

प्राचीन काल में पुरुष वर्ग ने स्त्री को हर समस्या के हल के लिए अपना मोहरा चुना था। वर्तमान समय में राजाजी भी एक हजार स्त्रियों को अपना मोहरा बनाकर भारत सरकार को पलटना चाहते हैं। अतः स्त्रियों की नीति क्या होनी चाहिए?

—स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे के लिए हैं। मोहरे हो सकते हैं, आखेट हो सकते हैं, और प्रिय और पूरक भी हो सकते हैं। कौन जानता है कि जो आखेट कर रहा है वह आखेट हो नहीं रहा है। माँ की गोद में बच्चा बेचारा मोहरे से भी कम है, लेकिन अपने से भी ज्यादा माँ की जान उस बच्चे में बसती है। न प्राचीन काल में, न आधुनिक काल में किसी ने स्त्री की अवज्ञा चाही है। जो ऐसा मानती या देखती है, अथवा मानता या देखता है, उसका स्वास्थ्य दुर्बल है।

छात्रों को अनुशासन में रहना आवश्यक है, किन्तु उनमें व्याप्त हीन भावनाओं का कारण क्या है, और उनका निवारण कैसे हो?

—अनुशासन का भाव भीतर से आना चाहिए। उसकी कमी छोटों में इसलिए है कि बड़ों में भी उसकी कमी है। नेता लोगों में चुनाव के समय क्या देखने में आता है? छात्रों पर उसका प्रभाव पड़ने ही वाला है।

कृपया इन शब्दों पर अपना मन्तव्य प्रकट कीजिए : 'अच्छा-बुरा इंसान कुछ नहीं करता। उसे वही करना पड़ता है जो ईश्वर को मंजूर होता है। यह केवल बुद्धि का फेर है, इसलिए कि रक्षक के हाथ भक्षक से बड़े हैं और ईश्वर जो कुछ करता है अच्छा ही करता है।'

—हम अपने सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रतिक्षण अनुभव करते हैं। सर्दी-गर्मी हम नहीं बनाते, दिन-रात हमसे नहीं होते। काल और इतिहास अपने नियत क्रम से चलते हैं। पैदा न होना हमारे अपने वश में नहीं है, और न मरना हमारे वश में है। यह अनुभव कि ब्रह्माण्ड में हम नगण्य हैं, हमसे सहसा छूट नहीं पाता है। फिर भी अपनेपन का नशा थोड़ा-बहुत साथ रहता ही है। जब उस नशे की नहीं चलती तब ईश्वर सूझता है और कहना पड़ता है कि वही सब करता

है।

ईश्वर के सम्बन्ध में विवाद का अन्त नहीं आ सकता। अन्त जिसका हो सकता है वह अपनापन है। इसलिए जब तक आदमी के पास तर्क मौजूद है, अर्थात् अहं मौजूद है, तब तक ईश्वर विवाद और व्यर्थता का ही विषय रहनेवाला है, श्रद्धा का विषय नहीं हो सकता। श्रद्धा में एक तरह अहं की हार है और वे लोग शायद बड़भागी हैं जो उस हार को लेना नहीं चाहते। पर मैं हतभागी हूँ। हर क्षण 'मैं' को हारा हुआ पाता हूँ। विजय की स्पर्द्धा तक मुझमें नहीं हो पाती। उस हार को मानता हूँ इतना ही नहीं, बल्कि कृतार्थ भाव से मानना सीख गया हूँ। इसलिए अक्षरशः कह सकता हूँ कि ईश्वर ही सब करता है और जो करता है अच्छा ही करता है।

यह आवश्यक नहीं है कि होता हुआ कुछ भी मुझे बुरा न लगे। लेकिन भाग्य-विधाता में मेरे प्रति कुछ अप्रीति है या द्वेष है, यह मानने का अवकाश मेरे लिए नहीं है। विधान को और विधाता को परम मंगलमय मानने के बाद अवकाश नहीं रह जाता कि अपने दुःख का दोष अपने से बाहर मैं कहीं डालूँ। इस तरह ईश्वर का विश्वास आदमी की बड़ी मदद कर सकता है। उसे दोष-दर्शी और छिद्रान्वेषी बनने से बचा सकता है। उस सहारे व्यक्ति असामाजिक, तिक्त और कटु होने से बच सकता है। जो अपने कण-कण में अनुभव पा गया है कि ईश्वर ही है और सब-कुछ वही करता है, ऐसे आदमी से बुरा काम बनने की सम्भावना नहीं रह जाती। बुरा काम वही है जो अपनेपन की वासना में से किया जाता है। वह वासना जहाँ नहीं रह गयी है, वहाँ बुराई की जड़ ही चली गयी है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा परम मंगलमय अपने को सम्पन्न करता है। गीता का उपदेश इसीलिए कर्त्तव्य कर्म की राह अकर्म-साधन तक जाता है। अकर्म वह जहाँ कर्तृत्व ही व्यक्ति के पास शेष नहीं रह जाता।

हाँ, ईश्वर को अपने समर्थन में न लिया जाए। वहाँ तो अपना विसर्जन देना है। अहंकृत कर्म-समर्थन में जब हम ईश्वर का नाम लेते और कर्म के दायित्व से बचते हैं तो यह छल चल नहीं सकता।

कुछ आत्म समर्थन में ईश्वर की दुहाई देते हैं, आत्म विसर्जन के लिए दूसरे ईश्वर की आराधना करते हैं। दोनों के व्यवहार में गहरा अन्तर देखने में आता है। पहले दोष के दायित्व से बचते हैं, दूसरे दोष के दायित्व को आगे बढ़कर लेते हैं। धर्म के नाम पर निश्चिन्त चित्त से धनवर्धन में लिप्त धर्माभिमानी मिलना सम्भव है। उसके विरोध में सन्त है जो अपने को ही दोषी मानता है; अधम, पामर और पापी स्वयं को गिनता है।

संक्षेप में 'अच्छा-बुरा' इनसान ही करता है। हाँ, होता विधि का रचा हुआ

ही है। सच यह कि इतिहास के द्वारा विकास ही सम्पन्न हो रहा है। विधाता के विधान में विकास न हो, मंगल न हो, यह असम्भव है।

प्रश्न में रक्षक और भक्षक शब्द भी आ गये हैं। मृत्यु सबकी बदी है। बहाने ही अलग-अलग हैं। काल की दाढ़ में सभी भक्ष्य हैं। गीता में भगवान के विराट रूप का दर्शन है। सब कुछ उस मुख में बहता और समाता चला जा रहा है। तो इसमें जो स्वेच्छा से भय बनता है, यज्ञ में हवि बनता है, मानो वह मोक्ष पाता है। वह काल के साथ तद्गत होकर जीने का मन्त्र पा जाता है। ऐसा ही व्यक्ति काल पुरुष है। वह प्रतिक्षण स्वयं में मरता रहता, अपने को मारता रहता है, इसीलिए प्रतिक्षण भगवान में से नव-नव जीवन प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्ति को मृत्यु आकर अमर बना जाती है। कारण, वह उस पर से व्यक्तित्व का भौतिक आवरण हटा जाती है। यों कहें कि ऐसा करके वह उसके विराट आशय को मुक्त कर जाती है।

भारत के कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियों का जीवन अत्यन्त शुद्ध था। इसी कारण उनकी लेखनी से इतनी पवित्र कविता का प्रादुर्भाव हुआ। यूरोप के कई प्रतिभासम्पन्न कवियों का चरित्र अत्यन्त गिरा हुआ था। फिर भी क्या कारण है कि उनकी लेखनी से पवित्र शब्दों की उत्पत्ति हुई?

—तर्क यह शुद्ध है कि पवित्र शब्द पवित्रता में से ही आ सकते हैं। यदि शब्द पवित्र दीखते हैं तो मान लेना चाहिए कि 'अशुद्ध' चरित्र वाले व्यक्तियों में नीचे कहीं पवित्रता अवश्य रही होगी। चरित्र को हम ऊपरी मानों से नापा तोला करते हैं। वह मान कदाचित उस गहराई तक नहीं जाते जहाँ से साहित्य की उत्पत्ति है। सामान्यतया चरित्र सामाजिक मानों का विषय होता है। साहित्य की सृष्टि आत्म-स्रोत से है। इसीलिए दृश्य यह इतिहास में दुर्लभ नहीं है कि महान साहित्यकार अपने जीवन काल में उस तरह महान समझे नहीं गये। कबीर, सूर, तुलसी आदि को भी हम समय के अन्तर से देखते हैं। जो आज है क्या जाने कि उनकी वह महिमा जीवित थे तब थी भी या नहीं।

'प्रेममयी युवती का हृदय अमावस्या की काली रात से भी भयानक होता है।' कृपया उपरोक्त वाक्य की सार्थकता पर प्रकाश डालिए।

—वाक्य सन्दर्भ से टूटकर स्वतन्त्र उक्ति के रूप में बड़ा अटपटा लगता है। सार यही है कि प्रेम में व्यक्ति पर सामान्य सीमाएँ नहीं रह जातीं। असम्भव भी तब सम्भव हो जाता है। वैसी सम्भावनाएँ उत्कृष्ट दिशा में जाए, या फिर निकृष्ट दिशा में। प्रेम में इतना निश्शेष आत्मार्पण हो सकता है कि अनायास ईश्वर भक्ति का

फल मिल जाए। बिना ईश्वर को जाने या उसका नाम लिए प्रेम की परिपूर्णता में ईशलाभ पा जाने के उदाहरण अनेकानेक मिल जाएँगे। पूर्णिमा की चाँदनी से तब हृदय खिल आता है, साथ ही अमावस्या के अन्धकार से भरकर भीषण भी हो सकता हो तो उसमें विस्मय क्या है। इतना अवश्य है कि प्रेम ऐसी निष्ठुर अवस्था में अपनी परिपूर्णता से कुछ ओछा ही रह गया होगा। इतना कि बाहर की चोट खाकर किनारे तोड़ता-फोड़ता वह उफन आए!

'अच्छा-बुरा इनसान कुछ नहीं करता। करता वह है जो ईश्वर को मंजूर होता है और ईश्वर जो करता है अच्छा ही करता है। इसलिए अच्छा-बुरा यह केवल बुद्धि का फेर है।' आपने इस मेरी शंका का समाधान दिया है, वह दोतरफा है। हो सके तो समस्या का एकरूप समाधान कीजिए।

—नहीं, समाधान एकरूप नहीं हो सकता। कारण बुद्धि एकरूप नहीं है और शब्द अधिक-से-अधिक केवल सूचक ही हो पाते हैं।

मनुष्य अच्छे-बुरे से पार नहीं पा सकता। इसलिए वह सब तर्क खतरनाक है जो अच्छे-बुरे के भेद को उसके निकट मिटा देता है। ऐसे व्यक्ति विवेकहीन बनता है। समग्र और सम्पूर्ण नहीं बनता।

मनुष्य द्वैत में चलता है। समूची सृष्टि द्वित्वमय है। होने की कल्पना तक द्वित्व के पार नहीं जाती। जितना जो कुछ है दो आयाम तो अवश्य रखता ही है।

इसलिए बन्धु, जिन्होंने अपनी शंका भेजी है, ईश्वर के नाम पर अप्नने विचार को वहाँ ले जाना चाहते हैं जहाँ उसकी गति नहीं है। द्वैत से पार जाकर विचार टिक नहीं सकता। द्वैत तक ही वह चल सकता है। इसलिए अच्छे-बुरे से छुट्टी पाना आदमी के और विचार के लिए सम्भव नहीं है।

लेकिन यह अच्छा-बुरा कहाँ है, उसके बीच की लकीर कहाँ है, यह खोज अपने से बाहर करने से हम हैरान ही होते हैं। बाहर उस लकीर को सही और पक्की तौर पर खींच देना बन नहीं सकता। काम चलाने के लिए जो लकीरें खींची जाती हैं, उनको कानून कहते हैं। उसकी धाराएँ तो पेनल कोड में मिल ही जाएँगी।

लेकिन उन लकीरों से अच्छे-बुरे की सही पहचान बन जाती है, यह मानना भूलभरा होगा। कानून से समाज व्यवस्था की रक्षा होती है। इससे आगे का काम कानून से नहीं बनता।

अच्छे-बुरे को पहचान लेना, पहचान के बाद अच्छे को अपनाना और बुरे का सर्वथा परिहार करते रहना—जिनकी जीवन भर यही साधना रही वह सत पुरुष अन्त में किस निर्णय पर पहुँचे हैं? उनको कहना पड़ा है कि सारा जग

देख लिया, बुरा कहीं मिला ही नहीं; बुरा सच में है तो मैं हूँ। अर्थात बुराई को अपने से बाहर रखना जितना आसान होता है, उतना ही वह असत्य भी होता है। कठिनाई सब यहीं पैदा होती है। व्यवहार के कारण ही तो अच्छाई-बुराई का प्रश्न है। वहीं आप कहते हैं कि वह लकीर नहीं खींची जा सकती जो दोनों का भेद बताए। तब वह सारा सवाल ही खटाई में पड़ जाता है। आदमी के भीतर तो कोई गया नहीं। भीतर देखने वाले एक्स-रे वगैरह यन्त्र हैं भी तो वे शरीर को ही दिखाते हैं, भाव का तो पता देते नहीं हैं। अन्त में अनुमान ही आदमी के हाथ रहना है। कर्म के आशय के लिए उसके ऊपरी रूप पर से ही अनुमान को काम करना होता है। तो क्या यह सब व्यर्थ है?

नहीं, व्यर्थ नहीं है। उस प्रकार के अनुमान और निर्णय के आधार पर हमारी समाज व्यवस्था खड़ी हुई है। न्याय की संस्था बनी खड़ी है। कुछ लोग उस सहारे जज की ऊँची कुर्सी पर बैठते हैं, कुछ दूसरे कटघरे में खड़े होते हैं। यह सारा काम-काज इसी आधार पर चल पाता है कि हम अच्छे-बुरे का आखिर कुछ मानदण्ड रखते हैं।

पर शासन का मानदण्ड इतिहास का मानदण्ड सिद्ध नहीं हो पाता। शासन ने ईसा को सूली दे दी, इतिहास ने उसको पीछे अवतार बना दिया। ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं। बल्कि यों कहिये कि जिन्होंने सत्य के सम्बन्ध में नया प्रकाश दिया वे सब अपने समय में समाज की ओर से दुरदुराहट और तिरस्कार ही पाते गये थे।

लेकिन उस कारण न शासन व्यर्थ हुआ है, न न्यायासन बेकार कहा जा सकता है। उसका निर्णय धर्म का नहीं होता, व्यवस्था का और समय का होता है। इसलिए धर्म विचार में वह ओछा भी पड़ जाया करता है। इस घटना से विचारकों में स्वभावतः दुविधा हो आती है और अच्छाई-बुराई का प्रश्न, हाथ में पेनल कोड होने के बावजूद, मन में निरन्तर बना ही रहता है।

वह प्रश्न मिट जाए तो अशुभ होगा। जो उसका समाधान इस रूप में देते या लेते हैं कि प्रश्न ही शान्त होकर सो जाए, वे प्रश्न के साथ अन्याय करते हैं। अपने प्रति भी अन्याय करते हैं। मैं चाहता हूँ कि हर एक के साथ वह प्रश्न इतना तीखा और पैना बन जाए कि जैसे तलवार की धार होती है।

प्रश्न समाप्त होता ईश्वर में है। उससे पहले उसे समाप्त नहीं होना चाहिए, और करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जो इस चेष्टा में पड़ते हैं, अपने को क्षत-विक्षत करने के सिवा और कुछ नहीं कर पाते। यह चेष्टा होती और की जाती है। कुछ बुद्धि के जोर से करते हैं, कुछ नशे के जोर से करते हैं, और कुछ श्रद्धा-रहस्य के जोर से। पर सत-असत और पुण्य-पाप के भेद को, फिर किसी

पद्धति से भी हो, मिटा मान लेने से आदमी का भला नहीं होता।

कौन नहीं जानता कि होता वह है जो होनहार होता है। ब्रह्माण्ड को आदमी नहीं चला रहा। जगत गति जिसके नियम से चल रही है, वह निश्चय ही इस धरती नाम के ग्रह पर उत्पन्न मनुष्य नामक प्राणी नहीं है।

लेकिन आदमी मनवाला प्राणी अवश्य है। मन विवेक से स्वतन्त्र होता नहीं। जिन कृत्रिम विधियों से किया जाता है उनका प्रभाव चढ़ता और उतरता है। वे सब बहलावे अनिष्ट हैं। मन में द्वन्द्व है और विवेक है, तो मनुष्य के पास वह किसी शुभ के लिए ही है। अत: कभी न चाहिए कि मनुष्य निरंकुश और निर्विवेक बने और इसमें किसी प्रकार के तत्त्ववाद और धर्मवाद को अपनी ढाल बना ले।

मैं आस्तिक हूँ। पर मेरा विश्वास इस लोक के अतिरिक्त किसी नरक, स्वर्ग और परलोक आदि में नहीं जमता जैसी कि आस्तिक प्राय: कल्पना किया करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या यहीं स्वर्ग-नरक आदि अपनी आँखों से हम नहीं देख रहे हैं? आशा है इस सम्बन्ध में आपसे समाधान मिलेगा।

—आप आस्तिक हैं, लेकिन दूसरे आस्तिकों की तरह परलोक में किसी स्वर्ग-नरक के होने को नहीं मान पाते हैं, तो इसमें ऐसी घबराने की क्या बात है। इस कारण आस्तिक्य तो आपमें से खण्डित नहीं होता है न। बस इतना आपके लिए काफ़ी होना चाहिए।

यह ठीक है कि मृत्यु के पार झाँकना हो नहीं पाता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ता है कि मृत्यु में हम समाप्त होते हैं, जग समाप्त नहीं होता। न काल समाप्त होता है। अस्तित्त्व कायम रहता है। हमारी मृत्यु के बाद नये जन्म होते रहेंगे। अपने समय पर फिर वह भी मरेंगे और फिर नये जन्म होंगे।

यह जन्म-मरण की शृंखला हमारे सामने अपना काम करती जा रही है। कह सकते हैं कि जगत का जीवन व्यक्तियों के जीने-मरने से बनता है। इस शृंखला में मृत्यु की कड़ी वैसे ही आवश्यक है जैसे जन्म की।

अब यह स्वाभाविक है कि इन होती हुई मृत्युओं और होते हुए जन्मों में मानव बुद्धि कोई सूत्र भी देखे। अर्थात माने कि जो मरता है वह एकदम मर नहीं जाता, वह फिर-फिर जन्म पाता है। यह जब कि उसकी बुद्धि के लिए स्वाभाविक है तब इस मान्यता को वह अपने लिए लाभकारी भी पाता है। इस शृंखला में वह कर्मफल परम्परा को देख सकता और उस दर्शन से अपने विवेक को पुष्ट कर सकता है। परलोक में स्वर्ग और नरक मान रखने से बहुतों को इस जीवन में बड़ा लाभ हुआ है। श्रद्धा उससे सहारा पाती है। उस पद्धति से हम अपने इह जीवन की स्वल्प आयु को अनन्त भूत और अनन्त भविष्य से, अर्थात सम्पूर्ण काल

से जोड़ सकते हैं। ऐसे मानो स्वयं अपने लिए हमें अनन्तता का सन्दर्भ प्राप्त होता है और अपने में व्यापकता का अनुभव होता है।

परलोक के बारे में प्रत्यक्ष साक्षी कोई दे नहीं सकता। हम स्वतन्त्र हैं, कहें कि मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता। उसी तरह स्वतन्त्र यह मान रखने के लिए हैं कि जीव मृत्यु के द्वार में से पुनर्जन्म प्राप्त करता है।

अब प्रश्नकर्ता इस स्वतन्त्रता का लाभ अपने पक्ष में यह लेना चाहते हैं कि मानें कि यहाँ के बाद फिर कुछ नहीं है, या होगा तो उस बारे में कुछ पहले से मानने और जानने का श्रम व्यर्थ है। ऐसा मानकर उनकी बुद्धि को और आस्तिकता को सहायता मिलती हो तो वे जानें। मुझे उसमें आपत्ति नहीं है।

लेकिन अनुभव यह है कि स्वर्ग और नरक को परलोक में मानने से सहायता ही जीवन को अधिक मिलती है, बाधा उतनी नहीं होती। हमारे जीवन की महत्ता उससे बढ़ जाती है। अपने कर्म का महत्त्व भी बढ़ जाता है। जैसे एक दायित्व का अनुभव होता है और मनमानापन अनायास मन्द होता है।

परलोक और पुनर्जन्म आदि को तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा, उस पर विवाद उठाने की चेष्टा, कुछ बहुत सार्थक वस्तु नहीं है। प्रधान आस्तिक्य है। मृत्यु के अनन्तर क्या होता है, इस सम्बन्ध में अलग-अलग धर्मों की अलग मान्यताएँ हैं। लेकिन धार्मिकता का प्रकार उससे बदल नहीं जाता। हर धर्म का धार्मिक व्यक्ति एक-सा शिष्ट, नम्र और कर्त्तव्यपरायण दिखायी देगा। जन्मान्तर है या नहीं है, है तो किस रूप में है, इत्यादि प्रश्न अनुमान क्षेत्र के हैं। वे तात्कालिक उतने नहीं हैं। अनुमान-निर्भर जो मान्यताएँ हों, उनके बारे में किसी आग्रह-विग्रह की आवश्यकता नहीं है। अन्त में उसका लाभ तो इस जन्म और जीवन में प्रकट होना चाहिए। अगर अपने को नास्तिक माननेवाला व्यक्ति अपनी नास्तिकता से सज्जन बनने में सहारा पाता है, तो इसमें किसी के लिए आपत्ति का अवकाश नहीं होना चाहिए।

किन्तु प्रश्नकर्ता को मैं सुझाव दूँगा कि नरक और स्वर्ग मान लें तो इसमें क्या उन्हें कोई विशेष असुविधा या हानि होती है? हानि न हो तो भारत के बहुजन समाज के साथ-साथ चलने का लाभ अवश्य ही हो सकता है।

क्या स्वर्ग और नरक यहाँ और इस धरती पर नहीं हैं? हैं, और वे वास्तविक हैं। वास्तविक इस अर्थ में कि वे हमें सीधे छूते हैं। वास्तविक इस अर्थ में भी कि हम अपने प्रति अपनी जिम्मेदारी भी देख सकते हैं। उनके साथ हमारा सम्बन्ध केवल मानने का नहीं, करने-धरने और बनाने-सँवारने का भी हो जाता है। यहाँ का जो स्वर्ग-नरक है, उनके सम्बन्ध में अनुमान और कल्पना को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं रहती। न उसके सम्बन्ध में हर एक को स्वतन्त्र बनाना आवश्यक

रह जाता है। मालूम होता है कि सब उससे सीधे जुड़े हैं और सहयोगपूर्वक उस बारे में विचार-निर्णय कर सकते हैं। वहाँ तर्क हवा में नहीं पड़ता और विवाद परिणाम तक पहुँच सकता है। जितने सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयत्न हैं, वे सब इस ऐहिक और तात्कालिक स्वर्ग और नरक को लेकर स्वरूप पाते हैं।

किन्तु इस सीमित वृत्त में मनुष्य कारण-कार्य सम्बन्ध पूरी तरह सार्थक भाव से फैला-बिठाकर देख नहीं पाता। उसको दीखता है कि दुर्जन सुख पा रहा है, सज्जन कष्ट उठा रहा है। वह यह भी देखता है कि यहाँ जो रचना होती है उसमें कृत्य प्रधान होता है, हेतु हिसाब से बाहर रह जाता है। अच्छा करना चाहते हैं तो इस सिर्फ़ इरादे की यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। ऊपर से जो कर जाते हैं उसी के हिसाब से अच्छे-बुरे का निर्णय कर लिया जाता है। अर्थात जगत व्यापार में पूरा न्याय और तर्क उसे नहीं दिखाई देता, कुछ गड़बड़झाला-सा चलता मालूम होता है। तब उसे आवश्यकता एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र की होती है, जहाँ वह कारण-कार्य की कड़ी को सही-सही बिठा सके। इस जनम में नहीं तो अगले में, नहीं तो उससे अगले में, इस प्रकार यह बुरे काम का बुरा फल देख लेने ही वाला है। श्रद्धा का तर्क यदि विस्तीर्ण और अनन्त क्षेत्र अपने प्रयोग और उपयोग के लिए लेता है तो इसमें मैं अनुचित कुछ नहीं देखता हूँ।

सच यह कि अपने जीवन के आशय को साठ-सत्तर वर्ष में सीमित देखना अपने प्रति अविश्वास करने जैसा हो जाता है। शरीर को निस्सार मानें और उस आयु में उसकी समाप्ति देखें तो दूसरी बात है। पर एकदम जीवन को किसी सारांशय से हीन मानकर चलना, कि जो सारांशय मृत्यु को चुनौती देता हुआ अमर बना रहे, सामान्यतया आदमी के लिए मुश्किल होता है। मैं इनकार के उस आग्रह को बुद्धिवाद की ओर से विशेष अभिनन्दनीय भी नहीं कह सकता हूँ।

धर्म की बाह्य अभिव्यक्तियों (अर्थात धार्मिक नियम, व्यवहार आदि) को कुछ लोग निष्क्रिय मानते हैं। क्या धर्म की चेतना, इस कथित निष्क्रियता से कुछ सुरक्षित ही नहीं बनती। कृपया स्पष्ट करें।

—प्रश्न के पहले वाक्य के निष्क्रिय शब्द का आशय प्रश्नकर्त्ता के मन में शायद निश्चेतनता रहा है। क्योंकि बाह्य व्यवहार में क्रिया तो रहती ही है। इसी से बाह्य व्यवहार निष्क्रिय के बजाय कुछ अधिक ही सक्रिय और कर्मकाण्डी देखा जाता है।

प्रश्न का अभिप्राय यह जानना मालूम होता है कि क्या इस बाह्य धार्मिक क्रिया-कलाप के कारण धर्म का अन्तरंग कुछ सुरक्षित ही नहीं बनता। ऊपर यह कर्मकाण्ड है तो इस स्थूल के सहारे ही क्या धर्म-भाव परम्परा द्वारा हमारे यहाँ

सुरक्षित बना नहीं चला आया है ?

प्रश्न के उस अभिप्राय को मैं अपनी ओर से और विशद करूँ तो आशय यह हो सकता है कि धर्म संस्था का जो यह लौकिक, स्थूल और बाह्य रूप है, मठ-मन्दिर-साधु-पुरोहित हैं, तो क्या इसके सहारे ही भारत में धर्मपरायणता अवशिष्ट नहीं बनी चली आयी है। इन बाह्य प्रतीकों के अभाव में क्या यह सम्भव न था कि धर्म भावना में ही रह जाता, वह समाज जीवन के व्यवहार में कोई अपना स्थान न ले पाता।

विलायतों में इस सम्बन्ध में बहुत ऊहापोह हुआ है। चर्च और क्रिश्चियनिटी का परस्पर क्या सम्बन्ध है। चर्च ने क्या वास्तव में क्राइस्ट को पुष्ट किया है, यह प्रश्न उनके लिए गहरे आत्मशोध का बना है। कुछ लोगों ने क्राइस्ट को समक्ष रखकर स्वयं क्रिश्चियन बनने के प्रयत्न में यह आवश्यक अनुभव किया है कि वे चर्च को सर्वथा अस्वीकार कर दें। उन्होंने चर्च का खण्डन किया और इस खण्डन की आवश्यकता स्वयं क्राइस्ट के मण्डन के कारण ही उन्हें अनुभव हुई है।

किन्तु धर्म निश्शरीर नहीं रह पाता है, जैसे कि कुछ भी और निश्शरीर नहीं हो सकता है। शरीरहीन आत्मा को प्रेत कहते हैं। आत्महीन शरीर को वैसे ही शव कहते हैं। धर्म के बाह्य शरीर को सर्वथा समाप्त कर दें तो धर्म का अस्तित्व प्रेत के मानिन्द रह जाना चाहिए। वह है और नहीं है, और रूप उसको भय और भावना से मिलता है। बाह्य शरीर-भर को धर्म मानना शव पूजने के समान हो जाता है।

यह समस्या सब देशों और सब धर्मों के साथ है। यों कहिए कि सब विवादों के मूल में यही समस्या है। हर शब्द में, कह सकते हैं, कुछ तो उसकी आत्मा और भाव है, कुछ उसका शरीर और अर्थ है। भाव की ओर झुकाव रखनेवाले और अर्थ के प्रति खींचतान करनेवाले दो अलग ढंग के लोग होते ही रहे हैं, और उनमें ना-समझी भी बराबर रही है। शब्द के शरीर को प्रधानता देनेवाला पण्डित और वैयाकरण शब्द की आत्मा को लेकर चलनेवाले कवि और शास्त्रकार से भिन्न होता है।

धर्म के क्षेत्र में यह तनाव और अनबन और भी प्रत्यक्ष है। सन्तों और साधकों से धर्म को प्राण मिलते हैं, लेकिन इन्हीं सन्तों को धर्मज्ञों की ओर से यातना और परीषह दी जाती है। धर्मज्ञानी और धार्मिकजनों की दो कोटियाँ रही हैं। सन्त शहीद बने हैं, और शहीद उन लोगों के हाथों बने हैं जिन्हें धर्म की रक्षा की चिन्ता थी। सन्त स्वयं शहीद बनने को राजी और प्रसन्न हुए तो इस कारण कि वे भी आत्मधर्म को कोई क्षति नहीं पहुँचने दे सकते थे, शरीर पर सब कुछ स्वीकार

कर सकते थे।

ईसा को सूली मन्दिर के पुरोहित-पुजारियों के कारण हुई। धर्म की रक्षा में उन्होंने ईसा को फाँसी चढ़ाना अपना कर्त्तव्य माना। ईसा धर्म प्रवर्तक माने गये, अर्थात धर्म की रक्षा में ही उन्होंने सहर्ष फाँसी पाना अपना कर्त्तव्य माना।

मोहम्मद साहब के साथ भी यही हुआ। जिनसे उन्हें जीवन भर कष्ट मिला, वे धर्मपूजक ही थे। मोहम्मद साहब ने खुशी से सब तकलीफों का सामना किया तो भी धर्म की रक्षा में।

गाँधी ने अपने को धार्मिक कहा। कहा कि ईश्वर साक्षात्कार उनके तमाम जीवन का एक मात्र इष्ट रहा है। जिसने गाँधी को मारा उसके मन में भी उस धर्म की रक्षा की चिन्ता थी।

सारा-का-सारा इतिहास इसी प्रकार बना है। दो दर्शन ही इसी आधार पर बन गये हैं। भौतिक दर्शन और आत्मदर्शन। यथार्थवाद और आदर्शवाद उसी के फलित रूप हैं। मार्क्स वस्तु की ओर से सत्य को लेते हैं तो विनोबा आत्म की ओर से। माइंड और मैटर की बहस खतम नहीं हो पाती है। ईश्वर ने हमको बनाया, यह कहनेवाले जितने हैं शायद उतने ही यह कहनेवाले मिल जाएँ कि हमने ईश्वर को बनाया है।

सच यह कि बिना परिमाण कोई अस्तित्त्व है नहीं। विज्ञान ने अणु को खण्डित करके परमाणु को पा लिया है। पर वहाँ भी परिमाण है, वहाँ भी कहना सम्भव होता है कि केन्द्र यह है, परिधि वह है। अस्तित्त्व मात्र परिमाणयुक्त है और अन्त तक भाषा सम्भव है कि ऊपर शरीर है, भीतर आत्मा।

शरीर आत्मा का अविनाभाव सम्बन्ध है। एक को दूसरे के बिना सोचने से ज्ञान बढ़ता है, जीवन नहीं बढ़ता। सोचने वाले यह कर सकते हैं कि एक को समाप्त कर दूसरे की ही भाषा चलाएँ। ऐसे दो वाद पैदा होकर आपस में विवाद में भी उतर सकते हैं। पर सोचने का ही काम जिसका नहीं है, जिसे जीना और करना है, वह दोनों में से किसी की अवज्ञा नहीं करेगा और दोनों को परस्पर अपेक्षा में ही स्वीकार करेगा।

फिर भी जो रोग होते हैं सो कुछ शरीर की अधिकता से होते हैं, और मानसिक जैसे रोग शरीर की यथावश्यकता की कमी के कारण होते हैं। दूसरे रोगों में मानसिकता को मन्द करने की औषधि दी जाती है और खुराक पौष्टिक दी जाती है। पहले रोगों में परहेज और उपवास कराया जाता है और चेतना को उद्दीपन दिया जाता है।

धर्म संस्था की संस्था के रूप में एक आयु होती है। शनैः-शनैः शरीर जरा जीर्ण होता ही है। धर्म की संस्था के अंगरूप नाना विधि-विधान, क्रिया-काण्ड पुरातन पड़ते और समयानुकूल नहीं रह जाते हैं। यह ठीक है कि उस कर्म-पात्र

में रहकर ही धर्मसार कालक्रम में सुरक्षित बना चला आया है, पर शरीर की अधिकता से वह सार कभी मदमूर्च्छा में मरने लगता है, तब शरीर का कल्प आवश्यक होता है।

धर्म की मूल चेतना में जब तक यह शक्ति होती है, धर्म शरीर अधिकारी आचार्यों द्वारा कायाकल्प प्राप्त करता रहता है। धर्माचार्य स्वयं गतानुगतिक ही रह जाएँ, मौलिक धर्मपरायणता उनमें न हो, तो धर्म के अमुक सम्प्रदाय-शरीर को गिरना और मुरझाना पड़ता ही है। धर्म तो कभी मरता नहीं। पर सम्प्रदाय कोई नित्य सनातन कैसे बन सकता है?

आज भारतवर्ष में शिक्षा की अधिक आवश्यकता है या चरित्र की? यदि कोई मनुष्य शिक्षा को चरित्र से अधिक महत्त्व देता है तो क्या वह ठीक मार्ग पर है? 'दुर्जनःपरिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपिसन्' यह कहाँ तक ठीक है?

—विद्या जो परिचयात्मक है, जिसका रूप Know-how (कल्प-शिल्प) का है, आदमी को उपयोगी बनाती है, उत्तम नहीं बनाती। वह शिक्षा नहीं है। आदमियत से उसका सम्बन्ध नहीं है। विद्या-भूषित दुर्जन हो सकता है और उससे दूर रहने का उपदेश गलत नहीं, सही है! यह तो विद्या की मर्यादा हुई, अर्थात वह आदमी के हाथ में एक औजार के रूप में रहती है। जैसे चाकू या तलवार या कलम। यह कि उस चाकू से या तलवार से या कलम से क्या किया जाता है, एकदम दूसरा विषय है। चरित्र का उसी से सम्बन्ध है। वह व्यावहारिक कौशल नहीं है। उसका सम्बन्ध इससे है कि उस कौशल से क्या साधा जाता है। इस तरह चरित्र एक नैतिक तत्त्व है, जब कि विद्या एक भौतिक स्तर की वस्तु है।

आज दृष्टि जो प्रधानता से भौतिक बन गयी है उससे चरित्र का महत्त्व पीछे पड़ गया है, आगे विद्या का महत्त्व आ गया है।

शिक्षा विधि के बारे में जो विमर्श चल रहा है, उसके मूल में यही संकट है। शिक्षा बढ़ने के साथ-साथ बेचैनी और बेरोजगारी बढ़ रही है। बेचैनी इसलिए कि हरेक बढ़ना और पाना चाहता है, देना और अपनी जगह रहना नहीं चाहता। इस तरह स्नेह और सहयोग सूख रहा है, स्पर्धा और बढ़ा-चढ़ी बढ़ रही है। बेरोजगारी इसलिए कि उसका मन ऊँचाइयों में उड़ता रहता है और आसपास अपना उपयोग देने का उपाय उसके पास नहीं होता। रोजगार सरकार दे या दूसरा कोई दे तो उसे मिले, नहीं तो उसके बढ़े-चढ़े इरादे हैं और कामधाम से खाली समय है। तब भरी विद्या के जोर से दिमाग़ जो सोचता है, उसमें शैतान का हाथ होता है। खाली दिमाग़ शैतान का घर होता है।

चरित्र यहीं संगत है। वह व्यक्ति को खाली नहीं रहने देता। दूसरे के प्रति

कर्त्तव्य भावना से जोड़े रखता है, अर्थात चरित्रवान व्यक्ति उपयोगी हुए बिना रहता नहीं। उपयोग लेता नहीं, देता है। वह सबके काम आता है और सबका काम करता है। वह कर्मिष्ठ बनता है।

आज मानना होगा कि काम से अधिक बात की कीमत है। कर्म नीति पर राजनीति छाई है। राजनीतिक बात करेगा और बताया करेगा, दूसरे लोग काम करेंगे। इस कारण जीवन कुछ कुटिल और जटिल भी पड़ गया है। श्रम का मूल्य घट गया है, व्यवस्था कहे जानेवाले का मूल्य बहुत बढ़-चढ़ गया है। बौद्धिक और शारीरिक श्रम के मूल्यों में बे-हिसाब अन्तर है। इसी से देखने में आता है कि पसीना बहानेवाला नीचे है और भूखा है। सब तरह के सुख-सुभीते में रहनेवाला ऊपर है और अघाया है, क्योंकि उसका काम बात करना है, काम करना नहीं है।

बौद्धिक कर्म का जो यह अनुपात से बाहर मूल्य जा चढ़ा है, उससे दी जाने-वाली शिक्षा की ओर पढ़नेवालों की एक बाढ़ ही आ गयी है। दिल्ली में स्कूल, कॉलेज में प्रवेश पाना बड़ी भारी बात है। शिक्षा की दूकानें चल रही हैं। पूछिए नहीं, दिल्ली का यह एक बहुत बड़ा उद्योग और व्यवसाय है। एक व्यापारी ने लाभ की दृष्टि से मुझसे परामर्श लिया कि कितनी पूँजी से स्कूल शुरू किया जा सकता है! उतनी ही बाढ़ शिक्षित बेकारों की बढ़ रही है। यह सब पढ़ना-लिखना अन्त में उन्हें हक़ की बात सिखाता है—यह कि हमारा यह हक़ है, वह हक़ है। जीवन के प्रति वह हर तरह अपने को मुस्तहक़ मानते हैं, दोष बाकी लोगों को देते हैं। कर्त्तव्य उनके पास कुछ रहता नहीं, क्योंकि अधिकार तमाम उनको भर देता है। इस वर्ग में से राजनीतिक दलों के चूल्हों को गरम रखने के लिए तैयार और सूखा ईंधन मिला करता है। ऐसी अवस्था में शिक्षा और विद्या ही चरित्र को खानेवाली हो जाती है।

किन्तु चरित्र शब्द बेढब है। उसको नाना अर्थों में खींच लिया जाता है। सामाजिक सभ्यता चरित्र की पहचान नहीं है। वह तो ऊपरी लिबास है, उसके नीचे क्षुद्रता भी बस सकती है। वह सभ्यता धन निर्भर वस्तु है। वह बाजार की चीज है। उस ऊपरी शिष्टता और सभ्यता पर से चरित्र की झलक नहीं मिलती।

रहन-सहन में से यों देखें तो चरित्र की पहचान मिल जानी चाहिए। रहन सादा हो, आडम्बर न हो, और उसमें आवश्यकता का ध्यान हो, प्रभाव का नहीं। ऐसे रहनेवाला व्यक्ति चरित्रवान होगा। रहने से भी महत्त्व की वस्तु है सहन। कितना वह दूसरों को सहता है और अपने कष्टों को सहता है। रहन के साथ यह जो सहन शब्द लगा है बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सहनशीलता व्यक्ति की कसौटी है।

सारुप यह कहें कि चरित्र दूसरों के प्रति सेवाभाव रखने में है। अपने लिए स्वार्थ भाव से रहने में उस चरित्र का दैन्य ही प्रकट होता है। तत्त्व में जाकर देखें और यों जगत व्यवहार को भी गहरी परख के साथ देख सकें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि चरित्र के आगे विद्या मूल्यहीन ही है। इस तरह शिक्षा सार्थक वही रह जाती है जो मनुष्य के अन्तरंग को सम्पन्न करती और चरित्र को उठाती है। वह शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार में से फिर समाज के शरीर में विस्तार पाती जाती है और उसे व्यवस्था और शान्ति देती है।

अल्पसंख्यक धर्मावलम्बियों के धार्मिक क्षेत्रों पर बहुसंख्यकों द्वारा की जानेवाली ज्यादती पर अल्पसंख्यक अपने क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए क्या नीति अपनाएँ?

—अल्पसंख्यक अल्प विशेषण को महत्त्व देना छोड़ दें। उस कारण अपने को हीन समझना भी महत्त्व देना है। तब बहुमत में भी अपने पृथक् महत्त्व का भान होगा। व्यक्ति का कर्त्तव्य है, इसलिए समुदाय का भी कि अपने सत्य और हक़ पर डटा रहे, डिगे नहीं, चाहे जान भी जाए। इस सत्याग्रह में अहिंसा का भाव रहेगा तो विफलता मिलेगी ही नहीं। ऐसे सत्याग्रह के आपत्धर्म के अवसर के अतिरिक्त अल्प को बहु में ऐसे मिले रहना चाहिए जैसे पानी में शकर।

आपके इस वाक्य का मैं अर्थ जानना चाहूँगा—"वाक्य कोई आर्ष तभी होता है जब वह सत्य के निरूपण अथवा प्रतिपादन में नहीं केवल उसकी अभिव्यक्ति में प्रकट होता है।"

—निरूपण अथवा प्रतिपादन में अहंभाव भी मिल जाता है। अभिव्यक्ति अनायास होती है। सत्यानुभवादि अहं-मिश्रित नहीं होता तो आर्ष वाणी उद्गीर्ण होती है और उसे अपौरुषेय भी कह लिया जाता है। निरूपण और व्यंजना में यह मौलिक अन्तर ओझल कर दिया जाएगा तो साहित्य और पाण्डित्य का भेद ही मिट जाएगा। स्पष्ट ही दोनों में अनन्त अन्तर है।

भारत आधुनिक युग में पाश्चात्य प्रणाली द्वारा शिक्षित युवतियों में से अच्छी माँ, सफल पत्नी एवं पवित्र बहन पाने में कहाँ तक सफल हो सकेगा?

—नकल से कोई सफल नहीं होता। किसी प्रणाली पर पश्चिम का पेटेण्ट नहीं है। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि अपनी ही सुख-सुविधा की चिन्ता पनपे, ऐसी शिक्षा से फलस्वरूप असन्तोष अधिक मिलता है। दायित्व भाव सदा दूसरे से प्रतिबद्ध रहता है और इसमें विनय की आवश्यकता होती है। विनय से उलटी वृत्ति सफल गिरिस्ती नहीं दे सकेगी।

सन् 62 को अधिकांश व्यक्ति बड़ा ही भयानक वर्ष बताते हैं। इतने ग्रह कभी भी एकत्र नहीं हुए थे। क्या यह कथन किसी हद तक सच होना चाहता है?

—धरती पर वह होगा जिसकी तैयारी अभी भीतर हो रही होगी। दूर ग्रहों में धरती का भविष्य तैयार किया जा रहा है—यह मानने के लिए कोई संगत तर्क नहीं है।

कुछ दिनों से हिन्दी के पत्रों में आस्था शब्द सर्वाधिक मुखर रहा है, पर जैसे दूसरी अनेक जटिलताएँ जन्मी हैं वैसे ही क्या यह आस्था शब्द नहीं है?

—शब्द 'आस्था' को रूप देना कठिन है। आस्था के रूप को भाव से अलग नहीं कर सकते। आस्था के भाव को आस्थावान अनुभव करता है। यह भाव दूसरों पर उसके व्यवहार से प्रकट होता है। आस्था से प्रश्न तक को दिशा मिलती है और आस्थावान का संशय भी रचनात्मक होता है। आस्था के अभाव में प्रश्न चहुँमुखी, संशय चहुँमुखी और वृत्ति नकारात्मक हो जाती है।

भारत की शिक्षा पद्धति अवैज्ञानिक कही जाती है। क्यों! शिक्षा के मूल तत्त्व क्या होने चाहिए?

—शिक्षा पद्धति सौ फीसदी वैज्ञानिक हो, यह मैं पसन्द नहीं करूँगा। वैज्ञानिक होने का मतलब हो जाता है कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच कोई भावात्मक सम्बन्ध न हो। मैं यह मानता हूँ कि ठीक यही है जो आज की शिक्षा प्रणाली का रोग है।

सच यह कि वैज्ञानिक शब्द की व्याप्ति अब बढ़ती जा रही है। मानो वह शब्द इधर आध्यात्मिक बोध भी देने लगा है। मैं समझता हूँ कि प्रणाली शिक्षा की कोई हो, गुरु-शिष्य के बीच समग्र सम्बन्ध होना चाहिए। शिक्षक के साथ वह माता-पिता और अभिभावक भी हो। यह होगा तो थोड़ा दिया गया बहुत फल लाएगा।

शिक्षण के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं। एक यह कि ज्ञान हम विद्यार्थी में पहुँचाते और डालते हैं। दूसरी दृष्टि यह कि विद्यार्थी के अन्दर के चैतन्य को हम जगाकर प्रकाश में लाते हैं। दूसरी दृष्टि मेरे मन के अधिक निकट है। मैं यह समझता हूँ कि शिक्षण के सम्बन्ध में गुरु-शिष्य दोनों ही एक-दूसरे से सीखते हैं। वह दो चेतन प्राणियों का सम्बन्ध होता है और केवल उसमें प्रदान नहीं होता प्रति क्षण आदान भी होता रहता है।

शिक्षण का कुल मिलाकर अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने आसपास की परिस्थिति के प्रति प्रबुद्ध हो और उत्तरोत्तर उसमें अपने चिद्भाव का विस्तार साधता

जाए। सदा ही परिस्थिति में चुनौतियाँ गर्भित होती हैं। उनके प्रति चेतना जागृत रहे और स्थिति की जड़ता में वह आगे-से-आगे प्रकाश देती जाए। यह विस्तार लोक व्यवहार में समझ और सहानुभूति का विस्तार जान पड़ेगा, किन्तु मूल में व्यक्तित्व की संस्कारिता में से ही उसका उद्‌भव है।

शिक्षण का कार्य राज्य से जहाँ तक स्वतन्त्र हो अच्छा है। राज्य की प्रथम चिन्ता और उसका प्रथम दायित्व लोगों के अस्तित्व और संरक्षण का है। इसलिए उपयोगिता से ऊपर जाना राज्य के लिए कठिन है। शिक्षा का लक्ष्य अमुक उपयोग में आ सकने वाला यन्त्र-मानव का नमूना पैदा करना नहीं है। यह उद्देश्य तो प्रबुद्ध और स्निग्ध तेजोमय पुरुष निर्माण करना है। इसलिए अर्थकारी विद्याओं के साथ नीति और चरित्र की शिक्षा भी शामिल होनी चाहिए। किन्तु यह प्रश्न शिक्षा के क्षेत्र से आगे चला जाता है। वह पूरी समाज व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखता है। समाज के नियमन और व्यवस्थापन का सारा बोझ राज्य लेकर बैठे तो ऐसी समाज व्यवस्था कानून-प्रधान एवं शासन-केन्द्रित हो जाती है। और राज्य क्योंकि एक सीमित धारणा है, इसलिए राजकीय या राष्ट्रीय व्यक्तित्वों का निर्माण ऐसे शिक्षण का महत्तम फल होता है। यह व्यक्ति देश-प्रेमी से आगे मानव-प्रेमी नहीं हो पाता। शिक्षा से विश्व नागरिक और मानव मात्र को भी आत्मीय अनुभव करनेवाला व्यक्ति न पैदा हो तो उस शिक्षा को कृतार्थ नहीं कहा जा सकता।

स्वस्थ समाज में ऐसे तत्त्व हुआ ही करते हैं जिन्हें शासन या प्रशासन में अनुराग नहीं होता और जिनकी वृत्ति जीवन के गहरे शोध की ओर होती है। इस प्रकार के लोग ऋषि होते हैं। वे आकांक्षा और परिग्रह अधिक नहीं रखते। अपने लिए कम-से-कम चाहते हैं और दूसरे के लिए अधिक-से-अधिक देते रहा करते हैं। ऐसे ही पुरुषों का स्वभाव और अधिकार होता है कि वे लोक शिक्षण का काम उठाएँ। यह नैसर्गिक है और जो समाज इस निस्सर्ग नियम के अनुसार चलता है वह स्वस्थ बना रहता है। यह लोग लोक मानस का निर्माण करते हैं जो फिर राज्य को, राजकीय प्रशासन को और राजनीति को मानव नीति से जोड़े रखता है। इस तरह अनेकानेक राज्यों में विभक्त मानवता व्यवस्था के नाते तो राष्ट्रीय और राष्ट्रगत रहती ही है, लेकिन आन्तरिक भावनाओं के नाते मूल मानव हित में एक और इकट्ठी बनी चली जाती है। इस ऋषि वर्ग के कारण मानवता और एकता की हानि नहीं होती और राजकीय प्रतिस्पर्धाएँ गहरी हानि नहीं कर पातीं। किन्तु राज्य एक व्याप्त सत्ता बनता चला जा रहा है और शिक्षण पर उसका पहला ध्यान जाता है। कारण यही उपाय है जिससे उसे अनुकूल गढ़े हुए नागरिक मिलें और प्रशासन थिर और निष्कण्टक बने। चाहिए यह था कि समाज के पास ऐसे तत्त्व का नित-नित निर्माण होता रहे जो राज्य को सीमित अभिमान में सन्तुष्ट न होने

दे और उसे उत्तरोत्तर मानव आदर्श की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता रहे। राज्य के नियमों और अनुशासनों से बँधी शिक्षा-विधि ऐसे तत्त्व का निर्माण नहीं कर पाती। उससे वही शिक्षा मिल सकती है जो नागरिक को तदनुकूल बनाए और क्रान्तिकारी नहीं बनने दे। इसीलिए यह घटित होने में आता है कि निषेधात्मक तंत्त्व हिंसक बल का दबाव डालकर राज्य को परिष्कार देने के काम के लिए रह जाते हैं और राजनीति में न्यूसेंस वेल्यू का निर्माण होता है। उत्पात और उपद्रव करने के मार्ग से लोग महत्त्व सम्पादन करते और राज्य में पद-प्रतिष्ठा पा जाते हैं। इससे समाज की बड़ी हानि होती है और सब गुणों की अवज्ञा होती है। सात्विक महत्त्वहीन हो जाता है और राजसिक को महिमा मिलने लग जाती है।

सब जगह जनसंख्या बढ़ती जा रही है और देखने में आ रहा है कि सभी अच्छे विद्यालयों में दाखिला मिलना मुश्किल बन रहा है। शिक्षण की इस बहुतायत को देखते हुए समझ में नहीं आता कि अगर राज्य ही इस बोझ को न उठाए तो व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकती है। मैं इस सम्बन्ध में कोई सुझाव सहसा नहीं दे सकता और शिक्षा क्षेत्र के लिए राज्य का सहयोग अनिवार्य मालूम होता है। फिर भी यह निश्चित प्रतीत होता है कि शिक्षा की दिशा सरकार के हाथ में न होकर ऋषि के पास हो और वह तात्कालिक उपयोगिता पर न टिककर जीवन के नियमों की शोध और आविष्कार के लक्ष्य से युक्त हो। सम्भव हो सकता है कि इस इष्ट की प्राप्ति के लिए हमें राज्य संस्था के सम्बन्ध में ही पुनर्विचार करना पड़े।

सोचने योग्य है कि क्या राज्य की कोई विकेन्द्रित विधा हो सकती है? क्या राज्य हो सकता है जिसे राज्य लगभग करना ही न पड़े? क्या शासनमुक्त शासन और शासनमुक्त समाज सम्भव है और सम्भव हो तो उसका क्या स्वरूप होगा? किन्तु ये सब प्रश्न यहाँ के लिए संगत नहीं।

इस भौतिक युग में क्या आपको शिक्षा का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य नहीं लगता? भारत जैसे पिछड़े राष्ट्र के लिए क्या यह नितान्त आवश्यक नहीं है? जिन राष्ट्रों में शिक्षा राज्य-संचालित है, वह आज विज्ञानोपलब्धि में सबसे आगे हैं और इस थोड़े समय में इस महान प्रगति का यह भी एक कारण है। आपका क्या ख्याल है?

—मान लो राष्ट्रीयकरण उचित और आवश्यक है। लेकिन फिर मानवीकरण का क्या उपाय रह जाएगा?

आप जानते हैं कि सब उन्नत राष्ट्रों में राष्ट्रीय चेतना है और उनके अधीन न केवल शिक्षण ही रहा है, बल्कि निर्माण और उत्पादन सब उस भावना के

अधीन हो रहा है। उसके परिणाम में सैन्य और अस्त्र-शस्त्र का निर्माण भी बढ़ता चला जा रहा है। इसमें अनायास सैद्धान्तिक और यान्त्रिक ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि होती है। भारत उस ओर तरक्की नहीं कर रहा, यह नहीं कहा जा सकता। वह किसी पक्ष में नहीं है, लेकिन पक्षों के पीछे और ऊपर जो यह दुनिया की हवा है उसमें जरूर अंगांगी रूप में शामिल है; अर्थात राष्ट्रीयकरण शिक्षा में होता ही जा रहा है। राष्ट्रीयकरण का अन्त में जाकर मतलब होता है सन्नद्ध राष्ट्रवाद। सन्नद्ध राष्ट्रों में फिर गुटबन्दियाँ चल पड़ती हैं और संयुक्त छावनियाँ पैदा होती हैं। उनसे युद्ध का संकट बनता है और आप जानते हैं कि हम उस संकट-छाया के नीचे साँस ले रहे हैं।

नहीं, मैं उस उन्नति का कायल नहीं हूँ। भारत का उसमें हित नहीं देखता। वही विभु हो और शिक्षा दासी हो, यह स्थिति मैं पसन्द नहीं करूँगा। आज की परिस्थिति का संकट क्या यही नहीं है कि राष्ट्रीयकृत मनुष्य सब हैं, मानवीकृत मानव यदि हैं तो कम हैं और इस तरह हैं कि उनको बेकार ठहरा दिया जा सकता है। उन्हें स्वप्नवादी कहकर किनारे रखा जा सकता है। राष्ट्रीय प्रश्नों को यदि मानवीय चेतना से नहीं लिया जाएगा तो वे कभी खुलने में न आयेंगे और पेंच-पर-पेंच ही पैदा करते चले जाएँगे।

राष्ट्रों में एक होड़ और दौड़ मची है। भारत को भी उसमें शामिल होना हो तो मुझे कुछ कहना नहीं है। वह शस्त्रास्त्र निर्माण और अणु शक्ति संधान की दौड़ है। यदि सारी शिक्षा का उपयोग यही हो कि राष्ट्र को इस दौड़ में आगे निकलने की प्रेरणा और शक्ति दे, तो क्या यह कहना सच न होगा कि वह तमाम शिक्षण गर्म नहीं तो ठण्डे युद्ध का ईंधन बनने में ही अपनी सार्थकता देखती है। शिक्षण की सार्थकता में राष्ट्र की प्रतिस्पर्धात्मक उन्नति मैं नहीं देखता हूँ। उसकी कृतार्थता मुझे समन्वीकृत और एकीकृत व्यक्तित्व के संस्करण में दीखती है।

प्रश्न है कि शक्ति और शिक्षा का क्या सम्बन्ध है? उनके बीच रानी और दासी का सम्बन्ध मुझे मान्य नहीं है। मैं नहीं मानता कि इतिहास को यह मान्य है। इतिहास को जरा लम्बे माप में देखना होगा। क्यों है कि आज शेर जबरदस्त नहीं है और इनसान उस पर हावी है। इस सबका पाठ यही है कि नंगी शक्ति हारती है। यह दर्शन शिक्षण में से मिलना चाहिए। यह दर्शन मानो लुप्त ही हो गया है। यह राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयकरण का ज्वर है जिसने उस स्वस्थ दर्शन को ही मन में से मिटा दिया है। लगने लगा है कि मानो शक्ति ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। राजनीति में से शिक्षण नीति को आना है। राज्य को आदमी को ढालना है। इतिहास से उसको उलटा दर्शन क्यों न कराया जाए? जिस विश्वास से उन्नति की प्रक्रिया चल रही है, क्या वह यही नहीं कही जा सकती कि इनसान

के ऊपर शेर को बैठना है। नहीं, कहीं-न-कहीं हमारी समझ में चूक है, मगर स्थिति यही दीखती है कि इनसान पर शेर सवार है।

भौतिक युग यदि है तो क्या इसीलिए नहीं कि भौतिक शिक्षा है। युग को भौतिक बताने के आधार पर शिक्षा को भौतिक चाहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। युग भौतिक है, इसका मतलब यही न कि यान्त्रिक निर्माण में आगे-से-आगे बढ़ना है और सबसे बढ़ा-चढ़ा यान्त्रिक उद्योग अणु शस्त्र और प्रक्षेपणास्त्र वाला ही है। भौतिकता की इस व्याख्या पर युग के लिए विशेष बधाई की बात नहीं रह जाती। मुझे लगता है कि नया युग आना है। आने से अधिक उसे लाना है। वह अभौतिक न होगा। लेकिन इस सँकरे और झूठे अर्थ में भी वह भौतिक न होगा। उसमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को ऐसे गुर्राकर न देखेगा जैसे एक कुत्ता दूसरे को देखता है। राष्ट्र पाशव भाव से नहीं मानव भाव से एक-दूसरे को देख सकेंगे। उस युग के लिए राष्ट्रीयकरण से आगे बढ़ना होगा, मानवीकरण पर आना होगा।

राष्ट्रीयकरण के आधार पर जो राष्ट्र अपना विकास साधते हैं वे अन्तरर्राष्ट्रीय और उलझन भी उतनी ही पैदा करते जाते हैं। स्वीकार करना होगा कि आज राजनीति के पास इसके सिवा दूसरा दर्शन नहीं है। सारी कर्म-रचना उसी आधार पर हो रही है और आपसी भय और संशय को बढ़ा रही है। इसका उपाय शिक्षा शास्त्रियों और ज्ञानाचार्यों के पास से न आएगा तो कहाँ से आएगा? राष्ट्र के अहंकार से भरे हुए राजनेताओं के पास से उस संकट का प्रतिकार आना सम्भव नहीं है। पर आप भौतिक के नाम पर कहना चाहते हैं कि युग की आवश्यकता के लिए देखा-देखी यहाँ भी राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। नहीं, भारत के लिए मैं उसे अनिवार्य नहीं मानता, बल्कि निवारणीय मानता हूँ। निवारणीय इसलिए कि भारत वह देश है जिसने समूचे इतिहास में कभी बाहर आक्रमण नहीं किया। उस पद्धति से विस्तार नहीं साधा। भारत वह है जिसका राष्ट्रवाद सांस्कृतिक रहा है और किसी स्पर्धा और विरोध में वह प्रतिपक्षी बनकर नहीं खड़ा हुआ है। उसकी शिक्षा विधि सनातन भाव से हार्दिक और मानवीय रहती चली आई है। उसने तत्काल के पार देखा है और उपयोगिता से अधिक दर्शन दिया है।

राजनीति कर्म का नियमन-नियोजन करती है। भारतीय शिक्षण ने राजनीति को धर्मनीति देने का साहस किया है। मैं समझता हूँ कि वह सनातन और ध्रुव मानव नीति कहीं से आएगी तो शिक्षण की दिशा से ही आ सकती है। इसलिए यदि राष्ट्र का नेतृत्व सजग हो और राष्ट्र-शासक में दृष्टि और कल्पना हो तो उससे प्रयत्नपूर्वक शिक्षण को ऐसे हाथों में दे देना चाहिए जिन पर मस्तिष्क और वह अनासक्त हो।

छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के मूल में क्या कारण हैं? वर्तमान शिक्षण पद्धति इसमें कहाँ तक सहायक है?

—अनुशासन छात्रों में क्यों हो? छात्र सीखते हैं बड़ों से। यह समझना भूल है कि वे किताबों से सीखते हैं। असल में वे ज़्यादा सीखते हैं उनसे, जो किताबें पढ़ाते या बनवाते हैं, अर्थात समाज का मानस और जीवन उनमें प्रतिबिम्बित होता है। वहाँ अनुशासन न हो और छात्रों में ही होने के लिए वह रह जाए, इसका कुछ अर्थ नहीं है।

अनुशासन चलता है कर्त्तव्य और सन्तोष के साथ। कर्त्तव्य पर किसका ध्यान है? सबकी निगाह अधिकार पर है। अधिकार का दावा हवा से भरा हुआ है। क्या राजनीति ने अपने को उसी पर नहीं उठाया और बल प्राप्त किया? सन्तोष भी गुण नहीं रह गया है। अधिक-से-अधिक पाने को यदि उन्नति माना जाता है तो मानो असन्तोष गुण बन जाता है। ऐसी हालत में अनुशासन कैसे आ सकता है? अनुशासन में रहने को कोई अच्छा भी कैसे समझ सकता है। याद रखना चाहिए कि शासन अगर फेल न हो तो अनुशासन पर से श्रद्धा एकदम उठ जाती है।

मेरे बाल सफेद हो गये हैं, लेकिन विद्यार्थियों की समस्या को मैं उनकी नहीं अपनी समझता हूँ। मैं अपने से पूछता हूँ कि अपनी जगह क्या मैं अधिक सेवाभावी और उपयोगी बनने का प्रचार करता हूँ? क्या मैं अधिक पाने और सामाजिक मान में ऊँचा उठना नहीं चाहता? यदि चाहता हूँ तो अनुशासन मेरे लिए दोयम रह जाता है। प्रथम वह हो जाता है जो उससे उलटा है। हर एक यदि हर तरफ अपने को बढ़ाने का साधन ढूँढ़ेगा तो विद्यार्थी भी उसी राह चलेगा, अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन होगा, और कीमत कम देकर जीवन में अधिक लाभ उठा लेना चाहेगा। समाज-व्याप्त यह मानसिकता है जो अनुशासन को मन में अधिक जगह नहीं मिल रही।

आपकी परिभाषा के अनुसार परिग्रह क्या है?

—जो हमारी अन्तश्चेतना को पकड़े और रोके, उस वस्तु-रूप बाधा को परिग्रह कह सकते हैं।

अन्तश्चेतना आप किसे कहते हैं?

—आदमी निश्चेतन तो है नहीं, और यदि चेतन है तो उसके चैतन्य का अधिष्ठान उससे बाहर कैसे माना जा सकता है? 'अन्तश्चेतना' इसलिए कहा है कि चेतना के अनेक स्तर होते हैं, अपने ही स्रोत से स्फूर्त हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, इसलिए

'अन्तस्' का विशेषण है।

क्या आप बाह्य और आन्तरिक परिग्रह के भेद भी मानते हैं?

—भाव और द्रव्य का भेद मानने से समझ को सुभीता होता है। पर सार सदा आन्तरिक है, अर्थात् परिग्रह को मूर्छा भाव में मानना अधिक सार्थक होगा।

गृह-परिवार में रहकर भी आप अपने को मूर्च्छा-स्वरूप परिग्रह से रहित मानते हैं।

—नहीं। मैं अपरिग्रह का विश्वासी हूँ, अपरिग्रही पूरा नहीं; लेकिन यह इस मकान के निमित्त से नहीं। जंगल में बैठा रहूँ तो भी अन्दर से तृष्णार्त हुआ तो जंगल मेरी मदद नहीं कर पाएगा। पशु तो वहाँ ही रहता है, क्या वह अपरिग्रही है?

अपरिग्रही होने के लिए वस्तु का त्याग अपेक्षित नहीं है, तो अतीत में जो ऋषि-मुनि हुए हैं, उन्होंने जागतिक वस्तुओं से नाता तोड़कर एकान्त में रहना पसन्द किया था, क्या उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य नहीं था?

—त्याग-तपस्या में बाहुबली की कौन समता कर सकता है? लेकिन मुक्ति उन्हें नहीं मिली, जब तक अन्दर में शल्य बनी रही।

वस्तु का नितान्त परिहार हो नहीं सकता। वस्तु अपनी जगह है, उसका नाश सम्भव नहीं। वस्तु से अगर हम अपने को बचाते हैं तो आखिर किसलिए? इसीलिए न कि वस्तु हम पर हावी न हो और हमारी आत्मा को न ढँके। इस कोण से देखें तो वस्तु को लेने अथवा छोड़ देने, इन दोनों ही दृष्टियों में वस्तु को प्रधानता मिल जाती है। इसलिए त्याग-तपस्या में अपने-आपमें कोई मुक्ति समाविष्ट नहीं है। वस्तु की निर्भरता से ऊपर उठने की दृष्टि से अमुक साधना या अभ्यास किया जा सकता है। लेकिन अभ्यास साधना है, साध्य नहीं है।

अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य। कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना हो जाती है। समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है? लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य में कोई त्रुटि पड़ती है? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है?

व्यक्ति और वस्तु के बीच सर्वथा असम्बद्धता नहीं हो सकती। सारा जगत सामने पड़ा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इनकार करेगा? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है। दृष्टि सम्यक वह नहीं है जो वस्तुमय जगत को देख नहीं पाती। सम्यक दृष्टि वह है जो वस्तु में रुकती नहीं है। जो रुक सकती है वही

दृष्टि वस्तु से विमुख होने की सोच सकती है। वह विज्ञान-सिद्ध दृष्टि नहीं कहलाएगी, बल्कि सीधे या उलटे अर्थ में विमूढ़ दृष्टि समझी जाएगी। वस्तु और व्यक्ति के बीच समीचीन सम्बन्ध को सिद्ध करनेवाला होता है—अपरिग्रह। वस्तु के डर से व्यक्ति को हीन और विहीन बनाना उसका इष्ट नहीं है।

सामने वह दीन और दरिद्र है। वस्तु के नाम पर उसके आसपास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेंगे? नहीं, उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है। ऊपर से नितान्त नग्न होते हुए भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है।

अपरिग्रह में वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है। आत्म-चेतना सर्वथा स्वयं-निर्भर हो जाती है। उसमें से वस्तु के प्रति एक विभुता और इसलिए निश्चिन्तता प्राप्त होती है, अधीनता और चिन्ता नहीं। दूसरे शब्दों में, अपरिग्रह अभावात्मक नहीं, सद्‌भावात्मक भाव है। अर्थात् अपरिग्रह में वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नहीं होती, बल्कि प्रसन्नमुक्तता होती है। वस्तु की अपेक्षा में जो अपने को दीन अनुभव करता है वह कभी अपरिग्रही नहीं हो सकता। अपरिग्रही तो वह है जो आत्म-सम्पन्नता से भरपूर है।

मनुष्य का कार्य वस्तु के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् दैनिक कार्य चलाने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है। आवश्यकता है तो प्रयत्न भी करने होंगे। क्या उस प्रयत्न को दीनता कहा जा सकता है?

—हाँ, समग्र दृष्टि यदि वस्तु में घिरी हो और प्रयत्न उसी पर केन्द्रित हो, तो दैन्य भाव माना जाएगा।

साँस हम अनायास लेते हैं। उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है, तब साँस का रोग कहलाता है। प्राण वायु तो चहुँ ओर है, लेकिन जब उसे भीतर लेने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, तो मानना चाहिए कि स्वास्थ्य निर्बल है और फेफड़े निरोग नहीं हैं।

अन्तश्चैतन्य से युक्त और प्रवृत्त व्यक्ति की आवश्यकताएँ अनायास पूर्ण हो जाती हैं। प्रयत्नहीनता में से पूर्ण नहीं होतीं, केवल वह पुरुषार्थ वस्तुमुखी नहीं होता है, चित्प्रेरित और चिन्मुख होता है। लाख प्रयत्न करने पर भी कोई इतना वस्तु-वैभव नहीं पा सकता कि समवसरण की रचना कर सके, वही तीर्थंकर के लिए अनायास प्रस्तुत हो जाता है। यह महिमा प्रयत्न की नहीं है, अपरिग्रह की है। मैं नहीं मानता कि आत्म चैतन्य में से जगत का उप-लाभ नहीं होता

है। उस जगत लाभ या अर्थ लाभ में यदि कुछ बाधा बनता है, तो चीजों पर मुट्ठी को बाँधने का लोभ बाधा बनता है; अन्यथा जो सर्वथा अपनी आत्मा को पा लेता है, सारा ही वस्तु जगत उसका अपना हो जाता है। त्यागने-भागने की कहीं जरूरत ही नहीं रह जाती है।

समवसरण के प्रसंग में आपने जो कुछ कहा, वह ठीक है। तीर्थंकर को उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना होता। सुना जाता है कि देवगण ही समवसरण की रचना करते हैं। परन्तु तीर्थंकर के आदेश का उल्लंघन कौन कर सकता है? तब क्या वे देवताओं को समवसरण की रचना से इनकार नहीं कर सकते थे, जब कि समवसरण रचने में आडम्बर प्रत्यक्ष ही है।

कैवल्य प्राप्त होने से पहले साधक अवस्था में वैसा वर्जन भाव रहा ही होगा। वह आवश्यकता कैवल्य-लाभ के अनन्तर यदि निश्शेष हो जाती हो, तो विशेष विस्मय की बात नहीं है।

प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि क्या तीर्थंकर को समवसरण की रचना से देवताओं को वर्जित नहीं कर देना चाहिए था? प्रश्न अपरिग्रह का है और इस उदाहरण के उल्लेख से जो मैं व्यक्त करना चाहता हूँ वह इतना ही कि अपरिग्रह में से अनायास वस्तु की विभुता का लाभ हो आता है। मुक्तता उस विभुता का ही रूप है, और अपरिग्रह सच्चे अर्थ में कोई अभावात्मक संज्ञा नहीं है।

मान लीजिए कि तीर्थंकर समवसरण के निर्माण को अपने लिए अस्वीकार कर देते हैं तो उससे यही तो सिद्ध होता है कि विभुता और भी बढ़ी-चढ़ी है, और उनका अन्तरंग इस विभूति-भाव से सर्वथा अप्रतिहत और वस्तुनिरपेक्ष है। हम जब अपरिग्रह को वस्तु के परिमाण के हिसाब से नापते हैं तो कहना चाहिए कि आत्मा का मूल्य वस्तु की अपेक्षा में आँकते हैं। पाँच लाख का किसी ने मकान छोड़ा तो मानो पाँच लाख अंकों की अपरिग्रहता प्राप्त कर ली। अपरिग्रह की इस आंकिक उपलब्धि के लिए जो वस्तु का त्याग जाहिर किया जाता है, हो सकता है वह अन्दर से यश-प्रतिष्ठा के परिग्रह का लोभ ही हो।

वस्तु से जब हम अहं भाव से जुड़े होते हैं तभी हम उसके वर्जन और त्यजन की भाषा में बात किया करते हैं। वस्तु के साथ सम्बन्ध मिथ्या दृष्टि का न हो, यदि सम्यक् दृष्टि का हो जाए, तो वर्जन-तर्जन की दोनों भाषाएँ एक-सी विसंगत हो जाएँगी। मुक्ति में भी कहीं त्याग की संगति रह जाती है? सीढ़ी के हर डण्डे को छोड़ना पड़ता है, जब तक सीढ़ी है। छत पर आ गये तब छोड़ने को रह क्या जाएगा?

कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात महावीर ने तीर्थ की स्थापना कर प्रवृत्ति कर्म का परिचय दिया था। जब पूर्णत्व प्राप्त हो गया, तब प्रवृत्ति की आवश्यकता उन्हें

क्यों पड़ी? समाज सुधार के अन्य प्रयत्न वे अपने साधना काल के साढ़े बारह वर्षों में भी कर सकते थे। तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के पश्चात वे प्रवृत्ति के प्रपंच में क्यों पड़े? यदि निवृत्ति के पश्चात प्रवृत्ति का क्रम हो तो राजकुमार वर्द्धमान ही क्या, प्रत्येक मनुष्य का कर्म प्रवृत्ति में है ही। पहले निवृत्ति और फिर प्रवृत्ति; इससे अच्छा तो यही न है कि वह जो प्रवृत्ति करता है, करता चला जाए, क्योंकि निवृत्ति-साधना कर लेने के पश्चात भी अन्ततः प्रत्येक साधक को प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इससे अच्छा तो यही है कि वह निवृत्ति के शून्यवाद में ही न भटके।

निवृत्ति-प्रवृत्ति के शब्दों की जोड़ी को आप अपने लिए वृथा झमेला न बनाएँ। निवृत्ति जिसके अन्तरंग में नहीं, वह प्रवृत्ति उतनी ही चंचल और निष्फल होती है। मैं इन दोनों शब्दों को परस्पर विरोध में नहीं देखता हूँ। पहले-पीछे की भाषा भी मुझे कुछ विशेष संगत मालूम नहीं होती है। बाद में यदि प्रवृत्ति आ गयी हो तो शुरू में ही निवृत्ति क्यों? यह आपका प्रश्न इस भ्रम में से बनता है कि ये दोनों परस्पर को काटनेवाली संज्ञाएँ हैं और एक समय में एक ही हो सकती है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। दुःख की अनुभूति सबमें है। इस अनुभूति को निवृत्तिपरक माना जाएगा। अब इसी व्यथानुभूति में से प्रवृत्ति निकलती है। जितनी वह अपने निवृत्ति स्रोत से संयुक्त होगी उतनी ही वह प्रवृत्ति फलदायक होगी। निवृत्तिमय प्रवृत्ति मुक्तिदायक हो सकती है, और जितना उनमें वैमुख्य और वैपरीत्य होगा उतनी ही बन्धनकारक। अपरिग्रही, अहिंसक, अनासक्त कर्म संयुक्त होता है। जो जितना वियुक्त है, अर्थात् आत्म-व्यथा के स्वीकार में से नहीं, बल्कि अहंकृत इनकार में से निकलता है, वह उतना ही आसक्त, ह्रस्व और व्यर्थ होता जाता है।

तीर्थंकर की प्रवृत्ति शायद फल न लाती अगर उन्हें अन्तरंग में निवृत्ति ही सिद्ध न हुई होती। यज्ञ-हिंसा के विरोध में कहीं उनका अहंभाव मिला होता तो क्या उसका उतना फल आ सकता था? भीतर से निवृत्त हो गये, शुद्ध करुणा की प्रेरणा में से शब्द और कर्म उत्कृष्ट हुए, इसी से परिणाम भी आ सका होगा। अन्यथा ऊपर से की जाने वाली प्रवृत्ति केवल अस्थिरता का दूसरा रूप हो जाता है। उसमें तेजस्विता और अमोघता नहीं आती।

परार्थमूलक प्रवृत्ति का अर्थ क्या है? परार्थमूलक प्रवृत्ति के द्वारा यदि उद्देश्य की उपलब्धि होती है तो वह भी एक स्वार्थ प्रवृत्ति है। स्वार्थमूलक प्रवृत्ति यदि एकान्त प्रवृत्ति है, तो जब वह परार्थ के लिए होती है तब निवृत्तिमूलक कैसे हो जाती है?

—अब आप स्व-पर शब्द की जोड़ी के चक्कर में पड़ गये। व्यथा में 'स्व' की

सीमा घुल जाती है, इसलिए उस सृजन कर्म में स्व-पर का अभेद सिद्ध होता है। करुणामूलक और अहंमूलक प्रवृत्ति में यही अन्तर है। करुणामूलक कर्म में उपकार, उद्धार या रक्षा की दृष्टि अर्थात् परार्थ-दृष्टि उतनी नहीं होती। स्वार्थ-परार्थ के आगे मैं तीसरा शब्द सुझाता हूँ—परमार्थ। यहाँ पर भेद मिट जाता है और स्वार्थ-परार्थ का परमार्थ में समन्वय हो जाता है। स्वार्थ अहंकृत होता है, उसी तरह परार्थ भी अहंकृत हुआ करता है। उपकार अधिकांश उसी भूल के कारण अन्त में अपकार बन जाता है। जो चाहिए वह अकर्म है, अर्थात ऐसा कर्म जिसमें कर्तृत्व न हो। उसी को दूसरे शब्दों में निवृत्तिमूलक कर्म कह दीजिए। कर्म निर्जरा कर्महीनता में से नहीं वरन् प्रचण्ड पुरुषार्थ में से ही फलित हो सकती है।

□

साहित्य और साहित्यकार

आज का साहित्य क्यों इतना ठूँठ हो गया है कि अपनी राह बहे जाने से ज्यादा उसका असर न तो वर्तमान समाज पर दीख पड़ता है और न ही राजनीति पर कि उसको दिशा दे सके। क्या इसे साहित्य की कमजोरी कहें? अन्यथा और क्या कारण हो सकते हैं?

—साहित्य आज का क्या है? पत्र-पत्रिकाएँ, किताबें वगैरह जो छपती हैं, उन सबके मिले-जुले पहाड़ को क्या साहित्य कहना होगा? मैं समझता हूँ कि इस बड़े ढेर में सब तरह का माल है, इसलिए साहित्य पर जल्दी फतवा नहीं देना चाहिए।

समाज और राजनीति पर सीधा प्रभाव साहित्य का नहीं हुआ करता। होने की आवश्यकता भी नहीं है। वह प्रभाव सीधा नहीं है, सीधे चाहा नहीं जाता है, इसीलिए साहित्य साहित्य है। उसमें आदेश-निर्देश नहीं होता, यहाँ तक कि उपदेश भी नहीं होता। अधिकांश वह व्यथा एवं आनन्द की अभिव्यक्ति है। व्यथा अथवा आनन्द अवश्य वह निजी नहीं है, सहानुभूतिपरक है। यह सहानुभूतिजन्य वेदना और पीड़ा व्यक्त होती है तो चित्त को छुए बिना नहीं रहती। मानव हृदय उसके रस से भीगता है और यह प्रभाव सामान्यतः व्यक्तिगत रूप में प्राप्त किया जाता है। चुपचाप एकान्त में व्यक्ति पुस्तक पढ़ता और कुछ देर के लिए विभोर हो रहता है। ऐसे अनायास उसके मानस को सुख और संस्कार मिलता है। किन्तु रस वह वस्तु है, जो अपने में समाती नहीं। सुख हम अपना बाँटते ही हैं, अन्यथा वह सुख नहीं रहता। इस विवशता से अपने को अच्छी लगी पुस्तक का नाम हमसे दूसरे के पास जाता है, दूसरे से तीसरे के। यों साहित्य अपने-आप फैलता है। अलग से प्रचार का जोर उसके पीछे नहीं लगाना होता। रस और चाव के नाते लोग स्वयं उसको अपने से आगे बढ़ाते जाते हैं। एक रचना अनेक भाषाओं में चली जाती है तो अक्सर किसी योजनाबद्ध कार्यक्रम के कारण नहीं, बल्कि

अपनी रसशीलता के कारण।

तो साहित्य की यह प्रकृति है। उस पर समाज और राज्य का सीधा लगाव या उपकार नहीं हुआ करता। समाज और राज्य अन्त में व्यवस्थाएँ हैं। दोनों में तन्त्र होता है, लेकिन केन्द्र में चित्त नहीं होता। इससे साहित्य यदि समाज और राज्य पर प्रभाव डालता है तो धीरे-धीरे और समय लेकर। चेतना को पहले उससे संस्कार मिलता है और चेतना वैयक्तिक होती है। पारस्परिक और व्यापक होकर वह सामाजिकता की ओर बढ़ती है। एक समाज भावना, एक सामुदायिक स्वप्न का निर्माण शनैः-शनैः होता है और तब कहीं उसके किसी कार्यक्रम में फूटने का अवसर आता है। यही प्रक्रिया उचित है। कारण, व्यक्तियों से अमुक कर्म करा लेने की वासना राजसिक होती है। सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से संगठित कार्यों में यह दोष रह जाता है। कर्म मुक्त मानस में से आना चाहिए। स्वाधीन चेतना आवश्यक है इसके लिए कि कर्म स्थायी और फलप्रद हो। मनुष्य जो करे मन:स्फूर्ति में से करे अर्थात साहित्य का लक्ष्य और उसके प्रभाव का माध्यम व्यक्ति का कर्म नहीं, उसका मन है। अत: समाज नीति अथवा राजनीति के संचालन का दायित्व साहित्य पर सीधे तौर पर नहीं आता है। वैसा आरोपण साहित्य के लिए इष्ट भी नहीं है।

किसी देश, किसी काल में आप यह नहीं पाइएगा कि साहित्य के हाथ में समाज की बागडोर आयी है। बागडोर उनके हाथ में रह सकती है, जिनकी निगाह वर्तमान पर है, जिनका कर्तव्य स्थिति के प्रति है। लेकिन निगाह जिनकी वर्तमान से आगे भविष्य में अधिक हो, स्थिति से अधिक गति जिन्हें सिद्ध हो, समाज से आगे सत्य में जिनकी बुद्धि और वृत्ति जाती हो, उनके हाथों सीधे समाज की बागडोर आए तो अनिष्ट की आशंका है। कारण, साहित्य और साहित्यकार भाव में अधिक रहता है, व्यवहार में उतना नहीं। आदर्श में उसका मन अधिक रहता है, यथार्थ पर उसकी उतनी पकड़ नहीं होती। अत: नेतृत्व से उलटे आप यह पाइएगा कि ऐसा व्यक्ति लोकनेताओं के लिए अमान्य बन गया है। अमान्य से आगे असह्य तक बन गया है और उसे समाज में सुख-सुविधा नहीं मिली है बल्कि दु:ख-दण्ड मिलता गया है। यह भी हो सकता है कि वह मान्य और पूजनीय माना जाए, लेकिन यह मान्यता और पूजा ही उसे कुछ दूर और अलग रखती है और समाज में उसके दखल का उतना सम्भव नहीं बनने देती। सन्त की पूजा हो सकती है, लेकिन अपने प्रभाव को वह शासक के अनुकूल न बनाए रखे तो उसकी हत्या भी हो सकती है। सन्त लोग साहित्य रचना के सिवा और क्या करते या कर सकते हैं! हक की बात कहते हैं, सत्य-प्रेम की वाणी बोलते हैं। भारतीय साहित्य अधिकांश ऋषियों और सन्तों से प्राप्त हुआ है। लेकिन ये

सन्त परीषह उठाते गये और विज्ञों द्वारा निन्दा पाते गये। ध्यान देने की बात है कि शिष्ट वर्ग कभी सन्त वर्ग को स्वीकार नहीं कर सका है। कारण, शिष्ट वर्तमानता पर रहता है, सन्त उसका अतिक्रमण करता जान पड़ता है।

साहित्य, समाज और राज्य से जो आगे चलता है, इससे यह तो होता है कि तत्कालीन लोकनेता और राजनेता उसके प्रति अनजान और उदासीन रहें अथवा धृष्ट और रुष्ट रहें। लेकिन अनजाने वह आगामी राजनीति को प्रकाश, उत्साह और तदुपयुक्त सामग्री भी देता है। माना जाता है कि वाल्टेयर, रूसो से फ्रांस में राजक्रान्ति हुई। लेकिन वाल्टेयर जीवन भर कष्ट उठाता रहा और रूसो की जिन्दगी तो और भी दयनीय बीती। इन्होंने क्रान्ति के लिए मानस तैयार किया। वह दर्शन जगाया और तन्निमित्त वह आग जलाई जो मनों को सुलगाते-सुलगाते अन्त में क्रान्ति के रूप में दहक उठी। पर वाल्टेयर और रूसो दोनों उससे पहले उठ चुके थे। कर्म के यथार्थ में वह अग्नि जब दहककर लपटें ले उठी, तब जैसे इन मनीषियों की विचार-विभूति से वह क्रान्ति स्वतन्त्र भी हो गयी। तभी वह क्रान्ति दहकी और जल्दी बुझकर ठण्डी हो गयी। उसकी भस्म में से उलटे सम्राट का उदय हुआ और जान पड़ा कि जनक्रान्ति चन्द-रोजा थी। लेकिन वाल्टेयर और रूसो अब भी जीते हैं, वे अपनी जगह हैं और अमर हैं। क्रान्ति के साथ वे नहीं उठे, इसलिए क्रान्ति के साथ ये गिरे भी नहीं। कर्म सामयिक होता है, भाव समय से उत्तीर्ण होता है। यह कुशल है कि साहित्य का सम्बन्ध भाव से है। जो साहित्य कर्म से अपना सम्बन्ध बनाता है, वह अतिरिक्त विचारात्मक होने के कारण तत्काल कुछ फल लाता दीखता भी हो, संगठन में सहायक होता और ललकार के काम में नारा बन आता हो, लेकिन समय के साथ ऐसा साहित्य अपनी चमक खो देता है और बड़ी जल्दी फीका और मन्दा पड़ जाता है। इसलिए मैं सलाह दूँगा कि आप अपने असन्तोष को सहें और समाज और राज-संचालन की माँग साहित्य पर न डालें।

अब तनिक सिद्धान्त-सत्य से अलग वर्तमान-परिस्थिति का विचार करें। आज की हालत सचमुच साहित्य के लिए अभीष्ट नहीं है। साहित्य की शक्ति शब्द है। शब्द इतना पैदा किया जा रहा है, छप रहा और बँट रहा है, इतना वह दलों और स्वार्थों का आयुध बन रहा है कि उस कारण जैसे शब्द की शक्ति ही टूट गयी है। साहित्य के लिए यह परिस्थिति इतने बड़े संकट की न थी कि वह छप नहीं सकता था और इतनी आसानी से बिक नहीं सकता था। संकट असल तो अब है जब धड़ाधड़ कल पर छापकर अखबारों के जरिये लाखों-करोड़ों के हाथ में छन भर में अमुक शब्द पहुँचा देने के साधन हो गये हैं। रेडियो, टेलिविजन हो गया है। इन सब सुभीतों से हलके और चुनौती के शब्द को ठेलकर सार्वभौम

बना दिया जा सकता है। मीठा, धीमा शब्द उस शोर में सुना और अनसुना रह सकता है। मौखर्य नहीं, मौन जिसकी शक्ति है, वह शब्द साहित्य का होता है। आज उस शब्द के सुने जाने और प्रभावित करने के लिए अवसर सचमुच कम है। लेकिन साहित्य के लिए यही कसौटी है और यही परीक्षा की घड़ी है।

साहित्य, पत्रकारिता और प्रचार—ये तीनों आज बहुत आसपास आ गये हैं। मनोरंजन की माँग इसलिए साहित्य पर अधिकाधिक चढ़ती जा रही है। अनुरंजन हेतु तक बन गया है। इसको मैं अशुभ इसलिए नहीं मानता हूँ कि मैं जानता हूँ कि सत्य से अधिक न कुछ अद्‌भुत है, न रोचक और स्थायी है। वह सनातन होकर भी नित नवीन है। इसलिए समाज को रिझाने की नीयत जिनकी नहीं है, सत्य को पाने का ही जिनका प्रण है, उनके लिए यह परिस्थिति यदि चुनौती देती मालूम होती है तो यह अनिष्ट नहीं है, क्योंकि तत्त्व की तरह का सूखा काठ सत्य नहीं होता है। वह कोरमकार दर्शन और ज्ञान नहीं है। सत्य में जीवन की तमाम विविधता और लीला के लिए स्थान है। सच यह कि सत्य के स्पर्श से ही ज्ञान और दर्शन सप्राण और सजीव होते हैं। इसलिए स्थायी तौर पर मन को पकड़नेवाला कुछ वह नहीं हो सकता जो केवल रिझाकर समाप्त हो जाता है, जहाँ रस का आलंदन समय-समाज होता है, बल्कि रस वहाँ पाठक की अनुभूति के साथ जुड़ जाता और आत्मिक बन जाता है। इस तरह उसकी सम्भावनाएँ अमित और अमर बनती हैं।

अन्त में यही कहना होगा कि शब्द के इतने प्राचुर्य और मौखर्य के बीच इस तुमुल कोलाहल में, शायद अधिक तपश्चर्या की आवश्यकता है कि शब्द उसके बल से अधिक ओजस्वी और अमोघ बने। वह मानव चेतना को मानो चीरता हुआ उसके मर्म में उतरता चला जाए।

नवोदित साहित्यिक निरा इण्टेलेक्चुल दीख पड़ता है। आस्था उसकी कहीं जमती नहीं है। उसमें स्वीकार-भावना नहीं है और नकार ही नकार है। सो वह टूट और बिखर रहा है। इस सबके पीछे क्या कारण हो सकते हैं? क्या आप इसे साहित्य के लिए अहितकर नहीं मानते?

—जो व्यक्तित्व के लिए अहितकर है, वह साहित्य के लिए भी अहितकर ही होना चाहिए। साहित्यिक कोई अलग इनसान नहीं है। औसत इनसान को एकीकृत और समग्र रखने के लिए आस्था की आवश्यकता होती है। आस्था वह तत्त्व है जो व्यक्ति के विविध अंगों और वृत्तियों को एक प्रयोजन में जुटा देता है। वह यदि न हो तो आदमी अपने में बँटा-बिखरा रहता है।

लेकिन गतानुगतिक विश्वास को लेकर चलने में भी सफलता नहीं है। वहाँ

आस्था है, यह कहना मुश्किल है। आस्था की कसौटी प्रश्न है, उसकी खुराक भी यह प्रश्न ही है। जब मन में प्रश्न नहीं उठता या नहीं उठने दिया जाता है, तो उस अवस्था को आस्था की न कहकर जड़ता की कहना चाहिए। परम्परा से जो विश्वास हमें प्राप्त है, वह मानो बनी-बनायी लीक है, चलने में सुविधा पहुँचाती है। पर यह सुविधा जीवन-यापन की सुविधा है। उसमें से व्यक्तित्व का विकास या उन्नयन नहीं होता। ऊपर की ओर उठने में जो आयास होता है, लीक-लीक चलने से उस आयास से सहज बचा जा सकता है। यह अनायास तर्कहीन गति पुरुषार्थ की नहीं होती। पुरुषार्थ अपने में से मानो प्रश्न पैदा करता और फिर उसको खोलता-जीतता हुआ आगे बढ़ता है। राह में बाधा ही नहीं तो जीता और गिराया किसे जाएगा?

आज बुद्धिवादी में इस प्रश्न की तीव्रता है। बना-बनाया विश्वास अथवा मत उसे काम नहीं देता है। उसमें शंका पैदा होती है और अनेकानेक प्रश्न एक साथ बुद्धिमान को घेर लेते हैं। प्रश्न वे भोज्य बने रहें तो पोषण दे निकलें। समर्थ व्यक्तित्वों में यही घटित हुआ करता है। आसपास चारों ओर से प्रश्न घुमड़ता हुआ उन पर आता है और मानो उसे खींचकर भीतर समा लिया जाता है। प्रश्न अपना देय इस भाँति जीवन-रक्त को दे जाता और व्यक्तित्व को किंचित समृद्ध कर जाता है। यह स्वस्थ व्यक्तित्व फिर उसके निर्जीव अवशिष्ट को अपने शरीर से बाहर फेंक देता है। यह स्वास्थ्यप्रद प्रक्रिया आस्थावान व्यक्ति में सतत घटित हुआ करती और उसके स्वास्थ्य को प्रसन्न रखती है। जिसकी कीमियों से प्रश्न अपनी दाँतेदार-काट झाड़कर स्वयं हविष्य बन जाता है, वह श्रद्धा द्वारा सम्पन्न होती है। ठीक यह काम है जो तर्कबुद्धि के वश का नहीं होता। मस्तिष्क में से प्रश्न आता है और शायद प्रश्न का निदान और उत्तर भी फिर वापस मस्तिष्क ग्रहण करता है। लेकिन जहाँ उस प्रश्न का गलन है, उत्तर और सम्पूर्ति है, वह स्थल मस्तिष्क के पार है। वहाँ से रस झरता है जो जहर के जहर को काटता है। यह स्तर व्यक्तित्व में सहज जागता नहीं है। परम्परागत, श्रद्धागत आचार उस स्तर को छू तक नहीं पाता है। उसके लिए गहरे तलों को तोड़ते हुए जाना पड़ता है। किन्तु वह स्तर-भेद हो जाए तो जिस व्यथामय आनन्द का स्रवण होता है, उसमें प्रश्न अपने अहंकार से शुद्ध होकर भीग रहता है। गाँठ तब वहाँ गल जाती है। प्रश्न की प्रश्नता समाप्त नहीं होती, केवल उसकी अहंता शान्त होती है। ऐसे प्रश्न व्यक्तित्व का क्षय और व्यय नहीं करता, उलटे उसको स्फूर्ति और प्रेरणा देता है। केवल विश्वास स्थिरता है। प्रश्नों का ईंधन उसमें पहुँचता है और श्रद्धा के स्पर्श से अग्नि पकड़ उठता है, तो स्थिरता में संचरण होता है, स्थिति गति प्राप्त करती है। निरा ईंधन तो कूड़े का ढेर है। वह जादू हो जो उसमें से शक्ति

जगा ले तो ईंधन ओज और तेज हो जाता है। मेरे कमरे में पेट्रोल गिरे तो वह दुर्गन्ध देने के सिवा और क्या कर सकता है, लेकिन कार को वही चलाता है।

आज की पीढ़ी यदि प्रश्न से परेशान अधिक है, स्थिरता में केवल अस्थिर है और गतिशील नहीं है, तो इससे मुझमें निराशा नहीं होती है। यह सब बेचैनी एक दिन ज्वाला पकड़ेगी, सदा धुआँ ही नहीं बनी रहेगी। यह मैं इसलिए कहता हूँ कि धुआँ घोट देता है, अत: अपने में से ही अनिवार्य वह लौ पा लिया करता है। चारों ओर से दौड़कर ऑक्सीजन जो आता है, वह धुएँ को आग कर देता है। आज की शंकाग्रस्तता को भी यह प्राणवायु प्राप्त होगा और उसमें से लगन निकलेगी। आज विघटन है, किन्तु उसमें भी विघटन की एक लगन आप देख पाइएगा। इस लगन में ही मुझे भरोसा है। तोड़ने में यदि तीव्रता और आग्रह है तो अधिक सम्भव यह है कि उसके बाद कुछ नया बना हुआ देखने की भी आतुरता है। हो सकता है कि निर्माण की वह आतुरता न भी हो, पर जब सामने जर्जर दीखनेवाला ढह जाएगा, जमीन साफ और क्वारी होगी, तब उस पर निर्माण करने की आवश्यकता स्वयं ढानेवालों के लिए आवश्यक हो जाएगी। सपाटपन असह्य होता है और उस उदासी को किसी तरह से झेला-उठाया नहीं किया जा सकता। ढोने-गिराने की चेष्टा दीखने में नकारात्मक हो, लेकिन चेष्टाशीलता स्वत: प्रमाण है कि वहाँ प्राण तत्त्व है।

कूड़ा-करकट को हितकर मानना मुश्किल होता है। पर जिसको खाद कहते हैं, क्या वह मल-विष्ठा का ही नाम नहीं है? जहाँ से बाद में अन्न पाते हैं, वहाँ ही पहले खाद डालते हैं। इस तरह मल और मूल्य में मैं बहुत दूरी नहीं देख पाता हूँ। उनमें काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल दोनों के बीच एक रूपान्तरण की प्रक्रिया की आवश्यकता रहती है। कोयला काला होता है और उस कालिमा से अपने को और सबको बचाए रखना पड़ता है। लेकिन आग दिखाते ही दहककर वह सुर्ख अंगारा बन जाता है। तब उसी में योग्यता आती है कि जो अपवित्र और अशुद्ध पड़े, उस सबको वह शुद्ध और समिधा कर दे। जूठे और मिटे बर्तनों को फिर से सुच्चे करने का उपाय होता है तो इन दहकते कोयलों के पास होता है। इतने दूर-दर्शन से देख सकें तो हम अहितकर में भी हित देख सकेंगे। हमारे अन्दर जो हैरानी-परेशानी, त्रास और दु:ख, संशय, अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मत्सर आदि जितनी दुष्वृत्तियाँ और दुर्बलताएँ हैं, वे सब अर्घ्य बन जाती हैं। शरीर में रक्त हैं, मांस-मज्जा है और स्वयं में वे तत्त्व सब घृण्य और जुगुप्साजनक हैं। उस जुगुप्सा के आधार पर शरीर के प्रति वैराग्य जगाने की कोशिश की जाती है। वह कोशिश क्यों सदा बेकार होती रही है? कारण यह है कि इस सब असुन्दर और घृण्य को भीतर समाकर भी जो उस समग्र में एक कमनीय और सुन्दर की

सृष्टि हो आती है, उसकी सत्यता को किसी तरह रोका नहीं ज़ा सकता है। वही चैतन्य की निर्विशेषता है। उस सब अपरूप भूत-वस्तु को एक दिन हम श्मशान में जला आते हैं; उसी की कामना करते हैं, आदर-पूजा और प्रतिष्ठा करते हैं, जब कि वह शरीर रूप में किसी चिन्मय भाव और व्यक्तित्व को प्रकट और मूर्त करता है। मूल्य उस भाव की एकता का है। उसके प्रादुर्भाव से मल में मूल्य पड़ जाता है। विष्ठा को हम तजते हैं और जिसको नित्य ग्रहण करते हैं, वह अन्न उसी विष्ठा को अपने भोज्य रूप में ग्रहण करता है। इस वर्तुलाकार प्रवर्तन के प्रति सहसा हमारी आँखें ओझल रहा करती हैं। लेकिन यदि यह चक्र अपनी समग्रता में हमारे समक्ष हो सके तो हम देखेंगे कि पुराने मत-विश्वासों का यह विखण्डन, आस्था का यह विघटन, शायद किसी नयी सम्पूर्णता और समग्रता की भूमिका है। मेरा सचमुच मानना है कि नैतिकता को अपनी एकांगिता तजनी होगी और विचार को व्यथा में घुलना होगा, नहीं तो विचार अहंकृत होगा, सृजनशील न हो पाएगा। नैतिक तमाम विचार-रूप होता है, आध्यात्मिक व्यथागत है। नैतिक को आध्यात्मिक होना होगा, यदि उसे सत्य और सार्थक होना है।

साहित्य इधर छप तो बहुत रहा है लेकिन क्या यह सच नहीं है कि उत्कर्ष से अधिक वह ह्रास की ओर जा रहा है, ऐसा क्यों?

—डर है कि मुझे आपसे सहमत होना होगा। कारण यह कि आस्था के हमारे आधार ठहर नहीं रहे हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ वे डिगे जा रहे हैं। नयी आस्था बनने में आए तब तक मन्थन और प्रश्न ही प्रधान रहनेवाला है। आज के साहित्य में यही मुख्यता से दीखने में आता है। प्रश्न तो सबके पास हैं, इससे प्रश्नवादी साहित्य अरुचिकर होता हो सो नहीं, पर तृप्तिकारक तो नहीं हो पाता। साहित्य के मूल में सर्जनात्मक चेतना होनी चाहिए। समीक्षात्मक बुद्धि उसके लिए काफी नहीं होगी। इसलिए प्रश्नवादी साहित्य है और समीक्षा प्रधान है। रचनाएँ समसामयिक रहकर बीत जाती दीखें तो विस्मय का कारण नहीं है। सर्जन के लिए आस्था जरूरी है। आज आस्था टिके तो कहाँ, पहले आध्यात्मिक और नैतिक को आधार मान लेने से चल जाता था। वहाँ से भौतिक की आलोचना और अवज्ञा बेधड़क की जा सकती थी। आज भौतिक ने आध्यात्मिक को जा छुआ और नैतिक तो खुलकर सापेक्ष दीखने लगा है। इस तरह आस्था जब भटक रही हो और टिकने को उसे ठौर न मिल रहा हो, तब साहित्य में उत्कर्ष किस बिरते दिखायी दे!

स्पष्ट है कि विज्ञान से साहित्य में बल नहीं आएगा। रागात्मक संवेदना साहित्य का सम्बल है, जिसके लिए विज्ञान में जगह नहीं है। विज्ञान की गति के साथ उन मानव-संवेदनों का आधार अपर्याप्त बन गया है सही, लेकिन संवेदनशून्य

होकर मानव उठ नहीं सकेगा। जाति, देश और मत—ये सब अब संकीर्ण बन गये हैं। इन पर मनुष्य का राग अधिक टिक नहीं सकता। इसलिए संकट यह है कि उन आधारों पर खड़े होनेवाले आदेशों के गिरने के साथ मनुष्य के पास चाहने को अपने सिवा कोई नहीं रह गया है। यह स्वरति वातावरण में व्याप्त है। लेकिन मेरा विश्वास है कि इस घोर अवस्था के त्रास से मानव जल्दी अघा जाएगा और अपने स्वयं प्रेम से ऊँचा उठकर फिर आत्म-बलिदान की भावना से भर आएगा। तब नये सिरे से साहित्य का स्वर्ण युग आरम्भ होगा। यह नयी आस्था महासत्य की ओर अदम्य भाव से जाएगी और हर मतवादिता उससे नीचे ही छूट जाएगी।

उस आस्था के आधार पर आप कुछ रूप दे सकते हैं?

—नहीं, आस्था से अलग उसके आधार को देखा नहीं जा सकता। भक्त का ईश्वर नास्तिक को पत्थर हो जाता है। मैं उस रूपातीत को संज्ञा देना आवश्यक भी नहीं समझता। भाषा सब उसके लिए बनी है पर उसे पाती नहीं। नेति कहो या शाश्वत भाव से अस्ति कहो—ये सब तो कहने के तरीके हैं। हाँ-ना—दोनों से वह आधार अगम है। इसलिए आस्था के आधार का प्रश्न होना ही नहीं चाहिए। आस्था है और वह शब्द से व्यक्त होती और छूती है, तो इसी में सब आत्म-बलिदान की प्रेरणा आपमें चाहिए। फिर वह कहाँ से आप प्राप्त करते हैं, यह मेरे लिए अनन्त जिज्ञासा और प्रश्न का विषय हो सकता है, उपलब्धि का नहीं। विज्ञान ने मानो परमाणु को भी छेद दिया है। आत्म-वैज्ञानिक की आस्था उससे भी अनन्त सूक्ष्म हुए बिना कैसे रह सकती है?

साहित्य में क्या आस्था को ही स्थान है, प्रश्न को नहीं है? क्या समीक्षा साहित्य का प्राण नहीं है? 'साहित्य जीवन की आलोचना है'—यह एक आचार्य का कथन है। क्या अमान्य समझा जाए?

—आचार्य के कथन को बीच में हम न लें। वह हमारी परस्पर उपलब्धि में बाधा बन जाएगा। आर्ष वाक्य गलत नहीं होता, लेकिन उसे अपना सहारा बनाना चाहिए, बन्धन नहीं। वाक्य कोई आर्ष तभी होता है जब सत्य के निरूपण अथवा प्रतिपादन में नहीं, केवल उसकी अभिव्यक्ति में वह आता है।

प्रश्न को मैं आस्था का भोजन मानता हूँ। जिस आस्था को नित्य प्रश्न की खुराक नहीं दी जाती, वह सूखकर काठ हो जाती है। इसलिए कभी महान साहित्य हुआ है, न होगा, जिसने प्रश्न न उपजाया हो। अर्जुन में प्रश्न हुआ और उत्तर में भगवद्गीता का अवतरण हुआ। तमाम उपलब्धि जिज्ञासा का फल है। इसलिए

श्रद्धा को जिज्ञासा और विज्ञान से विमुख नहीं देखा जा सकता। महान वैज्ञानिक आस्था के पुरुष ही हुए और हो सकते हैं। केवल प्रश्न संशय कहलाता है। संशयात्मक विनाश को प्राप्त होता है। कारण, संशय में दिशा नहीं रह जाती। वह दिग्भ्रम का दूसरा नाम है। ऐसा संशयवादी बुद्धि-तर्क के जोर से दिशाओं तक को काट देता है और किसी ओर बढ़ने के लिए अपने पास अवकाश नहीं रहने देता। इस तरह उसका संशय अन्त में अपने पर ही टूटता है और उसी को खाता है। आस्था ही है जो बुद्धि और तर्क का पूरा लाभ उठाकर भी उन्हें गति में बाधक नहीं बनने देती, बल्कि उलटे साधक कर लेती है।

आधुनिक साहित्य में प्रश्न की तीव्रता है। यह उसका गुण, सद्‌गुण बन जाए, यदि उसमें आस्था का स्वर भी व्याप्त हो। अन्यथा वह गुण ही उसकी मर्यादा है और अवगुण प्रतीत हो सकता है। तब उसकी आयु वर्तमान और सामयिक से अधिक नहीं टिक पाती।

क्या कारण है कि राजनीति सदा साहित्य पर छायी रहती है और अच्छे-से-अच्छा साहित्यकार भी अपनी साहित्य-साधना के पुरस्कारस्वरूप मन्त्री-पद या अन्य कोई राजनीतिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त करता? क्या इस स्थिति में परिवर्तन नहीं होना चाहिए? आपके क्या सुझाव हैं?

—घटनात्मक जगत का सबसे बड़ा तथ्य है राज्य। इसलिए राजनीति व्यवहार में सबसे प्रधान दीखने ही वाली है। उसका होना स्वाभाविक है।

साहित्य से अधिक वह साहित्यकार पर छाती है। कारण, साहित्यकार के पास मानसिक से आगे दैहिक अस्तित्व भी रहता है। दैहिक आवश्यकताओं का क्षेत्र वही है, जहाँ राजनीति का नियन्त्रण है।

साहित्य-साधना के पुरस्कारस्वरूप मन्त्री-पद या अन्य कोई राजनीतिक प्रतिष्ठा क्यों नहीं प्राप्त होनी चाहिए? पद और प्रतिष्ठा राजनीतिक है तब वह साहित्य-साधना से मिले, यह सर्वथा तर्क-विरुद्ध है। स्थिति में परिवर्तन होना इष्ट है। वह परिवर्तन वहाँ से आरम्भ होगा, जहाँ खाने-पहनने, रहने-सहने की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज पूरी होने लगेंगी और उनके लिए किसी को अधीन अनुभव न करना पड़ेगा।

उसके लिए मूल्यों और हमारी व्यवहार-रचना में क्रान्ति की आवश्यकता है। क्रान्ति का मूल वे बन सकेंगे जो आरम्भ में कष्ट स्वीकार करेंगे और जीवन अपना यथासाध्य साहित्यिक मूल्य अर्थात् मानव-प्रेम के अनुकूल चलाने और ढालने का आग्रह निभाएँगे।

पद-प्रतिष्ठा का प्रश्न स्पष्ट ही उन्हें छुएगा नहीं और विचलित नहीं करेगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उपन्यास-लेखन में आपको क्या-क्या नयी प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं? उनकी अच्छाइयों और बुराइयों पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

—इधर हिन्दी में उपन्यास का विस्तार हो रहा है—कलेवर में और वस्तु-विषय की दृष्टि से भी। सुधारवाद से वह छुटकारा पा रहा है। सूक्ष्म और विस्तृत का वह आकलन चाहता है। एक प्रवृत्ति आंचलिक है, जहाँ दृष्टि के केन्द्र में अमुक पात्र या चरित्र उतना नहीं जितना कि स्वयं एक भूभाग अंचल है। पात्र स्वयं में इष्ट नहीं है, आंचलिक जीवन की यथार्थता को उभारना ही उनका इष्ट है। एक उपन्यास का नाम ही है 'परती...' यानी परती जमीन की कथा। कुछ उपन्यासों में अमुक काल के चित्रण का प्रयास है, तो उसमें भी पात्र और चरित्र पंक्ति बाँधकर आते-जाते हैं और निकलते जाते हैं। निगाह यहाँ अमुक व्यक्तित्व पर नहीं अटकती और मानो काल-खण्ड को मूर्त करने का लेखक का प्रयास रहता है। 'झूठा सच' और 'भूले-बिसरे चित्र' में इसीलिए व्यक्ति-चित्रों की गणना सीमित नहीं है। कल्पना विहारी-रोमांटिक वृत्ति भी, जो कथा-साहित्य की सदा रीढ़ रही है, हिन्दी में मन्द नहीं है। 'खग्रास' और 'सोना और खून' में यह प्रत्यक्ष है। 'बूँद और समुद्र' मैंने पढ़ा नहीं है लेकिन 'सागर, लहरें और मनुष्य' में प्रकट और प्रमाणित जीवन-मर्म में गहरे उतरने की वृत्ति को मैं कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानता।

सुधारवादी नैतिक प्रेरणा इधर हिन्दी लेखन में कम है और मैं इसे अशुभ नहीं मानता। उस दृष्टिकोण की अपर्याप्तता पहचान में आ गयी है और उपन्यास निश्चित रूप से उससे आगे बढ़ आया है। मुझे असन्तोष नहीं है और उसकी सम्भावनाओं में मुझे पूरी आशा है।

यहाँ यह भी मुझे यह कह देना चाहिए कि मैं अपने को उपन्यासकार नहीं मानता हूँ। मुझसे जो उपन्यास बन गये हैं, मेरी ओर से वे कोरे प्रयोग हैं और मेरी सब रचनाएँ अहंकृत हैं। वे उपन्यास की दृष्टि से नगण्य होनी चाहिए।

साहित्य के लिए आप सत्यम् को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं अथवा शिवम् सुन्दरम् को?

—शिवम्, सुन्दरम् मेरे लेखे सत्य की ही व्याख्या है। अमूर्त है, तब वह सत्य है। भाव और गुण में मूर्त होकर वह शिव बनता है। रूप में प्रकट होकर सुन्दर।

जो है, वह सार और समग्र रूप में है सत्य। सुन्दर की राह हम शिव की ओर उठते हैं और शिव के सहारे हमें सत्य में पहुँचना है। इस तरह सत्य को अन्तिम और समग्र साध्य मानने में शिव और सुन्दर का तिरस्कार नहीं है बल्कि उसमें उनका योग्य अंगीकार समा जाता है।

ऊपर की बात कुछ दुर्लभ-सी लग सकती है। इसकी स्पष्टता के लिए कहना होगा कि सदाचार जो सत्प्रधान और सत्पूर्वक है एक है, और आचार-प्रधान उसका रूप दूसरा हो जाता है। शिव आचार-प्रधान रूप पर संतोष मान सकता है। मैं स्वयं वहाँ रुकने को तैयार नहीं हूँ। मुझे सत्प्रधान आचार ही सदाचार के रूप में मान्य होगा। इन दो सदाचारों में भिन्नता ही नहीं, कभी तो विपरीतता हो जाती है। यह इस बात से प्रमाणित है कि सन्त लोगों को समाज-मान्यों की ओर से इतिहास में सदा पीड़ा ही पहुँचायी गयी है। सत्य का प्रकाश देनेवाले आचारवादियों के हाथों त्रास पाते रहे हैं। बाद में उन्हीं के द्वारा वे मूर्धन्य माने गये हैं। यह इसी बात को क्या प्रमाणित नहीं करता है?

क्या कोरे सत्य की भित्ति पर खड़ा साहित्य सत्साहित्य कहला सकता है?

—कोरा सत्य क्या है, यह मैं समझ नहीं पाता हूँ। सत्य के निर्गुण रूप को ईश्वर कहेंगे। वह परमकल्याणमय है। सत्साहित्य उसके बिना कैसे हो सकता है? उससे अलग बचने को कोई हित रहता ही नहीं। लेकिन कोरे से यदि आशय यह हो कि उसमें हित-भाव नहीं है, तब उसको सत्य कहना ही कठिन है। हित और सत्य का विरोध दीखे तो दोनों ही संशयास्पद हैं और साहित्य को उन दोनों से ही किनारा कर चलना चाहिए।

कलाकारों को राज्य द्वारा सम्मानित किया जाता है और पुरस्कार दिये जाते हैं। उनमें निश्चय ही साहित्यिक भी सम्मिलित हैं। राजभवन में विराजमान राजनेता द्वारा पुरस्कार के वितरण की विधि सम्पन्न होती है। स्वाभाविक ही पुरस्कार प्राप्त करने के लिए वहाँ पहुँचनेवाला बेचारा साहित्यिक भी छोटा बना दीखता है और वहाँ की साज-सज्जा से ढका राजनेता ऊँचा और अतिरिक्त प्रतिष्ठासम्पन्न। क्या साहित्यकार का यही सम्मान होना चाहिए? ऐसे समय साहित्यकार के प्रति मन में करुणा उपजती है। क्या आप भी ऐसा ही अनुभव नहीं करते?

—छोटा-बड़ा शब्द झमेला पैदा करता है। हर आदमी बड़ा बनना चाहता है और छोटा समझे जाने पर अपमान अनुभव करता है। कोई समाज ऐसा नहीं हो सकता जहाँ छोटा-बड़ा शब्द ही न हो। भाव में समानता या मुक्तता हो सकती है, वस्तुस्थिति में नहीं हो सकती। छोटा-बड़ा इन विशेषणों का सहारा न हो तो काम नहीं चल सकता। व्यवस्था के लिए जानबूझकर ऐसा कुछ किया जाता है और तब 'लॉ एण्ड ऑर्डर' सुरक्षित होता है। प्रकृति की ओर से भी कुछ असमानता की व्यवस्था है। उसके सहारे मर्यादाएँ टिकती हैं।

अब काम-काज के क्षेत्र में हमारे पास राज्य वह संस्था है, जो मेरुदण्ड

के समान है। राजनीतिक क्षेत्र है ही वह, जो अहंकारों के व्यूह-विग्रह में से रचना पाता है। राज्य उन नाना अस्मिताओं के बीच में सन्तुलन का निर्माण करता है। राज्य को इस तरह जानबूझकर ऐसा स्वरूप दिया जाता है कि वहाँ सर्वोच्च अभिमान की प्रतिष्ठा हो। राजा को लोग वैभव और ऐश्वर्य से विभूषित करते हैं और प्रयत्नपूर्वक उसको अलौकिक और अतिमानवीय सन्दर्भ प्रदान करते हैं। राजा शब्द पुराना लगे तो उसके लिए प्रेसिडेण्ट, प्राइममिनिस्टर इत्यादि शब्द रख लीजिए। लोकतन्त्र में भी राज्य के शीर्ष पद को महिमा से मण्डित बनाकर रखे जाने की परिपाटी चली हुई है। अभिमान को इस प्रकार आयोजन-नियोजनपूर्वक प्रतिष्ठत करते हैं तो जान पड़ता है कि ऊँच-नीच, बड़े-छोटे के नियमन और निर्णय के लिए हमें एक मानदण्ड प्राप्त हो जाता है। राज्य प्रतिष्ठा देता है, पद देता है, पुरस्कार देता है और इन साधनों से अमुक को शेष की निगाह में ऊँचे वर्ग तक उठा ले जाता है। यह प्रथा सदा से रही है, सदा रहनेवाली है। स्वाभिमान सबमें है और इन सबके बीच राजा और राज्य का स्वाभिमान सर्वोपरि होगा। शेष अभिमानों का अनुक्रम उस केन्द्रीय अभिमान के कृपानुसार हुआ करेगा!

ऐसा है, इसलिए राजनीतिक पार्टियों की धूम रहती है। उन सबका राजपद पर पहुँचना पहला काम होता है, वहाँ पहुँचकर भलाई के कामधाम करना दूसरा कर्तव्य हुआ करता है। राज्य को पॉवर कहते हैं और 'कैप्चर ऑफ पॉवर' राजनीतिक का पहला स्वधर्म होता है।

साहित्यिक स्वाभिमानी न हो, यह कैसे हो सकता है? उसका स्वाभिमान अपने में प्रतिष्ठित है, इसका भी कुछ अर्थ नहीं बनता है। उस गर्व-गौरव को समाज में प्रतिष्ठित दीखना चाहिए। उसके लिए राज्य में से प्रतिष्ठा आनी चाहिए। वह प्रतिष्ठा राजा यदि अपने हाथों से उसे देता हो, साहित्यिक को अपनी स्वप्रतिष्ठा और स्वमानता इस प्रकार बढ़ी-चढ़ी मालूम होती हो, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है।

राजा के आगे झुकना और राजा का दूसरों को अपने आगे झुका हुआ देखना एक सामान्य स्वीकृति रीति है। इसमें औंधा-उलटा कुछ नहीं है। सब जगह ऐसा होता है और प्रश्न भी बहुधा नहीं उठा करता।

प्रश्न तब भी नहीं उठता है, जब अभिमान के सामने निरभिमानता होती है। जिसके पास अभिमान नहीं है, उसको नीचे बिठाइए, उसको अपने आगे झुकाइए, तो भी उसे क्या आपत्ति है? दूसरे का सम्मान-अभिमान हमें तभी चुभता है, जब अपना अभिमान चोट खाता है। इस दृष्टि से यदि निरभिमानी साहित्यिक आगे जाकर राजपुरुषों के समक्ष झुककर पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तो वह प्रचलित मर्यादाओं को मजबूत और स्थिर करने में तनिक सहायता ही पहुँचाता है जो कि

अनिष्ट नहीं है।

राज्य को यह सन्तोष मिलते रहना चाहिए कि वह सर्वोपरि है। इस सन्तोष को वहाँ से छीनकर अलग करने की आवश्यकता नहीं है। यह वृत्ति जब जनमानस में समा जाती है तो क्रान्ति उत्पन्न हुआ करती है। राजपुरुष जब अपना स्वाभिमान तो रखते हैं, लेकिन स्वकर्म से उसके योग्य नहीं बनते हैं, तो लोकमानस में एक असन्तुलन बन आया करता है। राजपुरुषों को मान मिलता रहे तो सम्भावना होनी चाहिए कि उनको अपने दायित्व का अधिक मान और अवधान रहेगा। किसी अपमान द्वारा इस दायित्व की चेतना उन्हें दिलाने की पद्धति का मैं कायल नहीं हूँ। अधिकांश ऐसे उनमें दायित्व की भावना नहीं आती है, आहत अभिमान की जलन जागती है और राजपुरुष उलटे मानव से अमानव होने की ओर बढ़ता है।

साहित्यिक को मैं किसी भी तरह साधारण नागरिक से अलग और ऊँचा नहीं मानना चाहता हूँ। दूसरे सब नागरिक झुक सकते हैं, एक साहित्यिक नहीं झुक सकता, यह मुझे थोथे गौरव की बात जान पड़ती है। ऐसा निरा अहंकार फनफनाया करता है, विधायक नहीं बन सकता। उसके भीतर दमित आत्म-तिरस्कार रहता है, प्रसन्न स्वास्थ्य नहीं हुआ करता।

इसके आगे जो बात है, वह नागरिक की नहीं, निज की मानी जाए। वह यह कि मैं राज्य को सर्वोपरि मूल्य नहीं मानता हूँ। सर्वोपरि हो, मैं इसमें खतरा देखता हूँ। सोवरेन मान लेने के बाद राज्य के तन्त्र पर अंकुश की भाँति आ सके, ऐसा कुछ हमारे पास नहीं रह जाता तो ऐसे युद्ध का भी उपाय हमारे पास कोई नहीं बचता है, बल्कि सब समस्याओं का उपाय अन्त में एक युद्ध ही रह जाता है! सोवरेन यदि राज्य है और राज्य यदि अनेक हैं तो किन्हीं दो में मतभेद होने पर कोई तरीका निर्णय का नहीं रहता है, सिवाय इसके कि दोनों में खुलकर जोर आजमाइश हो जाए। उसमें हारे, वह गलत; जीते, वही सही। उचित-अनुचित का निर्णय इस तरह किसी विचार के पास नहीं रहता है, नंगी शक्ति के पास आ जाता है। राज्य को सर्वोपरि मानना मानो दण्ड की शक्ति को सबसे प्रधान मान लेना है। यदि इसी प्रकार हमारे मूल्य रहे और उन्हीं पर लोक-वर्तन का संचालन रहा, तो शान्ति पर युद्ध की जय रहेगी और सन्तोष पर तृष्णा हावी रहेगी। इसलिए मैं आवश्यक मानता हूँ कि कोई वर्ग हो जो राज्य से तटस्थ हो और समय पर उसके ऊपर भी माना जा सके। वह केवल मानव हो और मानव का प्रतिनिधि हो। नागरिक तो भी स्वत्व से बनता है, नितान्त मानव उत्तरोत्तर स्वत्वहीन होगा। ऐसा जो निपट मानव है, मानव की निरीहता का प्रतिनिधि है, उसको मैं ऋषि कहता हूँ। समाज में यह ऋषि-तत्त्व जितना अधिक होगा, समाज उतना ही अनुशासित और आत्मशासित होगा। उतना ही श्रम-सन्तोष के मूल्य का वहाँ चलन

होगा। उन्हीं मूल्यों के आधार पर समाज का सही और समीचीन विकास सम्भव होगा, आपाधापी और छीनाझपटी का बाजार ठण्डा होगा। साहित्यिक यदि उस निरीह मानवता की ओर बढ़ता हो, उसका प्रतिनिधि बनकर रहना चाहता हो, तभी उसके लिए उचित और उपयुक्त है कि वह पद-पुरस्कार के लिए राज्य के पास न जाये और राज्य को उस सम्बन्ध में सन्तोष देने के कर्तव्य से मुक्त बना रहे। यदि ऐसा हो तो अच्छा ही है। लेकिन वह रास्ता साहित्य के लिए नहीं, सबके लिए खुला है। पर जिस तरह खुला है, उसी तरह बेहद बीहड़ भी है। उस पर चलने की सलाह किसी को दी नहीं जा सकती है। भावना यही रखी जा सकती है कि जितने अधिक को हो सके, राज्य-पुरस्कार और राज्य-प्रतिष्ठा प्राप्त हो और उस प्रकार भावनाशील साहित्यिक को धनवादी समाज में अपेक्षाकृत उच्च स्थान प्राप्त हो। हिसाब के बीच हृदय की भी सुनी जानी चाहिए। साहित्य मानो उसी का प्रतिनिधित्व करता है। आगे जब वह आत्मा का प्रतिनिधि होगा तब मनोरंजन के तल पर लेकर न उसे समाप्त किया जा सकेगा, न कृपा-भाव उसके प्रति बनाए रखा जा सकेगा। अनायास तब उसमें शक्ति आएगी कि वह लोकमानस में आदर की जगह प्राप्त करे और इस तरह हठात् राज्य की अभ्यर्थना का विषय बने। राज्य में उसके प्रति कृपानुदान और आरक्षण का भाव नहीं होगा, उससे अधिक सचेतन और सजीव भाव ही हो सकेगा। वह भाव अनुकूल-प्रतिकूल किसी दिशा में भी चले, लेकिन उसमें अधिक दम और बल होगा। ऐसे ऋषि और राजनेता का सम्बन्ध ऊपरी और सतही नहीं होगा। उसमें गहराई होगी और किंचित् तनाव भी हो सकेगा।

मैं मानता हूँ कि अब समय आया है जब विश्व-मानव और विश्व-नागरिक की कल्पना आदर्श में ही न रहे बल्कि व्यवहार में आये। जो प्रेम का ही है, जो प्रेम को अपने देश, अपने धर्म, अपनी जाति में बाँधकर रख नहीं सकता है, बल्कि स्व से पर और इतर के लिए भी जिसके पास प्रेम-ही-प्रेम है, ऐसा साहित्यिक एक तरह विश्व-नागरिक ही है। चीन के प्रेम में चीनी अगर हथियार लेकर बढ़ता है और मुकाबले में हिन्द-प्रेम में हिन्दी भी वे ही अस्त्र-शस्त्र लेकर मरने-मारने के लिए आ डटता है, तो दोनों अपने-अपने देश के सच्चे नेशनल और नागरिक हो सकते हैं। पर विश्व-नागरिक शस्त्र नहीं रखेगा और प्रतिरोध वह हिन्द या चीन का नहीं करेगा, अन्याय और असत्य का करेगा। वह जान नहीं लेगा, जान देने के लिए तैयार होगा। ऐसा वही कर सकता है, जिसका आदि और अन्त में एक ही धर्म रहता है और वह प्रेम का धर्म। क्या साहित्य का कुछ और धर्म हो सकता है?

राज्य-प्रश्रय साहित्यकार के लिए अवांछनीय ही नहीं, घातक है। इस कारण भी साहित्य का ह्रास हो रहा है और उसकी शक्ति क्षीण हो रही है। आपकी क्या राय है? इस लोभ और जकड़ से साहित्यिक कैसे मुक्ति पाएगा?

—साहित्यकार भी आदमी है। खाने-पीने, पहनने और रहने-सहने की जरूरतें उसके पास और लोगों की तरह ही हुआ करती हैं। आप जानते हैं, इन आवश्यकताओं की पूर्ति पैसे से होती है और पैसे का सम्बन्ध राज्य से होता है। आज की स्थिति की विषमता यही है कि पैसा अधिकाधिक अमोघ होता जा रहा है।

व्यक्ति अपनी जीविका का प्रश्न इन हालतों में किस तरह हल करता है, मैं उस बारे में कुछ भी कहना नहीं चाहता हूँ। जो एक बात कहनी हो सकती है, वह यह कि आदमी सर्वथा ईश्वर के भरोसे जिए। लेकिन ईश्वर में से पैसा कैये आये, राजा की मोहर-छापवाला नोट कैसे आये, इसकी कोई युक्ति नहीं मिलती है और सचमुच ईश्वर से समाधान नहीं होता है।

ईश्वर को मैं प्रेम मानता हूँ। प्रेम के भरोसे साहित्यकार रहेगा, उससे अतिरिक्त कुछ भी और भरोसा नहीं चाहेगा तो उसके शब्द में शक्ति आएगी। उस शब्द के सत्य से डिगने का अवसर नहीं होगा। सर्वथा इस प्रेम पर अपना अवलम्ब डालकर रहनेवाला व्यक्ति फिर संसार अपने पास नहीं बटोरेगा। प्रेम की कमी में से काम उत्पन्न होता है। वस्तु और व्यक्ति की कामना यहीं से जन्म लेती है। अमुक को पा लेना, भोग लेना चाहते हैं, फिर वह वस्तु हो या व्यक्ति, तो इसमें स्वप्रेम अर्थात् अप्रेम मिला होता है। परिपूर्ण प्रेम तृष्णा-कामना से आदमी को ऊँचे ले जाता है। राज्याश्रय प्रिय होता है, इसलिए कि उससे अर्थ को मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। ये सब चीजें अहम् को बढ़ानेवाली हैं। अस्मिता से आर्ती और अस्मिता चेताती है, इसलिए उसकी मानस-सृष्टि पर अर्थात् साहित्य पर भी प्रभाव डालती हों तो विस्मय नहीं है। अस्मिता का जितना सेवन है, साहित्य में उतना ही उथलापन और विकार है। जितना विसर्जन है, साहित्य में उतना ही बल और सामर्थ्य है।

साहित्य व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। जो वहाँ है, साहित्यकार में से पहुँचा है। यद्यपि यह याद रखना होगा कि कोई उतना ही नहीं है, जितना है; जो होना चाहता है, वह भी व्यक्तित्व का भाग है। हमारी विचारधाराएँ, भावनाएँ, उद्भावनाएँ, कल्पनाएँ, अभीप्साएँ और हमारे स्वप्न सभी हमारे अंग हैं। शरीर ही हम नहीं हैं, आत्मा भी हैं। अतः कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ अंश है। साहित्य में वह अंश झलके और प्रकटे बिना रह नहीं सकता; बल्कि अधिकांश वही है, जो वहाँ व्यंजना पाता है। व्यवहार और कर्म में व्यक्तित्व

का बहुत ही कम भाग व्यक्त हो पाता है। इसीलिए है कि सत्साहित्य का स्रष्टा दीखने में हमको असज्जन और दुर्जन भी लग सकता है। यह नहीं कि दुर्जनता में से साहित्य का सत् प्राप्त हो सकता है, कारण केवल यह कि जब दुर्जनता हमको दीखती है, तब शायद उसके भीतर का वह स्थल नहीं दीखता जहाँ साहित्य में बिम्बित सत् का अधिष्ठान है।

तब यह दैहिक व्यापार और निर्वाहवाला व्यक्तित्व का अंश अपने भरण-पोषण आदि की आवश्यकताएँ किस प्रकार पूरी करता है, यह प्रश्न उतना बड़ा नहीं रह जाता। इसका क्षेत्र काफी छोटा हो जाता है। विचारने की बात उसमें बस इतनी ही रह जाती है कि उस व्यक्तित्व का तेजोमय आत्मिक अंश तो अपनी अदम्यता, सत्र-परायणता बनाए रखता है न। उस मर्म पर आँच कोई कितनी लेता है, कितना अपने साथ समझौता करता और अन्त:करण के साथ बेईमानी करता है, यह वह स्वयं निर्णय कर सकता है। राज्य पर प्रधानमन्त्री भी है और तिकड़म से अमुक पद पा जाने की चेष्टा में रहनेवाला चाटुकार नौकरशाह भी है। कोई कहाँ है, प्रश्न इसका तनिक भी नहीं है। वहाँ पहुँचने और रहने में उसने आत्मा की भाषा में कितना मूल्य चुकाया है, सवाल इतना ही रहता है।

जीविका की विधि पर मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। ऋषि-मुनियों ने अनुभव से बताया कि भिक्षा-वृत्ति सर्वोत्तम है। इसमें जितना दबाव आता, सब अहम् पर आता है और आत्मा सुरक्षित बनी रहती है। हर शहर में जो भिखारी दीखते हैं, वे ठीक इससे उलटा प्रमाण देते हैं। अत: भिक्षा की वृत्ति इतनी ऊँची है कि उसे अव्यवहार्य कह दिया जा सकता है। उसके बाद अपने पसीने की कमाई को उत्तम मानना चाहिए। पसीने का अन्न जो खाता है, वह अमृत खाता है—सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है। लेकिन यह भी व्यवहार में उतरता नहीं दीखता। आज जैसी समाज की हालत बन गयी है, उसमें पसीना बहाने का तरीका ही शायद भूखे मरने का सबसे सीधा और पक्का तरीका है। रुपया चतुराई में से खूब बनता है, मेहनत में से किसी तरह बन ही नहीं पाता। फिर भी साहित्यकार मेहनत को अपनाए, चतुराई आजमाने न जाए, तो उसके हित में अच्छा है।

दिमागी काम उजरत अच्छी देता है। दिमाग से उस होशियारी को भी समझा और साधा जा सकता है, जिससे आय मोटी हो। साहित्य से जो पाठक वर्ग की ओर से प्रशंसा-प्रतिष्ठा मिलती है, उसका भी आर्थिक विनियोग हो सकता है। लेकिन बुद्धि का यह गणित नैपुण्य, यह उसका कौशल, यदि सार्वजनिक लाभ में लगे, निजी लाभ में नहीं, तो साहित्यकार के लिए शोभा की बात होगी।

आज दिल्ली में बड़े-बड़े मकान खड़े हो रहे हैं। सम्पत्ति की दर का हाल यह कि दो-तीन हजार मासिक खर्च तो कोई बड़ी चीज ही नहीं है। उस शहर

में साहित्यकार के पास क्या अपना मकान भी न हो, एक मामूली कार भी न हो? क्या इतनी भी प्रतिष्ठा और सुविधा उसे न हो?—तो इस भाषा में सोचनेवालों से मुझे कुछ नहीं कहना है। ठीक इसी नमूने का सोचना है जिसमें से आज की होड़, बदा-बदी पैदा हुई है कि आदमी दूसरे के कन्धे पर से फाँदता हुआ, धकियाता हुआ, आगे बढ़ निकलना चाहता है। यह सभ्यता जिसमें भीड़-की-भीड़ एक-दूसरे को ठेलती हुई अपने लिए अधिक-से-अधिक हथियाने की टोह में भागी चली जा रही है, अन्त में क्या युद्ध के किनारे ही नहीं आ लगी है? यह स्पर्द्धामूलक जीवन-दर्शन अन्त में विग्रह में ही हमको पटक सकता है।

अच्छा यह होगा कि साहित्यकार इस जीवन-विधि के बहाव से बाहर किनारे आ जाए। जो मिलता है, उसमें सन्तोष माने और हाय-हाय से छुट्टी पाए।

लेकिन इस लोभ और जकड़ से साहित्यिक या कोई मुक्ति कैसे पाए? इस प्रश्न का उत्तर एक ही है। मुक्ति केवल प्रेम दे सकता है। अगर प्रेम हममें होगा तो पड़ोसी से चढ़ना नहीं चाहेंगे, पड़ोसी को अपने से ऊँचा देखना चाहेंगे। प्रेम का लक्षण इससे दूसरा नहीं है और साहित्य की पूँजी भी इस प्रेम से दूसरी नहीं है। वह हो तो पैसा, पद-प्रतिष्ठा की पूँजी अपने-आप छोटी और ओछी रह जाती है, वह सिर पर सवार नहीं हो पाती और मन प्रेम के घन से भरपूर अनुभव करता है।

भारतीय परम्परा में एक से एक सरस महाकाव्य लिखे गये हैं। कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, अश्वघोष आदि कवियों ने उत्तम महाकाव्य लिखकर साहित्य जगत में चिरन्तन स्थान प्राप्त किया है। भक्ति-काव्य में भी कुछ महाकाव्य लिखे गये हैं; जैसे—चन्दवरदाई का रासो, कल्हण की राज-तरंगिणी, परमानन्द का शिव-भारत आदि। उसके पश्चात प्राय: महाकाव्य-लेखन बन्द ही हो गया। क्या कारण होना चाहिए? पाश्चात्य विद्वान ब्रैडले के मतानुसार आधुनिक कवियों की प्रवृत्ति स्वयं के विचार-विकार प्रकट करने में अधिक है। उन्होंने एक विशिष्ट राष्ट्र, राजा, धर्म आदि के लिए लिखना बन्द कर दिया और केवल अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) विषयों पर लिखना प्रारम्भ किया। इससे भी शायद महाकाव्य-रचना के मार्ग अवरुद्ध हुए हैं। यह भी सम्भव है कि महाकाव्यों का स्थान उपन्यासों ने ले लिया है। कृपया अपने विचार दें।

—प्रश्नकार की बात ठीक है। गद्य ने काफी भार अपने ऊपर ले लिया है। जीवन की बाह्यता और विविधता के आकलन के लिए आज माध्यम उपन्यास हैं। कथा-विस्तार वहाँ मिलता है और भारी नहीं लगता। अनेक पात्र और चरित्र वहाँ हो सकते हैं और वहाँ यह अधिक सम्भव है कि व्यक्ति आत्म-प्रकाश से अधिक

बल्कि बजाय जगत-प्रकाशन की प्रेरणा लेकर चले।

समय आगे बढ़ता है। उसका प्रभाव मानस पर भी पड़ता है। जान पड़ता है कि उन्नति के साथ हमारा समाज और हमारा मानस समस्याकुल अधिक होता जाता है। जनसंख्या बढ़ रही है और उनके बीच सहयोग-संघर्ष के प्रकारादि भी बढ़ रहे हैं। साहित्य इस सबसे स्वतन्त्र और पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य की बुद्धि का अनुसन्धान स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहा है। राष्ट्र, राजा और धर्म की अपेक्षा सचमुच व्यक्तिगत स्व उसके लिए प्रधान बना जा रहा है। यह नहीं कि उसका क्षेत्र सीमित हो रहा है। विज्ञान की सहायता और यातायात के साधनों से क्षेत्र तो अपरिमित विस्तार पा गया है। दुनिया उसके लिए एक ओर छोटी हो गयी है और वह दूरी, जो स्वप्न की सृष्टि करती थी, अब उद्यम की ललकार देती है। चन्द्रमा पर रीझना-खीझना अब नहीं होता, उसे जानने और पहुँचने का प्रयास होता है। इसलिए साहित्य और काव्य का प्रसाद-गुण धीरे धीरे कम हो रहा है। विश्लेषण और गवेषणा का भाव उसका स्थान ले रहा है।

समय के साथ का यह परिवर्तन मुझे अशुभ नहीं जान पड़ता। सूक्ष्मता अन्ततः स्थूल पर प्रभुता ही देती है, विज्ञान की प्रगति से यह सिद्ध है। विज्ञान इतने पदार्थों को मानता था, उनके भिन्न अणुओं की धारणा पर अब तक खड़ा था। अणु से वह निर्गुण परमाणु तक बढ़ा है और अब परमाणु के भी पार जाने को है। ऐसा जान पड़ता है कि विज्ञान दर्शन से मिला जा रहा है। विज्ञान प्रयोग पर चलता है। दर्शन अनुमान पर उड़ता है। पर प्रयोग करते-करते जैसे विज्ञान स्वयं अनुमान के रास्ते शुद्ध गणित-विद्या तक आ पहुँचा है। अन्तिम रूप में भौतिक मानो गणित ही है।

यह गणन-गुण जैसे हमारे साहित्य में अनायास प्रवेश पाता जा रहा है। दूसरे शब्दों में, इसी को बौद्धिकता कहते हैं। प्रसाद गुण इससे एकदम अलग रह जाता है। आनन्द से अधिक वहाँ अब अनुसन्धान है। रिझाकर, बहलाकर और आनन्दित करके ही रचना मानो सार्थक और धन्य नहीं होती, बल्कि अपेक्षा रहती है कि वह प्रकाश दे और हमारे बोध को विस्तार भी दे।

जीवन की समयानुकूल विवशता के अधीन साहित्य जिन परिणतियों का भोग प्राप्त कर रहा है, उनको अनिष्ट नहीं मानना चाहिए। आज की परिस्थिति मानो बीच में एक तिकोना खण्ड है। काँच के खण्ड में से पार होकर जैसे प्रकाश बिखरकर नाना रंग ले लेता है, ऐसे ही जान पड़ता है कि मानव की समग्र चेतना बिखरकर रंग-बिरंगी बनी जा रही है। उसको फिर लौटाकर कैसे समन्वित किया जाए, यह उसके वश से बाहर हो रहा है। खण्ड और विभाग बहुत हो गये हैं और वह दृष्टि, जो उस समस्त को एकता में देखे, दुर्लभ हुई जा रही है। दर्शन

और भावना मानो ऐसे काम हैं, जो खाली समय के हों। काम-धाम की व्यग्रता में खाली रहने की सुविधा किसी को बच नहीं पाती है। इसमें महाकाव्य का ही नहीं, स्वयं काव्य का ह्रास हो रहा है। किन्तु चिन्तन और भावन के क्षेत्र में कर्म का यह अनवरुद्ध प्रवेश आगे मीठा फल लाएगा, ऐसी मेरी आशा है। पहले के आलम्बन कवि के लिए आज काम नहीं दे रहे हैं। राष्ट्र, राजा और धर्म मानो ये सब ध्येय रूप में कवि के निकट अधूरे हो गये हैं। उनकी अभ्यर्थना में उसे अब उत्साह नहीं है। वहाँ से प्रेरणा ही वह नहीं प्राप्त कर पाता है बल्कि यह सब उसके लिए विनोद और व्यंग्य के प्रतीक और पात्र बने जा रहे हैं!

उसका समर्पण अब किसी बृहत्तर मूर्ति की प्रतीक्षा में है। एक नयी कल्पना धीरे-धीरे जनमानस में रूप पकड़ती जा रही है। वह विश्व-मानव की कल्पना है। उसको मन में मूर्त करने का प्रयास जारी है। यह नया देवता क्या स्वरूप लेगा और कब तक ले पाएगा, कहना कठिन है। पर जान पड़ता है, जब तनिक उसमें वास्तविकता आएगी तो काव्य अवश्य उसका सत्कार और अभिनन्दन करेगा। उसके स्वरूप को अक्षर और गाथा में बाँधेगा और उसकी प्रतिष्ठा का अनुष्ठान रचेगा।

फ्रायड के मनोविज्ञान से आधुनिक भारतीय कथा साहित्य अत्यधिक प्रभावित हो रहा है। उसी प्रकार कार्ल, युंग, हक्सले आदि पाश्चात्य विचारकों से हमारे साहित्यकार प्रभावित हैं। क्या फ्रायड के विचारों को भारतीय साहित्य में सहज रूप से आत्मसात् किया जा सकता है?

—विचार जहाँ प्रकट होता है, वहीं का नहीं होता। न वह व्यक्ति वहीं तक रह पाता है। हर विचार विश्व की निधि में अपनी आहुति डालता है। फ्रायड के कुछ विचार पश्चिम में भी आज अमान्य हो गये हैं, कुछ अन्य पूर्व में भी सहज अमान्य हैं। फ्रायड के द्वारा प्रकट होने भर से कोई विचार भारत के लिए अयुक्त बने, इस हठ का कोई कारण नहीं है। तब तो गाँधी को उसी कारण पश्चिम के लिए अयोग्य मानना होगा!

पर किसी विचार या विचारक को उसी मात्रा में लेना चाहिए जितना वह अनुभूति में घुल पाए।

कवि और साहित्यकार राष्ट्र में नवचेतना उत्पन्न करनेवाला समाज का सुधारक है। यह मंगल-कार्य स्वार्थ की भावना के त्याग से ही हो सकता है, पर वह अपनी रचना पत्र-पत्रिकाओं में क्या यश की लब्धि के लिए ही छपने नहीं भेजता है? इसमें स्पष्ट स्वार्थ है। तब उससे कैसे कोई भला हो सकता है?

—देह है, तब तक स्वार्थ से पूरा छुटकारा भी कहाँ है! फिर भी उत्तरोत्तर परमार्थ

की ओर बढ़ा जा सकता है। इस गति में ही साहित्य की सृष्टि होती है। मैं हूँ, इसी से विसर्जन और बलिदान का मार्ग अपनाने की सोच सकता हूँ। ऐसे में भी सार्थक होता है!

स्वार्थ से घबराना नहीं चाहिए। सूक्ष्म होने के साथ वह व्यापक और विराट् होता जाएगा। व्यष्टि इसी प्रकार समष्टिमय होता है और कतरा दरिया बन जाता है।

आप दिल्ली में हैं। दिल्ली को एक भीड़ ही समझिए, जहाँ जीवन का कोई सन्तुलन नहीं है। समग्रता का भाव जहाँ चुक गया है। इस अपार भीड़ को आप किस सेतु से पार उतारेंगे? आज मशीन अपार साहित्य उगल रही है। उससे समाधान तो नहीं, समस्या को अधिक जन्म मिला है। उत्तर नहीं, प्रश्न ही जन्मे हैं। क्यों है कि मनुष्य का इण्टीग्रल विकास आज अवरुद्ध है?

—नहीं, दिल्ली निरी भीड़ नहीं है, न वह शुद्ध जंगल है। यह राजनगरी है। यहाँ शासन है, प्रशासन है और कारपोरेशन है।

यह स्वभाव है आदमी का कि वह असन्तुष्ट होता है। दोष देखता है तो अधिक अपने समय के ही देखता है। मन के स्वर्ग को रखने के लिए वर्तमान कभी उसे काम नहीं देता। या तो वह स्वर्ग को भविष्य में रखता है या किसी दूर के अतीत में।

मनुष्य के इस स्वभाव में से समस्या निकलती है तो उसके समाधान के लिए प्रयत्न भी निकल सकता है। यह रोग कहा जाएगा कि हम अपने भीतर की निराशा को पहले सब ओर फेंकें और फिर कहें कि वहाँ आशा का कोई चिह्न नहीं है।

यहीं आस्था का प्रश्न आता है, जिसमें से आशा और प्रसन्नता प्राप्त होती है। बाहर वही है, जो भीतर है। इसलिए बाहर दीखनेवाली त्रुटि को दूर करने के लिए कोई बढ़ना चाहता है तो आवश्यक है कि वह अपने में आशा और विश्वास लेकर बढ़े। वह क्षमता वहाँ कहाँ से आएगी, जहाँ आपको भूल और गलती ही दिखाई देती है! इसी से आस्था को महिमा दी गयी है। वृक्ष क्यों धरती को फोड़ता हुआ उगता और ऊपर उठता जाता है? क्यों मनुष्य का मस्तक आकाश में है? क्यों लौ ऊपर उठती है? यह कहने में क्या अविज्ञान समझा जाएगा कि अन्तर में व्याप्त उनकी आस्था ही उन्हें ऊँचा और उन्नत रखती है? मैं मानता हूँ कि वह मनुष्य का मूल गुण है। आस्था स्वस्थ प्राणों का लक्षण है। बुद्धि दोष दिखाएगी और वही फिर उनके निवारण का उपाय सुझाएगी, अगर वह आस्था से जुड़ी होगी। नहीं तो वह दृष्टि और वृत्ति, जो सब जगह अनिष्ट और अभाव देखती

है, अपने को लहूलुहान करने से अधिक कुछ नहीं कर सकती।

जहाँ अवरोध है, हठीले प्रश्नों का घटाटोप अन्धकार है, वहाँ प्रतीक्षा कीजिए, प्रार्थना कीजिए कि आस्था जगे। आस्था से सब दबाव का सामना हो सकेगा।

आज जब लेखक 'फ्रीडम फॉर कल्चर' (अमेरिकी) और प्रगतिवादी (रूसी) खेमों में बँटे हुए हैं तो क्या राष्ट्रवादी लेखक शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन दबाए रेत में पड़ा रहे या उसकी भी कुछ जिम्मेदारियाँ हैं?

—राष्ट्रवादी होकर खेमों में इधर या उधर न झुकने और फिर भी बढ़ते जाने को एक कला ही कहा जाएगा। राष्ट्रवादिता के साथ यह अन्त तक सम्भव नहीं रह पाएगा। इसलिए राष्ट्रवाद के सहारे खेमाबन्दी से उद्धार पाना कठिन है।

राष्ट्र अन्त में तो धारणा है। लेखक प्रत्यक्ष मानव को, राष्ट्र के या किसी दूसरी धारणा के सर्वथा ओट में नहीं कर सकता। यही उसकी भारी जिम्मेदारी है। अगर इस जिम्मेदारी को तत्परता के साथ वह अपने लेखक-जीवन और नागरिक-जीवन दोनों में निभाए तो उसी के लिए नहीं, सबके लिए नया मार्ग निकल सकता है।

इसके आगे मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि स्वयं टटोल रहा हूँ।

यदि उर्दू हिन्दी का ही रूप है तो उर्दू लेखकों को हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में क्यों नहीं पढ़ाया जाता?

—ऐसा हो सकता तो गलत न था। इससे हिन्दी-उर्दू दोनों का सहज रूप सँवरता और उभरता। पर 'हिन्दुस्तानी' मालूम होता है, पाकिस्तान आने और गाँधी के जाने के साथ गयी। सो हिन्दी और उर्दू दो न हों, तो भी होकर रहती दीखती हैं।

हिन्दी की उन्नति में हिन्दीभाषी कहाँ तक बाधक हैं? हिन्दी की प्रगति और विकास के लिए हिन्दीभाषी प्रान्तों को क्या करना चाहिए?

—हिन्दीभाषी हिन्दी भाषा का प्रचार करता है तो उसमें अहम् प्रचार नहीं है, यह कहना कठिन है। तब प्रतिक्रिया में दूसरों में अहम् बोध जाग सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी की उन्नति में हिन्दीभाषी अवश्य और काफी बाधक हुए हैं। हिन्दी के द्वारा प्रचार उन्हें भावों का करना है, भाषा का नहीं। यह ध्यान रखें तो हिन्दी के प्रति उनकी सेवा रचनात्मक हो चलेगी।

हिन्दीभाषी प्रान्तों को अपना अधिक-से-अधिक काम दफ्तर का, न्याय का, शिक्षा का, हिन्दी में आरम्भ कर देना चाहिए।

आलोचकों को आधुनिक साहित्य के अश्लील तत्त्व के विरुद्ध हाय-तौबा मचाते देखकर यह मान्यता होती है कि अश्लील साहित्य के निर्माण से एक ओर पाठक और दूसरी ओर लेखक को मानसिक तृप्ति प्राप्त होती है। इसके अभाव में लेखक और पाठक इस अतृप्ति की पूर्ति का खाद्य समाज से ढूँढ़ने की कोशिश करता है। इससे समाज में अनैतिकता और उच्छृंखलता का भय सदा बना रहता है। इस प्रकार हम अश्लील साहित्य में भी आज समाज-हित और नैतिकता का पुट अवश्य पाते हैं। कृपया अपने विचार दें।

—ऊपर का तर्क शृंगार रस के पक्ष में सही है।

अश्लील से मानसिक तृप्ति नहीं मिलती, चसके का रस मिलता है। तृप्ति मिलती तो पाठक आगे बढ़कर दूसरे को देता और लेखक भी आड़े-तिरछे संकेत से काम न लेता। अश्लीलता में यह घुमाव और छिपाव अनिवार्य दीखता है!

□

प्रणय, नास्तिकता और ईश्वर

काम विज्ञान के सन्दर्भ में विवाह पद्धति को किस रूप में माना गया है? विवाह अनिवार्य है अथवा मानव का एक सांस्कृतिक बनाया हुआ रूप?

—विवाह समाज-व्यवस्था की दृष्टि से निर्मित हुआ संस्कार है। कामशक्ति प्रकृत है। व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि उस शक्ति का ऐसा विनियोजन हो कि वह रचनात्मक बने, ध्वंसात्मक न हो पाये। विवाह और विवाह के अनेक-रूपी प्रयोग इसी दृष्टि से होते रहे हैं।

विवाह यदि कामशक्ति का विनियोजन है तो उसके लिए हिन्दू धर्म सामान्यतया आजकल एक विवाह की आज्ञा देता है, जबकि मुस्लिम धर्म एक साथ चार पत्नियाँ तक रखने की इजाजत देता है। जो व्यवस्था केवल व्यवस्था है उसमें धर्म का आ टपकना और एक विभेद पैदा कर देना, क्या यह सम्पूर्ण मानव जाति के सम्मुख अव्यवस्था पैदा कर देना नहीं है?

—इस्लाम अरब देश में और अमुक परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ। हिन्दू व्यवस्था की सृष्टि दूसरे देशकाल में हुई। इस कारण अन्तर अनिवार्य है। किन्तु एक जगह इस्लामी धार्मिकता ने और दूसरी जगह हिन्दू धार्मिकता ने व्यवस्था को सँभालने का दायित्व उठाया और उसके लिए नियम प्रस्तुत किये। अर्थात् दोनों ने एक और आवश्यक एवं उचित काम अलग-अलग स्थान और समय में सम्पन्न किया। फल की आकृति भिन्न होनी ही थी, पर चेतना-भावना दोनों जगह एक थीं।

विश्व-व्यवस्था एक नीति के अधीन चलने में आये, इसके लिए आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में विकास पाये हुए लोग और देश एक-दूसरे के निकट परिचय और घनिष्ठ सम्पर्क में आयें। आज विज्ञान ने यह परिस्थिति बहुत-कुछ उत्पन्न कर दी है। अब धर्म, मतों और मजहबों के अलग-अलग आचारशास्त्र, व्यवस्थाशास्त्र, लगभग एक विश्व-नागरिकता की कसौटी पर कसे जा रहे और

बहुत-कुछ समान बनते जा रहे हैं। एक-पत्नीत्व मुस्लिम देशों में भी स्वीकृत और मान्य होता जा रहा है। हमारे हिन्दू मत के धर्मपत्नी शब्द से ही प्रकट है कि दूसरे प्रकार की पत्नियों के लिए वहाँ अवकाश था। अब इस प्रकार की अवान्तर रूढ़ताएँ छँट रही हैं और धीरे-धीरे जैसे एक विश्व-नागरिकता का स्तर निर्माण हो रहा है।

विश्व-व्यवस्था सहसा एक-सी नियमित हो जाए तो इसमें लाभ नहीं है। राजनीतिक लोग विश्व की एकता के लिए कुछ इसी प्रकार की एकरूपता का प्रयत्न करने में लगे हैं। साम्यवाद है एक ओर तो दूसरी ओर स्वातन्त्र्यवाद है। दोनों अपने प्रकार की व्यवस्था को उत्तम मानकर काम कर रहे हैं और सारी दुनिया को उसी एकरूपता में ढाल देना चाहते हैं। इस त्वरा और अधीरता से काम बनेगा नहीं, बिगड़ने ही वाला है। अलग धर्म अलग बात कहते दीखते हैं, इसलिए एक आचरण के लिए एक शासन बना दिया जाए और धर्मों की अनेकता को खत्म कर दिया जाए—इस आग्रह से एकता पास नहीं आएगी, बल्कि राजनीतिक संघर्ष उत्पन्न होगा। आज विज्ञान के बल से विध्वंस के अस्त्र इतने घातक बन गये हैं कि वह असहिष्णुता और एकरूपता का हठ संकट उपस्थित कर सकता है। हमको सहअस्तित्त्व सीखना ही होगा और विभिन्न नामों की धर्म-प्रेरणा अगर नागरिक नैतिकता की ओर हमको ले आती हो तो उस विभिन्नता का हमें स्वीकार ही नहीं, बल्कि सत्कार भी करना सीखना होगा। सब धर्मों के लिए आदरभाव हो तो एक सार्वभौम धार्मिकता का निर्माण जल्दी हो सकता है।

पर असल प्रश्न कामशक्ति का और उस शक्ति के विधान का है। मैं काम की प्रकृति को देखते हुए एकपत्नीव्रत को स्वाभाविक नहीं मानता हूँ। एक-पति-पत्नी की कल्पना पर आग्रह हमारा इतना उत्कट हो सकता है कि इस सम्बन्ध में परस्पर स्वत्व और स्वामित्व की एकाधिकारी भावना ही सर्वोपरि हो आये। ऐसी सम्पत्तिमूलक पूँजीवादी धारणा के आधार पर चलाई जानेवाली गृहस्थी सामाजिकता में एक स्थापित स्वार्थ की गाँठ बनकर रह जाती और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बाधक बनती है। इस विवाह को लेकर नाना प्रकार की समस्याएँ पैदा होती हैं और ऐसा मालूम होता है कि एक ओर से नियम की बाड़ और दूसरी ओर से काम की बाढ़, इन दोनों में सतत विग्रह मचा रहता है। काम विज्ञान की ओर से सोचने वाले बाढ़ की निबिड़ता को तोड़ देना और प्रेम को मुक्त बना डालना चाहते हैं। दूसरे व्यवस्था की ओर से सोचने वाले कामवेग की ही निन्दा करते हैं और उसकी बाढ़ के खिलाफ़ तरह-तरह के नये पुश्ते बाँधने की सलाह देते हैं। यह प्रश्न जीवित प्रश्न है और समाज-विज्ञानियों को मथ रहा है।

जान पड़ता है, आपके मन की उथल-पुथल भी मूल उसी प्रश्न को लेकर है। मैं स्वयं प्रकृति की ओर से मिली मौलिक शक्तियों के सदुपयोग और समग्र-उपयोग के पक्ष में हूँ। साथ नीति-नियमों की भी सार्थकता मानता हूँ। जहाँ आदर्शवाद अथवा नियमवाद उन प्रकृत शक्तियों को रोकता और खण्डित करता है, वहाँ उन शक्तियों के रचनात्मक उपयोग को ही दुस्साध्य बनाता और उनमें विपर्यय ले आता है। इस तरह कानून ही स्वयं अपराध की सृष्टि करनेवाला हो जाता है। मेरा विश्वास है कि प्रीति के हाथों प्रकृति संस्कृति की साधिका हो जाती है, उससे उलटे प्रकृति को ही जब हम ताड़ना और संशय से लेते हैं। तो उस गर्भ में से ध्वंस का रूप प्रकट हो आता है। वह साधना और वह सभ्यता, जो प्रकृति का दमन और दलन ही सोचती है, अन्त में नाना व्याधियों और अपराधों को जन्म देने लग जाती है।

मैं अपने को आस्तिक मानता हूँ। भगवान काम को पैदा ही न करता यदि उसकी उपयोगिता न होती। विकास के क्रम में उसकी बड़ी उपयोगिता है। इसीलिए मूल शक्ति के रूप में काम इस सृष्टि के केन्द्र में बैठा हुआ दीखता है। एक प्रकार की नास्तिकता ही कहूँगा मैं उस हठ को, जो काम से लड़ने को ही अपना एक धर्म मान लेती है। वैसी लड़ाई होती रही है और खण्डित होती रही है! फिर भी यदि आज के वैज्ञानिक युग में वह लड़ाई रची और चलाई जाती है, तो इस पर मुझे तो खेद ही है।

काम शरीर की एक अग्नि है और वह स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से व्याप्त है। कहा तो यह जाता है, पुरुष की अपेक्षा स्त्री की कामाग्नि अधिक उद्दीप्त होती है। ऐसी स्थिति में भारतीय इतिहास में एक-एक राजा चक्रवर्ती और वासुदेव के हजारों और लाखों पत्नियाँ होती थीं और फिर भी उन्हें समाज व नीति धर्म-विरुद्ध नहीं कहती थी और दूसरी ओर एक पत्नी के एक से अधिक वैध पति हों, ऐसे अपवाद-स्वरूप ही एक-दो उदाहरण मिल सकते हैं। इसमें आपका क्या दृष्टिकोण है?

—यह देशकाल की परिस्थिति पर निर्भर करता है कि वहाँ समाज-व्यवस्था के नियम क्या और कैसे हैं। पुरुष में शरीर-बल अधिक है और प्रभुता की कामना भी है। बहुपत्नीत्व प्रथा में से काम का बँटवारा नहीं देखना चाहिए, प्रभुता की भूख और वासना का परिचय मात्र वहाँ से लेना चाहिए। पहाड़ी क्षेत्रों में बहुपतित्त्व की प्रथा अक्सर रही है और अब भी कहीं-कहीं है। वहाँ जमीन कम होती है और घर की मजबूती और सम्मिलितता के लिए वही प्रथा अधिक सुविधाजनक बन जाती है।

दोनों ही जगह जो एक समान उल्लेखनीय बात है वह यह कि कामवासना को किसी-न-किसी प्रकार सामाजिक नियम द्वारा नियुक्त किया गया है, उसको उन्मुक्त नहीं छोड़ा गया है। नीति के नियम अलग हो सकते हैं, लेकिन नियम हैं, इसी में गर्भित है कि नैतिकता की प्रेरणा और आवश्यकता सब जगह समान है।

एक स्त्री, जो कि अल्प वय में ही विधवा हो जाती है और उसके बाद उम्रभर तक उससे पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालने की अपेक्षा की जाती है, और उसकी कामवासना को जबरन दबाने का प्रयत्न किया जाता है; या यदि वह दबती नहीं है तो वह गलत मार्गों में बहती है। पुरुष को यह अधिकार है कि वह द्वितीय या तृतीय विवाह कर सकता है, परन्तु स्त्री को नहीं। और उस अधिकार-निषेध में शरीर की मूलभूत अनिवार्यता का दमन होता है। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न पर आपके क्या विचार हैं?

—विवाहार्थी को जिसमें विवाह की सुविधा से वंचित रहना पड़े, वह समाज व्यवस्था सदोष है। विधवा के नाम पर यह गतानुगतिक अन्याय और अनुचित दमन भारतीय समाज में चलता है, यह स्वीकार करना चाहिए। मान लेना चाहिए कि पुरुष और स्त्री में वहाँ अधिकारों की समानता नहीं है, पुरुष का पलड़ा भारी पड़ता है। लेकिन यह पुरुष के पलड़े के भारी होने की बात शायद समूची मानव-जाति के पक्ष में सही निकलेगी। कारण, अभी तक हमारी सभ्यता शरीर-बल के मान पर खड़ी है। जैसे-जैसे वह सभ्यता अहिंसक बनेगी, वैसे-वैसे स्त्री का मान बढ़ेगा और पुरुष के पक्ष में झुकाव नहीं रह जाएगा।

हमारे बड़े संगठन हिंसक उपकरणों का पृष्ठबल लेकर चल पाते हैं। राज्य और राजा सैन्यबल लेकर ऊँचा और आवश्यक बनता है। यदि सैन्य और सैनिक समाज-व्यवस्था के आधार स्तम्भ रहेंगे, समाज को अनुशासन में रखनेवाला राज्य सेनाश्रित होगा, तो अनिवार्य है कि समाज में पुरुष प्रधान होगा, स्त्री गौण रह जाएगी। आक्रमण जैसे कामों में पुरुष प्रबल सिद्ध होता है, स्त्री अबला बन जाती है। लेकिन यदि सहिष्णुता, धीरता आदि गुणों का मूल्य बढ़ेगा, तो स्त्री का मूल्य स्वभावतः ऊँचा होता जाएगा। अन्यथा होते-होते स्त्री विनोद और क्रीड़ा की प्रसाधन-सामग्री के तौर पर ली जाने लगेगी। क्या वही होता नहीं दीख रहा है?

पुरुष शक्ति का प्रतीक है और महिला सहिष्णुता तथा कोमलता की। परन्तु यह गुण परिस्थिति के आधार पर विकास पाये हुए है, या लैंगिक आधार पर? हम देखते हैं कि जब आज स्त्री पुलिस, सेना तथा मशीन के कठोर और कर्मठ कार्यों

में आने लगी है तो धीरे-धीरे उसकी कोमलता भी स्वत: समाप्त हो जाएगी। यदि स्त्री ने आगे बढ़कर अपना स्थान समाज में बना लिया, उस स्थिति में क्या उस पर पुरुष की प्रभुता भी समाप्त हो जाएगी? या फिर भी ऐसी कुछ सहजताएँ अवशेष रहेंगी, जिनसे कि स्त्री को पुरुषापेक्षी ही रहना होगा?

—नहीं, स्त्री पौरुष की दिशा में पुरुष की समता करना चाहेगी, तो उसका मान नहीं बढ़ेगा। पुरुष और पुरुषोचित कर्म प्रधान बने दीखते हैं, इसीलिए तो स्त्री इस प्रकार के कामों में योग्यता पाने में गौरव अनुभव करती है। उस दिशा को अपनाने से स्त्री की हीनता दूर नहीं होगी, बल्कि मजबूत ही होती जाएगी।

लिंग और परिस्थिति इन दो शब्दों का आपने प्रयोग किया। लिंग भी परिस्थिति का एक अंग ही है। वस्तु-स्थिति क्या यह नहीं है कि स्त्री स्त्री है, पुरुष पुरुष? उनके अन्तर को लिंग-सम्बन्धी मानते हैं, किन्तु वह अन्तर शरीर पर ही नहीं है, तदनुसार मानस में भी है। इस समूची स्थिति को परिस्थिति मान लेना होता है, और जब तक हमारी सभ्यता का आधार नहीं बदलेगा, मैं नहीं देखता कि इस तरह की समानता की कोशिश में से समता या समानता निकल सकती है। इस समता के प्रयत्न में ही यह गर्भित है कि पुरुष से स्त्री हीन है और इसलिए उसे पुरुष के बराबर होना है। इस बराबरी की पुकार को मैं बहुत गलत मानता हूँ। स्त्री को बराबरी के नाम पर अस्त्री बनने के लिए कभी बहकाना नहीं चाहिए। कप्तान या जनरल के वेश में स्त्री का चित्र बहुत सुन्दर लग सकता है, पर उस रूप में स्त्री को जीवन की कृतार्थता पूरी-पूरी अनुभव होगी कि नहीं, यह दूसरा प्रश्न रहता है। मैं पुरुष की प्रधानता को इतना सही नहीं मानता हूँ कि उसके प्रति ईर्ष्या या स्पर्धा की आवश्यकता हो। स्त्री भूल में पड़ेगी अगर इस प्रकार के भावों में बहकेगी।

यह जो एक परम्परा चली आ रही थी कि घर स्त्री का है और बाजार अथवा कार्यालय पुरुष का, क्योंकि उस परम्परा में पुरुष पुरुष रहता था और स्त्री स्त्री। अब जो एक नवीन परम्परा चल रही है कि कार्य-केन्द्रों में स्त्री, पुरुष की सहयोगिनी बने और घर-गृहस्थी के कामों में पुरुष, स्त्री का साथी। क्या इस प्रारम्भ होनेवाली नवीन परम्परा में दोनों ही वर्ग अपने पथ से दूर नहीं हट जाएँगे? और वह दूर हटना सामाजिकता की दृष्टि से भी बहुत अच्छा प्रमाणित नहीं होगा?

—क्यों? सामाजिकता की दृष्टि से अच्छा क्यों नहीं है?

घर और दफ़्तर में अन्तर हो तो घर की सहृदयता दफ़्तर में असंगत हो रहेगी और ग्राहक हमारे लिए आखेट होगा, सुहृद न हो सकेगा! आज का संकट क्या

ठीक यही नहीं है? घर-परिवार स्थापित स्वार्थ बन जाता है और व्यवसाय-व्यापार अर्जन-शोषण का साधन। ऐसे अपनों के प्यार के लिए परायों से अनायास हम द्वेष करने लग जाते हैं। इसी द्वेषी सभ्यता के कारण क्या युद्ध हमारे बीच एक अनिवार्यता ही नहीं बन रहा है?

स्त्री और पुरुष में भेद रहे, दूरी रहे, तो ही कुशल है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। मैं मानता हूँ कि आदर्श अर्द्धनारीश्वर है। स्त्री-पुरुष को आपस में भिन्न होने के कारण परस्पर निकट ही नहीं आना पड़ता, बल्कि एक-दूसरे को अपने में समाने तक जाना पड़ता है। काम की तृप्ति अशरीरी हो नहीं पाती, अर्थात् शरीर द्वारा भी आदान-प्रदान की प्रक्रिया जरूरी होती है।

आज शायद यह हो रहा है। घर भी दफ़्तर बना जा रहा है! यह इस कारण कि हमारी रीति-नीति में पुरुष और दफ़्तर प्रधान हैं। यदि उचित दिशा में सभ्यता मोड़ लेगी तो नतीजा यह आना चाहिए कि दफ़्तर भी क्रमशः घर जैसा बनता जाए, वहाँ भी सहृदयता का स्थान और उपयोग हो। ऐसा होगा तो स्त्री यदि आज परिधि पर दिखाई देती है तो तब केन्द्र के निकट वह होगी। तब हमारे कामों में सम्भव हो सकेगा कि विग्रह का स्वर सन्धि के स्वर से ऊँचा चढ़ा न हो और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खूनी युद्ध आवश्यक न रह जाएँ। दफ्तर की तरफ हमारी गति रही तो समझना चाहिए कि उसके अन्त में युद्ध है। शान्ति होगी तो तब जब गति घर की दिशा में होगी और हम राज-काज भी उसी सहज निराडम्बर भाव से करेंगे जैसे घर के कामकाज किये जाते हैं। शान-शौक़त, रोब-दोब, राज्य-कर्म के लिए आवश्यक न रह जाएँगे और हमारा बड़े-से-बड़ा अधिपति मामूली-से-मामूली आदमी की तरह दीखने और बरतने में संकोच न अनुभव करेगा।

शासन के केन्द्र पर समता और शान्ति की प्रतीक स्त्रीत्व की शक्ति रहती है तो क्या ये खूनी युद्ध और इनके लिए महाविनाशकारी तैयारियाँ कम या समाप्त हो सकती हैं?

—वस्तुस्थिति के यथार्थता में से, उसकी अनिवार्यता में से ऐसा हो तो अवश्य सम्भव है। यों तो विलायत में सम्राज्ञी एलिजाबेथ है, श्रीलंका में प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायक हैं। लेकिन उतने से उन देशों की राजनीति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया मालूम होगा। अर्थात् अमुक स्त्री का राज्य के केन्द्र पर होना अपने-आपमें विशेष सार्थक नहीं है, सार्थक वह तब होगा जब अमुक आस्था और देश के अमुक संकल्प का वह परिचायक होगा। गाँधीजी ने स्वराज्य-प्राप्त नये भारत को सलाह दी थी कि वह राष्ट्रपति के आसन पर किसी सुसंस्कृत हरिजन बाला को प्रतिष्ठित करे। उसमें गहरा मर्म था। मानो उससे भारत अपनी आस्था की घोषणा

कर देता और यह नये मूल्य दुनिया के मानस पर एक बड़ा आश्वासक प्रभाव डालते। किन्तु राजनीति के लिए वह सत् दर्शन कठिन होता है। कारण, अधिकांश उसके मानस में पौरुष का मद समाया रहता है। यह मद किसी का भला नहीं कर रहा है और हम सभी को पहचान होती जा रही है कि यह तत्त्वतः और कर्मतः अनिष्ट है। अफ़सर की अफ़सरी सेवकाई में बदलेगी तभी त्राण होगा, अन्यथा ऊपर से आकर शासन प्रजा में क्लैव्य भाव ही पैदा करता है।

विधवा जो कि विवाहार्थी है, कुछ कारणों को लेकर अपनी इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकती है। वर्तमान में समाज की मनीषा भी विधवा के विवाह को पूरी तौर पर खपा नहीं पा रही है। ऐसी स्थिति में इस समस्या का सामाजिक मंच पर हल देने के लिए यदि एक इस प्रकार की व्यवस्था, जिसे कि अन्तरिम व्यवस्था भी कहा जा सकता है, कि कोई भी विधुर यदि विवाह करना चाहता है तो उसे विधवा का ही चयन करना चाहिए। पुरुष स्वतन्त्र है कि वह प्रथम विवाह किसी भी स्त्री से क्यों न करे। पर द्वितीय विवाह विधवा से करने की व्यवस्था बना देने के बाद जो एक विधवा-विवाह कुछ उलझा हुआ-सा प्रश्न बना हुआ है, उसमें एक सुलझाव देगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—ठीक है, सुझाव के तौर पर ठीक है। लेकिन नियम के तौर पर अमुक व्यवस्था चलाने से खानापूरी ही होती है और प्रश्न जो चेतन का है, मानो निश्चेतन नियम के हाथों आ जाता है। विधुर विवाह के लिए कुमारी से अधिक विधवा को चुनें, यह चलन सजीव भाव से हो निकले तो ज़्यादा अच्छा है, अर्थात् लोकमानस को अमुक रूप में ढालने की आवश्यकता है।

नियम होते ही कुमार के लिए विधवा से विवाह करना लगभग निषिद्ध बन जाएगा। केवल इस कारण कि कोई अविवाहित कुमार है, उसे विधवा विवाह के अवसर के लिए असमर्थ बना देना उचित नहीं होगा। ध्यान यह रखना चाहिए कि सहृदय, सचेतन, वैयक्तिक प्रश्न को आंकिक विचार से लेना और हल करना ठीक नहीं होगा। कानूनी विचार वैसा ही होता है और उसमें संवेदनशील होने का अवकाश नहीं रहता। ये सारे प्रश्न सहानुभूति से लेने और सुलझाने के हैं।

सामाजिक प्रणालियाँ काम-सम्बन्ध और विवाह-सम्बन्ध को इतना सहज नहीं रहने देती हैं। इसलिए उस वासना को लेकर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ जन्म पाती हैं। कानून से उस सबका उपचार इसी कारण नहीं किया जा सकता। उस तात्कालिक और सजीव प्रश्न को सहानुभूति के द्वारा ही समझा और छुआ जा सकता है। काम में एक को दूसरे की अपेक्षा होती है; वह दूसरा जब तक समर्थ न हो, सुलभ न हो, तब तक समस्या-ही-समस्या है, समाधान कहीं नहीं है। वह दूसरा

कौन, कब, कहाँ कैसे समुपस्थित हो कि दोनों में औपचारिक ही नहीं, बल्कि हार्दिक स्नेहप्रवाह जारी हो सके, यह प्रश्न प्रकृत्त शक्तियों के हाथ से खींचकर अमुक विधान के हाथ में कर देने से कोई विशेष लाभ नहीं होता है, बल्कि एक व्याधि को दूर करने में दूसरी व्याधि को उपजा दिया जा सकता है। इसलिए इन और ऐसे विषयों में सहानुभूतिपरक प्रबुद्ध समाज-मानस जो काम कर सकता है, वह आईन-कानून नहीं कर सकते।

अल्पवयस्क व्यक्ति का विवाह होना निषिद्ध है और उसका निषेध काम-विज्ञान की दृष्टि से भी परिपुष्ट है। परन्तु वयस्क व्यक्ति का विवाह न होना, अथवा कि इच्छापूर्वक ही सही उसका विवाह न करना, क्या यौन-विज्ञान व सेक्स की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नहीं है? और इसलिए वयस्क व्यक्ति का अविवाहित रहना क्या निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता है?

—परिपक्व अवस्था की पहचान किसी कटी लकीर से नहीं होती, अर्थात् परिपक्वता एक क्रमिक प्रक्रिया है।

विवाह से पहले हमारे यहाँ सगाई हुआ करती है। उसी तरह विवाह के बाद गौने की प्रथा है। अर्थात् विवाह इन तीन क्रमों में से जाकर पकता था। मुझे यह क्रमिक प्रक्रिया अवैज्ञानिक नहीं जान पड़ती। किशोर से युवा होने तक, सत्रह-अठारह से बाईस-तेईस वर्ष की वय तक, ये तीनों मंजिलें क्रमशः पार हुआ करती हैं। इधर कन्या की अवस्था 13-14 वर्ष की हो और वाग्दान हो जाए, फिर अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था में क्रमशः वह गार्हस्थदायित्व के बीच पहुँचने लायक हो तो इसमें कुछ अनुचित नहीं है।

आज के आर्थिक युग में लड़का तब तक विवाह में बँधना नहीं चाहता जब तक काफ़ी कमाने नहीं लग जाता। इस 'काफ़ी' का मान निश्चित नहीं है, क्योंकि मैंने डेढ़ हजार पाने वाले युवक को विवाह में इसलिए संकोच करते देखा है कि वह काफ़ी नहीं कमा रहा है। यह कामिन्दा और कमाऊ युवक फिर कन्याओं के बाजार में अपने लिए उपयुक्त पात्र छाँटने चलता है। यह पद्धति आदमी के ऊपर पैसे को ले आती है और मानो क्रय-विक्रय हो निकलता है। इस आर्थिक सभ्यता के दौर-दौरे में विवाह का प्रश्न बहुत उलझ गया है और इसी दिल्ली में अनेकानेक लड़कियों के होस्टल हैं जो सभी भरपूर भरे हैं, और हजारों की संख्या में कुमारियाँ हैं जो वहाँ जगह नहीं ले पातीं। ये सब काम करती हैं, उसी तरह हजारों-हजार युवक काम करते हैं, और ये दोनों समुदाय विवाह में नहीं मिल पाते हैं। कल्पना की जा सकती है कि इस तरह क्या न परिस्थिति उत्पन्न होती होगी और विवाह की संस्था किन आवर्तों में न फँस जाती होगी।

सुनता हूँ कि अमरीका में अपना साथी स्वयं बनाने और परस्पर विवाह में न बँधने की पद्धति इतनी चली कि अब उसकी प्रतिक्रियाएँ शुरू हैं। अब जल्दी, यानी पन्द्रह-अठारह वर्ष की वय में, विवाह में पड़ जाने की प्रथा शुरू हो रही है।

अपने को लेकर स्त्री या पुरुष को विवाह के क्षेत्र में साथी चुनने के लिए निकल जाना पड़े, इस अवस्था को मैं बहुत उन्नत सामाजिक सुव्यवस्था नहीं मानता। ऐसे विफलता और विपर्यय के इतने उदाहरण सामने आते हैं कि कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार मानो दोनों ओर आखेटक वृत्ति उपजने लग जाती है जो दूसरे का लाभ लेती और अपने को बचा रखती है। इसमें मानसिक दबाव और अस्वास्थ्य बढ़ रहा है और स्नायविक नाना प्रकार के रोग फूटते देखे जाते हैं। विवाह मानो कैरियर का अंग और महत्त्वाकांक्षा का साधन बन गया है। हार्दिक की जगह उसकी भूमिका व्यावसायिक बन जाती है और विवाह एक साझेदारी के व्यापार से अधिक नहीं रहता।

यह सब देखकर मुझे अपनी सनातन भारतीय पद्धति कुछ अधिक विश्वसनीय जान पड़ती है। वहाँ साथी ऐसे समय मिलना शुरू हो जाता है, जब मानसिकता में उसकी माँग पैदा होती है। फिर यह साथ शनैः-शनैः पककर जीवनभर निभने लायक हो जाता है, नहीं तो परिपक्व वयस्क लोगों के प्रेम-विवाह छः-आठ महीने में चुक जाते हैं और जान पड़ता है कि उसके बाद से ये परस्पर सहारा नहीं रहते, बोझ बन जाते हैं।

मैं विवाह को धरती की चीज मानता हूँ। प्रेम आसमानी होता है। प्रेम पर विवाह करना मानो आसमान पर धरती को टाँगने जैसा हो जाता है। यों तो समूची धरती एक नन्ही-सी बाल गेंद की तरह आसमान में ही अधर अटकी है, लेकिन वह दूसरी बात है। दूसरी बात इस अर्थ में कि जिस प्रेम पर विवाह सचमुच टिका रह सकता है वह व्यक्ति-प्रेम नहीं, धर्म-प्रेम होता है। वह कर्त्तव्य के नाते प्रेम होता है, रूप के नाते प्रेम नहीं हुआ करता है। प्रेम आसमानी है और आसमान का मूल्य धरती से अधिक ही है। क्योंकि आखिर यह आकाश ही तो है जहाँ असंख्य ग्रह-तारा-नक्षत्र परस्पराकर्षण में एक-दूसरे को थामे हुए हैं। किन्तु यह आकाश निर्गुण है, निष्काम और निष्कम्प है। ऐसा प्रेम स्थित प्रेम होता है। वह धर्म-प्रेम हो जाता है और इसलिए उसमें अनन्त निभाव की शक्ति आ जाती है। सकाम प्रेम के झकोरे जो आते हैं वे आकाश की अनन्तता में अपने लिए अवकाश भी पा जाते हैं; पर विवाह को वे तोड़ या उखाड़ नहीं पाते हैं। कारण, उसकी भूमिका कामना की नहीं रहती, कर्त्तव्यता की हो आती है। उस धर्म की भूमिका को स्वीकार करने से फिर वैयक्तिक प्रेम-व्यष्टि को और समष्टि को सम्पन्न ही

कर जाता है, छिन्न-उच्छिन्न नहीं कर पाता है।

अन्त में यों कहिए कि इस मामले में पुरुषार्थ से अधिक आदमी अपने को भाग्य के हाथ में दे तो अधिक उपयुक्त होगा। पुरुषार्थ पर निर्भर करने से हम आग्रही बनेंगे और अमुक को ही चाहेंगे। फिर वह अपने सम्बन्ध में आग्रही होगा और दूसरे को चाहेगा। परिणाम में एक ऐसा दुष्चक्र उपस्थित होगा कि जिसमें घायल तृष्णाएँ हा-हा करती इधर-से-उधर घूमेंगी और समूची मानसिकता विषाक्त होगी। भाग्य का सहारा लेने से हम प्राप्त में तोष रखेंगे, उसी में प्रीति मानेंगे और तृष्णा के घाव से घायल होने से बच जाएँगे। भाग्य मुझे लगता है एक सक्रिय तत्त्व है और वह ऐसे विलक्षण संयोगों की रचना करता है कि जिसे हमारा पुरुषार्थ, यहाँ तक कि कल्पना भी पा नहीं सकती। शायद उसके हाथ में जैसे एक है, वैसे वह दूसरा भी है कि जिन दोनों के संयोग से प्यार सम्पन्न और सफल होता है। पुरुषार्थ के हाथ में क्योंकि एक ही सिरा है, और वह स्वयं का, इसलिए इस क्षेत्र में व्यक्ति अधिकांश आखेट-ढूँढ़ने, पाने और पाकर फिर खोने और फिर ढूँढ़ने में भटका रह जाता है, कभी भी कृतार्थ नहीं हो पाता। इसलिए वैयक्तिक प्रेम में अपनी लगाम को न छोड़ने के हक़ में मैं हो गया हूँ। इस विधा में वैयक्तिक प्रेम जो सम्पन्नता दे सकता है, दे जाता है, विपन्नता तनिक भी नहीं दे पाता।

आप शायद कहें, यह तो प्राचीनता है, आधुनिकता का विरोध है। जो भी हो, वह है, और मुझे लगता है कि वह प्राचीन सदा ही इतना अर्वाचीन होगा कि आधुनिकता उसे पकड़ न पाएगी और वह किंचित् अत्याधुनिक ही बना रहेगा।

वयस्क व्यक्ति का विवाह होना या करना सर्वथा उचित है और यदि वह नहीं होता है तो उसमें आर्थिक प्रश्न रुकावट डाल सकते हैं और यह आज के इस अर्थ-प्रधान युग में अधिक सम्भव भी है। परन्तु विवाह योग्य उम्र में विवाह न करना किसी धार्मिकता से पुष्ट तो नहीं है न?

—अर्थात् आर्थिक कारण विवाह को रोकें तो रोकें; धार्मिक कारण तो नहीं रोक सकते हैं न?

इस आपके प्रश्न में आर्थिक को धार्मिक से अधिक सशक्त माना गया है। आर्थिक यानी बाहर की मजबूरी। धार्मिक यानी अन्दर की मजबूरी। बाहर की मजबूरी से विवश होकर यदि विवाह न होता हो तो आपको आपत्ति नहीं होगी। पर अन्दर की मजबूरी के लिए आप एकदम अवकाश नहीं छोड़ना चाहते हैं।

वयस्क का विवाह, अर्थात् विवाह के लिए जिसका मानस बन गया है उसका विवाह। मानस जिसका तैयार नहीं है वह बीस वर्ष का न होकर, तीस-बत्तीय वर्ष का भी हो तो आप क्या कीजिएगा? मैं मानता हूँ कि उसको स्वयं होने देना

और रहने देना ही सही मार्ग है। सिर्फ़ उसको अतिरिक्त प्रशंसा से अवश्य बचाये रखना होगा। अधिकांश विवाह से विमुख इसलिए होते हैं कि विवाह को ऊँचा धर्म नहीं माना जाता है। यह भाव अगर शत-प्रतिशत वातावरण में से हट जाता है तो बहुत सम्भव है कि धार्मिक कारणों से विरत रहनेवाले अनेक जन निराधार हो जाएँगे। दूसरों की प्रशंसा भी स्वमान के लिए आधार बन जाया करती है। फिर भी वैसी बाहरी सराहना के अभाव में कोई बिनब्याहा रहना चाहता है तो वह अपनी जाने। मेरे ख्याल में उसे स्वयं और स्वतन्त्र रहने का हक़ है।

हाँ, आर्थिक कारणों की विवशता को मैं एक क्षण के लिए नहीं सहना चाहता हूँ। आज अनेक निर्धन हैं जिन्हें कन्या के विवाह की चिन्ता खाये जा रही है। यह जबरदस्त लांछन है हमारी समाज-व्यवस्था पर कि सुयोग्य कन्याएँ, केवल अर्थाभाव के कारण योग्य वर और विवाह न पा सकें।

फिर यहाँ भाग्य को मैं याद करता हूँ। समय पर विवाह न होने से हम व्यभिचार से तभी बच पाएँगे, जब विवाह या प्रेम के हक़ को अपना नहीं मानेंगे, भाग्य का मानेंगे। अन्यथा अर्गलाएँ टूट जाएँगी और व्यभिचार निर्लज्ज होकर आत्म-समर्थन पाने लग जाएगा।

हम मनमाने पुरुषार्थ से अधिक अपने माता-पिताओं और अभिभावकों पर अपने को छोड़े रहेंगे तो श्रेयस्कर होगा। इस बारे में मेरे मन में शंका नहीं है।

ऊपर विवाह न करने की छूट दी गयी है। वह इस शर्त पर कि विवाह न करने में कोई बड़ाई न मानी जाए। न उस आधार पर कोई अपने को धार्मिक मान सके। इसकी कसौटी तभी हो सकती है जब विवाह न करने को सामाजिक दोष और त्रुटि तक माना जाए। ऐसी अवस्था में विवाह से बचने के लिए मानो सत्याग्रह ही एक उपाय रह जाएगा, अर्थात् विवाह से बचा वह रह सकेगा जो इस बचने के लिए सत्याग्रह करने और उसका दण्ड पाने तक के लिए तैयार होगा। यह कसौटी मामूली तौर पर कन्याओं के सम्बन्ध में तो कुछ समाजों में चलती ही है। समय पर विवाह नहीं होता है तो माता-पिता और स्वयं कन्या भी आत्मकुण्ठित और आत्मलज्जित-से बन जाते हैं। लेकिन कुछ क्षेत्रों में दूसरी चीज चलती है। धार्मिक माने जानेवाले क्षेत्रों में कुमार और कन्याएँ दीक्षित हो जाते हैं और माना जाता है कि वे ऐसे संसार में मोक्ष के मार्ग के यात्री बन गये हैं। मोक्ष के मार्ग की यात्रा हो तो उसकी कड़ी कसौटी रखने में कोई हर्ज नहीं है। अगर मोक्ष-मार्ग फ़ैशन बन जाएगा तो इसमें सम्भव है कि संसार से बड़ी भीड़ इस मार्ग पर दिखाई देने लगे, अर्थात् मोक्ष-मार्ग और भी विकटता से संसारी बन आये। नहीं, अविवाहित रहने को किसी भी बहाने फ़ैशन बनने देना मुझे उचित नहीं मालूम होता है। इससे भी आगे बढ़कर प्रत्येक युवक एक किशोर का दायित्व

लेकर जीवन में आगे बढ़े, यह शर्त रखना उपादेय जान पड़ता है। विवाह से बचना दायित्व से बचना है। ठीक जिस तरह कि विवाह में पड़ना आराम से पड़ना नहीं, बल्कि दायित्व में पड़ना है। नागरिकता और दायित्वशीलता की दृष्टि से विवाह को मैं सहज समाज-धर्म मानता हूँ और सत्याग्रही धर्म ही हो सकता है जो समाज-धर्म से ऊँचा हो, अन्यथा तो वह अधर्म है।

विवाह निज का प्रश्न है। उसका हल निज को ही करना चाहिए या कि दूसरों पर निर्भर रहना चाहिए?

—नहीं, दो के आकर्षण को जब व्यवस्था में नियोजित करते और उसे सामाजिक अनुमति की मोहर देते हैं, तो उसे विवाह कहते हैं। वह तब केवल निज का प्रश्न नहीं रहता। इसी से तलाक के लिए अदालत को बीच में आना पड़ता है। अत: विवाह के निर्णय में भी अगर दूसरों का योग हो तो कोई हर्ज नहीं, सुविधा ही है।

विवाह की सम्पन्नता के विविध प्रकार हैं और उनमें एक वह भी है जहाँ कि एक-एक महीना तक उसमें व्यस्त रह जाना पड़ता है और एक वह भी है जो कि कुछ ही समय में सम्पन्न हो जाता है। तलाक में अदालत का बीच में आना महज इसलिए है कि वह पुष्ट बन जाए। उसी प्रकार विवाह की भी पुष्टि के लिए अदालत आती है और दूसरे व्यक्ति भी। परन्तु विवाह का जो उद्देश्य है, उसे देखते हुए कुछ समय में ही यदि समस्त क्रियाएँ समाप्त हो जाएँ और उसका इतना बड़ा एक सामाजिक रूप, जिसमें कि आडम्बर अधिक आ जाता है, न हो तो विवाह का रूप और सौन्दर्य रह सकेगा, अथवा निखर सकेगा या नहीं?

—सवाल असल में आपके मन में यह मालूम होता है कि जिन दो का परस्पर विवाह होना है, वे दोनों स्वयं चुनाव करें या चुनाव उनके लिए किया भी जा सकता है।

मैं मानता हूँ कि अधिक-से-अधिक बारीक समझ से काम लेने पर भी जिन दो में विवाह होता है वे कुछ-न-कुछ बल्कि काफ़ी अंश में, आपस में अपरिचित निकलते हैं। हम जानकर किसी भी एक व्यक्तित्व को चुका नहीं सकते। इसीलिए जानना बराबर शेष ही बना रहता है, अर्थात् विवाह के अनन्तर दोनों को परस्पर का नव-नवाविष्कार करते रहना होता है। इसी से प्रेम-विवाह आगे जाकर अधिकांश विफल हो जाते हैं। प्रेम की आँखों में देखकर हमने जिसे जो जाना था, विवाह के अनन्तर उसी में कुछ और दीखने लग जाता है और भावों में एक उतार आने लगता है। प्रेम के उत्कर्ष पर से जब नित्यप्रति की यथार्थता

पर आकर गिरना होता है, तब मानो मोह-भंग होता है और चित्र बिलकुल बदल जाता है। इसलिए मेरा मानना यह है कि मोह के निर्णय पर उतना भरोसा नहीं होना चाहिए और चुनाव का काम भी अधिकांश अभिभावकों पर रहे तो उत्तम है।

आगे विवाह की विधि के बारे में मुझे प्रतीत होता है कि उसका रूप सरकारी और कामकाजी से अधिक सामाजिक और किंचित् समारोहपूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार विवाह मानो नित्य-कर्म से एक विशिष्ट स्तर पर आ जाता है और वह उन दो के लिए ही स्मरणीय नहीं बनता, बल्कि उसमें इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों आदि अनेक के योग से वह उत्सव और पर्व दिवस-सा हो जाता है। इस तरह उसमें स्थिरता आती है और दाम्पत्य की ग्रन्थि में बँधे अमुक दो व्यक्तियों के ऊपर ही सबकुछ छूट नहीं जाता है। दूसरे लोगों का विचार और उनका सहारा भी मानो संगत बना रहता है। वह दो का निजी प्रश्न न रहकर पारिवारिक और अन्त:पारिवारिक प्रश्न बन जाता है। ऐसे देखा गया है कि विवाह अधिक टिकता है।

जीवन-मूल्य तेजी से आर्थिक बने जा रहे हैं। उस वेग में जान पड़ता है कि परिवार और सम्मिलित परिवार का रूप छोटे-से-छोटा हो जाने को बाध्य है। मालूम होता है कि यदि आर्थिक सभ्यता का ही दौर-दौरा रहा यह परिणाम घटित हुए बिना न रहेगा। लेकिन पारिवारिक इकाइयाँ स्वयं उस आर्थिक सभ्यता की बाढ़ को रोके हुए हैं और मुझे लगता है कि यदि समग्र दृष्टि से देखें तो उन इकाइयों का पुष्ट बनना और बनाना ही उपादेय होगा। उनको शिथिल, विशृंखल होकर उजड़ने देना ठीक नहीं होगा। सम्मिलित सहजीवन का परिवार एक नमूना हो सकता है। विकास के साथ सहजीवन की शिक्षा आवश्यक यही होती जानेवाली है। परिवार एक न्यस्त स्वार्थ का गढ़ बन जाता है और बड़े सामाजिक स्वार्थ की राह में वह एक बाधा बन खड़ा होता है, यही उसकी त्रुटि है। इस त्रुटि को दूसरे प्रकार से दूर किया जा सकता है। सामाजिक मूल्य को यदि आर्थिक से नैतिक बनाएँ तो यह परिवार की स्वार्थ-केन्द्रितता दूर हो सकती है। ऐसे हम हानि से बच सकेंगे और लाभ को बचाए रख सकेंगे। लेकिन पंक्तिबद्धता (रेजीमेन्टेशन) के रूप में सहजीवन के प्रयोग हम चलाएँगे तो वे कृत्रिम बनेंगे, उनमें हार्दिकता का आधार नहीं रहेगा। रूस में जो क्रान्ति हुई उसकी अन्तिम परिणति से यही दर्शन प्राप्त होता है। अब गृहस्थ वहाँ एक पवित्र और बद्धमूल संस्था है।

इस तरह विवाह को यदि कर्त्तव्य का आधार मिल जाता है, मनमानेपन-से उसको छुटकारा मिलता है, तो उसमें मजबूती आती है और समाज की व्यवस्था में आसानी होती है। उसे इच्छानुसारी बनाते हैं तो व्यवस्था शिथिल होती है।

ऐसे भी देश हैं जहाँ किशोरवय के सत्तर प्रतिशत बालक तलाकशुदा माता-पिता की सन्तान होने से मानो बे-घरबार हो गये हैं। यह स्थिति समाज के लिए चिन्ताजनक बन जा सकती है। यदि इस परिस्थिति को बचाना हो तो विवाह को आसक्त-प्रेम से कुछ अधिक स्थिर, मानो धार्मिक आधार देना होगा।

वर्तमान में दाम्पत्य-जीवन की जो हल्की-सी असफलताएँ सामने आती हैं, उसका कारण मैं समझता हूँ, प्रेम-विवाह नहीं है अपितु स्वैरवृत्ति का पनपना है। कलह, ग्लानि और एक-दूसरे के प्रति कटुता हम पुराने व्यक्तियों में अधिक देखते हैं। यहाँ तक कि वे महीनों एक-दूसरे से बोलना भी पसन्द नहीं करते हैं। परन्तु फिर भी गार्हस्थ्य जीवन चलता है, तलाक की स्थिति उत्पन्न नहीं होती, इसका कारण है सामाजिक ऊहापोह का भय, भविष्य की अस्पष्टता और स्वतन्त्र वृत्ति के साहस का अभाव। एक बालिग व्यक्ति को अपने भावी जीवन के निर्णय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए, जबकि उसके मत को राष्ट्रीय सरकार के निर्माण तक में आवश्यक माना गया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में हमें स्वयंवर-प्रथा की परिपाटी मिलती है। वह एक बालिका का अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से अपने भावी पति का निर्वाचन ही तो था। आज भी कुछ जातियों में कुमार क्लब होते हैं, जहाँ कुमार और कुमारियाँ रहतीं, एक-दूसरे के जीवन का अध्ययन करतीं और अपने उपयुक्त भावी सहयोगी का निर्वाचन भी कर लेती हैं। असफलताएँ हर पक्ष पर हो सकती हैं, परन्तु जहाँ तक विचार जाता है जिनका विवाह होता है, उन्हीं के अपने चिन्तन और चयन को प्रमुखता दी जानी चाहिए। हाँ, माता-पिता वहाँ उनका मार्गदर्शन करें, इससे अधिक उन पर अपना निर्णय थोपने की-सी स्थिति पैदा न करें?

—यदि आपमें इस सम्बन्ध में कुछ निश्चय है तो मैं उसे बदलना नहीं चाहूँगा। आचरण कसौटी है, सिद्धान्त की ओर वहीं से समय पर यथावश्यक संशोधन भी आ सकता है।

स्वैरवृत्ति आप पसन्द नहीं करते मालूम होते हैं। जहाँ मन आ गया वहीं विवाह करने के आग्रह में अधिकांश स्वैरवृत्ति ही होती है। स्वैरवृत्ति का फल यदि अनिष्ट आता हो तो ऐसे विवाहों में भी उस दुष्फल की सम्भावना आ बनती है।

विवाह दायित्व लाता है। स्वैरता का दायित्व के साथ निभाव नहीं हुआ करता। इसी से तनिक दबाव उपस्थित होने पर इस प्रकार के विवाहों में कठिनाई उपस्थित होने लगती है और जो ग्रन्थि एक-दूसरे की पूर्ति के लिए थी वह भार और बन्धन प्रतीत होने लगती है। इसीलिए मैंने कहा था कि विवाह को यदि अधिक मजबूत आधार पर खड़ा किया जाए तो उस संस्कार और संस्था के हित

में शुभ होगा।

स्वतन्त्रता की बात ठीक है, लेकिन उसकी मर्यादा है। ऐसे युवक हैं, जिनमें प्रश्न है कि हम इन्हीं माता-पिता की सन्तान क्यों हुए। अर्थात् वे अपने माता-पिता को चुनने का अधिकार अपने हाथ में लेना चाहेंगे। लेकिन ऐसा हो कैसे सकता है? इसी से कहना होता है कि स्वतन्त्रता की मर्यादा है। प्राप्त परिस्थिति से स्वतन्त्रता का आरम्भ माना भी जा सकता है, किन्तु उस परिस्थिति के प्रारम्भ से ही हम झगड़ा मोल लेकर चलें तो स्वतन्त्रता का आरम्भ ही कभी नहीं होनेवाला है। अर्थात् अधिकार से पहले कर्त्तव्य मिलता है। उस कर्त्तव्य की स्वीकृति और पूर्ति में से अधिकार-क्षेत्र बढ़ता चला जाता है। बिना उसके अधिकार मानो रहता ही नहीं है।

विवाह के सम्बन्ध में भी यदि व्यक्ति दावेदार कम और विनम्र विशेष बने तो मुझे प्रतीत होता है कि विवाह अधिक सफल होगा।

स्वयंवर की प्रथा में उन वरों की ओर से क्या कहा जाएगा जो सफल नहीं हो सके? उनको स्वतन्त्र होने का हक़ नहीं रह जाता, जबकि कन्या की स्वतन्त्रता उन्हें नहीं स्वीकार करती है, अर्थात् स्वतन्त्रता अपने-आपमें स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं रहती है। इतिहास के स्वयंवरों में कन्या की इच्छा के साथ माता-पिता की इच्छा का भी योग रहा करता था। अभिभावकों को विवाह-निर्णय के अन्तर्गत लेने से मैं नहीं मानता हूँ कि वर-कन्या की स्वतन्त्रता समाप्त होती है, किन्हीं अंशों में वह संशोधित भले होती हो। कोई अभिभावक अपनी सन्तान का अहित नहीं चाहता, न उसका मर जाना चाहता है। हाँ, उनकी दृष्टि अपनी होती है जो युवाजनों से भिन्न हो सकती है। बहुधा इन दोनों दृष्टियों के बीच सामंजस्य से ही काम चला करता है। किन्तु युवक का अपने यौवन पर समझ का बहुत भार डाल देना अक्सर विश्वसनीय नहीं होता है। उस वय की निगाह में रूप का महत्त्व अनुपात से अधिक हुआ करता है और दूसरी बातें जो भावी जीवन के लिए अधिक विचारणीय हैं, गौण पड़ जाती हैं। वर-कन्या की स्वतन्त्रता की सफलता मुझे इसमें दीखती है कि वे उसमें माता-पिता को सम्मिलित करते हैं और निर्णय परिवार का होता है जो उन्हें स्वीकार्य ही नहीं वरन् आत्मीय भी जान पड़ता है। अपनेपन को परिवार से अलग खड़ा करने में मैं अनिवार्यतः कोई स्वतन्त्रता की सिद्धि नहीं देखता हूँ। अधिकांश वह अहंता की उत्तेजना होती है।

किन्तु यदि आपमें इस सम्बन्ध में कोई निश्चय बन चुका हो तो मैं कहूँगा कि आप उसी को मान्य रखें। उसी के अनुसार चलकर देखें। यदि संशोधन आवश्यक जान पड़े तो ही बदलें। हो सकता है, तब मुझे ही अपनी राय बदलनी पड़े। सिर्फ यह कि मैंने अधिक साल आयु के बिता लिये हैं, मेरे पक्ष को निर्विवाद

नहीं बना देती है। आपको अपने विवेक की बात रखनी चाहिए।

जन्म, विवाह और मृत्यु जीवन के तीन प्रमुख संस्कार हैं। और जहाँ तक मैंने आपके विचारों को समझा है हमें इन तीनों संस्कारों को परिस्थितिजन्य और स्वाभाविक मान लेना चाहिए। हम यह कार्य करें ऐसी स्थिति नहीं, अपितु यह कार्य जैसे भी हो जाए, उन्हें वैसे ही स्वीकार कर उनके साथ अपना ताल-मेल बिठा लेना ही उचित है और आगे चलकर यह भी कहा जा सकता है कि जीवन भी जिया जाता है, उसमें जीने की वांछा रखकर उसे अधिक कसना और काट-छाँट करना भी कैसे हो सकता है? इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य को भाग्यवाद के हाथों में अपने आपको सौंप देना चाहिए?

—हाँ, मैं कर्तृत्व का विश्वासी नहीं हूँ। कर्तृत्व का क्षेत्र आदमी की अपनी आन्तरिकता है। इसके अतिरिक्त जब कर्तृत्व का आरोपण बाहर की ओर होने लगता है तो अत्याचार शुरू हो जाता है।

मेरे मन की लालसा से पूछा जाए तो 'सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के अतिरिक्त मैं कोई पत्नी चाहूँगा। इस चाह पर अगर मैं अड़ जाता हूँ तो यह मेरा आग्रह पागलपन कहलाएगा। अर्थात् मैं इस जगह अपने को स्वतन्त्र नहीं मान सकता। इस तरह हर स्वतन्त्रता परिस्थिति के स्वीकार और सामंजस्य से शुरू करती है।'

भाग्यवाद की बात मैं नहीं करता। किसी वाद को मैं नहीं समझ पाता। किन्तु अर्जुन अपने को जब तक कर्ता मानता रहा, तब तक कर्म में उद्यत नहीं हो सका। कर्म की हीनता के बारे में सदा कोई-न-कोई तर्क उपस्थित होता रहा और वह उस कर्म को त्रुटिपूर्ण जतलाता रहा। लेकिन कृष्ण के उपदेश से वह रणोद्यत हुआ और अन्त में महाभारत की उसने जय साधी। यह तमाम पुरुषार्थ अर्जुन में से तब निकला जब उसका कर्तृत्व समाप्त हो गया और कृष्ण के प्रति 'मय्यर्पित मनोबुद्धिः' होकर वर्तन करना उसने स्वीकार किया। इस तरह ईश्वरार्पित होने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता अनन्त हो जाती है और पुरुषार्थ परिपूर्णभाव से प्रकट होने लगता है। यह किसी भाग्य का या आस्तिक्य का वाद नहीं है। वाद सब अहंवाद के रूप होते हैं। समर्पण में अहंवाद से ही छुटकारा होता है और इस तरह निजता में अनायास व्यापकता आती और कर्म में प्रभविष्णुता आ जाती है।

मेरा अपने जीवन का अनुभव है कि मैं के सन्दर्भ में जितना और जब तक जुड़ा रहा हूँ तब तक कुछ भी कर्म नहीं हो पाया है और जितना जो हुआ है मैं के छुटकारे के साथ ही हो पाया है। इसलिए ऊपर की बात तात्विक मत मानिए, उसको अनुभूत भी मान सकते हैं।

विवाह के मामले में उन लोगों के अनुभवों को जानिए जिन्होंने बहुत चौकन्ने होकर विवाह किया, बेहद बारीक बीनी से और बुद्धिवाद से काम लिया। परिणाम क्या वहाँ सुखद आया? जब हम जानने के आधार पर सम्बन्ध बनाते हैं, तब उस सम्बन्ध में उनकी पूरी स्वीकृति नहीं होती। अपने मतानुसार और मनानुसार ही स्वीकृति हो पाती है। इस आधार पर कोई सम्बन्ध सम्पूर्णता दे नहीं सकता। सम्पूर्णता अर्पणता के साथ ही आ सकती है। बौद्धिक संबन्ध में निर्णय हम अपने हाथ रखते हैं, इसलिए दूसरा व्यक्ति मानो निर्णीत बनकर रह जाता है। इसमें उसकी स्वयं होने की स्वतन्त्रता घिरकर नियुक्त हो आती है। ऐसे सम्बन्ध में पीछे दोनों ओर असन्तोष न निकले तो और क्या हो सकता है?

टाल्सटाय तो सत्पुरुष ही थे। उनमें अपार सहानुभूति थी। उनकी विश्लेषण शक्ति शुरू से बहुत जगी हुई थी और वे भरसक समग्र दृष्टि से हरेक को देखना और समझना चाहते थे। विवाह से पूर्व और विवाह के समय की उनकी डायरियाँ पढ़ी जाएँ तो मालूम होगा कि अपनी भावी पत्नी के बारे में कितनी सूक्ष्मता से वह सोचते-समझते थे। लेकिन विवाह के अनन्तर अनबन जो शुरू हुई, तो मृत्यु तक बनी रही। यहाँ तक कि मृत्यु में वह अनबन स्वयं कारणीभूत हो गयी।

दूसरे प्रखर बुद्धिवादी आचार्य हेवलाक एलिस हैं। उन्होंने निश्चय किया कि विवाह किसी ओर आरोपण और दबाव नहीं ला पाएगा। हम दोनों की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहेगी। विवाह अन्त में जिनसे हुआ वह स्वयं विदुषी और इन्हीं विचारों की थीं। तय पाया कि हिसाब दो रहेंगे, घर दो रहेंगे ताकि मन एक ही बना रहे और किसी व्यक्तित्व का दबाव उस ऐक्य में व्यतिक्रम न डाल सके। लेकिन कोई युक्ति काम न आयी। दोनों व्यक्ति उदार थे, सुसंस्कृत थे, विचारशील थे, कमाऊ थे। लेकिन कोई उपाय न हो सका और अन्त तक उनमें अनबन ही रहती चली गयी।

टाल्सटाय और एलिस के व्यक्तित्व की त्रुटि इसमें हम नहीं मान सकते हैं। दोनों महापुरुष और सत्पुरुष थे। किन्तु बात यह है कि बुद्धि के आधार पर खड़ा किया गया कोई सम्बन्ध समाधानकारक नहीं हो सकता। सुख अपने को दिये बिना आ ही नहीं सकता। और बुद्धि अपने को स्वयं अपने हाथ में रखकर चलायी गयी युक्ति का नाम है। इसीलिए कहना पड़ता है कि अधिक-से-अधिक सोच-समझकर किया हुआ विवाह ही सुख-सन्तोषदायक होगा, इसका कोई कारण नहीं है। क्योंकि सोचने-समझने में हम दूसरे को अपनी धारणा में बाँध लेते हैं और अपना ही अर्पण देने से बच जाते हैं। इसीलिए विवाह में धार्मिक वृत्ति को आवश्यक मानना होता है। इसमें थोड़ा-सा आपकी भाषा का भाग्यवाद आ जाता हो तो भले आ जाए। लेकिन अहं ही जिसका केन्द्र हो वह विवाह खींचतान से

छुटकारा नहीं पानेवाला है और वह अन्ततः सफल नहीं होगा।

भाग्य से द्रोह हम क्यों रखें, मैत्री क्यों न रखें? मैत्री में भाग्य की अधीनता से हम मुक्त हो जाते हैं, भाग्य मानो हमारा संगी-साथी हो जाता है। तब पुरुषार्थ का तनिक भी अंश भाग्य पर खर्च नहीं होता, भाग्य से उनको तनिक भी लड़ना नहीं पड़ता। इस तरह पुरुषार्थ अव्यर्थ हो जाता है। मैं उसी अव्यर्थता और अमोघता का समर्थक हूँ और केवल बाहरी हलन-चलन में पुरुषार्थ की महिमा और महत्ता नहीं मानता हूँ।

अभिभावक अपनी सन्तान का विवाह करता है और इसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि वह उसे एक स्वतन्त्र जीवन का प्रारम्भ देता है। इसलिए अभिभावक यदि विवाह में दहेज लेता है या उसका ठहराव करता है, क्योंकि दहेज में लिये जानेवाले वधूपक्ष के अर्थ और कुछ दिये जानेवाले वर-पक्ष की सामग्री मिलकर एक नये घर के निर्माण और संचालन में सहायक हो सकती है। तो यदि विवाह ऊपर वाले से सम्बन्ध रखता है तो वहाँ पर दहेज का लेना-देना भी उचित ठहर सकता है और इसलिए फिर उसे रोकने के लिए कानून, उपदेश या वातावरण की कोई अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार अभिभावकों द्वारा विहित विवाह में क्या दहेज जैसी चीजें भी उचित ठहरती हैं?

—आत्मदान सदा सर्वत्र श्रेयस्कर है। उसकी अभिव्यक्ति में जो भी दान हो वह सब श्लाघ्य है। अपनी सन्तान के विवाह के समय न-देना असम्भव है और देना हृदय की ओर से अनिवार्य ही होता है। कोई कानून इसे नहीं रोक सकता, न रोकना चाह सकता है।

कानून के द्वारा रोका वह गया है जो आत्मदान नहीं है, बल्कि वैवाहिक कर के या दिखावे के रूप में आहरण और अपहरण है।

विवाह का यह रूप एकदम स्वस्थ और उचित मालूम होता है। दो परिवार के लोग एक नयी गृहस्थी की नैया को इस दुनिया में अपने आशीर्वाद और सम्बल के साथ संसार-तरण के लिए छोड़ते हैं। इस प्रकार एक नयी नागरिक इकाई सृष्टि में आती है और कोई कारण नहीं है कि उसे निस्सम्बल रखा जाए।

यह स्वयं उचित कारण है कि विवाह अभिभावकों के आशीर्वाद के साथ हो। और वह वरद्हस्त सदा नये दम्पति को उपलब्ध रहता चला जाए।

विवाह की सारी स्थिति को स्पष्ट कर देने के बाद यह रूप सामने आता है कि वह गृहस्थ और नागरिक जीवन की एक अनिवार्य द्वार है। और जैसा कि आपने पहले कहा कि विवाह न करना, दूसरे शब्दों में ब्रह्मचारी रहना, सत्याग्रह ही हो

सकता है, सहज-धर्म नहीं है। प्रश्न यह पैदा होता है कि विवाह के साथ व्यक्ति पर एक उत्तरदायित्व आता है और यदि उस उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता कोई व्यक्ति अपने-आपमें नहीं पाता है तो वह क्या करे? यौन-विज्ञान की दृष्टि से काम को दमित करते चले जाना हानिकर भी हो सकता है। एक व्यक्ति को भूख लगती है और उसकी क्षमता नहीं है कि वह रोटी, सब्जी, दाल आदि विविध सामग्रियाँ जुटा सके। यदि वह नहीं जुटा सकता है तो भूख की तृप्ति के लिए केवल रोटी ही खाता है या सत्तू ही घोलकर पी लेता है तो कोई अनुचित या अवैध कार्य नहीं करता। इसी प्रकार यदि कोई विवाह नहीं कर सकता है और इन्द्रिय निग्रह के रूप में ब्रह्मचारी रहना न आवश्यक लगता है और न सम्भव ही। ऐसी स्थिति में यौन-धर्म की परिपूर्ति वह करता है तो उसे अधार्मिक या अनैतिक तो नहीं कहना चाहिए और काम-विज्ञान को समझ लेने के बाद तो और भी नहीं।

—विचार और विज्ञान में अनुचित और अनैतिक जैसे शब्द असंगत होते हैं।

विवाह कामशक्ति के व्यवस्थित उपयोग की प्रणाली है। आपका प्रश्न लगभग यह हो जाता है कि यदि उस प्रणाली में कामतृप्ति का अवसर न हो और इसलिए अवैध प्रवृत्ति भी हो तो उसका क्या होना चाहिए? साथ ही यह कि विवाह को उत्तरदायित्व के रूप में कोई यदि किसी असमर्थता के कारण अपने ऊपर न लेना चाहे तो वह अपनी कामवासना को लेकर क्या करे?

यह प्रश्न असल में विचार के लिए समाज-व्यवस्थापकों और समाज-वैज्ञानिकों के सामने है और अधिक विस्तृत रूप में है। जिनको कामतृप्ति का अवसर नहीं है और फलतः कामत्रास के शिकार हैं, उनके लिए प्रश्न निजी भी हो सकता है। उस रूप में वह विचारणीय नहीं है। जैसे प्रबल व्यक्ति यों में प्राणशक्ति विहित मार्ग में अवसर न पाने के कारण अपराध की ओर मुड़ जाती है, वैसे यहाँ भी व्यभिचार आदि में कामेशक्ति अपने लिए शरण पा सकती है। तब वैयक्तिक सन्दर्भ में यह प्रश्न छोटा बन जाता है और इसका निदान या उपचार या विस्फोट नाना रूपों में हो सकता है। प्रश्न जो विचार-विवेचन के लिए है वह सामाजिक सन्दर्भ में उपस्थित होता है और उस प्रश्न का रूप यह होता है कि विवाह की विहितता के साथ काम की अनियमितता का सामंजस्य किस प्रकार किया जाए? क्या उपाय हो कि अधिक-से-अधिक शक्ति विहित और रचनात्मक मार्गों में जाए और कम-से-कम उसका अंश उलझ और व्यर्थ बनने के लिए रह जाए?

इस दिशा में पहली बात तो यह आवश्यक मालूम होती है कि विवाह नैतिक दायित्व भले हो, आर्थिक दायित्व न रह जाए। पत्नी मानिनी, विलासिनी और

अनजान न हो कि वह पति के कामों में रस न ले सके, योग न दे सके और उपयोगिता के तल पर दासी या प्रेयसी से अधिक उसका मूल्य न रह जाए। आर्थिक भूमिका पर ऐसा मालूम होता है कि जैसे विवाह पर भरण-पोषण के लिए बस एक सदस्य की वृद्धि हो जाती है। अर्थात् आय उतनी ही रही है, व्यय बढ़ जाता है। पूँजीवादी आर्थिक सभ्यता में स्त्री इस तरह मूल्यहीन हो जाती है और विनोद-विलास की परिभाषा में ही उस मूल्य को गिना जाता है।

दूसरा संशोधन विवाह की कल्पना में ही होना आवश्यक है। विवाह में परस्पर का अधिपतित्त्व और स्वामित्व मिलता है, यह धारणा उत्तरोत्तर लुप्त हो जानी चाहिए। अर्थात् विवाह घेराबन्दी नहीं है। वह स्वप्न को सीमित नहीं करता है। यदि विवाह एक वह साथ है जो परस्पर के प्रति कर्त्तव्य की सृष्टि करता है, अधिकारों का निर्माण नहीं करता है, तो पति-पत्नी परस्पर की पूर्णता में सहायक होना अपना कर्त्तव्य मानेंगे और पहरा-बन्दी छोड़ देंगे। तब स्नेह और सहानुभूति, स्वत्व-वृत्तों में बन्द होकर गलें-बुसेंगे नहीं, उनमें खमीर और नशा नहीं पड़ेगा, खटास और कड़वाहट नहीं आएगी, बल्कि सचल और प्रवाही रहने से वे स्वस्थ और मधुर बने रहेंगे।

कामोद्वेग और कामोन्माद के बहुत-से उदाहरण उन निराशाओं और विफलताओं में से बनकर सामने आते हैं जो विवाह और गृहस्थ की सँकरी धारणाओं के कारण घटित होती हैं। सामन्ती मानस अब पुराना पड़ रहा है। पहले गढ़ होते थे और दरवाजों पर आगे निकली हुई कीलें हुआ करती थीं। सबकुछ परकोटे में रहता था और रानियाँ 'असूर्यम् पश्या' रहकर अपने को महिमान्वित मानती थीं। अब बँगले होते हैं जिनका सामना आमन्त्रणीय रखा जाता है। मानो वहाँ बन्धु-बान्धव की, आतिथ्य-साधु की माँग हो और सत्कार समक्ष हो। विवाह के बारे में हमारी धारणा में तदनुकूल विकास होते जाना चाहिए। वह संस्था अब सम्पत्तिमूलक नहीं रह सकती है। समाज स्वयं पूँजीवादी से जाने-अनजाने समाजवादी होता जा रहा है। देखा जाए तो समाजवादी धारणा आगे जाकर स्वयं सँकरी हो जानेवाली है। विवाह, मुझसे पूछिए तो, उत्तरोत्तर अपरिग्रही धारणा तक उठता जाएगा। समाजवाद में समूह, समुदाय या सरकार में परिग्रह का अवकाश रह जाता है। सर्वोदय में अपरिग्रह भावना इतनी व्याप्त होगी कि व्यवसाय में ही नहीं, गृहस्थ में भी ट्रस्टीशिप का पालन होगा। समाज-व्यवस्था हमारी जब इस मनोभाव तक उठेगी, तब आपका प्रश्न बहुत हद तक अपने-आप हल हो जाएगा।

आज विवाह एक अतिरिक्त सदस्य के भरण-पोषण का प्रश्न बन गया है। वह अर्थ का प्रश्न है। इसलिए स्वस्थ और श्रमी युवक उस दायित्व से बचना चाहता है, जबकि रोगी धनिक अनेक संगिनियों को शरण दे सकता है। यह प्रश्न,

जो कि मुक्त स्नेह का होना चाहिए, अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था के दोष के कारण क्रय-विक्रय का बन जाता है, तब उसमें से आपके जैसे प्रश्न तो क्या, उससे घोरतर समस्याएँ पैदा होंगी और दमन में जो उनका उपाय खोजा जाएगा उससे वे घोरतर-से-घोरतम बनती जाएँगी।

संक्षेप में यह प्रश्न विचारक के समक्ष है कि कैसे प्राणशक्ति और सर्वांशतः कामशक्ति का ऐसा विनियोजन हो कि उसमें रत्ती भर न रह जाए और सर्वांशतः वह रचनात्मक हो सके। कानून, नियम के जोर से यह काम नहीं हो सकता है। बेशर्त सहानुभूति के साथ अर्थात् अहिंसापूर्वक विचारणा और वर्तना से ही इसका समाधान किया जा सकता है।

''अपूर्ण प्रेम में से काम और कामना पैदा होती है।'' इस आपके वक्तव्य से प्रश्न होता है कि तब पूर्ण प्रेम क्या है? क्या इसका विश्लेषण करने की कृपा करेंगे?

—जब हम सार को चाहते हैं तब अक्सर ऊपरी को छोड़ देते हैं। फल का छिलका फेंक देने पर रस मिलता है। आपने देखा होगा बच्चे सिगरेट के केस और उसकी सफेद पन्नी जमा किया करते हैं। खरीदने वाला उन्हें फेंक देता है, सिर्फ सिगरेट ही काम में लाता है। इन उदाहरणों में बाहरी अनावश्यक हो गया है और भीतरी को पाने के लिए उसे ही हाथ से हटा दिया गया है।

प्रेम जितना समग्र होगा, उतना ही गहरा जाएगा। शरीर पर वह अटकेगा क्यों? मानो तन को पारकर मन तक वह उतरेगा। ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जहाँ प्रेम के कारण ही दूरी पैदा हुई है। वह दूरी सिर्फ ऊपरी रही है, भीतर गहरी एकता काम करती रही है।

जिसको काम कहते हैं उसमें आग्रह अवश्य दिखेगा। आग्रह में किंचित् अविश्वास भी है। निश्चय ही वहाँ एक अनुपलब्धि का भाव है। समग्र प्रेम में वैसा संशय रहता ही नहीं, मानो उपलब्धि का भरपूर रस रहता है। इसलिए वेग और आतुरता नहीं होती। एक गहरा भरोसा और विश्वास अभ्यन्तर को भरे रखता है और व्यक्ति को अधीर और व्यग्र नहीं बनने देता, संयत समाहित रखता है। बहुत पारिवारिक सम्बन्ध ऐसे हैं, जिनमें ममता कम नहीं है, फिर भी काम और कामना की कल्पना भी नहीं होती है। पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहन, ससुर-बहू, सास-जमाई आदि अनेक सम्बन्धों में स्नेह की प्रगाढ़ता मिलेगी। लेकिन कामना का आवेग नहीं। कहने का आशय यह नहीं कि इन पारिवारिक सम्बन्धों में प्रेम समग्र या परिपूर्ण है; आशय इतना ही है कि एक विशेष प्रकार का स्नेह हो सकता है, जो काम से अछूता बल्कि उलटा है। इन सम्बन्धों में हम देना चाहते हैं, पाने की लालसा से उतने ग्रस्त नहीं होते। महान त्याग और बलिदान जिस

प्रेम में से निकला है वह भोगात्मक नहीं देखा जाता। उसमें काम का त्रास नहीं होता। उसके अन्तरंग में जैसे अगाध विश्वास का भराव होता है। यह सम्भव हो सकता है कि प्रेम में 'दोनों' परस्पर बहुत दूर दीखें, किसी प्रकार का उनके बीच सम्बन्ध दिखाई न दे, तो भी वे परस्पर को सम्भव, सफल और पूर्ण बनाने में काम आते रहते हैं। जगद्धति के मूल में जाएँ, तो इस सत्यता की साक्षी हमें प्रचुर मिलेगी।

आज का मनोविज्ञान फ्रायड से कुछ गहरे जा रहा है और इस सत्य के आविष्कार के निकट पहुँच रहा है। काम और कामना में कुछ हिंस्र भाव है; परस्पर त्रास देने और त्रास पाने में से सुख मिलता है। यह विरोधी भाव यदि है तो निश्चय ही वह अधूरेपन में से ही आ सकता है। घड़ा पूरा भर जाए तो छलकता नहीं। उछलन और छलकन है, तो मानो कुछ अन्दर खालीपन है। मैं मानता हूँ इस विषय में शोध होने की आवश्यकता है।

हम व्यग्र विकल होते हैं तो अवश्य कुछ उसके लिए जो हममें नहीं है। प्रेम मुझको उसमें और उसको मुझमें पहुँचा देने का साधन है। यदि वह सघन और सम्पूर्ण होगा तो प्रेम-पात्र का हमें अपने भीतर अभाव उतना न होगा जितना कि सतत भाव जान पड़ेगा। उसकी उपस्थिति शरीर-निर्भर न होगी, विचार और भाव में से अनायास उपलब्ध रहेगी। भक्ति इसी को कहते हैं। मूर्ति के माध्यम से भक्ति भक्त को सफल बनाती है। मूर्ति केवल आलम्बन है, निमित्त है। मानो भक्ति अपनी सर्जकता से उसे सृष्ट करके भी अनावश्यक बनाये रखती है। मैं मानता हूँ कि प्रेम अपनी अधिकता में से अनायास अतीन्द्रिय होता जाता है। इन्द्रियाँ अंश को ले पाती हैं। अंश में तृप्ति कहाँ है? तृप्ति जो मिलती है वह इस कारण कि अंश अपनी अंशता को भूल जाता है। उस अंशता का भान होते ही फिर अतृप्ति शुरू हो जाती है। कामना का यही भाग्य है। काम का दूसरा वश नहीं। घी से आग जलती ही जाएगी, बुझने की सम्भावना नहीं है। काम का यह दाहक स्वभाव है। प्रेम दहनशील नहीं होता, वह शान्त, शीतल होता है। यह विशेषता उसे सर्वांगीणता से प्राप्त होती है। प्रेम परिपूर्ण भाव से देखता है और परिपूर्णता देता है। काम पृथक् करके देखता है। जब हम शेष के सन्दर्भ से अमुक को अलग कर, मानो तोड़कर, अपना लेना चाहते हैं तो वह अवस्था उन्माद की होती है। प्रेम की हालत में सन्दर्भ से किसी को तोड़ने की लालसा नहीं रहती है। फूल अपने वृन्त पर और व्यक्ति अपनी स्थिति-परिस्थिति से संयुक्त ही हमको शुभ और प्रिय होता है। शाखा से तोड़कर फूल को और परिवार से तोड़कर अमुक कन्या को पास लेने की स्पृहा और स्पर्धा नहीं होती। दूसरे के स्व पर आरोपण का भाव नहीं होता। उस स्व की अपनी स्वतन्त्रता में ही, प्रतिष्ठा की इच्छा होती

है।

एक शब्द है ब्रह्मचर्य। मैं समझता हूँ वह प्रेम की चर्या का नाम ही है। ब्रह्म ही तो समस्त सृष्टि की सार्थकता है। वह घट-घट व्याप्त है। व्यक्तित्व में हम सब भिन्न-भिन्न हैं, ब्रह्म में हम सभी अभिन्न हैं। मानो हमारी सत्यता ब्रह्ममय है। यह जो पृथक् सापेक्ष अस्तित्त्व अथवा अस्मित्व हम सबको प्राप्त है, जिस पर हमारा सम्पूर्ण व्यापार, व्यवहार चलता है, प्रेम मानो हमें उसके पार का दर्शन देता है। हम एक-दूसरे को मिटाने या पाने की आकांक्षा तभी तक करते हैं जब तक विभिन्नता तक हमारी आँख रहती है। जो दृष्टि इसके पार का दर्शन हमें दे आये उसके वशीभूत होकर मानो हम इच्छा की अधीरता और आतुरता से सहज उत्तीर्ण हो जाते हैं। उस सम्यक्-दर्शन के अधीन और अनुकूल जो आचरण है, उसी को ब्रह्मचर्य कहना चाहिए। व्यक्ति के नाम-रूप के पार जब हम रूपातीत की अनुभूति पाते हैं, तन के पार मन और मन के पार आत्म को देखते हैं, या हमारी अभिलाषा और अभीप्सा उस गहराई तक जाती है, उस अवस्था के भावन को प्रेम कहा जा सकता है। वहाँ काम की उद्धतता और उद्विग्नता के लिए अवकाश नहीं रहता। वहाँ पुरुष स्त्री की कामना इसलिए नहीं करता कि पुरुषत्व स्त्रीत्व को अपनाता रहता है। अर्थात् आदान-प्रदान, क्रिया-प्रतिक्रिया तब गहरे गुण के तल पर होती है और स्थूल-वस्तु के तल पर किसी कर्म-चेष्टा की अनुपस्थिति दीख आती है। इस स्थिति में शरीर अतृप्त रह जाता है, ऐसा भी नहीं। मानो गुण के स्तर पर यदि परस्पर प्राप्ति होती है तो भिन्न-व्यक्तित्व की भूमिका पर वह परस्परोपलब्धि बल्कि और निविड़ और तृप्तिदायक ही बनती है।

आम अनुभव की बात है कि जब स्नेह की गाढ़ता में दो जन परस्पर निस्व और विसर्जित होकर आँसू बहा उठते हैं तो उनको जो कृतार्थता प्राप्त होती है, वह सम्भोग की तृप्ति से कहीं अधिक पूरी और पूरक होती है। कामातुरों के बीच भी ऐसा घटित हुआ करता है। अहं विगलित होकर जब आँसुओं के रूप में बह चलता है तो निश्चय ही दोनों ओर गहरा आत्म-लाभ का बोध होता है। काम-सम्बन्ध मानो एक कलरव छोड़ जाता है। जैसे खटक रहती हो कि पाया और नहीं पाया। प्राप्ति मानो एक क्षण का विस्मरण मात्र होती है, क्षण बीतने के साथ मानो वह उड़ भी जाती है। दो-पन फिर उतना ही उत्कट होकर आमने-सामने खड़ा दीखता है और मानो तब एक से दूसरे को रोष और विरक्ति का अनुभव होने लगता है। प्रत्येक काम और भोग-सम्बन्ध में यह जो प्राप्ति में से अप्राप्ति की अनुभूति है, जीतने में से हारने की, और पाने में से खोने की कसक है, वह कभी मिटती नहीं है। अहं उसमें से कोई स्थायी संस्कार नहीं पाता, बल्कि कुछ अतिरिक्त धार ही पा जाता है। अर्थात् काम में कलह साथ चलती है। यदि प्रेम

का आधार न हो तो काम निरन्तर दो के बीच कलह की परिस्थिति बनाये रखता है। अनुभव तो यह भी है कि काम में राग और द्वेष दोनों साथ चलते हैं और ईर्ष्या, संशय सदा विद्यमान रहते हैं।

पूर्ण के आकलन का एक चित्र है 'अर्द्ध नारीश्वर'। प्रेम में मानो पुरुष में आवश्यक नारी का सहज समावेश होने लगता है। इसी तरह नारी में आवश्यक पुरुष का। यह प्रक्रिया प्रेम द्वारा सहजभाव से गुण के स्तर पर सम्पन्न होती रहती है और इसलिए देह के स्तर पर प्रश्न और समस्या उत्पन्न नहीं करती। काम से समाज-व्यवस्था के और उसके विघटन के प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रेम से वे प्रश्न सांस्कृतिक और नैतिक भूमिका पर उठते जाते हैं। काम का हल इसलिए और कहीं नहीं है, केवल प्रेम है। प्रेम में वह समाधान इसलिए है कि उसी में काम को अपनी परिपूर्णता प्राप्त होती है। शेष प्रयत्न काम को खण्डित करने के होने के कारण विफल रहने को बाध्य हैं। खण्ड को कितने भी खण्डित करते जाएँ, उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती। काम स्वयं खण्डित-भाव का परिणाम है। उसको खण्डित करके जीतने की चेष्टा इसी से असफल होती रही है। वह असफल ही होगी, कुछ भी और नहीं हो सकेगा। कारण, खण्ड की मुक्ति पूर्ण में है और काम जबकि अधूरा है, प्रेम ही पूरा है।

गुण के स्तर पर परस्पर प्राप्ति से आपका क्या आशय है? ऐसे काम की तृप्ति होती है, यह आप मानते हैं या कि वह सहज ही दमित हो जाता है? कृपया और स्पष्ट करें।

—दमन का भाव है तो हो सकता है काम दमित रहता हो, उन्नत और ऊर्जस्व न बनता हो। ऐसी अवस्था में गुण से उतरकर दैहिक स्तर पर भूख, बेचैनी और उद्वेग का भी अनुभव होगा। लेकिन गुण के स्तर पर वह आदान-प्रदान, अर्पण-प्रत्यर्पण और परस्परोपलब्धि हो सकती है जिसमें देह भूखा न रह जाए। परन्तु परम आप्यायित अनुभव करे। आखिर सशरीर स्त्री-पुरुष जो व्यक्ति रूप में हमारे समक्ष हैं स्वयं में ही सार्थक नहीं हैं? परिमित उनकी आयु होती है और सीमित उनका क्षेत्र। कुछ वर्षों बाद वे चल देते और भुला दिये जाते हैं। अर्थात् यदि उनमें महत्त्व है तो निजत्व में नहीं है, बल्कि निमित्त और प्रतिनिधित्व में है। वे मानो अमुक, अव्यक्त शक्तियों या सत्यताओं के प्रतीक बनते हैं। तब मौत को जीतते हुए अमर हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह सम्भावना हुई है वे इतिहास में चिरस्मरणीय बने हैं। अन्यथा हम आप मर-खप जाते हैं और ऐसे हमेशा के लिए नष्ट-विनष्ट हो जाते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति अपने भीतर से जितने अव्यक्त को व्यक्त करता है वह उतना ही महत्त्व संपादन करता है। इसका दूसरे

शब्दों में अर्थ हुआ कि व्यक्ति का सत्य शारीरिक नहीं है आत्मिक है, परिणात्मक नहीं है, गुणात्मक है।

स्त्री अमुक वृत्तियों और विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण स्त्री है। इसी तरह की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। स्पष्टत: दोनों के अपने-अपने जो विशिष्ट गुण परस्परपूरक होंगे, स्त्री-शरीर यदि कोमल है, स्त्री-स्वभाव यदि भावनात्मक है तो मान लेना चाहिए कि कोमल भावनाओं के प्रतीक के रूप में उसकी सृष्टि हुई है। उधर पुरुष यदि अधिक अस्थिशील और गतिशील है, यदि उसमें बल और वेग है, तो पुरुष उस प्रकार की विशेषताओं का मूर्त अवलम्बन माना जा सकता है। स्त्री हृदय है तो पुरुष मस्तिष्क है। तो पुरुष अपने पौरुष को सुरक्षित रखते हुए नारी के निमित्त से उन कोमल वृत्तियों को भी आत्मसात् करता है। तो मानो पुरुष से अर्द्धनारीश्वरता की ओर उठता है। ऐसे ही अबला कहलाने वाली स्त्री निर्भयता संपादन कर सकती है। मस्तिष्क के गणित-विज्ञान को साध सकती है और अमुक आदर्श को मूर्त करने के प्रण में बँधकर साहस से अभिक्रमशीलता का परिचय दे सकती है। स्त्री में यह सब स्त्रीत्व की कीमत पर नहीं, बल्कि उसके साथ और उसके सन्दर्भ में यह उपार्जित गुण प्रकट हों तो उसके सम्बन्ध में भी कहा जा सकेगा कि वह नारीत्व से व्यक्तित्व की ओर उठ सकती है। निश्चय मान लेना चाहिए कि वे व्यक्तित्व, जो स्थायी भाव से इतिहास में टिके रह सकते हैं, जिनका प्रकाश कालगति के साथ मन्द नहीं होता और परम उज्ज्वलतर होता हुआ दीखता है, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री। ऐसे व्यक्तित्व बन सके थे, जिनमें विरोधी गुण समन्वित हैं। पुरुष की कठोरता के साथ स्त्री की कोमलता भी उनमें थी। एक ही पद में कुसुम के समान मृदु और वज्र के समान कठिन होने का जो उल्लेख है, वह इसी समन्वय का निर्देश करता है। पुरुष को आवश्यकता स्त्री की और स्त्री को यदि पुरुष की रहती है तो इसी कारण कि वे दो भिन्नताओं और लगभग विपरीतताओं के प्रतीक हैं। जैसे धन और ऋण विद्युत प्रवाह। स्पष्ट है कि दोनों में योग हो तो विद्युत काम करती है। जो तार उस विद्युत के वाहक हैं आपस में मिलकर आखिर धन-ऋण विद्युत वर्गों को ही तो परस्पर योग में लाते हैं तथा धातु के तार तो केवल वाहन हैं, प्ररिवेष्ठन हैं और विद्युत का प्रवाह हो नहीं तो उनका सम्पर्क कोई फल नहीं उत्पन्न करता है। इसी तरह नर-नारी शरीर का परस्पर संस्पर्श और सम्भोग निरर्थक है यदि प्राण स्तर पर उनमें अन्तरमिलन नहीं होता है। प्राणों में और गुणों में वह गूढ़ सम्बन्ध हो तो ऊपर से शरीरों का सम्बन्ध फिर क्यों न आवश्यक हो जाना चाहिए और वैज्ञानिक प्रयोगों में ऐसा होता है। दो तीव्र विद्युन्मय बिन्दु निकट आते हैं, मिलते वे नहीं हैं। नहीं मिलते हैं इसी में से उनकी निकटता के कारण तीव्र ज्योति प्राप्त होती है। इसी तरह

मैं मानता हूँ कि काम में से जबकि आनन्द और शक्ति का व्यय होता है तब प्रेम में उनका संचय होता जा सकता है। व्यक्ति यदि विराट बनता तो निश्चय ही भोग से नहीं बनता है, उस प्रेम से बनता है जो व्यथा को सर्वस्व स्वीकार करके भोग से उत्तीर्ण बना रहता है।

सामान्य नर-नारी सम्बन्धों में आप जाएँ तो भी यह तथ्य प्रकट हो जाएगा। साहित्य की महान कथाओं और ग्रन्थों में आप पाइएगा कि जो प्रेम उत्सर्ग में अपनी तृप्ति और सिद्धि पाता रहा है उसी ने प्रकाश और प्रभाव दिया है। सामान्य घटनाओं में आप देखेंगे कि तन का सम्बन्ध एक से चलता है मन का सपना कहीं दूसरी जगह ले जाता है। इसको व्यभिचार कहकर कितना भी बहिष्करणीय ठहरायें पर वैज्ञानिक यथार्थता के रूप में उससे बचना नहीं हो सकेगा। स्वप्न और यथार्थ में जो दूरी है, यही दरसाती है। यथार्थ तन को लेकर बनता है। मन उस घेरे से उड़कर सपनों में विहार करने लग जाता है। सपने की यथार्थता को पहचानना होगा यदि यथार्थ पर आई सलवटों को हमें सँभालना है और सही करना है।

जिसको गुणात्मक स्तर कहा वह यही मन का स्तर है। मैं मानता हूँ कि मन पूरी तरह इतने परस्पर प्रत्यर्पित हो सकते हैं कि तन का प्रश्न ही बीच में न आये। ऐसे स्त्री पुरुष हैं जिनका विवाह हुआ, कुटुम्ब-परिवार हुआ, जिनके अर्थ-क्षेत्र और कर्म-क्षेत्र पृथक् और दूर रहे, लेकिन जो फिर भी जीवनभर किसी आभ्यंतरिक सूत्र से जुड़े रहे और एक-दूसरे को प्राण और प्रेरणा देते रहे। भारतीय पुराण के कृष्ण और राधा का प्रेम इसी गुण के स्तर का था और इसलिए इतना परिपूर्ण था कि कामजन्य अतृप्ति का प्रश्न ही उस सम्बन्ध में अपवित्र और अनर्थक लगता है। बल्कि मुझे तो लगता है कि प्रत्येक प्रेम उत्कट और सघन बनकर सहज भाव से इन्द्रियातीत होता जाता है। वह तन को बीच में जानबूझकर छोड़ता और बचाता हो, यह नहीं बल्कि तन का पूरा सदुपयोग इस रूप में करता है कि पूरे अर्थों में वह व्यथा से तत्सम बना रहे। इस प्रेम में से ज्ञान प्रस्फुटित होता है क्योंकि वासना के अन्धेपन के लिए वहाँ कहीं अवकाश नहीं रहता। उद्धव गोपियों को ज्ञान देने क्या गये कि खुद ही ज्ञान पा गये। क्योंकि गोपियों के पास जाकर देखा कि प्रेम विरह को प्राप्ति से भर सकता है और समष्टि को प्रेम-पात्र के मिस से प्रेममय बना दे सकता है।

प्रश्न जहाँ जटिल होता है वह स्थल प्रेम से नहीं नीति के वाद से पैदा होता है। प्रेम में काम का वर्जन नहीं है। नीति में वर्जन हुआ करता है। प्रेम में काम के प्रति करुणा होती है। नीति निष्करुण होकर अपना काम चलाना चाहती है। ऐसे वर्जनाओं के जोर से काम चलानेवाला नीतिवाद, कुंठाओं और ग्रन्थियों को जन्म दे रहा है। उन्हीं के कारण तो यह कहना पड़ा कि काम से उत्पन्न हुई

समस्याओं का निदान निषेधमूलक किसी नीतिवाद के पास नहीं है। कारण वर्तन को वहाँ वर्जन से नियत संयत करने की चेष्टा है। वह चेष्टा अकृतार्थ यदि होती है तो इसी कारण कि वह पूर्ण को व्यक्त नहीं करती, प्रेम का फल नहीं होती। वह अंश से आंशिक को काटने चलती है और इसलिए अनिवार्यतः विफल होती है।

प्रथम मिलन में प्रेम की आप विवेचना करते हैं। मेरी दृष्टि में एक मित्र का उदाहरण है। उसका अपनी ऐसी ही प्रियतमा से केवल एक बार मिलन हुआ और उसके बाद वे दोनों प्रेयसी की मृत्यु शय्या पर ही मिल सके। न मिलने का कारण मित्र का किशोर, संकोच और भय रहा। क्या एक बार का मिलन दो प्राणियों पर इतनी गहरी छाप डाल सकता है? वह क्या चीज है जो दोनों को एक-दूसरे के इतना नजदीक खींच लायी?

—हाँ, डाल सकता है। और यह छाप की गहराई ही है जो एक को दूसरे के निकट नहीं आने देती। इस प्रकार के प्रेम को मैं सबसे बड़ी रचनात्मक शक्ति मानता हूँ।

प्रथम दृष्टि में प्रेम हो सकता है, रह सकता है और इस प्रकार स्वप्रतिष्ठ हो सकता है कि कभी इन दोनों के मिलने का अवसर न आये। इस प्रेम में दोनों जलते हैं और परिणाम में दोनों उजलते भी हैं। यह गहरे सम्बल का काम देता है और औदार्य में जीवन को उठाता ही चला जाता है, नीचे नहीं गिरने देता। इस प्रकार के प्रेम में मानो ईश्वर के दर्शन पाते हैं। तारों से भरी रात को देखकर कल्पना में ईश्वर झूम आता है तो इस प्रेम की घटना को देखकर तो मानो वह ईश्वर अनुभूति में ही उतर आता है।

बड़ी आसानी से कहा जा सकता है कि यह किशोर प्रेम रोमांटिक है, बैटोनिक है, यटोपियन है इत्यादि। लेकिन आपके परिचय की घटना में किशोर वय से उठकर क्या वे दोनों व्यक्ति युवक और प्रौढ़ भी क्रमशः न बनते गये होंगे जो एक की मृत्यु से पहले परस्पर मिल भी नहीं सके? नहीं, किशोर कहकर उनको टालना ठीक नहीं होगा। उनमें हमें झाँकी पानी चाहिए उस तत्त्व की जो चिर-विरह में चिर-संयोग की अनुभूति देता है।

वैज्ञानिक परिचय की ही बात थी कि धरती सूरज के चारों और घूम रही है। असंख्यासंख्य वर्षों से यह हो रहा है। क्यों घूम रही है? क्या यह काल के अनन्त आयाम से सूर्य की परिक्रमा देते रहने की प्रक्रिया यही नहीं दरसाती कि घोर दुर्गम विवशता है जो धरती को स्वतन्त्र नहीं छोड़ती और जो अपनी यात्रा का ज्ञापक सदा-सदा उसको व्यवस्थित और गतिमान रखती है। यह विवशता एक साथ फूटकर कभी धरती को सीधे सूरज में मिला क्यों नहीं देती?

इस सम्भावना को हम कल्पना में भी नहीं ला सकते। मानो इसमें प्रलय और सर्वनाश है। सूरज से धरती मिल ही नहीं सकती, लेकिन उससे छूट भी नहीं सकती। क्या इस सभ्यता में हम उस प्रेम को ही न देखें जो दोनों को जीवनभर जिलाता रहा और कभी एक क्षण के लिए भी मिला नहीं? मुझे प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शायद एक इसी तत्त्व पर चल रहा है। उसी को यज्ञ-तत्त्व कहते हैं। अर्थात् प्रेम, जिसमें से व्यथा और पूजा ही हम प्राप्त करते हैं। भोगोपभोग तक जा ही नहीं पाते। प्रेम अपनी उत्कटता से ही विरह की सृष्टि करता है और इस विरह के अन्तराल में अनन्त व्यथा और अनन्त उपलब्धि का अवकाश रहता है।

एक शब्द 'ब्रह्मचर्य' आपने सुना ही होगा। वह शब्द प्रेम से उलटा नहीं है। शब्द में समग्र प्रेम की ही व्याख्या है। प्रेम ईश्वर का ही नाम है उसमें सृष्टि का मन तो बन्द है। खण्ड-प्रेम जो खण्ड-भोग को स्वीकार करता है, शिशु की सृष्टि कर पाता है। सामान्य नर-नारियों के बीच यह जो अनन्तकाल से अजस्र और अनवरत जीवन-प्रवाह चला आ रहा है, जिससे प्रत्येक अपने समय पर मरता है, किन्तु अपने पीछे अपनी सृष्टि भी छोड़ जाता है। परस्परता के बीच उसी प्रेम के आकर्षण से और भोग के मिलन से सम्भव होता है। किन्तु अखण्ड-प्रेम खण्ड-भोग से आगे अखण्ड-योग तक उठता है और उसी को ब्रह्मचर्य का नाम दिया जाता है। इसमें से जो सृष्टि होती है उसकी आयु परिमित नहीं होती है, न उसका क्षेत्र परिमित रह जाता है। उसमें से धर्म, ज्ञान, कला और साहित्य की सृष्टि होती है। मानव शिशु जैसा सजीव होता है, यह सृष्टि उससे अधिक सजीव और मार्मिक सिद्ध होती है। यह उपलब्धि उस प्रेम का परिणाम है जो व्यथा में तृप्त और विरह में मुक्त है।

लोग हैं जो इस प्रकार के प्रेम में पौरुष की लांछना दे देते हैं। आगे बढ़कर जो अपने प्राप्तव्य को लेता नहीं है वह क्या पुरुष है? उसे कापुरुष कहना चाहिए। किस प्रकार की वृत्ति और दृष्टि पर पूरे जीवन-दर्शन का ही निर्माण हो गया है। अमरीका से आनेवाली अधिकांश फ़िल्मों को देखिए, साहित्य और वहाँ की राजनीति को देखिए। मालूम होगा कि निराग्रह की जगह आग्रह और विरह की जगह भोग अधिक पुरुषोचित है। वह सामर्थ्य का लक्षण है और उन्नति उसी में से होती है। जिस प्रेम का आपने जिक्र क्रिया और मैं यहाँ समर्थन कर रहा हूँ उसे 'इनफैण्टाइल' बचकाना कहकर एकदम रद्द किया जा सकता है। यह दृष्टि कह सकती है कि उस प्रकार से युद्ध लड़ा और जीता नहीं जा सकता। जीवन में गति नहीं की जा सकती, बढ़ा नहीं जा सकता। प्रेम वह अर्थकारी और कार्यकारी है जो उसी जोर के कारण प्रेम-पात्र को दूर नहीं रहने देता, बल्कि खींचकर हाथ

में ले लेता है। पौरुष और पुरुषार्थ शब्द में ही जैसे वह ध्वनि डाल दी गयी है और इस प्रकार के विचार-प्रवाह में ऐसी मानसिकता पैदा कर दी है जैसे ब्रह्मचर्य नपुंसकता का ही नाम हो।

मैं उस दृष्टि से सहमत नहीं हो पाता हूँ। पौरुष और पुरुषार्थ की सफलता और प्रेम की उपलब्धि उस सीमा तक देखकर ही रह जाती है। आज तो हम ठोस धरती से उड़कर केवल शून्य में जा पहुँचे हैं और विज्ञान का ध्यान वहाँ की सत्यता को पकड़ने में लगा है। ऐसे समय उस दृष्टि को अपर्याप्त मानने में संकोच नहीं होना चाहिए जो भोग में से प्रेम की तृप्ति मान बैठी। जैसे कि आज शून्य ठोस से अधिक महत्त्व और वस्तुत्व पा सका है, वैसे ही भोगचर्या से ब्रह्मचर्या में अधिक सरसता और वास्तविकता देखी जा सकती है। मैं नहीं मानता कि आदमी में भोग में से रस पानेवाला प्रेम ही है। विरह में से उपलब्धि पानेवाला प्रेम मानवातीत और इन्द्रियातीत है। आदमी में दोनों ही हैं और हरेक के पास प्रेम-मात्र है जो स्वप्न का केन्द्र है और प्राप्ति से अतीत। वहाँ से भोग की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वप्न की ओर स्फूर्ति की प्राप्ति बराबर होती रहती है और उसी के बल से जीता, बढ़ता और उठता चला जाता है।

आपके उदाहरण में प्रेम में दो मिले नहीं कि बिछुड़ गये और मृत्यु शय्या पर ही मिले। कल्पना की जा सकती है कि ये दोनों बिछुड़े प्रेमी अपने-अपने पात्र में अपना संसार चलाते और रचते रहे। उनका विवाह हुआ होगा, शायद परिवार भी बना होगा। यह मानने का कारण नहीं है कि वे अपनी-अपनी जगह सफल पति और पिता अथवा पत्नी या माता न बने। पति और पत्नी के कर्त्तव्यों का निर्वाह भी होता रहा होगा, लेकिन किशोर वय में प्राप्त हुआ प्रेम और उसका स्मरण क्या उनके गृहस्थ जीवन में उनकी सहायता ही न करता रहा। समुद्र पर जहाज खाली चले तो वह डगमगाता है। उसे नाहक भी बोझ से भरना होता है तब वह चलता है। इसको अंग्रेजी में 'बैलेंस्ड' करते हैं। उससे गति में स्थिरता रहती है। यदि प्रेमी परस्पर मिलने का आग्रह रखते, जिसको कि आपने संकोच और भय कहा, यदि उसको तोड़ डालते तो गृहस्थी में गाँठ और उलझन पड़ती। संकोच और भय को थामे रहे तो मुझे निश्चय है कि संसार-यात्रा में उनके प्रेम ने उनकी मदद ही की होगी। जीवन में एक भार आ गया होगा और उसमें स्थिरता बनी रही होगी। शरत्चन्द्र की देवदास पुस्तक आपने देखी ही होगी। देवदास ने तो अपने को निचोड़कर खत्म कर डाला, किन्तु प्रेम की रचनात्मक शक्ति पार्वती के उदाहरण में से तो स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। एक सहज औदार्य और अनासक्त कर्त्तव्यशीलता और उपरामता जो पार्वती को प्राप्त हुई थी सो क्या उसका स्रोत देवदास का वियुक्त प्रेम ही न था। ऐसा व्यथायुक्त प्रेम कितना भी निंदित और

लांछित हो, लेकिन जीवन को सौम्यता, शुचिता और समर्थता ही देगा।

काम से उत्पन्न हुई समस्याओं का हल आप किसी निषेधमूलक नीतिवाद में नहीं देखते हैं। उधर ब्रह्मचर्य की साधना में जाने कितने निषेध-नियमों का विधान है। इनमें संयम भी एक निषेध ही है। तो क्या उस सम्पूर्ण प्रेम की उपलब्धि में पहुँचने तक बीच में गिरते जाने की आप अनुमति देते हैं?

—प्रश्न उलझ गया है और उसमें कई बातें आ गयी हैं।

1. काममूलक समस्याओं के शमन के लिए क्या निषेधात्मक नैतिक प्रयत्न बेकार है?

2. ब्रह्मचर्य का विधान इसी निषेधात्मक नैतिकता का ही जो सहारा लेता दीखता है!

3. संयम क्या स्वयं निषेधात्मक नहीं है?

4. सम्पूर्ण प्रेम में जाकर वे समस्याएँ हल हों, तब तक क्या कुछ उपाय नहीं है? प्रेम की सम्पूर्णता सहज साध्य तो है नहीं, तब तक क्या कामाचार जायज हो?

हाँ, मैं निषेधवादी नैतिकता में प्रश्न का हल नहीं देखता हूँ। निषेध बाहरी अंकुश का सहारा भी ढूँढ़ता है। हम कामाकर्षण के जोर को वहाँ जिसे जोर से काटना चाहते हैं, वह स्वयं आंशिक और सन्दिग्ध है। व्यक्तित्व के एक अंश से दूसरे अंश को दबाना, भीतर एक द्वन्द्व और विभाजन उत्पन्न कर देता है। इससे व्यक्तित्व में सुसंवादी की जगह जैसे एक विवाद-विग्रह का स्वर मुखर होता है। स्वभाव में एक तनाव घर कर जाता है। चित्त उद्विग्न रहता है और भीतर बन नहीं मालूम होता।

ब्रह्मचर्य की रूढ़ धारणा तो एकांगी है। विग्रह उसमें स्पष्ट दीखता है। वह चर्या ब्रह्म की नहीं हो पाती। निस्सन्देह ब्रह्मचर्य का प्रचलित अभ्यास निषेधात्मक नीतिवाद पर अवलम्बित दीखता है। उस साधना ने समर्थ और मुक्त व्यक्तित्व हमें नहीं दिये हैं। ब्रह्मचर्य से व्यक्तित्व में समीचीनता आनी चाहिए। वह सुसंवादी, प्रफुल्लित और सेवाभावी होना चाहिए। पर ऐसा नहीं देखा जाता है। अधिकांश दर्प और दम्भ उसके साथ मिलता है। मानो ब्रह्मचर्य इन्द्रियों के विरोध में सीधा ठाना गया एक युद्ध हो। उससे एक हठवाद उत्पन्न होता है और व्यक्तित्व में कर्कशता आती है। ब्रह्मचर्य को जननेन्द्रिय-निग्रह के रूप में ही हम देखते हैं तो जैसे उसे अहिंसा, अपरिग्रह आदि धार्मिक आवश्यकताओं से अलग कर देते हैं। आशा करते हैं कि इधर वस्तुओं में हम आसक्ति रखे चले जा सकते हैं, उधर ब्रह्मचर्य का पालन भी होता रह सकता है। रसना के स्वाद के बारे में सावधान

हैं नहीं, जोर और हठ के साथ लंगोट कसने का आग्रह है ही। यह अनमेल सधता नहीं है। जबरदस्ती साधा जाता है तो व्यक्तित्व की समरसता और सौम्यता भंग होती है।

संयम आवश्यक रूप से नकारात्मक नहीं होता, आन्तरिक भी वह हो सकता है। आन्तरिकता में से जब उसका उदय हो तब वह दिखावटी नहीं रहता, लोकमान्यता और लोकयश का प्रार्थी नहीं रहता, अभ्यन्तर की ओर से ही आवश्यक होता है। यह संयम अन्दर के बल का प्रकट रूप है। सब जगह अगर हमारी तबियत नहीं फिसलती है, तो क्या इसमें बलात् संयम की हमें दरकार होती है? रुचि-सम्पन्न में अरुचिकर के लिए सहज अरुचि होती है। देखने में यह संयम लगता है, लेकिन इसमें एक आन्तरिक नियम ही काम करता है। अत: यह हो नहीं सकता कि बलशाली संयत न हो। कारण बल स्वयं मर्यादा की सृष्टि करता है। यह नियम-संयम मनुष्य की निजता में गर्भित है, कहिए कि मनुष्यता में ही गर्भित है। पुरुषार्थ-रूप यह संयम अशुभ नहीं है। वह संयम, जो कि आन्तरिक प्रेरणा में से नहीं आता है, किसी बाहरी विचार या लिहाज से अपनाया जाता है, उसे नकारात्मक कहना चाहिए। वह अवश्य लाभ नहीं करता, वरन् अलाभ कर जाता है। कारण, व्यवहार तब हार्दिक नहीं होता, औपचारिक होता है। सहज नहीं होता, शिष्ट बनता है। इसमें भीतर दमन रह जाता है जिससे व्यक्तित्व में विभक्ति पड़ जाती है। किन्तु इसे संयम से अधिक दलन कहना चाहिए।

हाँ, सम्पूर्ण प्रेम सहज नहीं है। उसे तो सिद्धि ही समझिए। किन्तु उस पूर्णता से पहले कामाचार ही सम्भव हो, सो क्यों? उससे पहले काम की मुक्ति अवश्य नहीं है; फिर भी जो सम्भव है वह काम का मर्यादाशील उपयोग है।

चढ़ने-गिरने की भाषा में हम छुट्टी पा लें। वह भाषा वैज्ञानिक विचार में सहायक नहीं होती है। वह केवल व्यवहार की है जहाँ हमने दर्जे और खाने बनाये है और व्यक्तियों को परस्पर ऊँचा-नीचा बिठाना आवश्यक समझा है। इन भेदों के पार जरूरी तो उस नियम को पाना है जो सब जगह काम करता है। उसको समझने के बाद ही यदि विकार का उपचार हो तो कुछ हो सकता है।

सच यह है कि जो हममें है, रोष या द्वेष में उसके किसी कण को भी नहीं किया जा सकता। सत् को असत् नहीं किया जा सकता। इसलिए जो असत् है, उसको अवसर देना चाहिए कि वह अपने में असत् दीख आए, सत् बनने का अवसर उसे न मिले। अर्थात् सत्य को साथ पकड़े रहे तो इसी में पाप गलता और कटता है।

नीतिवाद सच को साथ रखने में कठिनाई पैदा करता है। उसके कारण हम भले दीखना चाहते हैं, सच्चे नहीं बनना चाहते। अर्थात् भले दीखने के लिए अपने

साथ मिथ्या का आचरण करने लग जाते हैं। इस मिथ्या के आते ही काम के आकर्षण में धार पड़ जाती है। वह आकर्षण तो है और प्रत्येक अनुभव करता है। लेकिन शिष्टाचार में जैसे हम यही अस्वीकार करने के प्रयासी होते हैं। रूप पर आँख जाती है, पर मानो अपने को ही यह पता नहीं लगने देना चाहती। इस प्रयास से कपट शुरू होता है। पत्नीव्रत और पतिव्रत को हम इतना अन्तिम कर्त्तव्य मान लेते हैं कि जैसे उनके समर्थन के लिए झूठा आचरण भी सही हो जाता हो। झूठ से जो सुगमता होती जान पड़ती है सो उस घने सम्बन्ध में भी सच से हम बचते हैं और अनायास झूठा आचरण करने लग जाते हैं। समस्या और प्रश्न अधिकांश इसी मिथ्याचार में से विकट होते हैं। जो सहज होना चाहिए वही गठीला और कटीला बनता है, दमन से हम उसको उलटे अदम्य बना देते हैं। सुन्दर जो हो सकता था, इस प्रकार के द्वैध आचरण से वही कुत्सित बन जाता है। जो प्रवाह हमें आनन्द और बल दे सकता था वह रुँधकर सड़ने-गलने लग जाता है और दुर्गन्ध उपजाता है। केवल इस कारण कि सच्चाई से हम अच्छाई को ऊँचा और अलग मान लिया करते हैं। नीतिवाद की अधिकांश त्रुटि यही है। वह शिव को सत्य से पृथक् प्रतिष्ठा देने का प्रत्यन करता है और परिणाम इष्ट नहीं अनिष्ट आता है। अन्तिम शिव सत्य ही है। सत्य से अलग होकर शिवत्व खण्डत्व बनता है और अन्तर-बाह्य में व्यवधान डालने लग जाता है।

मानसोपचार और मनोविश्लेषण की प्रक्रियाओं में आप इसी तथ्य का स्वीकार पाइएगा। अन्दर पड़ी ग्रन्थियों को, जिन्हें हठात् अस्वीकार में अवचेतन की ओर हम धकेलते रहते हैं, इस चिकित्सा में खुली चेतना में लाने की चेष्टा की जाती है। असच में से सच में ले आने मात्र से विकार कट जाता है, ऐसा लोगों का अनुभव है। मैं समझता हूँ कि चेतना में गाँठ पड़ती है, तभी पाप की सृष्टि होती है। समस्याओं और उलझनों के मर्म में जाने-अनजाने यही पाप-बीज हुआ करते हैं। राजनीतिक और सामाजिक आदि कहकर हम उनके बाहरी रूप से कितने ही लड़ते जाएँ, जड़ें उनकी मानव-चेतना में होती हैं। उनका आदि-उद्गम उन ग्रन्थियों में होता है जो सच में घबराकर असच में मुँह मोड़ने से बन जाया करती है। मूल संस्कृत भाषा में अच्छे-बुरे के लिए दूसरे शब्द ही नहीं, सत्-असत् संज्ञाओं से ही हम उन्हें अभिहित करते हैं। असत् की सत्ता नहीं है। इस प्रकार समझें तो बुराई वह है जिसकी जड़ें नहीं होतीं। अपने-आपमें बुराई टिक नहीं सकती, हम जाने-अनजाने खुद उसे अपनी मानता का सहारा दे लेते हैं तो बुराई प्रतिष्ठा पा जाती है। उस सहारे को नीचे से खींच लेने से वह बुराई आप ही गिरी और मरी रखी है। उसे मिटाने पर तुलने की जरूरत नहीं है, वह आप ही मिटी रखी है। बनी जो दीखती है सो अपने आत्म-छल से ही हमने बना डाला है। अपने

साथ छल करना छोड़ दें तो उसका बनाव एक साथ गिरकर शून्य हो जाएगा। डर भूत को बना देता है। ऐसे ही भय और छल पाप बना देते हैं।

विवाह तो पवित्र संस्था है न? दोनों ओर के कुटुम्बीजन और समाज के बन्धु-बान्धव उसमें सहयोग देते हैं। कामाकर्षण को, नर-नारी सम्बन्ध को जब हमने निश्छल सद्‌भाव से स्वीकार किया तो वही संस्कार बन गया और जीवन को संवर्धन देने योग्य हुआ। इस काम-स्वीकार में से हमको मानव सन्तति प्राप्त होती है और उस सातत्य से विकास सम्पन्न होता है। यह इष्टता यदि स्त्री-पुरुष के भोग सम्बन्ध में पैदा होती है तो केवल इस निमित्त से कि वहाँ हमने सहारा और आधार लिया है। विवाह के अतिरिक्त ऐसे भावों और सम्बन्धों को लेकर जो सवाल और संकट पैदा होते हैं, वे केवल इस कारण कि अनिष्ट समझकर सच के साहस को वहाँ हम साथ नहीं रखते हैं और असत् को अपना बैठते हैं। काम का आकर्षण पति-पत्नी में परस्पर यदि समाप्त नहीं दीखता है तो इसको अनदेखा हम न करें, बल्कि खुली आँखों देखें और पहचानें। तब हमारी संस्थाओं में शायद नीति-नियम की कड़ाई नहीं रहेगी और उदाराशयता का प्रवेश होगा। इस प्रकार स्वच्छन्द कामाचार बढ़ेगा, यह मैं असम्भव मानता हूँ। कड़ाई से जितने उसके बढ़ने की सम्भावना है, उदारता और सहानुभूति से उस स्वेच्छाचार के उतने ही घटने की सम्भावना बनती है।

यह निर्विवाद सत्य है कि योग-मार्ग एवं भोग-मार्ग में परस्पर देवासुर संग्राम है। दोनों पक्षों में स्वर्ग व अपवर्ग की लूट मची है। दोनों स्वयं को सही एवं अन्य को गलत साबित करने में 'काट' के तर्क को मात कर रहे हैं। जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, कामशास्त्र के मर्म एवं रहस्य से जो विद्वान दूर हैं और अपने विचार प्रकट कर रहे हैं, वह स्वयं धोखे में हैं। बिना काम स्वयं आचार्य शंकर दिग्विजयी भी अपूर्ण रहे। कृपया अपने विचार एवं निर्णय प्रदान कर सही पथ-प्रदर्शन करें।

—काम दिग्विजयी है। वह सृष्टि के मूल में है। उसके सामने तपस्वियों के संकल्प ढहकर ढेर होते चले गये हैं, इत्यादि बातें लोक-विदित हैं। उनका साध्य लोगों के अनुभव में विद्यमान है। पश्चिम के फ्रायड ने उसको अधिक करके बताया है, यह नहीं कहा जा सकता। भारतीय शास्त्र स्वयं उसकी विश्वविजयिनी शक्ति की साक्षी दे रहे हैं।

लेकिन भोग की इस अदम्यता के कारण योग की सारी बातें व्यर्थ हैं, यह मानना अपनी हत्या करना है। सच यह कि भोग के कारण ही योग को अनिवार्य कहा जाता है। चाहो तो उनमें देवासुर संग्राम भी कह लो। लेकिन क्या यह भी

शास्त्रों में नहीं है कि दैव और दैत्य भाई-भाई थे। भाई-भाई में युद्ध हो तो वह नृशंस हुए बिना नहीं रहता, पर युद्ध होने की आवश्यकता आनी नहीं चाहिए। भाई-भाई में युद्ध आसानी से बच सकना चाहिए। यह सब लोग मान लेंगे।

क्यों काम में यह अपरिसीम शक्ति है? क्योंकि अकेलापन झूठ है। जो चेतना और साधना अकेलेपन को सच करने के लिए चली, वह काम के हाथों टूटे बिना नहीं रह सकती। अकेलेपन को दूर करने के लिए दुकेलापन आता है जिसको संस्कृत में मिथुन कहते हैं। मैथुन उसी से बना है। अकेलेपन के झूठ को सच के नाम पर जिसने सेवन किया, उसके गर्व को खर्व करने के लिए काम आया और विजयी हुआ। उस विजेता काम ने मानो घोषणा की कि एकांकिता मिथ्या है, परस्परता सत्य है।

हर मनोविज्ञान बताएगा कि अकेलापन घेर लेता है तो काम उससे उद्धार करने को आता है। अकेलेपन को लेकर व्यक्ति चलता और उस भेंट को किसी की गोद में डालकर मानो साँस और जीवन पा जाता है। यह मानवी परस्परता अनिवार्य है। अकेलापन हो नहीं सकता कि दुकेलेपन को न ढूँढ़े। पुरुष हो नहीं सकता कि अपने को अधूरा न पाये। न स्त्री इस अधूरेपन से छूट सकती है। इसलिए पूर्णता की राह में ही दोनों की एक-दूसरे की ओर प्रवृति होती है। प्रकृति में यह सत्य यहाँ से वहाँ तक उजागर लिखा हुआ है। सृष्टि क्यों मैथुनी है? क्या संसार की निरन्तरता के लिए विधाता और कोई विधान नहीं रच सकता था? क्यों यही एक प्रक्रिया शेष रह गयी कि जिसे वीभत्स कहना जरूरी जान पड़ता है। कितनी भी अरुचि लेकर परमेश्वर के इस परम रहस्य में अपना प्रश्न लेकर हम जाएँ, समाधान नहीं मिलता। इससे कहीं बचाव नहीं है कि जगत् नर-नारीमय है। शायद अणु की अणुता भी इससे मुक्त नहीं है।

लेकिन भोग की एक सीमा है। उसमें एक अन्य एका को ही प्राप्त कर सकता है। दूसरे सब अनेक उसमें छूटे रह जाते हैं। एक समय दो स्त्रियों या दो पुरुषों के साथ भोग सम्भव नहीं है। कभी-कभी भोग इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। मानो अनिवार्य है कि भोग में दो ही परस्पर के लिए रह जाएँ, शेष असंख्य, अनन्त से वे कट जाएँ। भोग के अनन्तर जो एक अनिवार्य अतृप्ति चलती है, सो इसी कारण है। भोग को कितना भी बढ़ाते चले जाइए, अतृप्ति समाप्त नहीं हो सकती।

तो क्या आदमी इसलिए है कि अतृप्त रहे? नहीं, अतृप्ति सत्य नहीं हो सकती। सत्य में तृप्ति होगी और वह परिपूर्ण होगी। भोग के साथ इसीलिए मानव के मानस में योग का उदय होता है। भोग में से अतृप्ति आती है तो योग में से वह तृप्ति लाएगा।

योग में से तृप्ति कैसे आ जाएगी? योग अपने शब्दार्थ से ही जोड़नेवाला है। भोग एक को दूसरे से जोड़ता है, लेकिन बाकी सब दूसरों से तोड़ता है। योग एक को दूसरे एक के साथ ही नहीं, बल्कि सब दूसरों के साथ जोड़ता है। भोग की इस मर्यादा के पार जब हम निकल जाते हैं तो मानो योग में आ जाते हैं।

योग वह नहीं हो सकता जो काटता है, किसी सम्बन्ध की उसमें क्षति नहीं हो सकती। सब सम्बन्ध वहाँ सम्पूर्ण ही होते जाते हैं। अर्थात् एक के अकेलेपन के लिए वहाँ रक्षा या बचाव नहीं है। दो एकत्व जब परस्पर निछावर होकर मैथुन सृष्ट करते हैं तब एकत्व सर्वत्व के प्रति अपना अर्पण करके यज्ञ की सृष्टि करता है। इसमें स्व की आहुति में से सर्वस्व की प्राप्ति होती है। भोग में स्व का परस्पर निवारण और संवरण मात्र होता है। योग में स्व से निवृत्ति और निर्वाण प्राप्त हो जाता है, जिसका अर्थ है नित्य सर्वस्वोपलब्धि।

योग की स्वरति की भाषा और भावना में समझा और साधा गया है। इससे बड़ा मिथ्यात्व दूसरा हो नहीं सकता। काया-क्लेश और कृच्छ साधना इसी मिथ्या दर्शन में से मनुष्य के हाथ पड़ते हैं। इसमें कोई उपलब्धि नहीं है, कोरी हठवादिता है। ऐसा योग भोग से हारे बिना रह नहीं सकता। क्योंकि इसमें परस्पर के विरोध में एकाकी को प्रतिष्ठित करने का हठ रहता है। सृष्टि असीम है, सत्य अनन्त है। इस समष्टि और समग्र से विमुख और विपरीत अपने भर को मान रहना इतना बड़ा झूठ है कि कहने की बात नहीं। स्त्री के इनकार पर पुरुष का ब्रह्मचर्य और पुरुष के इनकार पर स्त्री का सतीत्व टिक सकता हो तो इनकार ही सत्य बन जाता है। ब्रह्मचर्य, सतीत्व और पावित्र्य की वैसी निषेधात्मक धारणा नितान्त असंगत है। जो संगत है और इसलिए जो सच्चा योग है वह एक को समग्र के सम्पूर्ण सम्बन्ध में ले आता है। उसमें इनकार नहीं है, घनिष्ठ-से-घनिष्ठ प्रकार का स्वीकार है। मैं मानता हूँ कि इस योग में पुरुष और स्त्री परस्पर को देह में नहीं आत्म में पा जाते हैं। देह अंश है और बाह्य है, आत्म मर्म है और समग्र है। इसलिए यह सम्प्राप्ति कहीं अधिक तृप्तिकारक होती है। इसमें पुरुष की पुरुषता और स्त्री का स्त्रीत्व बीच में ही असंगत बना रह जाता है। मानो अखण्ड सम्बन्ध में कहीं कुछ रहता ही नहीं। पुरुष स्त्री बनकर परमेश्वर की आराधना कर सकता है और स्त्री परमेश्वर के प्रति पुरुषवत् स्वत्व जताए तो उचित रूप में जतला सकती है।

प्रश्नकर्ता ने कामशास्त्र के विद्वान होने की बात भी कही है। उस बात को मैं समझ नहीं सकता। यौन शब्द दैहिक बोध देता है। संस्कृत में काम को मन्मथ कहा है, अर्थात् दैहिक नहीं, वह मानसिक है। इस विधि काम को समझ देखेंगे तो जान पड़ेगा कि वह नीति और अध्यात्म से दूर नहीं रह गया है। वात्सोयन

ऋषि और सन्त माने गये हैं। कामसूत्र लिखने का अधिकार उन्हें ऋषित्व के कारण मिल सका, भोगाधिक्य के कारण नहीं। अर्थात् काम-सम्बन्धी विज्ञता का सम्बन्ध दैहिक प्रयोगशीलता से नहीं है। उसका सम्बन्ध मन और अहंकार आदि की सूक्ष्मता से अधिक है। पश्चिम के हैवलेक ऐलिस जो अब तक यौन-विज्ञान के सबसे तज्ञ आचार्य माने जाते हैं ऋषि-तुल्य पुरुष हैं। इन सब उदाहरणों से देवासुर संग्राम की बात को मन में से निकाला जा सकता और भोग और योग दोनों को परस्परापेक्षा में समझने की चेष्टा की जा सकती है।

अपने लिखने में सेक्स को आपने जैसे महिमा से मण्डित कर दिया है, उसके साथ जो एक अपरिहार्य जुगुप्सा का भाव है सो क्या अकारण है, सुरुचि उसको स्वीकार नहीं कर सकती। इसी से ब्रह्मचर्य का आदर्श मन को खींचता रहा है। सेक्स से जो उत्तीर्ण है, उसके प्रति अनायास श्रद्धा होती है। काम अन्त में वासना ही है। उससे जीवन का निर्माण नहीं होता, अधोगति होती है। ऊर्ध्वगामी जीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक होगा। इसमें प्रथमत: काम को और फिर दूसरी इन्द्रियों को जीतना होगा। क्या आप इसे अस्वीकार करते हैं?

—हाँ, इस भाषा को अस्वीकार करता हूँ। काम और इन्द्रियों को जीतना होगा, तो फिर विजेता को इस जीत के बाद क्या करना होगा, यह साफ़ समझ में नहीं आता। इन्द्रियों का तब क्या होगा? क्या इन्द्रियाँ मर जाएँगी? आँख फूट जाएगी, नाक बन्द हो जाएगी, मुँह सिल जाएगा? आखिर ऊर्ध्वगामी जीवन में शरीर और इन्द्रियों का क्या बनेगा? जीत लीं जाएगी, यह तो चलो ठीक हुआ। पर जीतकर उनके साथ क्या किया जाएगा, यह जानने को शेष बचा रहता है।

मैं हार-जीत की भाषा को इस जगह केवल सूचक मानता हूँ। उससे अधिक यथार्थ नहीं । इन्द्रियों को पूरी तरह परास्त तो मुर्दा करता है। उस हालत में आँख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकता, कोई इन्द्रिय कुछ नहीं कर सकती। सब सर्वथा अस्त और समाप्त हो जाती हैं। क्या मुर्दा ही विजेता और ब्रह्मचारी है?

अर्थात् काम और दूसरी इन्द्रियों के प्रति विरोध-भाव एक प्रकार से व्यर्थता और नास्तिकता है। यह मूल स्थापना ध्यान में रखें तो भय का कारण उड़ जाता है। इन्द्रियाँ तब अस्वस्थता का मूल नहीं रहतीं।

भय और आशंका के निमित्त से कामवासना और अन्य इन्द्रिय-व्यापारों का महत्त्व हमारे मानस में आवश्यकता से अधिक जगह घेरकर छा जाता है। जो केवल यन्त्र है वह शत्रु का स्थान और महत्त्व ग्रहण कर लेता है। परिणाम यह होता है कि जो सीढ़ी नीचे से ऊपर ले जानेवाली है उसी का हम अविश्वास करने लग जाते हैं। देखने यह लगते हैं कि वह ऊपर से नीचे लाती है और यह देखना

शुद्ध मानसिक होता है। हम आदर्श के घोंसले का निर्माण कर लिया करते हैं और कोरी कल्पना से चढ़कर उनमें जो बैठा करते हैं। वहाँ से इन्द्रियों और शरीर को देखकर मानते और जताते हैं कि ओह यही हैं जो हमें नीचे ले जाते हैं। कोशिश करते हैं कि बीच का यह माध्यम एकदम हट जाए तो हम ऊँचे बने रहें। ऐसे इन्द्रियों से असहयोग ठानकर हम अधर में टँगे रह जाते हैं और मानते हैं कि ऐसे हम ऊँचाई पर रह रहे हैं।

लेकिन यह मनोकल्पना होती है। कभी एक भी उदाहरण में वह टिक नहीं पायी। ऐसा टँगा आदमी फिर इस बुरी तरह गिरता है कि विश्वास नहीं होता, और यह गिरना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियाँ हैं और इसलिए हैं कि ऊपर जाने में उनका उपयोग हो। अविश्वासपूर्वक उनके सहारे को शुरू से ही जब हम तज देते हैं तो ऊँचे चढ़ना तो यथार्थ में होता नहीं है, थोथा ऊँचा मानना ही हो पाता है। यह विडम्बना महाभयंकर है और आदर्शवादी लोग इसी में टूटते और डूबते हैं।

कामेन्द्रिय और दूसरी कर्मेन्द्रिय हमारे पास तो हमारे भले के लिए हैं। यह स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाये बिना नीति और अध्यात्म के मार्ग पर पहला कदम भी हम नहीं रख सकेंगे। शुरू से आशंकित और अवैज्ञानिक होकर हम चल नहीं पाएँगे, ठिठके-ठिठुरे ही रह जाएँगे।

सेक्स एक अनायास साधना भी है। इसी से देखते हैं कि प्रेम का मार्ग आसान नहीं होता। वह बलिदान का मार्ग है। सेक्स के साथ एक लज्जा चलती है। लज्जा अभिमान का असूत्र है। अभिमान अन्त में एक दोष है। इस अभिमान को जीतना शायद सबसे कठिन अभ्यास है। योगी भी उससे पार नहीं पाते। अब भगवान की ओर से जो यह काम आदमी को प्राप्त हुआ है उसके बल से वह अभिमान आदमी का चूर होता है। स्त्री पुरुष के प्रति और पुरुष स्त्री के प्रति सहज समर्पित नहीं होते, जाने कितनी लड़ाई पहले अपने साथ उन्हें लड़नी पड़ती है। अन्त में जब दोनों हारते हैं, ठीक उसी क्षण दोनों जीतते भी हैं। तभी दोनों के संयोग से नयी सृष्टि होती है।

इस भाँति विज्ञानी वृत्ति से साधारणतया विचार नहीं किया जाता और सृष्टि के महामन्त्र पर काला परदा डाले रखना उचित समझ लिया जाता है। यह भयंकर मूल भावना नीतिवादियों के कारण होती आई है और इससे जबकि लाभ तनिक भी नहीं हुआ है, हानि भयंकर होती रहती है।

सृष्टि तो निरन्तर चलती है। हमारे विचार से उसका क्रम टूट नहीं सकता। लेकिन मानव-सृष्टि अगर व्यवस्थित नहीं है, अन्धाधुन्ध और बेतहाशा है तो उसका कारण मुख्यत: सेक्स के प्रति हमारा यह अन्धभाव है। इधर जुगुप्सा का भाव उधर गुप्त लालसा का भाव। परिणाम यह कि अत्यन्त अवैज्ञानिक और अनिष्ट

परिस्थितियों में प्रजोत्पादन जैसा दायित्व कर्म सम्पन्न होता है। सन्तति क्षीण होती है, आवश्यकता से अधिक होती है, हीन-दीन होती है, तो इसलिए कि मन का स्वास्थ्य दोनों ओर से उसके साथ नहीं जाता। स्त्री-पुरुष संयोग होता है पर जैसे किंचित् मानसिकता का उसके साथ असहयोग भी होता है। यही कारण है कि काम दमित रहकर वासना के रूप में दहक आता है और वह करता है जो अकार्य होता है।

अनबन रखता और बहुत हुआ सामयिक नीति विचार बहुत सही नहीं है जो असहयोग की मूल धारणा लेकर इन्द्रियों से सन्धि स्थापित करता है। वही विचार है जो आत्मा के साथ इन्द्रियों का युद्ध बतलाता है। अब ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ समय आ गया है कि हमारी नीति, विचार अधिक उन्नत सन्दर्भ में हों। वह भय और विग्रहमूलक नहीं, स्नेह और भावापूर्वक हो, तब काम शक्ति गिराएगी? नहीं हमें उठाएगी और ध्वंसात्मक की जगह वह हमारे लिए विधायक और रचनात्मक होगी।

प्रेम और काम धर्म के विषय हैं। उनकेविचार में द्विधा संकोच की आवश्यकता नहीं है। निस्पृहता की आवश्यकता है और मूलगत यह आवश्यकता है कि हम पहचान लें कि शक्ति के रूप में कुछ भी अनुपादेय नहीं है। दृष्टि का संशोधन चाहिए।

आपने कहीं 'प्रेम और विवाह' लेख में लिखा है कि 'पति को प्रेमी तथा पत्नी को प्रेयसी का स्वागत करना चाहिए।' पर लगता है ऐसा होना मुश्किल है, क्योंकि पति-पत्नी के बीच की आस्था तथा प्रेम तब टूटने लगेंगे। प्रेम और पतिव्रत अथवा पत्नीव्रत धर्म का समानान्तर रूप से कैसे निर्वाह हो पाएगा, यह समझ नहीं आता। क्या विस्तार से इस पर प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे?

—प्रश्न की भाषा उसके पूरे मन्तव्य को साफ नहीं रख पाती। इससे पहले मैं कुछ शब्दों में उस बात को कहना जरूरी मानता हूँ।

समाज परिवार की इकाई से चलता है। परिवार विवाह से बनता है। विवाह से आशा की जाती है कि परस्पर पति-पत्नी होकर दोनों के लिए फिर अलग प्रेम की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

पर प्रेम विवाह में समाप्त नहीं होता। शेष रहता ही चला जाता है। पति-पत्नी के साथ प्रेमी-प्रेमिका का होना बन्द नहीं हो पाया है। विवाह की सुरक्षा के नाते प्रेमी-प्रेमिका को लांछित किया जा सकता है, दण्डित किया जा सकता है, खत्म तक किया जा सकता है, लेकिन फिर भी प्रेमी-प्रेमिकाओं का अस्तित्व सम्भव बनता है।

इस प्रेम और विवाह के विग्रह में समाप्त कोई नहीं हो पाता। मैंने माना था और मानता हूँ कि जब उनका विग्रह धर्म बना दिया जाता है तो यह भूल ही होती है। दोनों परस्पर पूरक हो सकते हैं और होने चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष और अधिकार के जोर से विवाह की सीमा को सुरक्षित रखने का यत्न ठीक नहीं है। विवाह इस तरह डिगने के डर में रहता है और दिखावा बना रहता है। प्रेम उधर उस कारण अपनी स्वच्छता छोड़कर मलिन बना जाता है। इस स्थिति में से झूठ और व्यभिचार को जन्म मिलता है। हमारा समाज उस विग्रह-जनित पाप से जर्जर हुआ जा रहा है। बहुत दुर्गन्ध और सड़ांध पैदा होती है उससे। नैतिकता का ढकना ही ऊपर रहता है, अनैतिकता भीतर फलती-फूलती रहती है।

अब प्रश्नकर्ता का प्रश्न है कि क्या ईर्ष्या अनिवार्य नहीं है? क्या पति-पत्नी में परस्पर अधिकार भाव उचित नहीं है? क्या कभी यह सम्भव हो सकता है कि पत्नी किसी दूसरी के प्रति पति की निगाह में स्नेह देखे तो सह जाए? क्या उसी तरह पति के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह पत्नी के प्रति बिना जले किसी की आँखों में स्नेह देख जाए?

हाँ, मैं यह सम्भव मानता हूँ। ईर्ष्या, द्वेष, वैर और आधिपत्य को मैं सामाजिक अथवा सद्‌गुण नहीं मान सकता। इनके सहारे ही हमारा समाज चल सकता हो तो मानना होगा कि बिना पुलिस-अदालत-जेल के सहारे हम आपस में सहयोग भाव से रहने लायक कभी नहीं बन पाएँगे। यह अवस्था मनुष्यता के लिए धन्यता की नहीं कही जा सकती। आधिपत्य युग से समाज धीरे-धीरे ऊपर सहभाव युग में आ रहा है। और धर्म का पालन बलात् बाहरी नियमों के जोर से ही नहीं होता, बल्कि स्वधर्म के रूप में स्वेच्छा से किया जाने लगा है। संस्कारिता इसी को कहते हैं।

विवाह के अनन्तर भी क्या प्रेम समानान्तर चल सकता है? हाँ, चल सकता है। या तो प्रेम अनावश्यक है, है नहीं, तब तो प्रश्न रह नहीं जाता। पति के लिए प्रेम पत्नी में केन्द्रित हो और पत्नी का पति में, तब प्रश्न पैदा नहीं होता। पर देखा यह जाता है कि विवाह का नयापन छह महीने भी पुराना हुआ कि विवाह एक तथ्य बन जाता है, स्वप्न का भास वहाँ नहीं रहता।

अब आप चाहें कि न चाहें, प्रेम स्वप्न चाहता है। विवाह इतना अधिक घटित तथ्य बन जाता है कि स्वप्न की माँग उससे पूरी नहीं होती, यहीं से समस्या का आरम्भ होता है।

हम दिन में यथार्थ से जूझते हैं, रात को सपने ले लिया करते हैं। रात की इस स्वप्न वाली नींद में से दिन के काम को सहायता ही मिलती है। रात में नींद न ले सकें तो दिन का काम हम उठा नहीं सकते। यह रोज का अनुभव

है। कभी हमने दिन-रात में लड़ाई ठानने की नहीं सोची। जीवन में दोनों एक-दूसरे के पूरक बनते हैं।

प्रेम वही स्वप्न के प्रति सम्बन्ध है। उसमें हम खुलते हैं। हमारी सीमा हम पर से खिसक रहती है। हम असीम का स्पर्श पाते हैं। हमें वहाँ अपनी ही उत्कृष्टि और मुक्ति अनुभव होती है। प्रेम कर्त्तव्य नहीं है, भुक्तता है। वह काल को काटता और मानस को परिपूर्णता देता है।

विवाह एक दायित्व है। वहाँ हिसाब आवश्यक है। प्रेम का हिसाब के साथ निभाव नहीं। जहाँ हिसाब है, वहाँ व्यय है। जहाँ हिसाब सर्वथा है नहीं, अन्नयार्पण का भाव है, जीवन-शक्ति की आय वहाँ से है।

गृहस्थ दीन-हीन बन जाएगा अगर प्रेम का व्यय माँगेगा, आय का मार्ग बन्द करेगा। स्वप्न में से शक्ति की आमद होती है। काम-काज में वही खर्च होती है।

इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो तमाम शक्ति ईश्वर से आती है। ईश्वर वह जो मानव-जाति के समस्त स्वप्नों का स्रोत है। वह अनन्त और अक्षय शक्ति का सागर है। कारण, वह सर्वथा अशरीरी है। रूप, आकार, गुण के अतीत हैं। रूपाकारमय सचराचर जगत् वहीं से अपना प्राण-बल पाता है। उसी को फिर परस्पर के प्रति उपयोग में लाता है।

प्रेम का अधिष्ठान वही परमेश्वर है। जाने-अनजाने प्रेम बहकर सब वहीं जाता है। पूर्ति वहीं है, उत्पत्ति भी वहीं से है। इसलिए प्रेम तो मर सकता नहीं, प्राणी उसके बिना अवश्य मर जाता है। प्रेम इस तरह बाधा या लांछना नहीं है। वह यथार्थ पर प्रहार नहीं है। वह जीवन का मर्म है, ताजगी है। उसके अभाव में कर्त्तव्य निरा बोझ हो जाता है। जीवन आनन्द से हीन होकर भार बन जाता है।

विवाह उस प्रेम की स्वीकृति ही देता है। उसे प्रेम का इनकार बनाना विवाह को ही न समझना है। विवाह वह विधि है जिससे प्रेम से प्राप्त हुई शक्ति को उपयोग में लेकर हम समाज की और सृष्टि की रचना करते हैं। विधि वह सूखी और जड़ हो जाएगी; जीवन को सम्पन्न करने के बजाय विपन्न बना डालेगी, अगर अपने तटों को संकीर्ण करके वह उस प्राण-प्रवाह को रोकेगी जो जीवन का मर्मरूप है।

मेरे परिचय की अनेक गृहस्थियाँ हैं जिनमें यही अघट घटित हुआ है। पति-पत्नी ने एक-दूसरे को घेरने की कोशिश करके अपनी युग्मता के सारे रस को निचोड़कर सुखा डाला है। अब गृहस्थी क्या है कि एक चौका है और सिर पर एक छत है, नहीं तो वहाँ सब वीरान और उजाड़ है!

विवश अवस्था में जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं या यों कहना चाहिए कि जो संयोग उपलब्ध नहीं कर सकते। काम-विज्ञान की दृष्टि से क्या वे उद्वेलित मन व दमित शरीर वाले व्यक्ति कायिक आदि व्याधियों से भी ग्रस्त नहीं हो जाएँगे? दिखाई देनेवाले ब्रह्मचारियों की कुछ टोलियों का अधिक रोगग्रस्त रहना, आपके मतानुसार क्या इसी प्रक्रिया का परिणाम हो सकता है?

—विवशता में ब्रह्मचर्य नहीं होता। जो हो सकता है उसे इन्द्रिय निग्रह या निरोध कहते हैं।

यह इन्द्रिय-निग्रह केवल आदर्श-मोह के नाते ही नहीं, बल्कि कोरे अहंकार के नाते भी हुआ करता है। इन दोनों का ही परिणाम अनिष्ट आता है। मन में आकुलता होती है और शरीर में भी होते-होते वह व्याधियों के रूप में फूट निकलती है।

रोग विवाहित अवस्था में भी होते हैं और अविवाहित में भी। यह मानना कि विवाह होने मात्र से दमन की आवश्यकता नहीं रह जाती है, मिथ्या है। आदमी की इच्छा सदा ही प्राप्त से आगे अप्राप्त और अप्राप्य की ओर जाया करती है। इस कारण संयम और दमन प्रत्येक के लिए आवश्यक होता है। उसमें जितना विवशता का अंश हो उतना अनिष्ट परिणाम होता है और जितना स्ववशता का योग हो, उतना फल अभीष्ट होता है। आप्तकाम, पूर्णकाम आदि संज्ञाएँ आदर्श-बोधक हैं। वहाँ पहुँचा हुआ आदमी फिर सन्देह अवस्था में रहने की ही आवश्यकता में क्यों होगा, वह विदेह न हो जाएगा?

इस ऊपर की बात का आशय यह लेना चाहिए कि जो इन्द्रिय-निग्रह द्वारा एकाकी बनने के अभ्यास से ब्रह्मचर्य साधना करना चाहते हैं, उन पर रोष की आवश्यकता नहीं है। न उनके प्रति किसी विशेष हीनभाव से हमें देखना चाहिए। सच यह है कि आग्रह और अर्पण में बराबर ही द्वन्द्व चला करता है और पूर्णार्पण सहज साध्य नहीं होता। जिसको ऊपर प्रेम कहा गया है, उसमें यह समर्पण अनायास सम्पन्न हो आता है और वहीं काम का शमन भी सम्भव है। गहराई से देखिए तो स्वयं काम हठात् अहं के शमन के लिए उत्पन्न होता है, इसीलिए काम के बल को अजेय कहा गया है। मेरा मानना है कि अहं-भाव को मूल में लेकर जितनी और जितने प्रकार की भी साधना प्रक्रिया है वह अन्त में कामवेग द्वारा खण्डित होने के लिए है। अन्त में खण्डित उस प्रकार की तपस्या-साधना को इसलिए होना पड़ता है कि मूल में वहाँ अहं-भाव रहता है जो कि मिथ्या है। कामना में अहं के साथ कुछ अंशतः प्रेम तत्त्व भी मिल जाता है। स्वयं को लाँघकर वहाँ 'पर' का स्वीकार और सत्कार भी अनिवार्य हो जाता है। मैंने पहले

कहा था कि काम में अर्पण और आग्रह, विसर्जन और स्पर्धा दोनों वृत्तियाँ समानुपात में मिली रहती हैं। इसी से वहाँ विस्फोट की सम्भावना बनती है और व्यक्ति विवेक को साथ नहीं रख पाता है।

जिस प्रकार काम में प्रेम मिला हुआ है, उसी प्रकार प्रेम में भी काम मिला हुआ है। प्रेम वर्द्धन की अपेक्षा है फिर काम के निरोध की क्यों?

—प्रेम में अप्रेम मिलने से काम की सृष्टि होती है। अप्रेम का संवर्द्धन उचित नहीं ठहराया जा सकता। अप्रेम के तत्त्व वहाँ रहते हैं, इसलिए काम में अपने आप निरोध की वृत्ति समाई रहती है। लज्जा, दुराव, बचाव आदि लक्षण इसी बात को सिद्ध करते हैं कि द्वन्द्व वहाँ मूलतः गर्भित रहता है और सेक्स निरोध-निषेध के भाव बचाए नहीं जा सकते। मनुष्य यदि पशु नहीं हो सकता तो इसी कारण कि कामवृत्ति उसके लिए उस तरह सहज वृत्ति नहीं रह जाती, मानो उसमें 'चेष्टा' की आवश्यकता होती है। काम उसके लिए सहज से अधिक द्वन्द्व है और उसके साथ एक निषेध भाव अनिवार्यतया चलता ही है। सच यह है कि काम, वेग, दुर्जय और दुर्दम्य इसी कारण बनता है। सहज हो नहीं पाता, इसलिए उसमें अतिरिक्त रस और लोभ पैदा हो आता है। पाप में यह स्वाद हुआ करता है। कामभोग में भी यदि उस पाप-बोध का स्वाद न मिला हो तो मानो वह बे-स्वाद कृत्य हो जाता है। विवाह की वैधता के भीतर भी सेक्स में एक वर्जन भाव काम करता ही रहता है। वह नष्ट हो जाए और पति-पत्नी परस्पर थोड़े भी दुष्प्राप्य और निषिद्ध न रह जाएँ तो काम का आकर्षण उनके बीच मे लुप्त हो जाता है। इसीलिए काम के सम्बन्ध में वह खुले समर्थन और संवर्द्धन का भाव नहीं रखा जा सकता जो प्रेम के सम्बन्ध में उचित है। आदर्श-सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ की सफलता इसलिए इसी में मानी जा सकती है कि व्यक्ति प्रेम से इतना तत्सम हो जाए कि अलग से उसे काम की आवश्यकता ही अनुभव न हो।

काम दुर्जय है, यह प्रश्न तब पैदा होता है जबकि जय को आवश्यक माना जाए। कोई नहीं कहता कि कान और आँख को मूँदकर उनकी ऐन्द्रिक शक्ति का विलोप कर दिया जाए। जिस प्रकार शरीर धर्म की सहजता है, सुनने की और देखने की, उसी प्रकार काम भी उसका सहज भाव है। सहज का दुष्प्रयोग न हो यानी व्यभिचार और बलात्कार न हो, यह समझ में आ सकता है, पर सहज का उपयोग और प्रवर्तन ही न हो, यह समझ में कैसे आये? इसलिए कामेन्द्रिय का उपयोग ही समाप्त कर दिया जाए, इस आदर्श या परम्परा का हार्द समझ में नहीं आ सकता।

—नहीं, काम पशु के साथ जैसा सहज है, मनुष्य के साथ वैसा सहज नहीं है। पशु और मनुष्य में यही अन्तर है। यह असहजता संस्कारिता के साथ बढ़ती ही चली जाती है। अन्त में हमको वहाँ पहुँचना होगा जहाँ मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार सहज बन जाए। काम-व्यापार कभी तो पूरी तौर पर मुक्त और सहज बन सकेगा, मनुष्य के साथ यह सम्भावना ही एकदम असम्भव है। इसलिए यदि कभी अवस्था वह आएगी जब मनुष्य पूरी तरह सहज, सरल और मुक्त हो, तब मनुष्य कामासक्ति से ऊँचा उठ चुका होगा। वह उत्तीर्णता सम्भव न हो तो जीवन और पुरुषार्थ ही व्यर्थ ठहरता है।

लाख कोशिश करने पर भी काम-भोग में से किंचित् जुगुप्सा, संकोच और निषेध के भाव को लुप्त नहीं किया जा सकता है। यही उसकी सीमा है। काम में और काम के प्रति यह जो मनुष्य के भीतर अनिवार्य द्वन्द्व है, एक साथ आकर्षण और अपकर्षण है, वह स्वयं जतलाता है कि काम बीच की प्रक्रिया है। व्यक्ति को द्वन्द्वहीनता तक उठना होगा। काम द्वद्वज है, इसलिए जब तक वह है, तब तक उसको जीतने की इच्छा भी वर्तमान रहने ही वाली है। वह मैं किसी नैतिकता या धार्मिकता की ओर से नहीं कहता हूँ; स्वयं काम में जो एक द्वन्द्वात्मक दंश सतत काम करता रहता है, उसके नाते ही यह कहना पड़ता है। सारे ग्रन्थ, शास्त्र, उपदेशक, व्यवस्थापक एक साथ समाप्त हो जाएँ, तो भी लज्जा, संकोच आदि की भावना काम-सम्बन्ध से सर्वथा विलुप्त नहीं होनेवाली है। ऐसा क्यों होता है कि हम छिपाकर अमुक किताब पढ़ते हैं या चित्र देखते हैं और प्रकट नहीं करना चाहते हैं? क्यों परदा रखा जाता है? ओट क्यों की जाती है? क्यों किसी के लिए भी खुले में सम्भोग सम्भव नहीं हो पाता है? कारण यही है कि वह कर्म पशु की भाँति मनुष्य के साथ सर्वथा सहज नहीं है और न हो सकता है।

सभ्यता इस प्रश्न से जूझ रही है। मानसिक मुक्त चिन्तना के आधार पर कोशिशें चल रही हैं कि जो अमोघ और अनिवार्य है उस काम के साथ चलनेवाले निषेध भाव को नष्ट कर डाला जाए और वहाँ सर्वथा स्वीकारभाव को प्रतिष्ठित कर दिया जाए। क्लबों में नंगे नाच होते हैं, न्यूडिस्ट उपनिवेश बनते हैं। पर फिर भी क्या उन्हीं से यह नहीं सिद्ध हो जाता है कि सहज भाव नहीं आ पाया है, बल्कि असहजता का भाव बढ़ रहा है फिर चाहे उसे फ़ैशन में कितना भी लाया जा रहा हो। अनेक चिन्तक हैं जो इसी तर्क के सहारे मनुष्य को प्रकृति के साथ तत्सम और मुक्त बना देखना चाहते हैं; सामाजिक मर्यादाओं की लिपटन में उसे छुट्टी दे देना चाहते हैं। पर इन सब प्रयत्नों के बावजूद मनुष्य पीछे नहीं लौट सका है और वस्त्राभरण की सभ्यता आगे ही बढ़ती जा रही है।

इसके विरोध में हम देखेंगे कि वहाँ वस्त्र कम हैं, आवरण लगभग नहीं

हैं, जहाँ काम की चेतना नहीं है। जिन्होंने काम-चेतना को अकुण्ठित भाव से अपनाना चाहा है, वे लोग आवरण और आच्छादन के नये-नये आविष्कार करते चले गये हैं। आवरण से मुक्त हो पाये हैं तो वे जिन्होंने शरीर को स्वीकार किया है, यहाँ तक कि दिगम्बरता को स्वीकार किया है; किन्तु काम को सर्वथा अस्वीकार किया है।

मैंने कई नाइट-क्लब देखे हैं। नग्नता वहाँ सर्व स्वीकृत चीज है, फिर भी सहज-स्वीकृति नहीं होने दी जाती है। अर्थात् कपड़े होते हैं जो नग्नता को ऐसे ढँकते हैं कि ढँकने के द्वारा और उघाड़ हो। नग्नता मानो प्रकृत न हो, उसे छद्म की, आडम्बर की, अतिरिक्तता की आवश्यकता ही अभीष्ट हो, पर मानो बड़ी अपेक्षा और प्रतीक्षा के पुरस्कारस्वरूप ही प्राप्य हो। क्या इसको सहजता कहा जाएगा? क्लब को नाइट-क्लब जो बनाया जाता है, क्या इसी में नहीं है कि वह असहज है?

मैं मानता हूँ कि मनुष्य में विवेक अनिवार्य है। शराब पी जा सकती है, लेकिन विवेक को उससे डुबोया भले जा सके, मारा नहीं जा सकता है। ग़म गलत होता हो, ग़म खत्म नहीं होता। इसलिए काम को अनिवार्य मानकर फिर उसे सहज बनाने का तर्क करना उलटे चलना हो जाएगा। काम अनिवार्य है तो उसको नियोजन में लाने में ही पुरुषार्थ की सिद्धि समझी जा सकती है। विवाह की, और दूसरी तरह की मर्यादाएँ इसीलिए काम को 'उपयुक्त' बनाती हैं, 'अनर्गल' नहीं बनातीं और वही उचित जान पड़ता है।

काम सहज-संस्कारिता के आवरण में रहे यह उचित है। पर काम को निर्मूल करने का हठ तो उचित नहीं माना जा सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य को आदर्श कैसे माना जा सकता है? क्या ब्रह्मचर्य के द्वारा शरीर के सहज धर्म को निर्मूल करने का ही प्रयत्न नहीं है? पर उस सहज-धर्म को निर्मूल करने के प्रयत्न से ही रोगों की उत्पत्ति भी सम्भव होती है। जैसाकि सुनते हैं, हिस्टीरिया इसी प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है।

—काम है कारण, प्राणी द्वन्द्वग्रस्त है और द्वन्द्व में से अनिवार्यतया काम की सृष्टि होती है। यदि मानव-प्राणी द्वन्द्वग्रस्त है तो इसीलिए हो सकता है कि प्रयत्न और पुरुषार्थपूर्वक वह निर्द्वन्द्व होने की ओर उठे। इसी में प्रकृति के ऊपर संस्कृति की आवश्यकता होती है और मनुष्य उत्तरोत्तर संस्कारिता में उन्नति करता जाता है। इसी से उसे अपनी सार्थकता की अनुभूति मिलती है।

जो मूल ही है उसका उन्मूलन हो नहीं सकता। मूल में तो सत्य को मानना होगा। असत्-मूल नहीं हो सकता। इसलिए उन्मूलन का प्रश्न एकदम नहीं है।

बल्कि सच पूछा जाए तो द्वन्द्व से नीचे गहरे में जाकर काम की कामना लुप्त हो जाती है, द्वन्द्व जहाँ से पड़ता है काम की सृष्टि वहीं से मानी जाती है। ब्रह्मचर्य में काम का उन्मूलन नहीं उन्नयन आप मानिए। उन्नयन की प्रक्रिया में काम का रूपान्तर हो जाता हो तो इससे आपको डरना नहीं चाहिए।

ब्रह्मचर्य का वह अभ्यास जिसमें हठपूर्वक काम और इन्द्रिय का निषेध है, पहले ही से हारा हुआ रखा है। उस अभ्यास में से नाना दुष्परिणाम और रोग-शोक आ सकते हैं। दैहिक-तल पर ब्रह्मचर्य को मानने और पालने से मनुष्य में द्वन्द्व-वृत्ति बढ़ती है और इस तरह काम को भी धार मिलती जाती है; मन से भोग भोगा जाए तो शरीर से उसे बरजा जाए, तो इस तरह व्यक्तित्व में फटाव आ जाता है और व्यक्तित्व के तेज का नाश होता है।

काम तथ्य के रूप में है, इसलिए सत्य का भी वही रूप है यह मानना संकट बुलाना हो जाएगा। तथ्य से हम चलते हैं, लेकिन सत्य के प्रति और सत्य की ओर चलते हैं। तथ्य को ही सत्य मानकर चिपटने से गति की हानि होती है और व्यक्ति उन्नति की ओर उठने की बजाय अवनति में पीछे चल पड़ता है। काम है, इसलिए वह सबकुछ है, यह मान लेंगे तो अहं को ही सर्व मानने जैसा हो जाएगा। उस भूल को अनुमोदन मैं नहीं दे सकता हूँ।

संस्कारिता को आप सहज कह सकते हैं। काम के ऊपर इस संस्कारिता की आवश्यकता ही क्यों होती है? यदि संस्कारिता आपको उचित भी लगती है तो क्या इसी में यह गर्भित नहीं है कि काम को यद्यपि हम स्वीकार करते हैं, पर उसके संशोधन की आवश्यकता भी साथ-ही-साथ स्वीकार करते हैं। उस संशोधन की आवश्यकता के मर्म में जाएँगे तो जान पड़ेगा कि उस प्रकार हम काम को प्रकृति अवस्था से उठाते-उठाते संस्कृत और परिष्कृत करते जाने को ठीक समझते हैं। उस संस्कार और परिष्कार के चरम को ही आप ब्रह्मचर्य क्यों न मान लीजिए? अर्थात् ब्रह्मचर्य में काम का उन्मूलन नहीं होता, ऊर्जस्वन होता है, और इतना कि काम का प्रेम में रूपान्तर हो जाता है।

सच यह कि ये बातें चर्चा से खुलने और सुलझने वाली नहीं हैं। काम को एक बार नितान्त भाव से अपनाकर देख लीजिए। वहीं से आपको यह अनुभव मिलने लग जाएगा कि काम और कुण्ठा इन दोनों का अभिन्न संग है। काम में प्रेम है तो घृणा के साथ-साथ लिपटा हुआ है। काम के विज्ञान में जाइए, उसके प्रयोग में उतरिए, और आप पाइएगा कि काम में ताप और तनाव है, तोष नहीं है। उन अनुभवों में से फिर आप जो परिणाम निकालिएगा वे सुनने लायक होंगे। मैं मानता हूँ कि परिणाम इसके सिवा दूसरा नहीं आएगा कि काम एक दाह है और उसे रह-रहकर शमन की आवश्यकता होती है।

आग को ही लीजिए। आग को हम नित्य स्वीकार करते हैं जब घर में भोजन बनाते हैं। लेकिन उस स्वीकृति में यह सम्मिलित है कि प्रयोजन के अनन्तर हम उसे बुझा सकते और बुझा देते हैं। काम को उसी प्रकार अग्नि समझिए। अन्तर इतना है कि वह अग्नि मौलिक है, और जबकि वह सबकुछ जला सकती है तब सभी कुछ को उजला भी सकती है। जलाने का काम जब लेते हैं, तब और उजलाने का काम लेते हैं, तब उस अग्नि के रूप और प्रयोग में अन्तर पड़ जाता है। दूसरा रूप उपयुक्त और उन्नत होता है, पहला प्रकृत और असंस्कृत होता है।

आपके प्रश्नों से लगता है कि ब्रह्मचर्य की रूढ़ धारणा आपके मन से अलग नहीं हो पाती है। मानो शब्द के उच्चारण के साथ ही वह धारणा आपमें उभर आती है। इन्द्रिय निरोध और इन्द्रिय निग्रह में ध्वनि कायिक है, जैसे कि कायिक और मानसिक दो होते हों। वैसी देहमूलक नितान्त रूढ़ धारणावाले ब्रह्मचर्य का समर्थन मैं तनिक भी नहीं कर सकता हूँ। ब्रह्मचर्य का अधिकांश अभ्यास और आग्रह कायिकतल पर किया जाता रहा है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। उस अनिष्ट को रोकने की आवश्यकता है। किन्तु हमारे पास अपने जैसे दूसरे व्यक्ति के उपसेवन से आगे कुछ और उपसेवन है ही नहीं, यह मैं नहीं मान सकता हूँ। मानव-चेतना समष्टि के प्रति खुली है और वह व्यक्ति में समाप्त नहीं हो जाती है। यह जो विराट ब्रह्माण्ड है इसकी व्याप्ति को सार रूप में ब्रह्म कहिए। इसी व्यापक समग्र के प्रति जो प्रीति की चर्या है वही ब्रह्मचर्या है। इसमें हम प्रेम को एक से उठाकर समस्त में यदि फैला देते हैं तो इसमें काम की हानि नहीं होती, वरन् परमकाम्य की समुपलब्धि होती है। आपसी प्रेम को ब्रह्मप्रेम के विरोध में रखकर देखना बहुत बड़ा मिथ्यावाद है। केवल इसलिए कि वह प्रचलित है, उसका आतंक नहीं मानना चाहिए। ऐसे ब्रह्मचर्य की सिद्धि कभी किसी हठाग्रह में से नहीं हो सकती। प्रीति की उत्तरोत्तर व्यापकता का चरम वह ब्रह्मचर्य है।

विश्वामित्र और मेनका का वृत्त क्या यह जाहिर नहीं करता कि संयम की कड़ाई में टूटने का भी डर है? कृपया स्पष्ट करें।

—विश्वामित्र और मेनका की कथा अन्त में कथा है। किसी बात की सिद्धि कथा में से नहीं मान लेनी चाहिए। जो सिद्ध है उसका प्रमाण हमारे अपने अनुभव में अवश्य है। बाहर का प्रमाण अन्त में बाहर होकर हमारे मत को कड़ा बना सकता है। तब वह जीवन में परिग्रह और बोझ बन जाएगा। जीवन रक्त में समाकर हमारी शक्ति नहीं बन सकेगा।

बात ठीक है कि विश्वामित्र का तपोभंग हुआ। कथाएँ ऐसी भी मिलेंगी

जहाँ तप का भंग हुआ नहीं। तपोभंग की चेष्टा में भेजी गयीं अप्सराएँ आदि ही खण्डित हुईं।

इन दोनों प्रकार की कथाओं के बीच में होकर हम क्या कहें, क्या मानें? प्रश्नकर्ता अपने मंतव्य का भार अमुक कथा पर डालेंगे तो वे कहीं जाकर चक्कर में पड़ सकते हैं।

पौराणिक कथाएँ निश्चय दर्शन-लाभ और नीति-लाभ के निमित्त से बनी हुई हैं। उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु धर्म-तत्त्व इतना गूढ़ और गहन है कि उस प्रतिपादन में और प्रयोग-दर्शन में परस्पर प्रतिकूल कथाओं की पुराणों में भरमार मिल जाएगी। इतने असंख्य चरित्र हैं और उनकी इतनी विविध लीला है कि उसके परिज्ञान और विश्लेषण से व्यक्ति घबराकर धर्म-प्रयत्न छोड़ सकता है। धर्मशास्त्र के पण्डित-विद्वान नास्तिक होते देखे गये हैं, अर्थात् उन्हें उस सारी विविधता और विचित्रता में व्याप्त कोई एक सूत्र नहीं मिल सका। इसलिए उनकी श्रद्धा कहीं किसी परम एक में उस कारण जम नहीं सकी है। वह बिखर-बिखरकर उखड़ गयी है।

संयम के बारे में कहने की आवश्यकता रहती ही है। कारण, संयम जीवन में सदा अनिवार्य है। मनमाना बर्ताव हम कर नहीं सकते। मन को साधना तब तक आवश्यक होता है। अब दो उपाय हैं। या तो मन रुके और चोट खाकर भीतर ही फनफनाता रह जाए। दूसरे यह कि मनस्थिति मर्यादाओं को सहजभाव से स्वीकार ले और चोट न लेकर बल वहाँ से विवेकभाव प्राप्त करे।

संयम की उपादेयता ऐसी प्रत्यक्ष और अमोघ है कि इनकार नहीं किया जा सकता।

एक विशेष प्रकार का आग्रह है जो संयम को स्वीकार नहीं करना चाहता। पश्चिम में इसको कलाकार का पथ माना गया है, जिसमें यह प्रकृत आग्रह जितना हो, मानो वह उतना ही सही कलाकार है। यह आनन्द-पंथ चलता है और लोग उस पर चलते हैं। अनेकानेक उस पर चलकर महान कलाकार बनते बताये जाते हैं। अनेक विक्षिप्त भी हो गये हैं।

अपने को पूरा-पूरा मानकर उसी रूप में कृतार्थ और चरितार्थ करने का आग्रह किसी का यहाँ टिक नहीं पाया है। जिसने उस आग्रह को छोड़ना नहीं चाहा है उसे पागलपन में शरण लेनी पड़ी है। वहाँ कल्पना को निर्बाध होने का अवसर है। व्यक्ति को वहाँ सुविधा हो जाती है कि वह कल्पना को वास्तव में अधिक वास्तव मान ले और उसी में रमण करता रह जाए। यह विष्ठा में पड़ा होकर भी तब स्वर्ग-भोग का रस ले सकता है।

ऐसे व्यक्ति को विक्षिप्त कहते हैं, परिपूर्ण नहीं कहते, लेकिन केवल संयम

में किसी ने परिपूर्णता प्राप्त की है, ऐसा भी देखने में नहीं आता। मेनका-विश्वामित्र का उदाहरण उसी के प्रति चेतावनी है। शास्त्रों में अक्सर तपस्या-भंग का उदाहरण आता है। यह भी देखेंगे कि वहाँ तपस्या असुरों और राक्षसों के स्वभाव में अधिक है। इस सबसे सहसा शंका होती है कि क्या संयम ही परम मार्ग है?

कारण यह कि जो जीवन में गर्भित और अनिवार्य ही है, उसके प्रति हमारा सहजभाव न होकर आग्रहभाव भी हो आता है। उसे हम साधते नहीं, पकड़ते हैं। उसको सिद्धान्त के नाम पर स्वतन्त्र मान्यता दे आते हैं। तब वह जीवननिरपेक्ष तत्त्व बन जाता है। हममें उसका मोह पैदा होता है। तब उससे सहायता हम नहीं लेते, उस पर अपने को डाल रहते हैं। इसमें बड़ा सन्तोष प्राप्त होता है। सन्तोष से आगे गौरव का भी अनुभव होता है। हम कर सकते हैं, पर हम हैं कि नहीं करते हैं। इस प्रकार हम 'हम' को महत्त्व देते हैं।

संयम में यह जो सूक्ष्म अहंकार का रस है, यह जब रसना को लगता है तो फिर रस लोभ की सीमा नहीं रहती। भोगी जैसे भोग को इष्ट मान लेता है, त्यागी वैसे ही त्याग को स्वयं में इष्ट मानकर त्याग का लौलुप और संग्रही बनता है। त्याग द्वारा वह औरों से मानो अपने को विशिष्ट और उत्कृष्ट मानने की राह पा जाता है। ऐसे अहं-गर्व और अहं-गौरव का शिकार बनता है।

संयम की यह कड़ाई और बड़ाई प्रकृत नहीं रह जाती। वह निसर्ग से हटकर व्यक्ति अहम से जुड़ जाता है। तब समष्टि की ओर से उसकी रक्षा की जाए यह आवश्यक क्यों हो? उसकी रक्षा का दायित्व मनुष्य के हठ के पास ही रह जाता है। परमेश्वर की सहायता जैसे यहाँ दुर्लभ बन जाती है। इस भाँति जैसे व्यक्ति-संकल्प और निसर्ग नियम में विग्रह ठन जाता है। दृढ़प्रण व्यक्ति को जान पड़ता है जैसे संसार उसका प्रण तोड़ने पर तुल पड़ा है। तब उसकी जिद और मजबूत होती और कट्टर पड़ती है। उधर परिस्थिति भी उतनी ही निर्दय बनती जाती है। अन्त में व्यक्ति टूटता है और प्रकृति का नियम जय पाता है। संयम की यही मर्यादा है। जब उसमें व्यक्तिगत विल (अहंपद) जोर पकड़ने लग जाता है तो संयम में आर्जव नहीं रहता, कर्कशता आ जाती है। वह धारदार और नोकदार बन जाता है। उसमें जिद की ऐंठ पड़ती और एक नुकीलापन पैदा हो जाता है। ऐसे संयम के साथ आवेश और चिड़चिड़ापन उगने लग जाता है। तब इसके सिवा और क्या हो सकता है कि वह टूटे, बिखरे और गिरे।

विश्वामित्र के स्वभाव में से ही अनुमान हो जाना चाहिए कि उनके संयम में हठवादिता रही होगी और इसलिए टूटे बिना उसे रहना भी नहीं चाहिए।

संक्षेप में संयम के साथ जब तक प्रसन्नता और ऋजुता है—वह उपादेय है। जब वहाँ आवेश और हठ की कठोरता आ जाती है तब मानना चाहिए कि

वह अहम-जनित है और उसके भाग्य में खण्ड-खण्ड होना ही बदा है।

कुन्ती के चरित्र को उज्ज्वल नहीं माना जा सकता। फिर भी उनकी गणना भारत की पाँच महान सती नारियों में होती है, यह क्यों? कर्ण को कुमारावस्था में उनसे जन्म मिला। युधिष्ठिर धर्मराज के, भीम पवनदेव के और अर्जुन इन्द्र के समागम से उन्हें प्राप्त हुए कहे गये हैं। फिर क्यों उन्हें सीता जैसी पवित्र श्रेणी में रखा जाता है?

—हिन्दू-पुराण एक प्रकार से धर्मशास्त्र ही है। सामाजिक और सांसारिक का वहाँ ज्यों-का-त्यों चित्रण नहीं मिलेगा। उत्पत्ति वहाँ अधिकांश, अमानवी और अतिमानवी देखी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि कालगत, इतिहास अथवा समाजगत् आचारवाद के निरूपण या निर्देशन की वहाँ चेष्टा नहीं है। इस तरह पुराण के वर्णन को अति यथार्थ मानकर चलने से विभ्रम होना अनिवार्य है।

कुन्ती को जिस शास्त्र ने और परम्परा ने महासती स्वीकार किया है उसकी दृष्टि में सती का भावार्थ दैहिक से उत्तीर्ण कुछ मानसिक और आध्यात्मिक ही रहा होगा। उस पवित्र शब्द को देहबद्ध रूप में लेकर बैठ रहना अनिष्ट और अवैज्ञानिक है।

सह-शिक्षा के सम्बन्ध में दो मत चल रहे हैं। एक पक्ष का कहना है कि सह-शिक्षा से बालक-बालिकाओं को एक ऐसा उत्तेजक वातावरण मिलता है जो अनुचित तौर पर व्यभिचार को प्रोत्साहन देता है। दूसरा पक्ष है कि सह-शिक्षा से स्त्री-पुरुष से ऊपर उठकर व्यक्ति मात्र में प्रेम-वृत्ति पनपने का अवसर मिलता है। आप इस प्रश्न को किस पृष्ठभूमि में देखते हैं?

—इस बारे में प्रयोग हो रहे हैं। अमुक सिद्धान्त बनाकर चलने में मैं त्राण नहीं देखता हूँ। प्रयोगों के फल की जाँच होनी चाहिए और उसमें से व्यावहारिक निर्णय के लिए प्रकाश लेना चाहिए।

साधारणतया किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं, बल्कि स्वभावतः एक अवस्था ऐसी आती है जब किशोर में किशोरी के लिए लगाव भी होता है और दुराव भी होता है। इसको हाईस्कूल वाली वय कह सकते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि यदि उस अवस्था में पृथक् शिक्षण हो तो लाभकारी होगा। इससे पहले और बाद में सह-शिक्षण को स्थगित रखने का कारण नहीं जान पड़ता।

स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण और सम्पर्क के प्रश्न को विचार-विवेचन और शिक्षण से बाहर रखना उचित नहीं है। आजकल तो लगभग उस सारे विषय को गुह्य मान लिया जाता है और बालक जहाँ-तहाँ से उलटी-सीधी जानकारी पाने

की टोह में रहता है। इस गुप्तता से अहित ही विशेष होता है, लाभ होता नहीं दीखता। जीवन में आगे आनेवाली जिम्मेदारी को देखते हुए, इस विषय का शिक्षण भी मुझे आवश्यक जान पड़ता है। यह अवस्था वह होती है जहाँ पृथक् शिक्षण उपयोगी होगा।

हम देखते हैं कि काम-क्रीड़ा मनुष्य के साथ जन्म से ही होती है। हो सकता है कि उसका विकास अथवा यौन-सम्बन्ध की योग्यता किशोर वय को सम्पन्न करने के बाद प्राप्त होती हो। परन्तु उसकी सूक्ष्म क्रियाएँ छोटे-छोटे अबोध बच्चों में भी होती है। और अबोध शिशु का लैंगिक-क्रीड़ा करना इसी सिद्धान्त की पुष्टि का प्रमाण है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार कि खाने-पीने, बोलने-चालने आदि जीवन-व्यवहार के तरीके बच्चों को सिखाये जाते हैं, इस सम्बन्ध में भी प्रवृत्त क्यों नहीं हुआ जाता? और यदि होना चाहिए तो उसके साधन और प्रकार क्या हो सकते हैं?

—अर्थात्, इस विषय में गोपनभाव रखा जाता है, जबकि जागृति भाव होना चाहिए। यह तो ऊपर ही कहा गया है कि गोपनभाव से बुराइयाँ बढ़ती हैं। पहले माता-पिता आते हैं, बाद में शिक्षकगण। आरम्भ से ही बच्चे में अपने शरीर के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा का भाव रहता है। माता-पिताओं को उस जिज्ञासा को बन्द करने या टालने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उससे बच्चे कुटेव में पड़ते हैं और जहाँ-तहाँ से आड़े-तिरछे ढंग से जिज्ञासा कुतूहल की तृप्ति खोजते और अनुमान-कल्पनाएँ खड़ी करते हैं। माता-पिता को इस स्वाभाविक कुतूहल में बच्चों की सहायता करनी चाहिए। उसके बाद शिक्षकवर्ग को भी इस पक्ष से उदासीन होने का हक नहीं आता है। आज की फीस-वेतन वाली शिक्षा सिलेबस तक रहती है और उससे अधिक विद्यार्थी-बालकों की जिम्मेदारी शिक्षक वर्ग पर नहीं आने देती है। शिक्षण में वह परिवर्तन आना चाहिए कि शिक्षक अपने को पूरे तौर पर बालकों का अभिभावक अनुभव करे और समग्र जीवन की दृष्टि से उनका सहायक बनना अपना कर्त्तव्य समझे।

व्यक्ति दूसरे से आकर्षित होकर प्रेम करता है। बहुत बार देखा जाता है कि उस व्यक्ति के अन्तर और दूरी को बिना जाने-पहचाने ही उसके प्रति हमारा आकर्षण उमड़ पड़ता है। वह आकर्षण स्त्री में हो या पुरुष में, किसी में भी हो सकता है। आप उस अनायास आकर्षण को या प्रेम को क्या सेक्स में ही समाविष्ट करते हैं?

—प्रेम को मैं बड़ी शक्ति मानता हूँ, आदमी प्रेम करता है, यह भाषा मुझे ओछी

लगती है। आदमी प्रेम में होता है, यह भाषा समीचीन और वैज्ञानिक है। अर्थात् सेक्स द्वारा प्रेम समाप्त नहीं हो सकता। सेक्स में प्रेम का कुछ अंश ही काम में आता है और उसी मात्रा तक जिस तक अप्रेम का मिश्रण उसे मिल जाता है। अप्रेम अर्थात् अहं-प्रेम। अहं-प्रेम और उत्सर्ग-प्रेम इन दोनों अनमिल तत्त्वों से मिलकर वह विस्फोट तैयार होता है जिसे काम कहते हैं। प्रेम की विभूति उसमें से भी दीख पाती हो यह दूसरी बात है। किन्तु प्रेम वहाँ समाप्त हो, यह कैसे हो सकता है।

आकर्षण कभी सर्वथा अज्ञात-अपरिचित के प्रति क्यों हो जाता है, यह बात मेरे मन में कोई प्रश्न उपस्थित नहीं करती। परस्पर सम्बद्धता में तो यह ब्रह्माण्ड ही टिका हुआ है। किसी की नितान्त निजस्थिति तो है नहीं, सब परस्परता के अवलम्बन में परिभ्रमण कर रहे हैं। धरती चल रही है क्योंकि सूरज है। चाँद चल रहा है, क्योंकि धरती है। इसी तरह धरती पर हम नाना प्राणी चल-फिर रहे हैं। अन्तर-सम्बन्धता के सूत्र अव्यक्त अलक्ष्य में फैले हुए हैं। इस तरह आकर्षण तो सदा सर्वत्र विद्यमान है। अमुक के प्रति अमुक समय में क्यों वह आकर्षण अनुभव में हो आया, यह प्रश्न अवश्य हो सकता है, और उसमें खोज का अनन्त अवकाश है। मैं यह मानता हूँ कि अमुक के उपलक्ष्य से जब हमारा स्वर त्यात्मक बोध किंचित् कम होता है तब वह आकर्षण अपना बोध हमें दे आता है। तभी उस उपलक्ष्य के प्रति हमें कामना की अनुभूति होती है। आकर्षण उसने पैदा किया या मैंने पैदा किया, वैज्ञानिक दृष्टि से यह भाषा ही सही नहीं है। आकर्षण का अनुभव मैंने पाया है, अमुक के निमित्त से पाया है, इतना ही सच है। कर्तृत्व दोनों सिरों में से किसी के पास नहीं है, केवल भोक्तृत्व की अनुभूति ही है। इसीलिए मैंने कहा था कि प्रेम किया नहीं जाता, प्रेम में हुआ भर जाता है।

यह अनुभूति है कि व्यक्ति जब अहं से खाली होता है तब दूसरे को अपने भीतर स्थान देता है। और यह सम्भव नहीं होता कि साधारण व्यक्ति प्रति समय अहं से खाली रहे। परन्तु आकर्षण का, या उसे आप और कोई भी नाम दे सकते हैं, एक ऐसा तत्त्व व्यक्ति पर छाता है और उसको खींचता है जिस खिंचाव के आधार पर वह अनायास कहीं-का-कहीं पहुँच जाता है। स्वतन्त्रता संग्राम के सहस्रों व्यक्ति इसलिए आये कि वे गाँधीजी से आकर्षित हो गये। सैकड़ों क्रान्तिकारी इसलिए अपनी जान पर खेले कि वे आजाद और भगतसिंह के जीवन से आकर्षित हो गये। सहस्रों और लाखों व्यक्ति अनायास तपस्या के मार्ग पर इसलिए बढ़ते चले जा रहे हैं कि वे महावीर, बुद्ध, शंकर आदि से खिंचे हुए हैं। बहुतों का एक के प्रति आकर्षण और खिंचाव होता है। पर यह स्पष्ट है कि उस एक का

उन बहुतों के प्रति वैसा नहीं होता। प्रेम परस्परापेक्षा है। आकर्षण भी सापेक्षता में आबद्ध है। परन्तु इस सबकुछ को, जो कि मैं कह रहा हूँ, ठीक क्या नाम देना चाहिए और वह एकतरफा क्यों होता है? और वह तत्त्व इसलिए कुछ महत्त्व रखता है कि उसके आधार पर असम्भव-से लगने वाले बड़े-बड़े कार्य होते हैं। आप इस अनुभूति भाव को जरा शब्दों का आकार दें, जिससे कि मेरे और बहुतों के समझने में आसानी आये।

—आकर्षण है। गाँधी पर भारत देशवासी अनेक निछावर हो गये। लौ पर पतंग निछावर हो जाते हैं। पर जिन्होंने गाँधी को जेल भेजा, वे निछावर क्यों नहीं हुए? हम मनुष्य दीपक की लौ पर पतंग की तरह क्यों नहीं मर जाते हैं, क्यों जरूरत निकल जाने के बाद उसे फूँक से बुझा देते हैं? यदि आकर्षण गाँधी में था या दीपक में था, तो वही दूसरी जगह क्यों सूना दीखता है? काँग्रेसी सन् 46-47 के बाद गाँधी पर बलि जा रहे थे या अपने कृत्य से उनका मखौल उड़ा रहे थे? क्या वे काँग्रेसी सन् 47 में वे ही न थे, जो सन् 42 में थे। वे ही थे, पर वे ही नहीं थे। आकर्षण की भाषा में एकदम बदल गये थे। गाँधी में एक सिरे पर उन काँग्रेसियों में आकर्षण की धारा की नित्य सत्यता होती तो ऐसा नहीं हो सकता था। अर्थात् आकर्षण जहाँ है वहाँ उसका भोग ही है, कर्तृत्व नहीं है।

चुम्बक लोहे को खींचता है, इस आकर्षण को समझने में विज्ञान ने एक मेगेनिटिक थियरी का आविष्कार कर लिया है। इसी तरह हम जिन दो बिन्दुओं के बीच आकर्षण की विद्यमानता देखते हैं, उन बिन्दुओं से मुक्त करके उस आकर्षण को समझेंगे तो ही उसकी सत्यता तक पहुँचेंगे।

हममें एक है निजाग्रह, दूसरा है निजार्पण। पहले को जीवनाकांक्षा कहा जाता है, दूसरे को मरणाकांक्षा भी कह दिया जाता है। मनोविज्ञान इस मरणाकांक्षा की खोज में रहा है। इन दोनों शक्तियों के संघर्ष-सन्तुलन के बीच जीवन चला करता है। और जीवनाकांक्षा के समर्थ साधक और साक्षी वे लोग समझे जाते हैं जो मृत्यु को स्वेच्छा से वरण करते हैं। मानो वे नित्य जीवन के प्रतीक बनते हैं। ईसा, सुकरात, गाँधी और ऐसे दूसरे धार्मिक शहीद जीवन के अमर प्रतीक के रूप में माने और पूजे जाते हैं।

निजार्पण में एक परिपूर्णता का लाभ अनुभव होता है। इस अनुभूति के मूल्य में व्यक्ति सबकुछ खोने को तैयार हो जाता है। प्रेम में यही घटित होता हुआ दीखता है।

विराट व्यक्तित्व मानो आत्म-बलिदान की मूर्ति होते और सहस्रों में उस बलिदान की आकांक्षा जगा जाते हैं। वे अमोघ और अनिवार्य आकर्षण के केन्द्र होते हैं और उनके प्रभाव पर किसी का वश नहीं चलता है, समय के साथ वह

बढ़ता ही जाता है।

यह अपने में होने को सम्पन्न करने की इच्छा हमारे भीतर गहरे-से-गहरे में रमी हुई है। मानो हम आते हैं और मर्मातिमर्म में जानते हैं कि इस नित्य-निखिल में अपने को होम करके हमें मिट जाना है, यही हमारी कृतार्थता है। यह कृतार्थता जिस मार्ग से निष्पन्न होती है, उसको प्रेम कहा जाता है।

जलती हुई लौ पर लाख पतंगे मर जाते हैं। लेकिन उस लौ में उन पतंगों के प्रति कोई भाव होता है इसका प्रमाण नहीं मिलता। मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक अस्तित्त्व किसी परम और प्रिय में अपना निर्वाण खोज रहा है। उस निर्वाण की लगन ही उसका जीवन है। इसमें अनायास उसे एक वरण्यता और उज्ज्वलता प्राप्त होती है। उस लगन का फिर कोई मूल्य नहीं रह जाएगा यदि अपने प्रति आकृष्ट होनेवाले तत्त्वों के प्रति वह आसक्त होगा। धरती बेचारी जाने कब से परिक्रमा कर रही है, ऐसा सोचकर क्या सूरज उसे अपनी गोद में लेना चाह सकता है? ऐसा नहीं हो सकता, हो तो धरती भस्म हो जाएगी और सूरज सूरज नहीं रह जाएगा। बाल बराबर भी निकटता वह नहीं चाह सकता, उसे सूरज रहना है और दूर रहना है। यह जलते हुए रहना चाहे वरदान मानो, चाहे अभिशाप, इसमें हेर-फेर नहीं आ सकता।

अर्थात् आकर्षण जिनमें व्याप्त और अनुभूत हो जाता है, वे दोनों सिरे अपने-अपने अमोघ भाग्य में ऐसे नियुक्त हैं कि उस आकर्षण का दर्द ही भोग सकते हैं, अधिक और कुछ नहीं हो सकता है। प्रेम मूल में वह दर्द ही है और उसमें अनन्त सह्यता है।

काम असह्यता में से आता है। उसमें दुःख का सर्वथा स्वीकार नहीं है, सुख का आग्रह भी है। इसीलिए प्रेम में यदि विसर्जन है तो काम में आग्रह होता है। उसमें जोर-जबरदस्ती भी चलती है।

वह व्याप्त-आकर्षण किस नीति-नियम से काम करता है, पदार्थ-विज्ञान और अध्यात्म दोनों उसकी खोज में लगे हुए हैं। आइन्सटाइन ने इसी के मर्म में जाने की कोशिश की और परम सापेक्षवाद का सिद्धान्त हमको दिया। अन्तिम रूप से उसको उपलब्ध करने के लिए हमें और भी गहरे जाना है। लेकिन सच है कि चेतन अथवा अचेतन खण्ड परस्पर किस नियम के अधीन वर्तन-प्रवर्तन कर रहे हैं, यह उत्तरोत्तर गवेषणा का ही विषय बना रहा है। अचेतन पदार्थों को लेकर उस शक्ति को हम आकर्षण कह देते हैं, सचेतन के सम्बन्ध में उसी को प्रेम कहते हैं। किन्तु स्वयं में यह प्रेम और आकर्षण क्या और क्यों है, इसका उत्तर नहीं मिल पाता है। इसलिए भी उत्तर नहीं मिल पाता है कि हम स्वयं प्रश्न के अंग हैं और प्रश्न के बाहर नहीं है।

महापुरुष के प्रति अनुयायी जिस भाव से खिंचे होते हैं, स्वयं महापुरुष में वैसा प्रतिभाव नहीं होता। किन्तु सामान्य सम्बन्धों में प्रेम-प्रतिप्रेम का सन्तुलन दिखाई देता है। दो मित्र अथवा दो प्रेमी समान भाव से परस्पर का आकर्षण अनुभव करते जान पड़ते हैं, तो इसमें क्या तत्त्व काम करता है और उस भेदाभेद को स्थिर करता है? मैं समाधान के रूप में कुछ नहीं कह सकता। बस प्रतीत ऐसा होता है कि प्रयोजनशीलता के तल पर यह भाव-प्रतिभाव मिलता है। उससे गहरे तल पर शायद परस्पर का विरह भाव ही दोनों ओर का समुपलब्ध सत्य रह जाता है। उस परम निष्काम प्रेम को हम अहिंसा ही कह पाते हैं।

प्रेम पर क्या नियम चलता है? नियम का प्रश्न ही मुझे उलटा लगता है। सब नियमों के ऊपर और भीतर जो शक्ति काम कर रही है वही प्रेम है। तो उसको स्वयं नियम के अधीन बनाना सम्भव नहीं होना चाहिए। प्रेम स्वयं परम-नियम है। इसीलिए ऐसी उक्तियाँ बन जाती हैं, जैसे 'ऑल इज फ़ेयर इन लव एण्ड वार'। इन उक्तियों का सार यही है कि प्रेम का नियम स्वयं है। वह चिन्मय, स्वयंभू और मौलिक है।

काम में परस्परोपलब्धि नहीं है, यह अनुभूति सत्य है। इसीलिए उस तृप्ति में अतृप्ति फूटती रहती है। जिसमें विरह की स्वीकृति है और उसको तोड़ने की हठ नहीं है, वह प्रेम अपने ही बल से निष्काम होता जाता है।

आकर्षण का भाव सहज आता है और उसे प्रकृति का नियम भी कहा जा सकता है। पर जिसमें आकर्षण है वह अपने-आपमें हीनता का भाव और जिसके प्रति आकर्षण है वहाँ गरिमा का भाव क्या नहीं रखता होगा? क्योंकि इसी को हम दूसरे शब्दों में एकतरफ़ा प्रेम भी कह सकते हैं और वह प्रेम सामान्य से वरिष्ठ स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद मिट भी जाता है। तात्पर्य यह है कि क्या इस एकतरफ़े या आकर्षण प्रेम में स्वार्थांश तो नहीं है न?

—स्वार्थांश से हममें कोई खाली नहीं है। जो प्रेम चोट लेता और देता है, अपेक्षा और दावा रखता है, वह उतना ही स्वार्थ से लिप्त है। एकांगी प्रेम यों उसे भी कह सकते हैं जो बिना शर्त हैं और इसलिए अपेक्षा और कामना से उत्तीर्ण है। वह तो है ही एकांगी जो प्रतिदान चाहता है पर पाता नहीं। किन्तु इन दोनों में अन्तर ही नहीं, बल्कि वैपरीत्य तक हो जाता है। घाव खाया हुआ प्रेम सामान्यतया हिंसक हो चलता है, हत्या और अपघात तक पहुँच जाता है। दूसरी ओर प्रहार के उत्तर में भी उमड़कर जानेवाला प्रेम बधिक के हाथों घात स्वीकार कर लेता है, फिर भी अस्त या विपर्यस नहीं होता है। स्वार्थांश की पहचान की यही कसौटी है।

अपनी इस चर्चा में तीन शब्द सामने आये हैंआकर्षण, प्रेम, और काम। काम सीमित प्रेम है, जिसमें कि अप्रेम का अंश मिला हुआ है। आकर्षण एकतरफा प्रेम है या कि जिसे प्रेम का प्रतिदान नहीं मिलता। प्रेम सम्पूर्ण ब्रह्म तक बढ़ता है। महापुरुषों में आकर्षण नहीं मिलता और परस्परता नहीं है। इसलिए क्या उनमें प्रेम नहीं है? प्रश्न यह आता है कि प्रेम और आकर्षण में वरिष्ठ स्थिति किसकी है?

—यह शब्दों के अर्थों की सीमा की बात हुई।

काम की सीमा स्पष्ट है। उसमें निजाग्रह है।

प्रेम निर्वैयक्तिक है।

आकर्षण में उपलक्ष्य होता है।

असल में ये शब्द स्पष्टता में सहायक नहीं होंगे जब तक उनके केन्द्र में हम व्यक्ति को ही मूर्त करके नहीं बिठा सकेंगे। आकर्षण अनुभव करता है, वह आकृष्ट है, आकर्षक उसके लिए दूसरा होता है। अर्थात् आकर्षण की स्थिति अपने-आप प्रेम से दोयम हो जाती है। प्रेम उस तरह आलम्ब-निर्भर नहीं होता। विरह में भी उसे उपलब्धि है। यहाँ काम का विचार करना आवश्यक नहीं है। आकर्षण-जनित जो सकामवृत्ति होती है, उसी को काम कहिए। स्पष्ट है कि इन सबमें वरेण्यस्थिति प्रेम की है। कारण, उसमें पराधीनता नहीं है।

काव्य और साहित्य में पतंग और लौ की कल्पना को प्रेमी और प्रेमिका का रूप भी दिया हुआ मिलता है। तो जो प्रश्न आकर्षक और आकृष्ट के बारे में मैंने उठाया था, इस आकर्षण के उदाहरण से महापुरुष में जिन सहस्रों का आकर्षण केन्द्रीभूत होता है क्या वहाँ पर भी कुछ सेक्स का अंश आता है?

—काव्य-साहित्य जो कहे, पतंग में ज्वाला के प्रति जो भाव है उसे सेक्स नहीं कह सकते। मृत्यु का वरण एक सर्वग्रासी सम्बन्ध है। सेक्स अन्ततः आंशिक है। सहस्रों जन यदि अमुक क्रान्ति में आगे बढ़ते हुए स्वेच्छा से बलि हो जाते हैं तो इस तथ्य को कामवासना से जोड़ने से कुछ विशेष परिणाम हाथ नहीं आता है। पत्नी और प्रेयसी से उनका काम-सम्बन्ध है, लेकिन उन सबको पीछे डालकर वे क्रान्ति में आहुत होने के लिए बढ़े चले जाते हैं तो इसको केवल 'काम' कहना ठीक नहीं होगा। मैंने आपको कहा कि एक गहरी मरणाकांक्षा जीवन भर हममें काम करती रहती है। काम उसके अंग रूप माना जा सकता है, काम से यों वह अधिक व्यापक और मौलिक है।

आज अधिकांश राष्ट्रों के सम्मुख जनसंख्या में होनेवाली निरन्तर वृद्धि एक ज्वलंत समस्या बनी हुई है। कृत्रिम प्रयोगों से उस पर नियमन पाने का प्रयत्न किया जा

रहा है। धार्मिक मत इस पर मौन हैं। क्योंकि एक साधारण गृहस्थी के लिए ब्रह्मचर्य का विधान कर उसको महाव्रती बनाया नहीं जा सकता और अणुव्रती बनाने में...आंशिक नियमन में...सन्तति निरोध समस्या का समाधान दिखाई नहीं देता। धार्मिकों के इस मत पर कि कृत्रिम प्रयोगों का मानव की नैतिक शक्ति पर घातक असर होता है, आपका क्या विचार है? और जनसंख्या समाधान के लिए कृत्रिम प्रयोग ही उपाय हो सकता है या कोई और भी?

—जनसंख्या बढ़ रही है और बढ़नी नहीं चाहिए, रोकने का उपाय होना चाहिए। यह बात इस तर्क में से उठती है कि खानेवाले बढ़ते जाएँगे, खाद्य के उस परिमाण में बढ़ने का रास्ता दीखता नहीं है; इसलिए जनसंख्या को उत्पन्न खाद्य सामग्री के परिणाम तक ही रखना आवश्यक है।

यह तर्क अर्थगणित का है। अर्थात् प्रश्न आर्थिक है। आर्थिक परिणाम यहाँ तक आता है कि एक गरीब के घर में आठ बच्चे हैं, जबकि कमाई एक को पालने जितनी नहीं है। तब क्या कृत्रिम उपायों से निरोध नहीं होना चाहिए? इस जगह पर मैं मानता हूँ कि निरोध हो सकता है और वह उचित है।

लेकिन जनसंख्या की बढ़ती की रोक के लिए सामान्यतया जो कृत्रिम गर्भ-निरोध के उपायों के उपयोग और प्रचार का सिद्धान्त है, वह मुझे अदूरदर्शी और अनिष्ट जान पड़ता है।

अदूरदर्शी इस अर्थ में कि वह समस्या के किनारे को लेता है, मूल में नहीं जाता है। अनिष्ट इस अर्थ में कि वह कर्म को उसके फल से बचाकर मानों दायित्वहीन मानस को उत्तेजन देना चाहता है।

साधारणतया आदमी के पास पेट है, तो दो हाथ भी हैं। अर्थात् खाता ही नहीं, हाथों के श्रम से वह उपजाता भी है। जनसंख्या अगर संकट उपस्थित करती है तो मतलब है कि एक व्यक्ति खाता ज्यादा है, उपजाता कम है। यही स्थिति अपने-आममें विचारणीय है और सन्धान करना होगा कि क्या मानव व्यक्ति प्रकृति के कारखाने में बोझ के मानिन्द है, कि मूल्य का रूप है? मैं समझता हूँ कि मनुष्य अपने में सार्थक है। अर्थात् भार नहीं है, मूल्य है। अगर वह मूल्यवान होने की जगह आज भारवान बना दिखाई देता है तो कहीं-न-कहीं समाज-व्यवस्था में भारी दोष होना चाहिए। हर एक के हाथ दो हैं, पेट एक है। इसलिए वह लेने से अधिक दे सकने वाला और खाने से अधिक कर सकने वाला प्राणी है। यह सीधे गणित की बात है। फिर भी यदि वर्तमान अर्थगणित औसत आदमी को घनात्मक की जगह ऋणात्मक बतलाता है तो निश्चय है कि कहीं कोई छल है और भूल है।

यह अदूरदर्शिता है कि मनुष्य को हम भार मानते हैं। असल में इस तरह हम अपनी हार मान रहे होते हैं। इस चुनौती को हमें स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य को मूल्यवान सिद्ध करके दिखाये। हमारे प्रचलित अर्थ-विचार की यह बाजीगरी है; हथकण्डा है, विडम्बना है कि मनुष्य मूल्यहीन बन गया है, अन्न उससे अधिक मूल्यवान बनने को रह गया है। कृत्रिम परिवार नियोजन के मूल में मानो यही अधूरी दृष्टि है। वह यहाँ से चलती है कि मनुष्य संख्या में बोझ है। क्यों बोझ है, यह सोचने की जिम्मेदारी वह दृष्टि बचा जाती है। समाज-वैज्ञानिक उस विचार को बचा नहीं सकता है और इसलिए मेरा दावा है कि जो समग्र विचार करना चाहते हैं वे सहसा उसके समर्थन में नहीं पड़ सकते हैं। समाज-विचार समग्र विचार के अधीन होना चाहिए और तब जनसंख्या का प्रश्न हौवा बनकर हमारे सामने नहीं आएगा, बल्कि केवल उचित मात्रा में सम्बोधन और प्रबोधन देगा।

यह कि विज्ञान खाद्य के क्षेत्र में नयी-नयी सम्भावनाएँ हमारे सामने प्रत्यक्ष करता जाता है मैं प्रस्तुत तर्क के समर्थन में नहीं कहना चाहता हूँ। निश्चय ही विज्ञान हर प्रगति में हमें सहारा देगा और मनुष्य को हारने नहीं देगा। आज जो प्रचुरता में दरिद्रता का दृश्य दिखाई देता है, वह वितरण की विषमता के कारण है। अन्न को एक जगह फेंका जाता है, दूसरी जगह उसी का दुर्भिक्ष पड़ा रहता है। यह मानव व्यवस्था की अक्षम्य त्रुटि माननी चाहिए। सीधे गर्भ-निरोध के कृत्रिम उपायों को सामने करके मानो हम यह जतलाना चाहते हैं कि एक जगह की बर्बादी और दुर्भिक्ष की मनुष्यों वाली बर्बादी दोनों ही हमारी निगाह में नहीं है और हम उस त्रुटि को विचार में नहीं लेते हैं।

अनिष्ट जो इससे भी बड़ा है, यह है कि मानव उस पद्धति से दायित्वहीन प्राणी बनता है। नैतिक चेतना की जो सबसे गहरी निधि उसके पास है, मानो वह उससे विमुख हो जाता है। सुसंस्कृत और सम्पन्न परिवारों में जनसंख्या यों ही कम देखी जाती है। इसका कारण सिवा इसके क्या है कि वहाँ प्राण चेतना अपने विकास और व्यंजना के लिए नाना अवसर और दिशाएँ प्राप्त कर पाती है। वहाँ से कला, शिल्प, दर्शन आदि का प्रस्फुटन होता है। कृत्रिम निरोध से सहायता मिलेगी कि व्यक्ति वासना से ऊँचा न उठे और काम तृप्ति में ही रमा रह जाए। जीवन की नाना प्रकार की सार्थकताओं से वंचित रहकर भी वह अकृतार्थता के बोझ से बच जाए। इसमें मनुष्यता और सभ्यता के विकास की स्पष्ट ही बहुत बड़ी हानि है।

आशय, तात्कालिक रूप से अमुक को कृत्रिम उपाय के अवलम्बन की सलाह दी जा सकती है। जनसंख्या के बड़े और सामाजिक प्रश्न के हल के रूप में वह

उपाय प्रस्तुत करना भ्रान्त और भ्रष्ट विचार है।

परिवार नियोजन से पारिवारिकता की भावना में क्या ह्रास होता है? क्योंकि जब व्यक्ति अपना ऐश चाहता है और उसी ऐश के लिए वह सम्भोग भी करता है। सम्भोग में से निकलने वाला उत्तरदायित्व वह स्वीकार नहीं करना चाहता अपितु इस उत्तरदायित्व को एक बोझा मानता है। तो आपके मत में परिवार नियोजन की पद्धति से काम में जो प्रेम का कुछ अंश लिपटा हुआ रहता है, क्या वह भी समाप्त हो जाएगा? और यदि व्यक्ति का प्रेम परिवार से रिसने लग जाता है तो वहाँ समाज की एकता और राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ भी क्या ढीली नहीं हो जाएँगी?

—हाँ, वह सब खतरा है।

परिवार नियोजन में व्यक्ति मुक्त होकर अपने आनन्द प्राप्त करने की सम्भावनाओं को बढ़ाना चाहता है। पुत्र की उत्पत्ति हो और सम्भोग केवल उसी तक सीमित रहे, इसमें मनुष्य मुक्त आनन्द प्राप्त नहीं करता। अत: व्यक्ति मुक्त होकर अपना विकास करे, भय से दूर रहे और स्थिति में अपने आनन्द पक्ष और चिन्तन पक्ष दोनों को सबल करे इस उद्देश्य से परिवार नियोजन में आप क्या देखते हैं?

—यही तो मौलिक प्रश्न है। कामशक्ति को फल से जब हम अलग कर देते हैं तो उसकी सामाजिक उपयोगिता टूट जाती है और केवल वे सम्भावनाएँ रह जाती हैं जो व्यक्ति को असामाजिक भोग-विलास में ले जाएँ। अर्थात् उस विधि व्यक्ति में से असामाजिकता का विस्फोट अधिक होगा, सामाजिक संस्कृति का विकास नहीं हो सकेगा।

आनन्द वह भी है, जो एक को दूसरे से मिलाता है और परस्पर के अनुबन्ध को घनिष्ट करता है। दूसरी ओर मनमाना वह मौज-मजा भी है, जो अनुबन्धन से मुक्त है और वैयक्तिक रह जाता है। उस प्रकार के मनोविनोद और विलासोल्लास के दृश्य धनाढ्य श्रेणी में आप खुले देख सकते हैं। धन की प्रचुरता व्यसन की ओर से जाती है। उस प्रकार के आनन्द और भोग को जो व्यसन कहना पड़ता है सो इसीलिए कि वह शेष के साथ अनुबन्धन में नहीं आता है और व्यक्ति को अहम सेवी बनाता है। पूँजीवादी सभ्यता में इसके उदाहरण और परिणाम प्रकट हैं। मुझे आसपास की दरिद्रता और विपन्नता से कोई नाता अनुभव नहीं होता है और पैसे के बल पर मैं हर तरह सुख-चैन अपने लिए जुटाने में रस लेता हूँ। कर्म से दायित्व को छुटा और हटा देने से यही नतीजा और बढ़-चढ़कर सामने आएगा। इस स्वैरभाव में से कुछ कला-शिल्प भी उत्पन्न हो सकता है, लेकिन उसमें समीचीनता उतनी न होगी जितना वह वैयक्तिक होगा। वह कला भुलानेवाली

अधिक होगी, जगानेवाली उतनी नहीं।

आनन्द को मैं स्वयं मूल्य के तौर पर सर्वोपरि स्थान देता हूँ। लेकिन वह ब्रह्मानन्द की दिशा में उठनेवाला आनन्द है, जो प्लेजर से अधिक हैपिनेस है, मजेदार से अधिक प्रसन्न है। यह आनन्द कहीं बन्द और आवृत (Exelusive) नहीं होता है। पानी में कंकरी पड़ने से जैसे लहरों का कम्पन सब ओर तट तक पहुँचे बिना नहीं रहता, वैसे ही इस आनन्द का कम्पन भी अखिल को प्राप्त होता है। इसके विरोध में वह जो दूसरा प्लेजर और मजेवाला आनन्द है, वह हटते-हटते मानो अन्त में अपने अहम में सिमट आना चाहता है। यही दूसरी दिशा क्षुद्रता और अपराध वृत्ति तक पहुँचती है। उस पर परदा रखना होता है और उसे दूसरों से बचाना पड़ता है। इस तरह वह विघटनकारी होता है। ऐसे मौज-मजे में पड़े हुए व्यक्ति की निजता स्खलित होकर बिखरने को ही रह जाती है, एकाग्र और समर्थ नहीं हो पाती।

कामशक्ति को फलोपलब्धि की दृष्टि से यदि प्रयोग किया जाए तो मानव का स्त्री के साथ इतना साहचर्य रह ही नहीं सकता हम पशुओं को देखते हैं कि कुछ प्रकार के पशुओं में काम की इच्छा ही तब जागृत होती है, जबकि उन्हें सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता अनुभव होती है। और इसीलिए कहा जाता है कि शेर वर्ष में दो-चार बार सम्भोग नहीं करता। काम-शक्ति का फल सन्तान प्राप्ति के अतिरिक्त मौज और आनन्द भी है जिसे कि मनुष्य अधिक तौर पर प्राप्त करना चाहता है और उसी को अधिक-से-अधिक वह प्राप्त करे, इसलिए परिवार नियोजन की योजना बनाता है। तो हम परिवार नियोजन को काम-शक्ति के फल की दृष्टि से यदि अनावश्यक-सा कहते हैं तो मनुष्य का स्त्री के साथ संसर्ग भी क्या कम नहीं हो जाएगा?

—स्त्री और पुरुष परस्पर भोगानन्द के लिए रहकर मूल्यवान बनेंगे, सम्भावना मैं कम देखता हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि जब दोनों माता-पिता होकर तीसरे पुत्र के लिए अपने को दायित्व अनुभव करते हैं तो उनमें एक नागरिकता उत्पन्न होती है, व्यक्तित्व विस्तृत होता है। पुत्रहीन माता-पिता चिड़चिड़े देखे जाते हैं। इसलिए भोग का फल यदि पुत्रोत्पादन न रह जाए तो वे परस्पर अच्छे साथी बनकर रहेंगे अधिक प्रत्यर्पित भाव एक-दूसरे के प्रति रख सकेंगे, इसकी सम्भावना कम मालूम होती है। इसके विरोध में यदि दोनों भाव में ही नहीं, कर्म में भी एक दायित्व में सम्मिलित होते हैं तो उनका युग्मभाव बढ़ता है और शेष के प्रति भी वह अभ्यर्थनीय बनता है। समाज का केन्द्र जो गृहस्थ है, वह उसी भाव के आधार पर सफल हो पाता है। अन्यथा वह केन्द्र शिथिल होगा और व्यक्ति अन्ततः अहं

केन्द्रितता की ओर बढ़ेगा।

भूख (रोटी) और काम (सेक्स) यदि प्राकृतिक हैं तो फिर सर्वांगीण दृष्टि से क्या मानव का इन पर विजय प्राप्त कर लेना सम्भव है? हम सुनते हैं कि बहुत-से व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं। ऐसे व्यक्ति यों की भी संख्या दो-चार या दस-बीस नहीं, अपितु सैकड़ों व सहस्रों की संख्या वाला समाज दीखता है। जबकि इस प्रश्न के दूसरे पक्ष को लें, तात्पर्य कि जिसने सम्पूर्ण रूप से भूख पर विजय प्राप्त कर ली हो, तो ऐसा समाज क्या एक व्यक्ति भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह व्यक्ति जो केवल नीबू, नमक, जल या छाछ के आधार पर छह महीने या बारह महीने रह जाता है, एक आश्चर्य, आकर्षण व महान साधक के रूप में माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में भूख की और काम की नैसर्गिकता में समता किस दृष्टि से है। यदि समता है तो क्या फिर नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का अच्छा-सा खाता-पीता व दुनिया की रंग-रंगीली में रहता समाज दिखावा या प्रवंचना मात्र है?

—भूख और भोग प्रकृत है, उन पर विजय पाने की भाषा का आशय नष्ट कर डालना नहीं मानना चाहिए। नाश असम्भव है और इसलिए वैसी शब्दार्थ-साधना अन्त में विफल होनेवाली है।

भाषा संकेत भर देती है, अधिक उसे नहीं खींचना चाहिए। संकेत यह कि भूख और भोग हमारे संगी बनें, विभु न बन सकें। प्रकृति के ऊपर जो संस्कृति है, उसका यही अर्थ है। मनुष्य प्रकृत होकर जन्मता है। लेकिन जीवन द्वारा उत्तरोत्तर संस्कृत होता है।

आपका संशय शायद ब्रह्मचर्य पर नहीं है, तपश्चर्य पर है। ब्रह्मचर्य को मैं प्रेम की चर्या मानता हूँ, निर्विशिष्ट प्रेम की चर्या। वह तपश्चर्या से एकदम भिन्न है।

तपश्चर्या में अहम भाव रहता है। मैं शरीर को वशीभूत कर लूँगा, इन्द्रियों पर विजय पा लूँगा इत्यादि भाव तपस्या में अनिवार्य ही है। इसलिए तपस्या का मेरी दृष्टि में बहुत सापेक्ष मूल्य है। मूल अहं भाव में विसर्जनोन्मुख हो तो ऐसी तपश्चर्या ब्रह्मचर्या में सहायक होती है। उसे संयम कहिए। किन्तु जो केवल अहंचर्या भर होकर रहा जाए, उस तपश्चर्या में संयम से अधिक दमन के तत्त्व रहते और उससे हानि होती है।

संयम और आन्नद को मैं परस्पर विरोधी नहीं मानता। बल्कि ब्रह्मचर्य से आनन्द उत्तरोत्तर अस्खलित होते जाना चाहिए। इसलिए यदि कोई साधु संसार के रंगों में रस लेता जान पड़े तो उसी कारण उसे ढोंगी या झूठा मानने की

जल्दी नहीं करनी चाहिए। सृष्टि क्या सृष्टा का ही प्राप्त रूप नहीं है? उसमें रस लेने से फिर डर कैसा? सृष्टि से रुष्ट बनकर सृष्टा की कृपा पाने का कुछ अर्थ ही नहीं है। दूसरे शब्दों में शरीर की अवज्ञा में आत्मा का सम्मान समझना भूल भरा है। सच्चा साधु इस भूल से उत्तीर्ण होगा।

भूख और भोग की यदि अनिवार्यता है तो इस कारण कि एक अपने में सही नहीं है, सत्य परस्परता है। जो अनिवार्य है वह यह परस्परता है। भूख और भोग उसी के प्रतीक हैं।

यह सच है कि भोग सभी इन्द्रियों से सम्बन्धित है। परन्तु यहाँ पर मेरा आशय प्रमुख रूप से स्पर्शनेन्द्रिय (सेक्स) से सम्बन्धित है। तो क्या आपके मतानुसार व्यक्ति सेक्स के बिना जी सकता है?

—सेक्स के बिना जन्म ही नहीं सकता। फिर जी कैसे सकता है?

इसका मतलब यह नहीं कि जो अविवाहित है, वह व्यभिचारी ही है। मतलब सिर्फ यह कि दूसरे के प्रति कामना को समाप्त नहीं किया जा सकता। कामना मन में रखकर शरीर से जो अस्पष्ट रहता है उसका मेरे निकट अधिक मूल्य नहीं है।

कामना जब बँटी-फटी होती है तो काम कहलाती है। वही संयुक्त होकर प्रेम बन जाती है। प्रेम में काम ऐसे परितृप्त और परिपूर्ण होता है कि उसे अपने होने तक का चेत नहीं रहता। अर्थात् ब्रह्मचर्य में काम की परिपूर्ति ही है। काम खण्डित है, प्रेम अखण्ड है। अखण्ड में खण्ड का वर्जन नहीं है, बल्कि समावेश हो जाता है।

उस अर्थ में ब्रह्मचर्य को मैं अनैसर्गिक नहीं, बल्कि आदर्श मानता हूँ। आदर्श वह जिसे सार्वकालिक सहज कहा जा सके।

स्पर्श को हम बहुत स्थूल रूप में न समझें तो इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला प्रत्येक सुख स्पर्श-सुख ही है। स्पर्श-सुख का भी ब्रह्मचर्य में नाश नहीं है। केवल स्थूल वहाँ अनावश्यक होता जाता है। सच यह कि सूक्ष्म में उपलब्धि सघन होती है। शरीर-प्राप्ति में से अक्सर स्वयं व्यक्तित्व की प्राप्ति दुर्लभ हो गयी है, इस प्रकार के अनुभव बहुत आम हैं। उपलब्धि प्रेम द्वारा जो होती है, काम द्वारा वही असम्भव प्राय बन जाती है। सेक्स सम्बन्धी मनोविज्ञान में उतरने से यह तथ्य सहज हाथ आएँगे।

प्रेम में यदि काम की परिपूर्ति है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि अखण्ड प्रेम का सेक्स एक खण्ड है। खण्ड के बिना अखण्ड की प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है?

—खण्ड को जब हम प्रेम करते हैं तो दूसरे खण्ड के प्रति उसमें अप्रेम समाया रहता है। इसलिए उसे राग कहा जाता है। हर राग-द्वेष पर निर्भर होता है। इस प्रकार खण्ड का प्रेम राग-द्वेष के चक्र से बनता है और उस चक्र को तीव्र करता है। इसीलिए ऊपर कहा था, निर्विशिष्ट प्रेम।

इसको उदाहरण से समझें। मानिए, प्रमोद सरोज को प्रेम करता है। इस प्रेम की ही मर्यादा है कि सरोज से बाहर जो रूप है प्रमोद उसके प्रति अन्धा हो जाएगा, वही अवस्था सरोज की भी हो सकती है। इस तरह यह प्रेम ही दोनों को शेष सृष्टि से विच्छिन्न कर देगा। वे प्राणी एक-दूसरे को लेकर मानो सीमित और समाप्त हो जाएँगे। काम द्वारा सदा यही घटित होता है। समष्टि के साथ हमारी संयुक्तता टूट जाती है। इस अर्थ में खण्ड प्रेम, जिसको सेक्स और भोग और काम कहा जाता है, मनुष्य का सच्चा चरितार्थ नहीं है। उसकी पूरी चरितार्थता अखण्ड प्रेम में है जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

इस अखण्ड प्रेम में खण्ड की अवज्ञा नहीं है, अस्वीकृति नहीं है। केवल चाहना को उसमें बन्द नहीं होने दिया जाता है। वह चाह सब ओर खुली रहती है। स्थूल भाषा में कहा जा सकता है कि ब्रह्मचारी का भोग-भाव निखिल के प्रति खुला है। उस पर कहीं किसी प्रकार की परिसीमा नहीं है।

सामाजिक मर्यादाओं को तो आप जानते ही हैं। वे हैं और आवश्यक हैं, किन्तु केवल खण्ड प्रेम के लिए। अखण्ड प्रेम उनसे ऊँचा जाता है और स्वयं उन मर्यादाओं को आगे की मर्यादा देता है।

स्थूल भाषा में क्या हम यह कह सकते हैं कि पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए निखिल का भोग स्खलन नहीं है?

—निखिल में स्खलन शब्द ही असंगत पड़ जाता है।

निखिल का भोग यह तात्विक ही है, या व्यावहारिक भी कि जिसे इतिहास की किसी घटित घटना से पुष्ट किया जा सके। मैं मानता हूँ, उसके विचारों में निखिल शब्द व्यक्तिवाचक भेद को प्रश्रय नहीं देने के लिए ही है। पर कर्म में हर व्यक्ति की अपनी शक्ति और सीमा होती है।

—बिलकुल ठीक है कि कर्म सीमित है। किन्तु वह सीमा भाव पर आवश्यक नहीं होती है। निखिल का भोग, यदि केवल इसलिए कि वह निखिल का है, भाव-भोग ही हो सकता है। इसको वास्तविक की तुलना में तात्विक कह छोड़ना ठीक नहीं है। इस भाव-भोग में इतनी शक्ति होती है कि मृत्यु तुच्छ बन जाती है। धर्म के क्षेत्र में जो इतने शहीद हो गये हैं सो किस सामर्थ्य के बल पर?

अवतारी पुरुषों के जीवन उसी समर्थ भाव-भोग के तो प्रमाण हैं। उसमें संकीर्णता नहीं है, उन्मुक्तता है। ईशु फाँसी पा गये, लेकिन फाँसी देनेवालों के प्रति अगाध करुणा से भरे रहे। गाँधी गोली से मरे तो 'हे राम' कहते हुए मरे। यह सब क्या किसी व्यक्ति या वस्तु प्रेम के नाते सम्भव हो सकता था? इसी को मैं निखिल प्रेम और निखिल भोग कहता हूँ।

आज भी प्रत्येक के जीवन में कुछ-न-कुछ ऐसी टेक पाई जाती है कि जिस पर वह अपने को कुर्बान कर दे सकता है। वह आस्था और वह आन उत्तरोत्तर निखिल की ओर ही बढ़ते जाने को बाध्य है। इस घनिष्ट अनुभूति को तात्विक मात्र कहकर टाला नहीं जा सकता।

व्यक्तिवाचक को बचाने के लिए ही आस्था का आडम्बर है, यह कहना संशय से काम लेना है। विराट अनुभूति के लिए भी केन्द्र तो व्यक्ति मानस ही है, किन्तु व्यक्तिमत्ता से वह अनुभूति घिरी नहीं होती, बल्कि उसमें से व्यक्तित्व के समर्पण की प्रेरणा प्राप्त होती है। विराट व्यक्तित्व व्यक्तिवाचक से उत्तीर्ण किसी निर्वैयक्तिक प्रेरणा से चलते देखे जाते हैं। इसी से विराट हो पाते हैं।

पानी की एक बूँद को लीजिए। वह एकाकी रहे, अपने जैसी दूसरी बूँदों से योग न पाये तो सूख ही सकती है। मान लिया जा सकता है कि उसमें अपने जैसी अन्य बूँदों के लिए इच्छा-कामना शेष रहती होगी। पानी यदि लहराता हुआ बहता है तो उन बूँदों के आपसी सहयोग से। अब यदि बूँद समुद्र में मिली हो तो क्या यह सोचा जा सकता है कि तब भी उसमें इच्छा-कामना बची रह जाती है? इसी को मैं निखिल का भोग कहता हूँ। इसमें खण्ड-भोग की आवश्यकता स्वत: निश्शेष हो जाती है।

यदि कोई भूखा रहता है तो वह समाज व राष्ट्र की व्यवस्था का अभिशाप माना जाता है। क्योंकि जीवन के लिए खुराक प्राप्त करना अनिवार्यता है। इसी प्रकार यौन-विज्ञान भी व्यक्ति के लिए काम को अनिवार्य मानता है। ऐसी स्थिति में क्या वे कुछ व्यक्ति जो कि पारिवारिक, सामाजिक या आर्थिक परिस्थितियों के कारण अविवाहित रहते हैं और अविवाहित रहने के कारण दुराचारी बनते हैं, तो क्या उनका अविवाहित रहना भी समाज व देश के लिए एक लज्जा व अभिशाप की बात नहीं है?

—भूख के प्रश्न को जैसे राज्य-व्यवस्था सीधे अपने हाथ में ले सकती है, वैसे भोग के प्रश्न को नहीं। उसमें वस्तु का नहीं, व्यक्ति के विनियोग का प्रश्न आता है। इसलिए वह सर्वथा बाहरी व्यवस्था का सवाल नहीं है। उसमें आन्तरिकता का प्रश्न भी आता है। इसलिए दोनों के सम्बन्ध में एक समान भूमिका पर सोचना नहीं हो सकता।

यों इस तरह के प्रयत्न चलते तो हैं। विज्ञान इस क्षेत्र को भी व्यवस्था के नीचे लेने की स्पर्धा रखता है। पर कोई एजेन्सी सब स्त्री-पुरुषों को परस्पर युग्म में समनियुक्त कर सकती है, यह असम्भव है। परिणामतः अलग-अलग समाजों ने अलग-अलग प्रयोग किये हैं; कहीं यूथ-विवाहों का अब तक चलन है। बहरहाल यह परस्पर चुनाव की प्रक्रिया प्रकृति के भीतर से ही चल रही है; बाहरी किसी तन्त्र द्वारा इसका सही निपटारा न हुआ है, न हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ काम कुण्ठित और अवरुद्ध रहता है, आर्त और आकुल बनता है, वहाँ सामाजिकता के लिए उतना ही खतरा भी हो जाता है; उस समाज व्यवस्था को उतना ही सदोष भी माना जा सकता है। अन्न का भूखा व्यक्ति चोर बनता है, काम का भूखा व्यक्ति बलात्कारी बनता है। दूसरे अपराध को जघन्यतर ही माना जाना चाहिए और क्योंकि यह पक्ष ऊपरी व्यवस्था से सँभल नहीं सकता है, इसीलिए कुछ अधिक ही विचारणीय होना चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम तो बनते हैं, तीन-पाँच-दस वर्षों की योजनाएँ तैयार होती हैं। पर आर्थिक से अधिक मानसिक और नैतिक योजना और शिक्षण की आवश्यकता रहती है जो काम की जड़ों तक पहुँच सके और तत्सम्बन्धी स्वास्थ्य दे सके। यह कार्य राजन्य वर्ग नहीं कर सकता है। इसके लिए पहले संन्यस्त और ब्रह्मण्य वर्ग रहा करता था। आज की आर्थिक सभ्यता में उस वर्ग की अवगणना है और उस कार्य को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसी से एक चारित्रिक संकट-सा बना हुआ है और वस्तु की बहुलता में भी सुख-चैन का अभाव नजर आता है। मानव-सम्बन्धों में स्नेह और सहानुभूति की जगह स्पर्धा और द्वेष बढ़ गया है और आर्थिक योजनाएँ हमारी व्यस्तता और व्याकुलता को बढ़ाने वाली ही सिद्ध होती हैं। इस तरह काम का प्रश्न अर्थ से कुछ गहरे महत्त्व का ही है और उसके सम्बन्ध में व्यवस्थापक असहाय और अक्षम भले हो, साहित्य असावधान नहीं हो सकता है।

काम की उद्दीप्ति में और उसके शमन में भोजन, संगति आदि बातों का भी स्थान है?

—हाँ, है।

यदि है तो काम को अपने वश में करने के इच्छुक व्यक्ति को दूसरे शब्दों में इन्द्रिय-निग्रही व्यक्ति को अपना भोजन और व्यवहार यानी संगति किस प्रकार की रखनी चाहिए।

—वह मैं नहीं बता सकूँगा। मैं उपदेष्टा नहीं हूँ, होना नहीं चाहता हूँ। लेकिन

इस प्रकार के नियम और आदेश आपको आसानी से अनेक पुस्तकों में मिल जाएँगे। यह बहुत उपयोगी विषय है और स्वास्थ्य, चरित्र और आहार सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। वहाँ से आपको सामान्य नियम ले लेना चाहिए।

लेकिन जो सबसे प्रधान है और जिस पर मानसिकता का आधार होता है, वह है आस्था। लगन और भक्ति सबसे सहायक उपचार है। लगन प्रेम का ही दूसरा नाम है। प्रेम में अनायास काम खुल जाता है, उसका दंश तीखा नहीं रह जाता है। भक्ति भी उसी प्रेम की सघन अवस्था का नाम है। इस तरह प्रार्थना सबसे बड़ा सम्बल है। राम-नाम को अचूक उपाय मानिए।

वह सब उसमें सहायक हो सकता है जो अहंकार को मारनेवाला है। सेवा कर्म का इस सम्बन्ध में बड़ा मूल्य है। धन की, वस्तु की अधिकता से अहंकार को बल मिलता है। तब व्यसन की और वृत्ति होती है। इसलिए अपरिग्रह बहुत सहायक होता है। अपना काम जितना खुद करने की आदत डालेंगे, उतना काम का वेग कम होगा। इत्यादि बातें मानसिकता से सम्बन्ध रखने के कारण मेरे लिए भी उल्लेखनीय हो सकती हैं। शेष में मेरी गति नहीं है।

ऐसा कुछ दिनों पूर्व पढ़ा था कि अमरीका में सेक्स पर कुछ प्रयोग किये गये हैं। एक प्रयोग यह था कि बच्चे को बाल्यावस्था से ही एकान्त में सांसारिकता से दूर रखा गया। यह देखने के लिए कि कामुकता उसमें संगति से पैदा होती है अथवा कि वह अवस्थाजन्य है और स्वभावत: होती है। उस प्रयोग में उन्होंने ऐसा पाया कि किशोर अवस्था की परिसमाप्ति के बाद उसमें कामोद्वेग के चिह्न दिखाई देने लगे थे। तो ऐसी स्थिति में काम पर पूर्ण नियन्त्रण पाने की सम्भावनाएँ तो स्वत: समाप्त हो जाती हैं। परन्तु उसे अनियन्त्रित होकर दुर्व्यसन का रूप लेने से भी बचाना तो आवश्यक ही है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के सामने क्या मार्ग रहता है?

—विवाह मार्ग है।

जिसने विवाह भी नहीं किया और जो कहता है कि मैंने कभी चेतनावस्था में काममूलक प्रवृत्तियाँ भी नहीं की हैं। सम्भोग की बात तो बहुत दूर, लेकिन सम्भोग का चिन्तन और उसके प्रति आकर्षण भी वह अपने-आपमें नहीं पाता है। फिर भी वह एक अवस्था को पार कर चुका है और इसलिए वह बताता है कि अचेतनावस्था में यानी स्वप्नावस्था में स्वप्नदोष का शिकार तो हो ही जाता है। ऐसी अवस्था में, मैं तो मानता हूँ कि उस व्यक्ति को हम नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं कह सकते हैं। तो प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है और नैष्ठिक ब्रह्मचारी की परिभाषा अथवा साधना आप क्या मानते हैं?

—मन से अलग तन में मैं कोई ब्रह्मचर्य नहीं देख पाता हूँ। इसलिए उस प्रकार के ब्रह्मचर्य के विचार को मन से दूर करके ईमानदारी के साथ हमें इस प्रश्न को और अपने को लेना चाहिए।

स्वप्नदोष के साथ अक्सर मानसिकता का किंचित् योग रहता है। किन्तु गाँधीजी की साक्षी है कि स्वप्नदोष निरे शरीर-धर्म के रूप में भी हो सकता है। अर्थात् केवल स्वप्नदोष की घटना से बहुत अधिक विचलित नहीं होना चाहिए। पर यदि मन का भी योग उसमें जाता हो तो वहाँ ईमानदारी और सावधानी बहुत जरूरी है।

पहले मैंने विवाह को लगभग अपरिहार्य बताया है। वह केवल शारीरिक कारण से नहीं, बल्कि अधिक सामाजिक कारण से। अर्थात् विवाह सहज-कृत्य और सहज-धर्म है। उससे बचने की बात ही अपवाद हो सकती है। इसलिए कामोद्वेग के व्यभिचार जैसे असामाजिक कृत्यों में बहने की सम्भावना कट जाती है, अगर समय पर विवाह आ जाता है।

किन्तु नाना बाधाएँ विवाह को सहज बनाने के मार्ग में बाधक होती हैं। पैसे की बाधा, जात-बिरादरी की बाधा, धर्म, नीति और आदर्श आदि की रूढ़ धारणा सम्बन्धी बाधा इत्यादि। उन बाधाओं को हटाने का प्रश्न चिन्तक और सुधारक के लिए उपस्थित होता है। व्यवस्थापक के लिए भी वह बड़ा प्रश्न है। यदि आयु आकर बीत गयी है और विवाह नहीं हुआ तो इनमें से कोई-न-कोई बाधा बीच में अड़ गयी होनी चाहिए। उचित है कि उस बाधा की अर्गला को हटाया जाए और उस स्नेह के प्रवाह को खोला जाए जिसे कामवासना कहकर हमने अभी तक रोक रखना जरूरी माना है। तब अनिष्ट दिशा में जानेवाला मानस, अथवा कि जाने से रोकी जानेवाली काया अपना सहज स्वास्थ्य सम्पादन कर सकेंगे।

स्वप्न में मानसिकता का योग न हो, ऐसा कोई एक उदाहरण मिल सकता है। पर स्वप्न का तात्पर्य ही अवचेतन मन का चिन्तन या कि संकल्प-विकल्प है? हम यह तो देखते हैं कि स्वप्न में शारीरिकता का संयोग कम मिलता है। हिंसा, कलह, या दान, उपदेश की कुछ बातें स्वप्न में होती हैं। पर वैसा शरीर से नहीं होता। स्वप्नदोष में केवल शारीरिकता रहे और उसमें मानसिकता का योग न मिले यह आम तो हो नहीं सकता, अपवाद का स्थान सर्वत्र रहता ही है। मोटे तौर पर स्वप्नदोषी व्यक्ति को भी कामुक और अब्रह्मचारी के स्थूल विशेषणों से भी क्यों न सम्बोधित किया जाए, जिससे कि व्यक्ति के लिए स्वप्नदोष की घटना सामान्य न रहे, अपितु भारी और चिन्तनीय बने?

—करो, लेकिन उस अनुभूति को यथा मात्रा से अधिक भारी होने देने से बचाना

चाहिए। मैं युवकों को जानता हूँ जो स्वप्नदोष की घटना से इतने घबरा गये, अपराध और पाप के बोझ से इतने दब गये कि जीवन से निराश ही होने लगे और उसके फलस्वरूप उलटे और कुटेब के अधिकाधिक शिकार होते चले गये।

एक बात कभी भूलनी नहीं चाहिए। वह यह कि हम स्वयं हैं, पर अपने ही मालिक नहीं हैं। इस तरह अपने को सहने की शक्ति आवश्यक होती है। प्रार्थना में हम अपने दोष स्वीकार कर लेते हैं और सदोष होकर भी अपने को अपने निकट सह्य बना लेते हैं। आत्मगर्व में चलकर आदमी या तो अपने दोषों को पहचानने में ही असमर्थ हो जाता है या फिर पहचानकर टूटने लग जाता है। इसी विचार से तन और मन कोई सर्वथा दो अलग तो हैं नहीं।

स्वप्न में अवचेतन की लीला दीखती है। किन्तु शरीर-धर्म ऐसा हो सकता है जिसमें चेतन-मन का योग न हो। गाँधीजी की साक्षी को इस सम्बन्ध में फेंका नहीं जा सकता। अपवाद जितना भी विरल हो, सौ में एक न होकर लाखों में एक हो, तो भी अपवाद सिद्धान्त को सिद्ध करनेवाला होता है। शरीर-धर्म के कारण ऐसा हुआ है, यह सोचकर यदि कोई किशोर अपने स्वास्थ्य को सँभाले रखता है, अत्यधिक विचलित और खिन्न होने से अपने को बचा लेता है तो मैं मानता हूँ कि वह उचित ही करता है। बहुत अधिक आग्रही और आत्म-सम्भावित बालक ऐसी घटना को इतनी जबरदस्ती के साथ पकड़ सकते हैं कि वही उनका भारी अनिष्ट कर बैठे। एक शब्द है 'आप्सेशन' अर्थात् घनाभिभूत हो रहना। वैसा मनोभाव मानसिक स्वास्थ्य में सहायक नहीं होता है। ब्रह्मचर्य के रूढ़ आदर्श को मानने वाले अक्सर उसी तरह के मनोभाव के स्वयं शिकार होते हैं और वैसे मनोभाव फैलाने में भी कारण हो जाते हैं। उस अनिष्ट से बचना और बचाना चाहिए और वैज्ञानिक मनोवृत्ति से काम लेना चाहिए।

यदि हम काम को शरीर की एक अनिवार्य आवश्यकता, जैसे कि रोटी है, मान लेते हैं और उसकी पूर्ति के लिए आजीविका की तरह व्यक्ति को स्वतन्त्रता दे देते हैं तो क्या इससे हमारी पारिवारिक व्यवस्था के स्नेहसूत्र नहीं टूट जाएँगे? मातृत्व, पितृत्व, पत्नित्व आदि शब्दों की कोमल, उदार और उत्तरदायित्वपूर्ण भावनाओं में क्या ह्रास या विघटन नहीं हो जाएगा?

—अर्थात् आप काम के क्षेत्र में मर्यादाओं को उचित और आवश्यक मानते हैं, किन्तु क्या वे मर्यादाएँ स्वयं आजीविका के क्षेत्र में आप आवश्यक नहीं देखते हैं? चोर दण्ड इसीलिए पाता है कि चोरी के द्वारा आजीविका उचित नहीं मानी जाती।

दूसरे शब्दों में मनुष्य पशु की तरह निर्द्वन्द्व नहीं है। मनुष्यता स्वयं एक मर्यादा है। भूख और भोग दोनों क्षेत्रों में मनुष्यता की मर्यादा लागू है। मनुष्यता के विकास

के साथ संस्कारिता का विकास होता और स्वैराचार्य की जगह शिष्टाचार की प्रतिष्ठा होती है।

किन्तु एक बात ध्यान रखनी चाहिए। वह यह कि संयम और मर्यादा स्वयं सत्य नहीं हैं, सत्य की द्योतक हैं। अर्थात् बन्धन में पुरुष की शोभा नहीं है, पुरुषार्थ की सफलता मुक्ति में है। संयम और मर्यादा के बीच से अगर मानवात्मा का मुक्त भाव प्रस्फुटित नहीं होता जाता है तो संयम का मर्यादाचार निरी विडम्बना बन जाता है। पशु और पुरुष में अन्तर इतना ही नहीं है कि पशु स्वच्छन्द है और पुरुष सम्बन्ध है; बल्कि मूल अन्तर यह है कि पशु स्वयं नहीं है और अपनी वृत्तियों का शिकार है, जबकि पुरुष निजत्व रखता और अपनी वृत्तियों का विभु हो सकता है। इसमें आप देखेंगे कि पुरुष के पास स्वय की तन्त्रता अधिक हो आती है, यद्यपि वह स्वच्छन्दता नहीं कहला सकती।

आजीविका की स्वतन्त्रता का आशय था कि यदि कोई व्यक्ति अपने घर के निजी कार्य में रस नहीं रखता या उसके लिए वह उाचित नहीं ठहरता, तो वह कहीं भी किसी प्रकार का भी मान्य कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। और यदि उसे अपनी आजीविका पाँच-चार या अधिक बार परिवर्तित भी करनी पड़ती है तो वह समाज और धर्म की दृष्टि से अनैतिक नहीं बन जाता। इसी सन्दर्भ में मेरा प्रश्न था कि काम-विज्ञान की दृष्टि से कोई पुरुष या महिला परस्पर सन्तुष्ट नहीं और इसलिए यदि वे द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ का चयन करते हैं तो सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि उसे घृणा से देखती है। यह है आजीविका और काम की विषमता, जबकि प्रकृति की दृष्टि से इनमें समता है।

—जीविका में व्यक्ति का सम्बन्ध वस्तु से आता है, भोग में अन्य व्यक्ति से। इसलिए दोनों की मर्यादाओं में अन्तर रहना भी अवश्यम्भावी है। वस्तु के साथ प्रतिभाव अर्थात् नैतिकता का हिंसा-अहिंसा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। उसी कारण गल्ले का व्यापार छोड़कर रुई का व्यापार करने लगने में किसी अनीति का प्रश्न खड़ा नहीं होता। व्यक्ति का सम्बन्ध जब अन्य व्यक्ति से ही आता है, तो परस्परता का प्रश्न बन जाता है और वहाँ एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता से बनने और घिसने लग जाती है। पदार्थोपयोग और कामोपभोग के सम्बन्धों में इस तरह जो विषमता दीखने में आती है वह तर्कहीन नहीं है प्रत्युत अनिवार्य ही कही जा सकती है।

यह सत्य है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज उसका सहयोगी हो यह तो समाज में आता है, पर सामाजिकता के कारण उसकी प्राकृतिक गति को बाँध नहीं मिलना चाहिए। सामाजिक दृष्टि तो मनुष्य द्वारा स्वनिर्मित है। जहाँ तक

उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ हैं, वे निर्मित नहीं अपितु प्राकृतिक हैं। ऐसी स्थिति में यौन-सम्बन्धी मनुष्य की आवश्यकता सामाजिक विधानों में बाँधी नहीं जा सकती, और यदि बाँधी हुई भी है तो उसे उन्मुक्ति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे प्रश्न का खुला आशय यह है कि मानव की यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओं को सहज दृष्टि से देखा जाए।

—शिशनोदर की समस्या को सहज तौर पर ही लिया गया जब विवाह और आचार्य की सृष्टि हुई। मनुष्य के लिए मर्यादा अप्राकृतिक नहीं है। बल्कि प्राकृतिक है, क्योंकि सांस्कृतिक है।

मैं मानता हूँ कि मनुष्य मूलत: और अन्तत: सामाजिक नहीं आध्यात्मिक है। किन्तु अध्यात्म-साधना का विस्तार समाज में से होता है, यद्यपि समाज में समाप्त नहीं होता। समाज मानव-समाज कहलाता है और अध्यात्मभाव का विस्तार उससे आगे समष्टि की ओर भी बढ़ता है।

इसका फलितार्थ यह है कि यौन सम्बन्धों पर मर्यादाओं को आना ही चाहिए और उनको स्वच्छन्द नहीं होने देना चाहिए। किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं है कि विवाह से आगे प्रेम की गति नहीं है। विवाह में भी काम पर अंकुश आता है, प्रेम पर बन्धन नहीं आता। सच पूछिए तो प्रेम के विस्तार के लिए ही विवाह द्वारा एक गृहस्थरूपी सामाजिक केन्द्र की सुविधा की जाती है। वह गृहस्थ निष्फल और दूषित है जहाँ साधू की अभ्यर्थना नहीं है और अतिथि का सत्कार नहीं है। अर्थात् गृहस्थी के द्वारा काम को सीमा में लाकर फल में नियुक्त किया जाता है, जबकि प्रेम को उसके द्वारा फिर सब ओर प्रवाहित और विस्तृत किया जाता है।

आप देखेंगे कि काम और प्रेम इन दो संज्ञाओं को ऊपर अलग-अलग अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। काम उस क्षेत्र का तथ्य है जहाँ व्यवस्था चलती है। भाव क्षेत्र में व्यवस्था चल नहीं सकती। वहाँ का सत्य प्रेम है अर्थात् यौन-सम्बन्ध मर्यादित ही रहेंगे, मानसिक सम्बन्ध व्यापक होते जाएँगे।

विवाह से आगे भी प्रेम की गति है, इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद व्यक्ति उस प्रेम में किसी प्रकार के बन्धनों को स्थान क्यों दे?

—प्रेम अप्रेम के लिए स्वयं बन्धनों की सृष्टि करता है। उसकी गति और प्रक्रिया ही ऐसी है। प्रेम में से निर्द्वन्द्वता से अधिक दायित्वशीलता आती है, प्रेम में व्यक्ति बन्धनहीन नहीं, वरन् बन्धनमुक्त होता है। हीनता और मुक्तता में यदि अन्तर है तो प्रेम के ही कारण है। यह प्रश्न कि बन्धन फिर रह ही क्यों जाए, प्रेम में से नहीं आ सकता। यह केवल उस विचार में से आता है जो प्रेम के पीछे से अहं की स्वच्छन्दता चाहता मालूम होता है। प्रेम कहते ही उसे हैं, जहाँ अहं

अपने लिए तनिक भी अवकाश नहीं चाहता, अपनी स्वच्छन्दता का तो प्रश्न ही क्या है?

प्रेम के व्यवहार में स्वेच्छाचारिता के लिए कहीं स्थान नहीं बचता, इसलिए मर्यादाओं की उससे हानि नहीं होती, उलटे मर्यादाओं की इस अर्थ में सेवा हो जाती है कि उससे अमुक मर्यादा की रूढ़ता और रुग्णता कट जाती है और स्वास्थ्य आ जाता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रेम मर्यादा की सृष्टि करता है, मर्यादा को तोड़ता नहीं है। अर्थात् प्रेम के शीर्ष पर किसी मर्यादा को नहीं रखा जा सकता, प्रेम सर्वोपरि है।

प्रेम समर्पण है। वहाँ धन का, शरीर का और सभी भावों का एक-दूसरे के लिए निर्बन्ध अर्पण है। प्रेमी यह नहीं सोचता कि यहाँ पर मेरे पदार्थों का क्या उपयोग होगा? और वहाँ क्या उपयोग होगा, ऐसा उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, वहाँ पूर्ण प्रेम भी नहीं है। ऐसी स्थिति में जब प्रेम विवाह में बँधता नहीं तो यौन-सम्बन्ध भी क्यों बँधे?

—प्रेम हममें अप्रेम के साथ रहा करता है। इन दोनों से मिलकर जो चीज बनती है, उसे काम कहते हैं। वह तत्त्व विस्फोटक होता है और अहिंसा के साथ उसमें हिंसा भी मिली रहती है। अर्पण के साथ आग्रह भी मिला रहता है। उससे सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु अप्रेम अर्थात् अहंकार वैयक्तिक शक्ति है, प्रेम भागवत और बाह्य-शक्ति है। इसलिए मनुष्य में सदा ही वह अतिरिक्त मात्रा प्रेम की बची रहती है जो काम में परिणत नहीं हो पाती। उसमें से ही वह तमाम सृष्टि होती है जिसको साहित्य, धर्म, दर्शन, कला इत्यादि कहा जाता है।

एक-दूसरे के लिए जो समर्पण होता है, वह आंशिक होने से अधिकांश उपयोगिता के विचारों से सर्वथा मुक्त नहीं होता। जहाँ समर्पण अपने-आपमें ही इष्ट और पूर्ण है, वह प्रेम सचमुच निष्काम होता है। उसको भक्ति भी कहते हैं। भक्ति से अलग भगवान का अस्तित्व मानो रह ही नहीं जाता है। सांसारिक प्रेम में ऐसा नहीं हुआ करता।

यौन-सम्बन्ध भक्ति का सम्बन्ध नहीं है। इसमें दोनों ओर दो अस्तित्त्व बने रह जाते हैं। इसलिए अनिवार्यतया इस द्वैत और द्वन्द्व के क्षेत्र में बन्धन और प्रश्न उपस्थित होते हैं। अर्पण अत्यधिक उत्कट होकर भी मानो दोनों ओर अस्मिताओं का आग्रह फिर-फिर सिर उठा आता है। अहन्ता सीमा का आग्रह है, इसलिए उसके स्वतन्त्र होने का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ तो मानो बन्धन का कारण ही निवास करता है।

अप्रेम जिसको छू नहीं पाता, प्रेम का वह अतिरिक्त अंश ही मुक्त होता

और करता है। व्यक्ति में जितनी इसकी मात्रा अधिक है, उतना ही वह महान और विराट है।

प्रेम मर्यादाओं को नहीं मानता अपितु प्रेम में मर्यादाएँ टूटती हैं जहाँ मर्यादाओं की रक्षा की चिन्ता है, वहाँ पूर्ण प्रेम हो भी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में विवाह या भोग किन्हीं प्रेमियों में मर्यादा बनकर क्यों आये? यहाँ तक ही नहीं, अपितु वे पूर्ण प्रेमी तभी हैं, जबकि ये औपचारिकताएँ और मर्यादाएँ वहाँ से विलग हैं।

—यह ठीक है कि प्रेम में मर्यादाएँ टूटती हैं। लेकिन टूटती इसलिए हैं कि वे जड़ हो गयी हुई होती हैं, और उनके स्थान में चेतन और स्वस्थ मर्यादाएँ उस प्रेम के द्वारा बनने में आती हैं। बेशक प्रेम पर किसी मर्यादा की रक्षा की चिन्ता नहीं आ सकती है, यदि केवल इसलिए कि प्रेम प्रेम है। सागर क्या मर्यादा के सम्बन्ध में सोचता है, जबकि यह कहा जाता है कि सागर मर्यादा नहीं छोड़ता? अर्थात् तट सागर को नहीं रोकता, बल्कि सागर स्वयं तट का निर्माण करता है।

खण्ड के प्रति प्रेम पूर्ण इसलिए नहीं हो सकता कि वहाँ अर्पण पूरा लिया नहीं जा सकता। अंश अपने में अपने जितना ही समा सकता है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जो अर्पण-प्रत्यर्पण दीखता है उसमें भीतर प्रच्छन्न में स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा भी काम करती रहती है। उन दोनों को जो परस्पर प्राप्त होता है वह स्पर्धायुक्त अर्पण जितना ही है। उससे आगे जो है, वह परस्पर को लाँघकर जैसे अनायास समष्टि को प्राप्त हो जाता है।

शायद कुछ यही सत्यता थी जिसे दरसाने को हमारे धर्मशास्त्रों ने वर्णन किया कि कैसे सती जितनी पति की होती है, उससे अधिक भगवान की होती है। अर्थात् एक की सम्पूर्णता कभी किसी हालत में अमुक दूसरे को पूरी तरह नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे प्रेम में गलत-फहमियाँ न हों यह असम्भव है। असम्भव इसलिए कि अंशता से दोनों में से कोई वियुक्त नहीं हो पाता, इसलिए अंशता ही दे और ले पाता है। वहाँ तृप्ति कहाँ रखी है? इसीलिए बार-बार काम को प्रेम से भिन्न करके देखना होता है।

मनुष्य के लगभग सभी व्यापार तृप्तिपरक होते हैं। किन्तु धन एवं विषयों से उसकी तृप्ति क्यों नहीं होती?

—तृप्तिपरक का मतलब तृप्ति के लिए येही न? तृप्ति सम्पूर्ण हो जाए तो फिर आगे जीने की जरूरत नहीं रह जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि हर तृप्ति अतृप्ति को जन्म देती है। जीवन स्वयं एक अतृप्ति है। कुछ-न-कुछ पाने को शेष रहता ही जाता है। फिर उसको पाने का प्रयत्न चलता है। यही पुरुषार्थ कहलाता

है। पुरुषार्थ मोक्ष से पहले रुके तो कहाँ?

तृप्ति जबकि कोई ऐसी नहीं हो सकती जो फिर शेष कुछ शेष छोड़े ही नहीं, तो धन और विषय सम्बन्धी कोई तृप्ति तो और भी अतृप्तिमूलक होती है। कारण इनके मूल में जो वृत्ति काम कर रही होती है उसमें कुछ आत्म से पलायन का भाव भी होता है। हम धन की ओर लपकते हैं अथवा भोग की ओर, तब अपने से बच रहे होते हैं। जिसकी तरफ जाते हैं, उसकी उतनी माँग नहीं होती, बल्कि अपने से ही हटना और भागना चाह रहे होते हैं। तब वस्तु, जिसको हम पकड़ते हैं, थोड़ी ही देर बाद सिद्ध कर आती है, कि उसे अपनी खातिर हमने नहीं चाहा था। स्वयं में शंका होने लगती है कि क्या हमने इसे ही चाहा था। धन में लालसा होती है। जैसे-जैसे धन आता-जाता है, उसमें एक तृप्ति का भी अनुभव होता है। अब धन ऐसी चीज है कि जिसकी आवश्यकता सबको है, इसलिए उस धन से मिलनेवाली तृप्ति अभिमान को खुराक पहुँचाती है। आसपास करोड़पति हों तो लाख का धन हमें चुभता है। गरीब हों तो वही धन सुख देता मालूम होता है। अर्थात् धन से मिलनेवाली तृप्ति स्वयं धन में नहीं है। धन के साथ मान-अभिमान का भाव जुड़ा रहता है, धन से सामाजिक श्रेणियों का निर्माण होता है। तो यह तृप्ति दूसरे की अपेक्षा हमें कुछ ऊँचा चढ़ाती जान पड़ती है। इस ऊँच-नीच की दुनिया में यदि और कोई हमारी ऊँचाई से ऊँचा दीख आता है तो वही अतृप्ति बन जाती है। इसीलिए देखने में आता है कि धन से सन्तोष किसी को प्राप्त नहीं हुआ। बल्कि चलते-चलते उससे एक विरक्ति अवश्य अनुभव होने लगी है। मालूम होने लगा है कि जैसे जो मान मिलता है वह हमारा नहीं, धन का है। सगे-सम्बन्धी हमको चाहते हैं तो धन के कारण चाहते हैं, प्रत्याशा रखकर चाहते हैं; नहीं तो शायद चाहते ही नहीं। इस प्रकार धनाढ्य अपने भरे-पूरे घर में भी कभी बहुत अकेला और अविश्वासी बन आता है। उसे धन अपना दुश्मन तक मालूम होने लगता है। सब जानते हैं कि धन के कारण शत्रुताएँ बन आती हैं। अर्थात् अन्त में यह पाये बिना सम्भव नहीं रहता है कि धन के द्वारा कुछ और ही हमने पाना चाहा था। धन से तृप्ति उस कुछ और पर निर्भर करती है। उसी कुछ और के कारण धन में अतृप्ति हो जाती है।

स्पष्ट है कि धन की और गति प्रतिक्रिया में होती है। मैं अनेक उदाहरण जानता हूँ जहाँ लोगों ने चोट खाई और उस चोट की प्रेरणा से धन से मिलनेवाली सफलता की ओर वह बढ़ते चले गये। मानो धन में से उन्होंने क्षतिपूर्ति चाही। यह अनुभव सर्व सामान्य है कि मन की खोज में आदमी धन की तरफ जाता है और अन्त में पाता है कि मन का स्थान धन ने ले लिया है। तब हर तृप्ति अधूरी और ओछी पड़ जाती और मानो वह स्वयं अतृप्ति के लिए और ईंधन बन

जाती है, तो इसमें विस्मय क्या है। तृष्णा का स्वरूप ही यह है।

विषयभोग के सम्बन्ध में भी ठीक यही तर्क काम करता है। अपने से पलटकर हम उधर जाते हैं। पाने के साथ ही पाते हैं कि जो हमने आशा की थी वह मिला नहीं। प्रेम इसी से प्राप्त से आगे भागता जाता है। जब तक प्राप्ति नहीं है तब तक जाने क्या-क्या आशाएँ रहती हैं। प्राप्ति होने के साथ आशाएँ वहाँ टूटने लगती हैं और आगे भाग जाती हैं। प्रेम के साथ यह घटना होते हुए नित्यप्रति हम देखते हैं। प्रेम से विवाह हो जाते हैं। विवाह होने के कुछ ही दिन बाद दम्पति स्वयं संशय में पड़ जाते हैं कि क्या हमने इसी को प्रेम किया था। प्रेम तो दूर, एक-दूसरे के लिए उनमें घृणा पैदा हो आती है। यह उस प्रेम के सम्बन्ध में लगभग अनिवार्य है जहाँ भोग आ जाता है। अनिवार्य इसलिए है कि प्रेम स्वप्न रचता है और भोग तोड़ देता है। प्रेम देवता और अप्सरा से किया जाता है, भोग में आकर पता चलता है कि वे निरे नर-नारी थे। भोग-विषयक तृप्ति इस तरह अनायास अतृप्तिमूलक हो जाती है।

साफ है कि उस रास्ते कितने ही बढ़ते जाएँ सन्तोष और सुख नहीं मिलनेवाला है। धन या विषय में सुख या दुःख, सन्तोष या असन्तोष की शक्ति नहीं है। वह क्षमता वहाँ इस कारण पैदा होती आती है कि हम अपने मनोरथ और लोभ, मोह, मन की तृष्णाएँ-कामनाएँ उस तट पर सजी देख आते हैं। अपने को पाने की राह में नहीं मानो अपने से बचने के लिए उनका सहारा लेते हैं। वह है जिसमें भोग नहीं माँगा जाता, भिन्न वस्तु है। उसमें तृप्ति जैसी नहीं मिलती, न अतृप्ति ही उत्पन्न होती है। वहाँ दुःख और सुख एक-दूसरे से अलग नहीं रहते। यह नहीं कि आज जो सुख मालूम पड़ता है आगे जाकर वही दुःख बन जाता है। भोगमुक्त प्रेम में दुःख-सुख में यह विपरीतता का सम्बन्ध नहीं रहता। तृप्ति-अतृप्ति शब्द वहाँ के लिए असंगत हो आते हैं। विरह में जो सुख और संयोग की अनुभूति है, वह कभी समाप्त नहीं हो सकती है। इसका वर्णन गम्भीर साहित्य और अध्यात्म ग्रन्थों में मिलता है।

वही तृगणकुल कर्म और अनासक्त कर्त्तव्य कर्म में अन्तर है। धन कर्त्तव्य कर्म का भी फल हो सकता है। यह धन अनासक्तकर्मी को कोई विशेष तृप्ति का स्वाद नहीं पहुँचाता। इसलिए उस धन के प्रति उसमें विरक्ति होने की भी कभी आवश्यकता नहीं होती। ऐसा व्यक्ति स्वयं से लौटकर अपने को बहलाने-बहकाने के लिए धन की तरफ नहीं बढ़ता। उसके प्रयत्न के मूल में इस तरह प्रतिक्रिया नहीं होती। तब धन उसका अलाभ भी नहीं कर पाता है।

ऐसा भोगी और धनिक सन्तोषी और सुखी हो सकता है। जनक भोग, ऐश्वर्य में रहे। पर यह सबकुछ उनकी मुक्ति में बाधक नहीं हो सका। कारण इन वस्तुओं

से उनका सम्बन्ध आकांक्षा का न होकर प्राप्त कर्त्तव्य का था। धन और विषय के प्रति जब हम यह समवायी सम्बन्ध रखते हैं तो उनमें किसी तरह का जहर चढ़ नहीं पाता। जहर वहाँ है कहाँ, है तो वह व्यक्ति में। और वह तब पड़ता है जब व्यक्ति आत्मविमुख होकर वस्तुओं में अपने को पाने चल पड़ता है।

आज की दुनिया 'रोटी' और 'सेक्स' से ही सबकुछ ढका देखना चाहती है। क्या जीवन-शक्ति पाने के लिए यह समीचीन है?

—दुनिया देखना चाहती है, इसका मतलब यही कि आमतौर पर यह देखा जाता है। अर्थात् व्यवस्था कुछ ऐसी है कि जनमानस इन दो समस्याओं से परेशान रहता है। आदमी उन्हीं को लेकर चकराता और जूझता रहता है।

ये प्रवृत्तियाँ पशु में भी हैं। पर पशु के लिए समस्या का रूप वे पैदा नहीं करतीं। काम और भूख उन्हें सताते हैं तो पशु किसी नीति-विचार की बाधा अपने लिए नहीं अनुभव करते। भूख लगी तो शिकार के लिए निकलते और सीधे उस पर टूट पड़ते हैं। मनुष्य के साथ ऐसा सम्भव इसलिए नहीं हो पाता है कि वह बुद्धिशील और समाजशील प्राणी है।

इसका मतलब यह हुआ कि जीवन-शक्ति जिस प्रकार पशु में स्वच्छन्द भाव से प्रकट होती है, वह सुविधा मनुष्य को नहीं है। मनुष्य का यन्त्र ही ऐसा बना है कि अपने अन्दर से वह दिशा पैदा कर लेता है। वह चाहे तो प्राण-शक्ति में स्वयं ही क्षति से ले आ सकता है। हिंसा के साधन उसके पास पशु जैसे नहीं हैं। वैसे पंजे और नाखून नहीं हैं, दाढ़ें नहीं हैं। न चारों पैरों पर तेज भागने और उछलने की शक्ति है। शिकार तक के लिए उसे बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। वह औजार का इस्तेमाल करता है, तब शिकार कर पाता है। अर्थात् मनुष्य में और उसके खाद्य में फासला है। अन्न जो वह खाता है उसे बोना और उगाना पड़ता है। फिर नाना प्रक्रियाओं से उसको पीस-पकाकर भोजन का रूप देना पड़ता है। काम की दृष्टि से भी वह उस तरह हिंस्र और आक्रामक नहीं हो पाता। काम में उसके साथ एक दूसरी चीज मिल जाती है जिसको प्रेम कह सकते हैं। उसमें दो में परस्पर उपभोग ही नहीं है, एक-दूसरे की चिन्ता और विचार भी है। उस कारण मनुष्य ने अपने बीच विवाह उत्पन्न किया। इस तरह काम तृप्ति की राह में इच्छा और विचारपूर्वक उसने कुछ बाधाएँ और मर्यादाएँ बना लीं।

इन मर्यादाओं के कारण भूख, भोग की तृप्ति उसके लिए सहज नहीं रह गयी, कर्मसाध्य हो गयी। कहिए कि वह समस्या हो चली। इस पद्धति से भूख और भोग ने उसके जीवन में शायद अधिक स्थान भी ले लिया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखें तो वह फैला हुआ स्थान स्वयं भूख और भोग का न था, भूख और भोग

के विचार का था। जो पशु में निसर्ग वृत्ति थी, पुरुष ने उसको पुरुषार्थ बनाया। अर्थ और काम उसके लिए पुरुषार्थ बने और ज्यों-त्यों भोगकर पुरुष सन्तुष्ट न हुआ। भूख में से उसने भोजन का शास्त्र बनाया और नाना व्यंजन आविष्कृत किये। भोगाकांक्षा में से नाना गीत, चित्र, वस्त्र और अलंकार-आभरणों का निर्माण किया। यह सब उसकी संस्कृति समझी गयी।

कारण जो प्रकृत था, उसी को उसने संस्कार दिया। उसको सँवारा, सजाया और अपनी सामाजिकता के लिए साधन-रूप बना लिया।

प्रकृति ने पशु को वृत्तियाँ देकर जैसे अपने हाथों सीधा शुद्ध साधन बनाये रखा। वह प्रकृति का सहयोगी न था। मनुष्य सहयोगी बना। प्रकृति के हाथों वह खिलौना नहीं रह गया। किंचित् उसने भी प्रकृति को खिलौना बनाना आरम्भ किया। प्रकृति की क्रीड़ा पशु जगत् में थी ही। मनुष्य ने अपने जगत् में अपनी ओर से प्रकृति के साथ क्रीड़ा आरम्भ की। भूख और भोग की आदिम प्रेरणाएँ लेकर उसने उन्हें सँवारना, सजाना शुरू किया, उन्हें व्यवस्थित किया और उन्हीं के बीच में से स्वार्थ को ही परमार्थ के रूप में उठाते जाना सीखा।

अर्थ और काम पुरुषार्थ हैं। उन्हीं में से मोक्ष पहुँचना होता है। भूख और भोग शायद वासनाएँ हैं, लेकिन उन आदिम वासनाओं का जब हम समाज के सन्दर्भ में ऐसे नियोजन करते हैं कि उसमें से हिंसा नहीं सामाजिकता अर्थात् अहिंसा फलित होती है तो प्रकृत संस्कृत हो रहता है और जो यों अनर्थ था सार्थकता की सृष्टि करने वाला हो जाता है।

यों रोटी और सेक्स हमारी सहायता करते हैं। कल्पना कीजिए उन महोदय की जिन्हें उनकेविचार की आवश्यकता नहीं है। ऐसे नौजवान रईसजादों में संस्कारिता का अभाव देखने में आता है। जीवन शक्ति पर अंकुश नहीं रहता है। उसकी आवश्यकता नहीं आती तो जीवन क्या अन्त में समृद्ध और सम्पन्न होता दिखाई देता है? नहीं, शक्ति वह बिखर जाती है और जल्दी नाना रोग आ घेरते हैं। या दूसरे छोर पर लीजिए उस असामाजिक को जो अपराध के तल पर रहता है, चोरी, दुराचार आदि के प्रति कोई निषिद्ध भाव नहीं रखता। भूख, भोग के सम्बन्ध में तनिक ठहरता नहीं और विचार नहीं करता। ऐसे व्यक्ति में जीवन-शक्ति का क्या उत्कर्ष दिखाई देता है? या तीसरा उदाहरण उस तपस्वी का लीजिए जो भूख, भोग को अधम मानकर शरीर में रहने देना ही नहीं चाहता। क्या वहाँ पर प्राणों की कोई पूर्णता दिखाई देती है?

इसलिए मैं कहूँगा कि आपका प्रश्न ठीक नहीं बना है। दुनिया कुछ नहीं चाहती। उसके पास जताने को साधन नहीं है कि वह क्या चाहती है। जिन्होंने जगत्, जीवन के लक्ष्य और अर्थ को जानना चाहा है, उन्होंने सृष्टि के अर्थ को

भगवत् साक्षात्कार बताया है। अर्थात् उस सत्य का दर्शन जिसमें त्रिकाल-त्रिलोक अवस्थित है। उस धर्म का अनुपालन जो उसको धारण करता है। काल के इतिहास में से जाने-अनजाने यही घटित हो रहा है, विकास ही सम्पन्न हो रहा है। दुनिया के पास अगर कहीं कुछ अन्त:करण जैसा है तो वह उसी ओर उन्मुख है। लेकिन मानना होगा कि आज की व्यवस्था में सेक्स और रोटी वैचारिक और सामाजिक समस्या के रूप में हमारे मन में जितनी जगह घेरते हैं, उससे अधिक अपने निजी और वैयक्तिक रूप में घेरे हुए हैं। अर्थात् वे स्वार्थ बनकर हम पर विशेष छाए हुए हैं। उन्हीं को पारमार्थिक रूप भी मिल सकता है। और उस रूप में मनुष्य को प्राप्त जीवन-शक्ति का जितना भी भाग उन समस्याओं के विचार को मिले, अनिष्ट नहीं है।

प्रणय सत्य का रूपक है। सत्य ही ईश्वर का पर्याय है। अत: प्रणय ईश्वर का रूपक हुआ। क्या प्रणय की साधना ईश्वर-प्राप्ति का साधन हो सकती है?

—प्रश्न की भाषा से साफ है कि प्रश्नकर्ता को अपने प्रश्न का पता नहीं है। प्रश्न शाब्दिक है, व्यथा उसके नीचे नहीं है।

मैं इसको सामान्यतया छोड़ देता। लेकिन छोड़ इसलिए नहीं रहा कि प्रेम का मुझे बहुत ही प्रेम है। उस बारे में बहस का जरा बहाना मिले तो मैं अवसर को छोड़ नहीं पाता हूँ।

प्रणय का भाव सीमित है। वस्तु से हम प्रेम कर सकते हैं, शायद प्रणय नहीं कर सकते। प्रणय में स्त्री-पुरुष का भाव है। प्रेम नर-नारी में सीमित नहीं है। वह असीम है, परिव्याप्त है।

वही प्रेम स्त्री-पुरुष के मध्य होकर प्रणय बनता है। स्त्री-पुरुष के बीच भी अमुक अपेक्षा के माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन के बीच प्रणय नहीं है। परम प्रेम वह अवश्य है।

ईश्वर-प्राप्ति क्या? ईश्वर कहाँ है कि ऐसे पाया जाए जैसे हम चीज को पा लेते हैं? उस भाषा में ईश्वर की प्राप्ति एक असिद्ध संज्ञा है। पर ईश्वर-प्राप्ति जीवन का चरम ध्येय भी है। ध्येय और चरम इसलिए कि वह अपनी वास्तविकता की ही परिपूर्ण प्राप्ति है। मैं हूँ और अलग हूँ, यह वास्तव सत्य हो नहीं सकता, क्योंकि यही दु:ख का रूप है। जो इस 'मैं हूँ' और 'अलग हूँ' को अवास्तविक मान पाता है वह उस मान्यता के द्वारा ही ईश्वर की ओर गति करता है। ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् सबमें अपनी प्राप्ति। इस तरह परमात्मा में ही आत्म-प्राप्ति परिपूर्ण होती है, क्योंकि फिर स्वयं 'पर' से अलग कहीं रह नहीं पाता। 'पर' जो बन्धन रूप है, खो जाता है और 'स्व' मुक्त हो जाता है।

'स्व' कहाँ मुक्त हो सकता है? स्वयं 'स्व' में तो मुक्त है नहीं। मुक्ति 'स्व' की है तो सर्व में है। ईश्वर में स्व-पर दो रहते नहीं एकदम एक हो जाते हैं। इसलिए ईश्वर-प्राप्ति सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। वहीं मोक्ष है।

'पर' रहेगा तब तक बन्धन का बोध भी रहेगा। जहाँ से 'पर' का आरम्भ है वहीं 'स्व' की सीमा रुक जाती है। इससे 'स्व' सदा परेशान है और सारी यह परेशानी 'पर' के कारण है।

ईश्वर का ध्यान, उपासना और साधना, आराधना से अगर यह परेशानी कट सकती है तो तभी जब उस प्रक्रिया से पर का परत्व स्व के लिए घटे और स्व-भाव अपने से बाहर पर-क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रसार और विस्तार पाये। दूसरे शब्दों में ईश्वरोपासना से स्वार्थोपासना उत्तरोत्तर क्षीण और क्षय होती जाए।

ऐसा अगर नहीं होता है और इसके उदाहरण कम नहीं हैं, तो वह ईश्वरोपासना अन्ततः स्वोपासना रह जाती है और सहायता कुछ नहीं कर पाती। उलटे स्व का बन्धन और बढ़ा जाती है।

इसीलिए ईश्वर से भी प्रेम मुझे अधिक प्रिय है, क्योंकि ईश्वर की एकान्तिक धारणा हो भी सकती है। उसके नीचे स्वार्थ का सेवन भी हो सकता है। पर प्रेम में वह सम्भव नहीं है।

मैं प्रेम के सिवा कुछ भी मानना नहीं चाहता हूँ। कारण, प्रेम कोई तत्त्व नहीं है, सिद्धान्त नहीं है, विचार नहीं है। वैसा सबकुछ अपने में अलग हो सकता है। पर प्रेम का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व हो नहीं सकता। प्रेम का अनिवार्य अर्थ है सम्बन्ध। वह बन्ध जो सम्यक् रूप से युक्त करता है। अर्थात् इस या उसका नाम प्रेम नहीं है। इस और उसके बीच जो प्रवहमान रहकर दोनों को एकता में मिलाए रखता है, दो को एक रखता है, वह प्रेम है।

इस तरह प्रेम सब सिद्धान्तों, धर्मों, मतों, वादों से बड़ा है क्योंकि वह अपने में (एक्सल्यूजिव) है नहीं। एक सिद्धान्त दूसरे को आवश्यक बनाता है। एक धर्म दूसरे को गलत ठहराता है। मत-विमत को और वाद-प्रतिवाद को उत्पन्न करता है। सबकुछ अपने में होकर दूसरे कुछ को आवश्यक कर आता है। एक प्रेम ही है जो अपने को न मानकर दूसरे को भी क्रमशः न-होने की सुविधा और क्षमता दे सकता है। बाकी हर कुछ से एक दो होते हैं, प्रेम से दो एक होते हैं। तभी प्रेम में सुख की अनुभूति है। प्रेम के सिवा दुःख ही दुःख है।

इसीलिए प्रेम की महिमा से बढ़कर मेरे मन में कुछ भी और नहीं ठहर पाता है। ईश्वर को प्रेम के रूप में ले सकूँ तब तो ठीक, अन्यथा वह तक मेरे लिए सर्वथा और सहज अनावश्यक हो रहता है।

अब प्रेम कोई आसान मामला नहीं है। वह तलवार की धार पर चलता

है। हर घड़ी सूली पर रहना है। इसी से जानकार कह गये हैं कि पढ़ना-लिखना सब उसी का है। उसके ढाई अक्षर पढ़ जाएँ वही पण्डित है। पर पढ़-पढ़कर बहुतेरों ने झक मार ली, ढाई अक्षर वे कभी निबटते नहीं हैं। बलि के लिए चाहे सम्भव हुआ हो कि साढ़े तीन डग में दुनिया नापकर एक तरफ कर दे। पर प्रेम के बारे में यदि बलि का अवतार कोई हो तो उसे अपनी ही बलि से आरम्भ करना होगा।

यह तो प्रेम है। अब प्रणय।

प्रेम से ब्रह्माण्ड चलता हो, सौर मण्डल, ताराग्रह-नक्षत्र चलते हों तो हो सकता है। लेकिन यह जो मैं-मैं करनेवाला आदमी है, फ्रायड आदि ने बताया कि प्रणय से चलता है। स्त्री-पुरुष के मध्य जो एक आकर्षण है, अपने को दूसरे में खो देने और पा लेने की प्यास है, इसको लेकर इसी की विवशता से मानव प्राणी चल रहा है। इसी में से उसने अपने समाज को बनाया है, परिवार को बनाया है, यहाँ तक कि राज्य को बनाया है। फिर उसी प्रेरणा की विवशता में से उसने सामाजिक, पारिवारिक और राजकीय अपनी समस्याएँ भी पैदा की हैं।

मैं आस्तिक हूँ और सृष्टि मानने के कारण स्रष्टा को भी मानता हूँ। सृष्टि के मन्त्र को उस आदि स्रष्टा ने जो स्वरूप दिया है, उसके प्रति मैं नतमस्तक हूँ। ब्रह्मचर्य को उसके प्रति विद्रोह का रूप न मानकर परम स्वीकार का ही रूप मानता हूँ। प्रेम की चर्या से अन्यत्र और अन्यथा किसी ब्रह्मचर्य को मान सकने में मैं असमर्थ हूँ। इसीलिए मैं देखता हूँ कि प्रणय से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनका हल प्रेम के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। कानून के पास नहीं है, किसी दण्ड या शासक के पास नहीं है, किसी भी आदर्श अथवा सिद्धान्त के पास वह हल नहीं है। इन नामों पर की जानेवाली सब रोकथाम ढह जाएगी, संकल्प सब बिखर जाएँगे, प्रणबद्ध तपश्चर्या अन्त में स्खलित होगी, व्रत टूटेंगे। दुर्धर्ष का मद गिरेगा, दर्पी दमित होगा, अभिमानी टूटेगा, अगर प्रणय को वह जीवन में अस्वीकार करने की हठ रखेगा। जो है वह है इतना ही नहीं है यह भी ईश्वर की ओर से है। इसलिए प्रणय को हम प्रेम में पूर्णता देने की ओर तो बढ़ सकते हैं। मूल से उसकी अवज्ञा करके किसी तरह नहीं बढ़ सकते।

इस अर्थ में प्रणय सत्य है चाहे कहो सत्य का रूपक है। सच यह कि सत्य और ईश्वर जैसे शब्द बातचीत में हमें लाने नहीं चाहिए। क्योंकि अधिकांश यह शब्द धारणामूलक रह जाते हैं। किसी सम सामान्य अनुभूति का आधार उनके नीचे नहीं रहता। परिणामतः वह व्यवहार की सुविधा पैदा नहीं करते।

संक्षेप में उत्तर अन्त में यह बनता है कि प्रणय की उत्तरोत्तर प्रेम-रूप साधना, ईश्वर-प्राप्ति अथवा ऐक्य-प्राप्ति का साधन अवश्य हो सकती है, बल्कि साधना

सम्यक् ही वह है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुर्विधि पुरुषार्थों में क्या कोई क्रमिकता है? यह चार मार्ग स्वतन्त्र हैं? एक-दूसरे के पूरक हैं? अथवा विरोधी? धर्म, अर्थ और मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए, यह एक व्यावहारिक उपदेश या कथन है? इसी सन्दर्भ में काम को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए क्या यह प्रयोग भी व्यावहारिक व तत्सम ही हैं?

—धर्म और मोक्ष कृति और कृत्य से सम्बन्ध नहीं रखते। धर्म दृष्टि है, मोक्ष अभीष्ट है। अर्थ और काम में से धर्मपूर्वक मोक्ष की ओर गति करनी है। इसलिए जितना कर्म है, उपादान के रूप में उसे अर्थ और काम से जूझना पड़ता है। दिशा उस कर्म की मोक्ष है और दृष्टि उसमें धर्म-नीति की रहे यह आवश्यक होता है। अन्यथा गति भ्रामक हो जाती है, वह केवल चक्कर डालती है, बन्धन उपजाती है, वह जीवन की भाषा में सफल और कृतकाम नहीं हो पाती। धर्म आस्था है और मोक्ष लक्ष। दोनों उस कर्म की दिशा को सही रखने में सहायक होते हैं; किन्तु कर्म के उपादान हैं, अर्थ और काम। इसी को शिशनोदर समस्या कहा जाता है और पुरुषार्थ के प्रश्न को भी उन्हीं के तल पर सुलझाना पड़ता है।

पहले कहा कि हम द्वन्द्व लेकर पैदा होते हैं। द्वन्द्व में से काम की उत्पत्ति है। किन्तु उस द्वन्द्व में से निर्द्वन्द्व होने की ओर हमें बढ़ना है। काम का अस्तित्व वहीं तक और उतनी ही मात्रा में है जितनी कि हममें द्वन्द्व की व्याप्ति है। द्वन्द्व और द्वैत का शमन होता जाए और व्यक्तित्व में ऐक्य और अद्वैत आता जाए, इसी में जीवन की सम्पन्नता माननी चाहिए। अर्थात् पुरुषार्थ अलग-अलग चार नहीं हैं। आरम्भ धर्म से है, क्योंकि वह आस्थामूलक है। वही अन्तिम मोक्ष है और वहाँ यात्रा की सिद्धि मान ली जा सकती है। इस आदि ओर से अन्त छोर तक जो पथ-यात्रा है वह अर्थ-काम के तटों के बीच से है। मेरे मन में इन चतुर्विधि पुरुषार्थों का यही चित्र सहज बन उठता है और मेरे लिए बड़ा सहायक होता है।

मोक्ष हमारी मंजिल है और उस पर पहुँचने के लिए काम और अर्थ ये दोनों तट हैं, यह ठीक है। व्यक्ति को मंजिल की ओर गति करने के लिए तट को छोड़ना पड़ता है। आज हम देखते हैं कि मानव का सारा प्रयत्न ही अर्थ और काम को प्राप्त करने के लिए एकाग्र है। ऐसी स्थिति में हम अर्थ और काम को यदि तट मानते हैं तो तट को छोड़कर आगे जाने का हमारा मार्ग कौन-सा होगा?

—आपने चित्र को शायद ग्रहण नहीं किया। अर्थ और काम ये दो जीवन-यात्रा

के मार्ग के तट हैं। तटों के बिना क्या कोई मार्ग हो सकता है? अर्थात् वे दो तट छूटते नहीं हैं, अन्तिम मंजिल तक बराबर साथ देते हैं। जो छूटता है वह तट का अमुक बिन्दु है। चलते-चलते जैसे सड़क पर तीसरा-चौथा और फिर पाँचवाँ और छठा मील छूटता जाता है, लेकिन मार्ग के दायें-बायें तट दोनों वर्तमान रहते ही हैं। इसी तरह अर्थ और काम हमारे दायें-बायें यात्रा के अन्तिम बिन्दु तक साथ रहनेवाले हैं। अर्थ का आशय अचेतन वस्तु, काम का आशय चेतन व्यक्ति। इन दोनों तटों से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता और इन दोनों से कभी-कभी हम विच्छिन्न नहीं हो सकते हैं। मोक्ष जिसको कहते हैं, वह इन दोनों के अभाव का नाम नहीं है, बल्कि उस सद्भाव का नाम है, जहाँ सब वस्तु और सब व्यक्ति, सबकुछ उपलब्ध हो जाता है। वहाँ भिन्नता नहीं रहती, तादात्म्य हो जाता है। इसलिए मानो अपेक्षा भी वहाँ नहीं रह जाती है। वहाँ छूटना और पाना दोनों एक बन जाते हैं।

अर्थ और काम जीवन-मार्ग के दो तट हैं और इनकी स्थिति जब तक जीवन है, तब तक रहती ही है। मार्ग-तट के अतिरिक्त भी होता है। जीवन में अर्थ और काम के अतिरिक्त क्या कोई मार्ग भी है? कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि हमने अर्थ और काम दोनों को ही त्याग दिया है, न हमें किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण, अपनत्व या मोह है और न ही किसी वस्तु के प्रति। क्या उनका यह कथन व्यक्ति और वस्तु से सर्वथा निरपेक्ष जीवन बिताने की परिकल्पना जीवन के रहते सम्भव हो सकती है?

—व्यक्ति और वस्तु के बीच में रह कर उनसे निरपेक्ष रहने का अर्थ केवल इतना है कि हम उनको स्वीकार करते हैं, इनकार नहीं करना चाहते हैं। इसी स्थिति को मैं प्रीति की स्थिति कहना चाहता हूँ। यहीं निरपेक्षता सम्भव और शक्य हैं। इससे अतिरिक्त विराग या वैराग्य कृत्रिम और असिद्ध होता है। प्रसन्न स्वीकृति से अलग जो वैराग्य की साधना है वह ममता-लालसा का ही उलटा रूप है। वह राग-द्वेष के चक्र का फल है। वस्तु और व्यक्ति से राग हम नहीं रखना चाहते हैं, इसलिए द्वेष रखने लगते हैं तो उसमें कोई अर्थ नहीं है। वैराग्य के नाम पर अधिकांश जो साधना देखी जाती है, वह यत्किंचित् द्वेषमूलक होती है। संसारी यदि रागमूलक है तो विरागी द्वेषमूलक हो, यह सहज है, लेकिन यह विशुद्ध प्रतिक्रिया है।

आगे बढ़कर तनिक निरपेक्षता को भी समझें। आँख देखती है, आवश्यक है कि वह अपने से अन्य को देखे इसी तरह दूसरी इन्द्रियाँ भी अन्य के बोध को हम तक लाती हैं। इस अन्यत्व की अपेक्षा को अपने से किस तरह काटकर

अलग किया जा सकता है? तमाम चैतन्य स्वत्व-अन्यत्व बोध का ही नाम है। अर्थात् स्व और पर के बीच नितान्त सम्बन्ध-विच्छेद कभी हो ही नहीं सकता है। इस अनिवार्य सम्बन्ध की समाप्ति का नाम ही मृत्यु है। जीवन रहते सम्बद्धता रहती ही है।

ऐसी हालत में निरपेक्षता का अर्थ उपेक्षा या इनकार नहीं रह जाता है, अर्थ प्रीतिपूर्ण सामंजस्य बन जाता है। अर्थात् जब हमारा सम्बन्ध अस्ति के मात्र के प्रति प्रीति का होता है तो अनायास निरपेक्ष भाव सिद्ध होता है। यह सहज वैराग्य है, अर्थात् राग-द्वेष दोनों से एक समान युक्त है। अन्यथा राग से उलट जब द्वेष साधा जाता है तो वह लालसा का ही पलटा हुआ रूप होता है।

तटों के अतिरिक्त मार्ग कोई हो सकता है, यह मेरी कल्पना से बाहर है। ज्यामेट्री में ऐसी रेखा की कल्पना है जिसमें लम्बाई होती है, पर तट नहीं होते, अर्थात् चौड़ाई नहीं होती। ज्यामेट्री शास्त्र से बाहर वैसी रेखा तक नहीं हो सकती, मार्ग का तो प्रश्न ही नहीं।

महाव्रतों की रचना में एक क्रम लगता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह चारों परापेक्ष हैं। दूसरों को कष्ट और हानि न पहुँचे, ऐसी भावना इनमें सन्निहित लगती है। पर ब्रह्मचर्य का रूप इससे कुछ अलग ही दिखाई देता है। जैन में पार्श्वनाथ व उसके पूर्ववर्ती तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का, ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त चार महाव्रतों का उपदेश करते थे। एक विचार बल पकड़ रहा है कि काम को शरीर का नैसर्गिक धर्म मानने के कारण वे मुमुक्षु ब्रह्मचर्य को इन्द्रिय-निग्रह के रूप में इतना महात्म्य नहीं देते थे। महाव्रतों की क्रम-रचना में रही भावना के आधार पर यह सम्भव ही लगता है। आप इस चातुर्याम धर्म के विषय में क्या सोचते हैं?

—चातुर्याम से पाँचवाँ ब्रह्मचर्य इस अर्थ में अलग रह जाता है कि पहले चार दूसरे की हानि बचाना चाहते हैं और इसलिए परापेक्ष हैं। ब्रह्मचर्य दूसरे की हानि को नहीं, स्वयं दूसरे को ही बचाना चाहता है, इसलिए उसकी प्रकृति और प्रकार भिन्न हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि धर्म-भावना से चलनेवाला व्यक्ति इन पाँचों ही दिशाओं में स्वभावतः सावधानता बरतना चाहेगा। परापेक्षता कुछ-न-कुछ पाँचों में ही गर्भित है। ऊपर से लगता है कि जबकि अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और सत्य इन चारों में हमने दूसरे के कष्ट और असुविधा का विचार रखा है, तब ब्रह्मचर्य में स्वयं अपनी और दूसरे की कामना का तिरस्कार किया है। भोग में दूसरों को कष्ट दिया नहीं जाता, बल्कि परस्पर में सुख प्राप्त किया जाता है। इस ऊपरी

भाव में देखने से चातुर्याम में और ब्रह्मचर्य में अन्तर दीख सकेगा। लेकिन तनिक भीतर जाने पर मालूम होगा कि कामोपभोग के द्वारा हम सुख देते या लेते नहीं हैं, बल्कि जो कुछ लिया-दिया जाता है वह एक-दूसरे का उपयोग है। उपयोग में सूक्ष्म हिंसा समायी रहती है। इस तरह ब्रह्मचर्य को अलग और चातुर्याम को अलग मानना और धर्म को चार तक सीमित रखकर पाँचवें ब्रह्मचर्य को उससे बाहर रहने देना, एक शाब्दिक व्यूह को रचना है। अन्यथा विशेष सार उसमें नहीं है। काम-विवेचन को, दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य विचार को, धर्म के विचार का मैं एक अपरिहार्य अंग मानूँगा।

ब्रह्मचर्य को आप ब्रह्म की चर्या मानते हैं और साधारणतया समझने की भाषा में उसे व्यभिचार का निषेध माना गया है। आपने अपने पूर्व उत्तरों में प्रणय और प्रेम की बड़ी ही सूक्ष्म व्याख्या दी है। तो क्या व्यभिचार, विवाह और ब्रह्मचर्य इन शब्दों की सम्बद्धता या निर्बन्धता पर अपनी मौलिक व्याख्या देंगे?

—व्यभिचार वह आचार है, जहाँ दो मिलते हैं और गोपन भाव से मिलते हैं। अर्थात् वे स्वयं और शेष जन उससे अविहित हैं।

विवाह दो का वह मिलन है वह जो विहित बन गया है।

ब्रह्मचर्य वह चर्या है जिसमें दो मिलते हैं तो तीसरे को अलग रहने के लिए नहीं। अर्थात् उसका औचित्य सामाजिक विहित-अविहित की परिभाषा पर निर्भर करता है। वह स्वयं प्रतिष्ठ धर्म है। वह निर्वैयक्तिक प्रेम धर्म है।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा में आपने उस व्यक्ति पर समाज की विहितता और अविहितता का आरोपण नहीं होने दिया है। पर प्रचलित अर्थ में ब्रह्मचारी व्यक्ति तो समाज की विहितता का इतना अधिक ध्यान अथवा कि भय रखते हैं कि वे किसी एकाकी स्त्री की छाया पड़ जाने मात्र से ही अपने-आपको मार्गच्युत अनुभव करने लग जाते हैं। आपकी दृष्टि में उस प्रकार के ब्रह्मचारी का उदाहरण कौन-सा हो सकता है, जिसे कि समाज ने अपने विधि-विधानों से नहीं रोका?

—भय की चर्या ब्रह्म की चर्या किसी भाँति नहीं हो सकती। ब्रह्मानुभूति में अखण्ड अभय होना चाहिए।

सच्चे ब्रह्मचारी का रूप केवल सद्‌गृहस्थ या सन्नागरिक जैसा नहीं दिखाई देगा, वह उससे कहीं अधिक तेजस्वी होगा। तेज सहसा सह्य नहीं होता है, इसलिए साधारणतः ब्रह्मचारी व्यक्ति समाज के लिए भी केवल आदरणीय पुरुष नहीं हो पाता, वरन् क्रान्तिकारी जैसा प्रतीत होता है। कारण, उसके आचरण की प्रेरणा शिष्ट और सभ्य माने गये सामाजिक अनुकूलता के सिद्धान्त में से नहीं आती,

वह परिपालक अथवा कान्फार्मिस्ट नहीं दिखाई देता। उसका चलन शुद्ध प्रेम से बनता है, इसलिए वह नीति-रीति के सम्बन्ध में मुक्त भाव रखता हुआ दिखाई देता है।

ब्रह्मचर्य के आदर्श को मूर्त करने के लिए दुनिया के रचे-पचे लोगों पर से उदाहरण देना कठिन है। ऐसा करना बड़ी जोखिम की बात होगी। जो नाम लिए भी जा सकते हैं वे पुराण-पुरुष जैसे बन गये हैं। ऐतिहासिक पुरुषों में से कोई नाम लिया जाए तो भी उनके आसपास नाना आस्था एवं कल्पनामूलक रूप जुड़ गये हो सकते हैं जिससे बात को विशेष स्पष्टता मिलने में सहायता न मिले। जैसे ईसा को ब्रह्मचारी कह सकता हूँ और आपको भी शायद यह मानने में कठिनाई न हो। लेकिन मोहम्मद साहब और गाँधीजी को भी मैं ब्रह्मचारी मानता हूँ, किन्तु इनके बारे में दो मत हों तो विस्मय नहीं है। लेकिन कृष्ण को यदि मैं ब्रह्मचारी कहूँ तो समझने में बहुत कठिनाई हो सकती है पर सच यह है कि कृष्ण वह योगी पुरुष है जिनमें ब्रह्मचर्य के दर्शन मुझे सहज होते हैं। उनका-सा रागी और वीतरागी पुरुष दूसरा कल्पना में भी नहीं आ सकता है। इससे अलग ब्रह्मचर्य की प्रभा और प्रतिभा भला और क्या होगी? किन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि इन उदाहरणों से बात आपके निकट स्पष्ट होती होगी।

जैसाकि आपने कहा, इन उदाहरणों से बात पूरी स्पष्ट तो नहीं हो पाई है। तो क्या मैं यह कह सकता हूँ कि इन उदाहरणों को सुनने के बाद, कि आपके ब्रह्मचर्य में, विवाह में तथा व्यभिचार में कोई परस्परापेक्ष सम्बन्ध नहीं है?

—ब्रह्मचर्य का और ब्रह्मचारी का सबसे अविरोध होगा। उसको किसी साँचे में बिठाना नहीं हो सकेगा। ईसा अविवाहित थे, गाँधी के एक पत्नी थी, मोहम्मद साहब ने चार शादियाँ कीं, कृष्ण की अभिसारिकाओं की गिनती नहीं मानी जाती है। अर्थात् अमुक आकृति में ब्रह्मचर्य बन्द नहीं है। विहित-अविहित शब्दों के सहारे चलकर हम व्यवस्था को स्थित बनाते हैं। लेकिन ब्रह्म की चर्या स्थिति में गति और गति में स्थिति देनेवाली होती है। अर्थात् वह माने हुए नियम से चलने के लिए विवश इसलिए नहीं होती कि वह प्रेम के परम नियम से चलती है। इसलिए वह सीमा और परिभाषा में नहीं आती। उसकी पहचान तो अन्त:प्रकृति से होती है। जिनको अवतारी पुरुष मानकर मानव-जाति अपनी तृप्ति और अभ्यर्थना व्यक्त करती है, ऐसे लोग अधिकांश उसी ब्रह्मप्रेरणा से चल रहे होते हैं। समय और देश के अनुसार उनकी लीला को भिन्न-भिन्न रूप मिलता हो, लेकिन अन्तर्भाव सबमें एक ही व्याप्त रहता है।

यहाँ विवाह और व्यभिचार को किसी घपले में डालने का आशय नहीं है।

उस दृष्टि से मर्यादा पुरुषोत्तम राम के द्वारा मिली हुई स्पष्टता सब काल हमारी सहायता कर सकती है। किन्तु यदि सामाजिक स्तर के तल में जाकर जीवन में अवगाहन करना और नीति-नियम के स्रोत को प्राप्त करना है तो मूलगत यथार्थता को पहचानना होगा। खेती सब तरह की हो सकती है और मीठा, खट्टा तथा कड़वा फल भी दे सकती है; किन्तु फल से निरपेक्ष विचार ही स्वयं भूमि की तथ्यता को हमें दे सकता है और तभी हम उसको उर्वर और सम्पन्न बनाने की सामर्थ्य पा सकते हैं। ब्रह्मचर्य भी उसी प्रकार का मौलिक विचार है और पूर्वग्रहों से मुक्त वैज्ञानिक वृत्ति ही उसमें सहारा दे सकती है।

आपने ब्रह्मचर्य की एक व्याख्या दी। और दूसरी ओर हम देखते हैं कि ब्रह्मचारी अपने आपके लिए स्त्री का संसर्ग, बातचीत, एकासन, संस्पर्श आदि बातों को निषिद्ध ही नहीं मानते, अपितु उन्हीं में मानो कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। आपके बताये उदाहरणों के सम्मुख इस विचारधारा के परिपोषक दूसरे प्रकार के उदाहरण महावीर, बुद्ध, शंकर, रामतीर्थ और दयानन्द आदि आते हैं। इन दोनों पक्षों का कहीं क्या कोई एकसूत्र भी है?

—मैं नहीं जानता। आपने जिनका उल्लेख किया, उन पुरुषों को भीतर से मैं समझ नहीं पाता हूँ। इतना जानता हूँ कि स्त्री को वर्जित करके जो पहले इस दुनिया को आधी बना देता है और फिर आधी को पाने में सब पाना मान लेता है, वह मुक्त नहीं होता होगा। जिस पुरुष को अपने पुरुषत्व को स्त्री से बचाने की चेतना और चिन्ता रहती है, वह पुरुषत्व अप्रतिष्ठ है। यही कहना होगा कि ब्रह्मभाव वह है जहाँ रक्षा की आवश्यकता नहीं है और जहाँ से चारों दिशाओं में स्वीकार और सत्कार प्रवाहित होता है। यदि अमुक दिशा में हमारी ओर से स्वीकार और सत्कार नहीं जा सकता है, प्रसन्नता की जगह वहाँ हमारे पास से अवसन्नता जाती है, तो मानना होगा कि व्यक्तित्व में उस दिशा की ओर मुक्ति का अभाव रह गया है। मैं ब्रह्मचर्य के साथ किसी बन्द-पने को जोड़ नहीं सकता हूँ। जहाँ कुछ ऐसा निषेध दीखता है, वहाँ मुक्ति की जगह आवश्यक रूप से बन्धन आ ही जाता है, ऐसा मुझे लगता है। स्त्री-पुरुष की सीमा है; किन्तु स्त्री उस पुरुष की सीमा कैसे हो सकती है जो ब्रह्मलीन है? क्या ब्रह्म को भी स्त्री से सीमित मानना होगा?

ब्रह्मचर्य को आपने जीवन की सर्वांगीणता में से पकड़ा है और प्रचलित ब्रह्मचर्य कुछ आदर्शों में से एक आदर्श है। क्या आपका ब्रह्मचारी एक ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो कि गृहस्थ है? सबकुछ धन्धे करता है? उसे क्रोध भी आता है, असन्तोष भी रहता है और कभी किसी से द्वेष भी कर बैठता है। इस प्रकार

का मानवीय दुर्बलताओं से युक्त पुरुष क्या ब्रह्मचारी हो सकता है?

—प्रश्न सीधा यही क्यों न कीजिए कि क्या व्यभिचारी ब्रह्मचारी हो सकता है? उत्तर स्पष्ट है, व्यभिचार ब्रह्मचार नहीं है।

हम सबमें प्रेम है। पर अप्रेम भी है। प्रेम-चर्या ब्रह्मचर्या है। अप्रेम में जो चर्या होती है, उसमें अब्रह्म भाव होता है। इसका मतलब यह नहीं कि आज और अभी हम ब्रह्मचारी हैं, कल और घण्टे भर बाद यदि व्यभिचार भी हो जाए तो दूसरी बात है। जी नहीं, ऐसा नहीं होता है। प्रेम में अहं विगलित हो जाता है। अहंचर्या वहाँ रहती ही नहीं है। इसलिए उसकी प्रकृति दूसरी हो जाती है। यह कोई अतीन्द्रिय आदर्श नहीं है, सच पूछिए तो आदर्श ही नहीं है। परिभाषा में आ सकने वाले तमाम आदर्श अहं प्रक्षिप्त होते हैं। इसलिए आदर्श अन्तत: मुक्त नहीं करते, उद्दीप्त करके रह जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मचारी आदर्शवादी नहीं होता है; उसमें वैसी प्रखरता नहीं होती, धार नहीं होती। वह समीचीन और समाविष्ट दीखता है। वह साधारण और सामान्य दीख सकता है। विशिष्ट और असाधारण व्यक्तित्व दूसरा हुआ करता है और अधिकांश यह असाधारण पुरुष स्वप्नवादी और आदर्शवादी होता है। ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्म स्वप्न मात्र नहीं होता, न केवल आदर्श होता है। अर्थात् वह प्रतिभाशाली के विरोध में निरीह-सा दीखने वाला व्यक्ति हो सकता है। मैं इन शब्दों से जो बात स्पष्ट करना चाहता हूँ वह यह है कि अहं प्रेम ही वह चीज है जो ब्रह्मचर्य में नहीं रह पाती। अहं प्रेम से छूटना आसान नहीं है और जाने अहम किन-किन रूपों में वह प्रकाश पाता है। प्रतिभा और तपश्चर्या में वहन करके अहम की चमक प्रकट हुआ करती है। लेकिन वह बिलकुल भिन्न वस्तु है, ब्रह्मचर्य में उसका सर्वथा अभाव होता है। यहाँ तक कि उलटे उसमें मन्दता तक दीख सकती है। मैं नहीं जानता कि इस सबको मैं कैसे बताऊँ, कैसे समझाऊँ? प्रेम वह भी होता है जो प्राप्ति तक नहीं चाहता, प्रेम वह भी कहाता है जो दवा जतलाता है। इन दोनों का अन्तर जतलाये जाने का मोहताज नहीं है। सब उसे जानते हैं, अपने भीतर से सब उसे पा सकते हैं। बाहर से कुछ कहें, अधिक-से-अधिक भी कहें, तो उससे भी बात साफ नहीं हो सकती।

इन्द्रियनिग्रह में व्यक्ति की अहं वृत्ति अपने में केन्द्रित रहती है। किन्तु विवाह में वह परस्परता में विसर्जित हो जाती है। यदि इससे भी आगे बढ़ा जाए तो वह अहं वृत्ति हर किसी में ही, दूसरे शब्दों में सभी में, विसर्जित होकर विगलित होने लग जाती है। तो क्या आपके इस ब्रह्मचर्य को हम इस रूप में क्रमिक विकासशील के रूप में देख सकते हैं?

—ऊपर से बात ठीक लग सकती है, लेकिन यह संख्या का प्रश्न नहीं है। एक से दो, दस-बीस और सहस्र तक बढ़ने से अहं वृत्ति विगलित और क्रमशः ब्रह्म व्याप्त हो जाएगी, यह समझना गलत है। अहं का समर्पण अखिल और अखण्ड में ही पूर्ण होता है। अर्थात् अखण्ड-श्रद्धा ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक होती है। उस भाव के साथ राम का एक पत्नीव्रत हो, या कृष्ण की छियानबे हजार रानियाँ हों। दोनों में एक ही अन्तर्भाव प्रवाहित है। इसके अतिरिक्त अहं के व्यापक और विस्तृत होने का कोई अर्थ नहीं है।

इन्द्रिय-निग्रह में निग्रहकारी मैं बनता हूँ। किन्तु भोग में भी भोग पानेवाला मैं ही हुआ करता हूँ। सिर्फ इतने अन्तर से कि निग्रह स्वयं से सम्भव है और भोग में पर एवं परस्पर आता है, दोनों को अहं की दृष्टि से बहुत अधिक भिन्न भूमिका पर नहीं रखा जा सकता है। मैं स्वयं अवश्य मानता हूँ कि निग्रह के नाम पर आदमी जितना दुर्दान्त और भीषण हो सकता है, भोग के मार्ग पर वह खतरा उतना नहीं रहता है। पाप की भीषणता के लिए भी घोर निग्रह आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से हठी योग से भोग के मार्ग को मैं कम संकट का मानता हूँ। लेकिन अहं की दृष्टि से भोग को मुक्त कर्म अथवा अकर्म कहना सम्भव नहीं है।

मैंने पहले भी कहा है और फिर कहता हूँ कि भोग का शमन निग्रह में नहीं है, बल्कि प्रेम में है। प्रेम में अनिवार्यतः एक ऐक्यानुभूति होती है। उस प्रसन्नता और प्रीति मानो सब ओर खुलती है। प्रेम में कृपण उदात्त बनता है और स्वार्थी भी सर्वदानी हो जाता है। यह इसीलिए कि जो व्यक्ति है प्रेम के द्वारा उसी को मानो ब्रह्मस्पर्श प्राप्त होता है और लोहा सोना बन जाता है।

□

कहानी अनुभव और शिल्प

लेखकीय

सुनता हूँ कि कहानी लिखना एक शिल्प है और कला है। कहानियाँ मैंने लिखी जरूर हैं और अब भी लिख लेता हूँ, लेकिन कला वगैरह का मुझे कुछ पता नहीं है। शायद मान लिया जाता होगा कि लिखी है तो कहानी को मैं जानता जरूर होऊँगा। इसी से जब-तब कहानी को लेकर भेंट-वार्ता में मुझे जिरह के नीचे आना पड़ा है। गोष्ठियों, परिसम्वादों में आक्षेपों के बीच खड़ा होना और बोलना-भुगतना पड़ा है। यह संकलन कुछ उसी तरह की बातों को लेकर प्रकाशित किया जा रहा है। लिखने के पहले दिन से आज तक मैं कहता आ रहा हूँ कि मैं नहीं जानता हूँ। यहाँ तक भी कि जानना चाहता भी नहीं हूँ। कारण और कुछ नहीं, सिर्फ यह कि होने से ही मुझे छुट्टी नहीं है। इस होने और होते जाने में जो करना समाया है उसी में मुझ से कहानियाँ लिख गई हैं। उससे आगे और विश्वसनीय मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ।

पुस्तक सबके समक्ष है और कहानी को लेकर जो कुछ इसमें कहा-सुना गया है, आशा है, उसको लेकर मनोविनोद शायद हो जाये, विशेष तत्वचर्चा नो होगी।

—जैनेन्द्र कुमार

11 मार्च' 67

अपनी कैफ़ियत (तीन)

मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता। मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूँ तब तक सोचता रह गया, 'कैसे लिखूँ?' और जब लिखी गयी, तब पता भी न था कि वह कहानी है।

बात यों हुई। वक्त खाली था और मैं नहीं जानता था कि अपना क्या बनाऊँ। दुनिया में एक माँ की मार्फत मेरा नाता था। शेष में दुनिया अलग थी और मैं अपने में बन्द अलग था। एक बूँद अलग होकर सूख ही सकती है, मैं भी सूख ही रहा था।

पर जिन्दगी एक अकेले तो चल ही नहीं सकती। निबाह को कुछ तो चाहिए। उसके लिए कमाई चाहिए। तेईस-चौबीस बरस की उमर हो जाये तो आदमी को कुछ करने की सुध लेनी चाहिए। सुध तो लेता था पर जुगत कुछ न मिलती थी। नतीजा यह कि दिन के कुछ घण्टे तो लाइब्रेरी के सहारे काटता था, बाकी कुछ खामख्याली और मटरगश्ती में।

इस हालत में पहली जो कहानी हुई वह यों कि एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्रिका पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें जिससे उनका लिखा छपे और साथ तस्वीर भी छपे। हम भी मन-ही-मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले शनिवार को दोनों को अपना लिखा हुआ एक-दूसरे के सामने पेश करना होगा। शनिवार आया और देखा कि उनकी कहानी तैयार थी। हमें कुछ बात पकड़ न आ सकी थी कि लिखा जाता। ऐसे एक हफ्ता, दो हफ्ता निकल गये। भाभी तो भी कुछ न कुछ लिख जाती थीं, यहाँ दिमाग दुनिया भर में घूमकर कोरा का कोरा रहता था। हम अपनी इस हार को लेकर मन-ही-मन ओछे पड़े जा रहे थे। होते-होते हम जड़ हो गये, सोच लिया कि कुछ अपने से होने-हानेवाला नहीं है। यह अपना निकम्मापन इस तरह तय हो चुका था एक दिन घटी एक

दिलचस्प घटना को हमने ज्यों-का-त्यों कागज पर उतार डाला। जाकर भाभी को सुनाया। घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी। भाभी लजाईं मगर खुश भी हुई। मैं मानता हूँ कि वह पहली कहानी थी जो फिर जाने क्या हुई।

दूसरी-तीसरी और चौथी-पाँचवीं कहानियों का बानक यों बना कि एक मित्र सन् 20-21 की गर्मा-गर्म देश-सेवा के बाद सन् 26-27 होते-होते खाली हाथ हो गये। अब क्या करें? जमने की जगह हो तो नेतागिरी के काम की भी सुविधा हो जाए। यों आँधी के वक्त की बात दूसरी है, ठण्डे वक्त की दूसरी। सो मित्र—बड़े विलक्षण, बड़े योग्य—अन्त में शायद पच्चीस रुपये पर एक पाठशाला में मुख्य अध्यापक हुए। पाठशाला छोटी थी पर उनके ख्याल बड़े थे। महाशय ने तीसरी-चौथी क्लास के विद्यार्थियों को लेकर वहाँ एक हाथ-लिखी पत्रिका निकालनी शुरू की। मुझे लिखा कि उसमें तुम भी लिखो। कहीं पता होता कि यह तो लेखक बनने का रास्ता बन रहा है तो मेरा जी डूब जाता। सच कहता हूँ मैं ऐसी दुस्सम्भावना का बोझ तब नहीं उठा सकता था। सो मित्र का खत आता और मैं जवाब लिख भेजता। जवाब जरा लम्बा भी हो जाता और सूझ में जो उलझता, आँक देता। इस तरह शायद छह महीने हुए होंगे कि मित्र का वहाँ से पत्ता कट गया। निकले तो साथ अपनी हाथ-लिखी पत्रिका के अंक भी उठाते लाये। उन दिनों एक हितैषी बुजुर्ग कभी-कभी घर पधारा करते थे। ठाली उत्सुकता में पत्रिका के अंक उन्होंने देखे और कहीं जा रहे थे तो साथ लेते गये।

चलो छुट्टी हुई। लेकिन दो-एक महीने बाद लाइब्रेरी में बैठा हुआ देखता क्या हूँ कि विशाल 'विशाल भारत' में 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है 'खेल'। वह 'खेल' तो जरूर मेरा है, तो क्या 'विशाल भारत' में छपनेवाला 'श्री जिनेन्द्र' मैं ही हूँ। दिल उठता था और गिरता था। जाने किस घड़ी वह कहानी लिखी गयी थी, 'खेल' कि अब कई जगह छपी देखता हूँ कि वह 'एक चीज' है। क्यों न हो, लोग कहते हैं तो जरूर होगी वह 'चीज'। पर सच मानिए, यदि उसके भी चीज होने का जरा भी गुमान होता तो 'खेल' का वह खेल जैनेन्द्र से न हो पाता।

कहानी का लिखना तो ऐसे शुरू हुआ, पर उसके कुछ काल जारी रहने का भेद दूसरा है। वह रहस्य यह कि शायद 'खेल' के ही पारिश्रमिक स्वरूप 'विशाल भारत' से चार रुपये का मनीऑर्डर चला आया। मनीऑर्डर क्या आया मेरे आगे तो तिलिस्म खुल गया। इन तेईस-चौबीस बरसों को दुनिया में बिताकर भी मैं क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपये का आवागमन होता है। रुपया मेरे आगे फरिश्ते के मानिन्द था, जिसका जन्म जाने किस लोक का है। अवश्य वह इस लोक का तो है नहीं। वह अतिथि की भाँति मेरे 'खेल'

के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा, तो एकाएक मैं अभिभूत हो रहा। मेरी माँ को भी कम विस्मय नहीं हुआ। तो बेटे के निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है। माँ से ज्यादा बेटा अपने निकम्मेपन को जानता था। पर 'विशाल भारत' के मनीऑर्डर से मालूम हुआ कि आदमी अपने को नहीं जान सकता। दुनिया अति विचित्र है और जाने यहाँ किसका क्या मोल लग जाए। मोल-भाव यहाँ असली है नहीं, इसलिए उनकी तोल भी मनमानी है।

खैर, फिर तो कुछ और भी लिखा। उसी जमाने की एक बात याद आती है। पाठशाला वाले मित्र के पहले खत के जवाब में मैंने कुछ लिखना शुरू किया। उस कथा में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारतमाता की याद अँग्रेजी में ही कर पाते हैं। कहानी पूरी हुई तो मालूम हुआ कि अपनी भारतमाता की भक्ति तो खासी ऊँची अँग्रेजी में वह महोदय कर गये हैं—तीसरी-चौथी क्लास के बच्चों की समझ तक वह कैसे उतरेगी? इससे उस रचना को मैंने अपने पास रोक रखा, दूसरा कुछ और लिख भेजा। पहली रचना को शीर्षक दिया गया था, 'देशप्रेम'। वह मेरा 'देशप्रेम' एक दिन दिल्ली के एक मासिक पत्र के कार्यालय में मेरे हाथों से छिन गया। पर तीन-चार महीने हो गये, उसकी सूरत उस पत्रिका में देखने में नहीं आयी।

मैं डरते-डरते कार्यालय में पहुँचा। सम्पादक, जो मालिक भी थे, बोले कि आपका लिखा हुआ साफ नहीं था और अशुद्ध भी था। अतः हमारे सहायक गये तो उसे साथ ले गये थे। देखिए, अभी इस डाक से उसकी शुद्ध प्रतिलिपि भेजी हैं अब अगले अंक में वह जा रहा है।

मैंने रचना देखनी चाही तो सम्पादक ने मेरे हाथों में दे दी।

मैंने खड़े-खड़े उसे उलटा-पुलटा कि मस्तक हाथ में लेकर वापस कुर्सी में आ रहा। देखता हूँ कि सचमुच ही रचना को एकदम शुद्ध बना दिया गया है।

मैंने सम्पादक से कहा कि यह रचना मुझे ले जाने दीजिए, कारण निस्सन्देह व शुद्ध तो है, पर वह मेरी नहीं रही है। अपने से अधिक शुद्धता मेरा नाम कैसे उड़ा सकेगी?

सम्पादक हँसकर बोले, ''जैसी आपकी इच्छा! ले जाइए। लेकिन आपकी एक कहानी तो हमारी हो चुकी है, यह ले जा सकते हैं। लेकिन दूसरी देनी होगी और कल शाम तक मिल जानी चाहिए।''

मैंने कहा कि यह कैसे सम्भव है?

बोले, ''तो रहने दीजिए, यही छप जाएगी।''

मैंने कहा कि इतनी शुद्ध होकर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योंकि मैं कहाँ उतना शुद्ध हूँ?

बोले, ''तो कल दफ्तर के समय तक दूसरी रचना देने का वायदा कीजिए।''

आप कहेंगे कि क्या वह रचना खरीद ली गयी थी? नहीं, पर पैसे के अधिकार से बड़ा प्रेम का अधिकार होता है। सम्पादकजी का, जो कि मालिक भी थे, मेरी उस रचना पर वही अधिकार था।

मैंने कहा कि अच्छा, कोशिश करूँगा।

बोले, ''कोशिश नहीं, वायदा कीजिए। कल चार बजे तक पहुँचा देने का वायदा करें तो यह ले जा सकते हैं।''

मेरी हालत दयनीय थी। लेखक को दयनीय होनी भी चाहिए। उसका अधिकार केवल कर्तव्य है, लेकिन मैं अतिपरिशुद्ध अपना वह 'देशप्रेम' वहाँ कैसे छोड़ सकता था? उस 'देश-प्रेम' को अच्छी तरह काटा-छीला गया था। मुझे तो ऐसा लगा कि मरम्मत से जगह-जगह उस बेचारे देश-प्रेम में लहू की लाली उभर आयी है।

सम्पादकजी बोले, ''कहिए, वायदा करते हैं?''

अपने देश-प्रेम की बेहद छिली और रँदी दशा को देखते हुए नीची आँखों से मैंने कहा, ''अच्छा!''

सम्पादकजी बोले, ''तो खुशी से ले जाइए।''

यह सुनते ही उस 'देश-प्रेम' को मोड़-माड़कर जेब में डाल मैं तत्काल कार्यालय से बाहर आ गया।

यह लगभग शाम का समय था। गर्मियों के दिन थे। घर आया, खाना खाया, कोठरी से निकालकर खटोली खुले खँडहर पर बाहर डाली और सोचने लगा कि कल क्या करूँगा। मन एक बोझ से दबा हुआ था और कल्पना उड़ न पाती थी। रात हुई और उसी खँडहर पर खटिया डाले ऊपर देखता मैं पड़ा रहा। मेरे और तारों के बीच केवल शून्य था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का नाम याद आया। क्या वह सफल हुआ? उसका जीवन सार्थक हुआ? क्या वह तृप्ति लेकर गया? क्या उसमें या किसी में अपने आदर्श को बिठाया जा सकता है?...क्या आदर्श को अपने से बाहर रखकर देखना होगा? आदर्श को अपने से दूर, अलग, किसी दूसरे में आरोपित करने से चलेगा? नहीं...

ऐसे खयाल पर खयाल आते रहे। इन्हीं के बहाव में मन में उठा कि अच्छी बात है, एक पात्र उठाया जाये जो नेपोलियन में अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा उसके मुकाबले का पात्र हो जो अपने आदर्श के बारे में मुखर न हो। ये दोनों फिर आपस में दूर न हों, बल्कि घनिष्ठ हों...पर ये सब विचार आपस में ऐसे घुले-मिले धूमिल थे कि वे थे ही, यह भी कहना कठिन है। सब कुछ वायव्य ही था।

इसी हालत में शनैः-शनैः नींद आ गयी। सवेरे उठकर निवृत्त होना था कि याद आया, चार बजे तक कहानी पहुँचानी है। मन को झुँझलाहट हुई। असली शक्ति ही न थी। इसलिए वचनबद्धता की जकड़ मुझसे टूट न सकती थी। अतः लिखने बैठना पड़ा। उस समय रात की उठी हुई अस्पष्ट-सी घुमड़न सूझ आयी। बस, उसका सहारा थाम मैं लिख चला। अन्त में पाया कि 'स्पर्द्धा' कहानी बन गयी है।

वह कहानी शनैः-शनैः कैसे बनती गयी और उसके उपकरण कैसे-कैसे लिखने के साथ-साथ मन में और मस्तिष्क में जुटते चले गये—उस विषय को यहाँ छोड़े देता हूँ, यद्यपि कहानी के अन्तरंग-निर्माण को स्वयं समझने की दृष्टि से वह विषय काफी संगत है।

खैर, कहानी हुई और उसे गुड़ी-मुड़ी कर मैंने जेब में डाला। कहानी जैसी जो स्लिप आयी—लम्बी, कम लम्बी, छोटी—उसी पर लिखी गयी थी। इससे वह लपेटी ही जा सकती थी, उसकी तह नहीं की जा सकती थी।

उस रोज ठीक याद नहीं पड़ता कि क्यों, पर पाँच रुपये की मुझे बेहद जरूरत थी। माँ से माँग नहीं सकता था। वे पाँच रुपये अपने लिए नहीं किसी और ही जरूरी आवश्यकता के लिए चाहिए थे। खैर, तीसरे पहर का समय, और मैं चला पैदल।

फतेहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले। बोले, ''कहाँ! कहाँ जा रहे हो?...ओ, यह जेब आज कैसे फूली हुई है?'' और देखते-देखते जेब से लिखे कागजों की रील उन्होंने निकाल ली।

''ओफ्फोह, कहानी है! तो कहानी लिखी है! कहाँ ले जा रहे हो?'' मैंने बताया कि अमुक कार्यालय में ले जा रहा हूँ और पाँच रुपये की जरूरत है। सोचता हूँ कि कहूँगा कि उधार ही सही, इस कहानी पर पाँच रुपये ही दे दें तो एहसान हो।

ऋषभ भाई की सलाह थी कि मैं ऐसा न करूँ, क्योंकि उससे कोई फायदा न होगा।

खैर, पहुँचकर कहानी की रील सम्पादकजी को दिखलाई और पाँच रुपये की गरज भी जतला दी। सम्पादकजी लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में दे देना चाहते थे। बस, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे। तब तक मन पर पत्थर रखकर उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी ही पड़ेगी।

मैं नहीं जानता कि तब ऐसी अटक मुझे क्या आ गयी थी। मैंने कहा कि मैं तो उधार चाहता हूँ। पर सम्पादकजी असमर्थ ही थे। उन्होंने कहा कि आप चाहें तो कहानी ले जाइए, यद्यपि देखा जाये तो कहानी हमारी हो चुकी है। पर

क्या कहूँ, कहानी पर पैसा देने की स्थिति तो बिलकुल नहीं है।

लौट आया और वह कहानी फिर शायद एकाध महीने मेरे पास ही पड़ी रही। फिर एक दिन कमर में साहस बाँधकर मैंने क्या किया कि अपनी उस 'स्पर्द्धा' को प्रेमचन्दजी के पते पर रवाना कर दिया। साथ ही एक पत्र लिखा कि 'माधुरी'-सम्पादक नहीं, कहानी-सम्राट प्रेमचन्द को यह भेज रहा हूँ, और छपने के लिए नहीं, बस, कुछ जानने-भर के लिए वह साहस बन पड़ रहा है।

डाक में डालकर धड़कते मन से जवाब का इन्तजार करने लगा। छह-सात दिन में छपा कार्ड आया, जिसमें लिखा था कि कहानी सधन्यवाद वापस की जा रही है। कहानी की वापसी पर चाहे मन से खिन्न ही होना चाहा, पर उसके सधन्यवाद ने उसे पानी-पानी कर रखा। पत्र पर प्रेमचन्दजी के दस्तखत न थे।

चलो, बखेड़ा कटा। जिन्दगी की मुक्ति मौत में है और आशा की सफलता निराशा में। पर हाय राम, कागजों की सबसे पिछली स्लिप की पीठ पर फीकी स्याही में अँग्रेजी में यह मैं क्या लिखा देखता हूँ? हो-न-हो, ये प्रेमचन्द के अक्षर हैं। लिखा है : Please ask if this is a translation.

कहना चाहिए कि प्रेमचन्दजी के परिचय का द्वार उस राह से मेरे लिए खुला। मैंने उस पर उन्हें कुछ नहीं लिखा। सिर्फ कुछ दिन बाद एक दूसरी कहानी भेज दी। 'स्पर्द्धा' कहानी के पात्र विदेशी थे और ढंग विदेशी था। उसकी एक लाचारी हो गयी थी। दूसरी कहानी आसपास को लेकर थी। बस, उस 'अन्धे के भेद' से चिट्ठी-पत्री शुरू हो गयी।

यहाँ शायद आप प्रेमचन्दजी की कहानी-कला पर कुछ कहने की मुझसे अपेक्षा रखते हों। सचमुच मैं अधिक नहीं कह सकता। मैंने पहले ही निवेदन कर दिया था। अपनी कैफियत देने के सिलसिले में कुछ आ जाये तो आ सकता है।

प्रेमचन्दजी को मैं कहानी की कला के विषय में बात करने तक कभी न ला सका। यों तो कोशिश भी विशेष न की, पर जब उस तरह की बात आयी वह टल ही गये। कहानी उनके लिए निर्जीव तत्त्व न थी। इससे उसकी टेकनीक पर रस के साथ वह चर्चा भी क्या कर सकते थे। कहानी में मानव-चरित्र और मानव-हृदय उनके लिए प्रधान था। लेखन-सम्बन्धी दूसरी कला-शिल्प की बातें एकदम गौण थीं।

एक बार प्रेमचन्द ने कहा, ''जैनेन्द्र, उपन्यास लिखो।''

मैंने कहा, ''कैसे लिखें?''

बोले, ''अरे घर में नाते-रिश्तेदार जो हों, बस, उन्हीं को लेकर लिख दो।''

वह बात आज भी मुझे याद है। मैं नातेदारों को लेकर नहीं लिख सका, न ही लिख पाता हूँ, यह बात बिलकुल अलग है। लेकिन प्रेमचन्द की सलाह पक्की

है और सच्ची है। यानी, प्रेमचन्द को वह सही-सही व्यक्त करती है। प्रेमचन्दजी की कला का मूल उनकी उस सीख में बसा है। दूर कहाँ जाना है। आसपास के जीवन में ही जो जीते-जागते व्यक्ति तरह-तरह के स्वभाव लेकर, तरह-तरह के कर्म करते हुए निभ रहे हैं, उनमें ही तुम क्या नहीं पा सकते हो? किसी परिवार को ले लो। तीन पीढ़ियाँ तो मिल ही जाती हैं। उनके जीवन-व्यापार पर अंकित है उन तीनों पीढ़ियों का इतिहास। जीवन की गति के विकास को भी उसमें से शोधा जा सकता है। उन्हीं के संश्लिष्ट जीवन-चित्र में से नीति और दर्शन के निचोड़ को भी पाया जा सकता है।

मेरा अनुमान है कि उनकी कहानियों के चौखटे आसपास के यथार्थ पर से उठाकर लिये गये हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान इसलिए नहीं है कि प्रेमचन्दजी ने उन्हें महान बनने देना नहीं चाहा है। सबके सभी गुण-दोषों के पुंज हैं। किसी का दोष विराट् अथवा कि इतनी सघनता से काला नहीं बन पाता कि उसी में चमक आ जाए; न किसी का गुण हिमालय की भाँति शुभ्र और अलौकिक कान्ति देनेवाला बन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर रोमांस तक नहीं उठने देते। जैसे उन्होंने अपने को एक कर्तव्य में बाँध लिया है और वह कर्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष से और मानव की भवितव्यताओं की अमित सम्भावनाओं से उनका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि मनुष्य-समाज और उसकी आज की समस्याओं से है। वह समाज-हितैषिता से छूट नहीं सकते। यह उनकी शक्ति और यही उनकी सीमा है।

एक रोज बोले, ''जैनेन्द्र, मुझमें प्रतिभा नहीं है। मैं तो 'प्लाड' करता हूँ। महीने में दो कहानी पूरी कर दूँ, तो समझूँ, बहुत हुआ। मुझ में वह वेग नहीं है जिसे प्रतिभा का लक्षण माना जाए।''

इस वक्तव्य को भी मैं उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से बहुत लाक्षणिक कह सकता हूँ। वह साधनापूर्वक साहित्यकार थे। साहित्य उनके लिए विनोद था, विलास का रूप न था। वह कहानी गढ़ते थे, तैयार करते थे, उसे निकाल नहीं फेंकते थे।

मैंने उन्हें उपन्यास लिखते हुए देखा है। छोटी कहानी के बारे में तो नहीं कह सकता। शायद हो कि कहानी भी एक से अधिक बैठकों में वह लिखते हों। शायद उनके उपन्यास के लिखने की पद्धति से कहानी के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता हो। उनकी रफ पाण्डुलिपियों के शुरू में अकसर उपन्यास के कुछ परिच्छेदों का सिनोप्सिस मैंने देखा है। पात्रों के नामों की फेहरिस्त कहीं-कहीं अलग लिखी

मिली है। फिर उन पात्रों के अलग-अलग चरित्रों की कल्पना को पल्लवित किया गया है। जैसे :

दमयन्ती—साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम, पर तेज बोलनेवाली। वात्सल्यमयी, पर ईर्ष्यालु...इत्यादि।

इस प्रकार परिस्थिति से पृथक् और पूर्व, पात्र की रूपरेखा को निर्दिष्ट करके चलने में शायद प्रेमचन्द सुविधा देखते थे। उसी भाँति प्लाट का भी एक खाका बना लेते थे। यानी, पूर्व परिस्थितियों में से ही परवर्ती स्थिति पैदा होने दी जाए, यह नहीं, बल्कि पूर्व और अपर ये दोनों स्थितियाँ पहले से निश्चित कर ली जाती थीं। इसीलिए उनकी रचनाओं में वैसी सरलता नहीं है कि पात्र हाथ न आते हों, बच-बच जाते हों, उनकी रेखाएँ काफी उभारदार हैं।

लेकिन जैसाकि पहले कहा, प्रेमचन्द में एक बड़ी विशेषता थी। वह यह कि वह कथा-रचना का अपने पास साँचा कोई नहीं रखते थे, न साँचे के होने में विश्वास रखते थे। इसलिए यदि कभी मैंने नौसिखिये की भाँति चाहा भी कि हाथ पकड़कर वह मुझे कहानी लिख चलना बताएँ तो उस दुराशा में उन्होंने कभी मेरी सहायता नहीं की। और मैं मानता हूँ कि इस मामले में मुझे अपने ऊपर रहने देना, किसी तरह का आरोप मुझ पर न आने देना ही उनकी बड़ी सहायता थी।

अब मैं नहीं जानता कि मुझसे अपने लिखने के बारे में पूछा जा सकता है या क्या। पूछा ही जाये तो मैं उसका एक और चौबन्द उत्तर नहीं दे सकता। कुछ कहानियाँ बाहर से लेकर भी लिखी हैं। जैसे कि एक अन्धा भिखारी गली में आ जाया करता है। मेरी भानजी, जो अब आकर तबीयत में मुझसे भी बुजुर्ग बन गयी है, बोली, "मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो।"

मैंने कहा, "अच्छा!"

कहानी शुरू होने में तो दिक्कत न थी। यानी कि मेरी जिन्दगी चल रही है, उसके अपने दायरे और अपनी व्यस्तताएँ हैं...उन दायरों को आ छूता है एक अन्धा भिखारी! चलो, यहाँ तक तो जो घटा वही लिख दिया गया। आगे क्या किया जाए? आगे जो भी हो, कल्पना के बल पर ही किया जा सकता था। इसलिए कुछ तो कल्पना को उस अन्धे के अतीत की ओर बढ़ने दिया, और तनिक भविष्य की ओर कल्पना की आँखों से मैंने देखा कि उसके दो बच्चे हैं और पत्नी भी है...। एक छोटी-सी कोठरी में रहता है...जैसे-तैसे बच्चों का पेट पालता है। स्त्री?...नहीं, वह साथ नहीं है...कैसे हो? बच्चों के लिए भीख की रोटी काफी कहाँ होती है! पेट के लिए हो भी जाए, पढ़ाई के लिए? इससे स्त्री को भी कुछ कमाई करनी चाहिए।...और वह माँ बाप-बेटे के लिए पेशा करती है।...और हाँ, उसी ने पति की आँखें फोड़ी हैं...इससे वेश्या बनकर अपने को नरक में डाले,

यही उसने अपने लिए दण्ड चुन लिया है। इत्यादि-इत्यादि। बस, इस तरह वर्तमान पर जो वह अन्धा आया था, उसको तनिक अतीत और अनागत की ओर फैलाकर देखा कि कहानी हाथ आ गयी। कहानी जीवन का इतिवृत्त ही तो है! यानी उसमें स्थिति से स्थित्यन्तर इस प्रकार घटित होना चाहिए कि जीवन का अमोघ तर्क उभरे। काल का कुछ स्पन्दन, कुछ तनाव अनुभव हो। वही तो कहानी का रस है! यह घटित के द्वारा अनुभव कराया जाये, या चाहे तो बिना घटना के ही मर्म में उतार दिया जाए। अतएव ऐसी भी सफल कहानियाँ हैं जिनमें खोजो तो घटना तो है नहीं, फिर भी रस भरा और पूरा है।

ऊपर 'अन्धे का भेद' कहानी के उदाहरण में वास्तव घटना या यथार्थ पात्र से कहानी आरम्भ हुई। पर मेरे साथ अधिकांश ऐसा नहीं भी होता है। जैसे कि पहले 'स्पर्द्धा' का जिक्र आ चुका है। वह एकदम विचार में से बना ली गयी रचना है। समूची कहानी जैसे इस प्रतिपाद्य के प्रतिदान के लिए है कि आदर्श को अमुक मूर्त व्यक्ति या प्रतिमा में डालकर और फिर उसके प्रति अपना रूमानी सम्बन्ध बनाकर चलना सफल नहीं होगा। वरंच आदर्श की तो मौन एवं तत्पर आराधना ही फलदायक हो पाएगी। इस धारणा में से ही पात्र बन खड़े हुए और उनके घात-प्रतिघात से कुछ घटनाक्रम भी बन गया। मेरे मत से उसमें चरित्र प्रधान नहीं, बल्कि परिणाम और भाव प्रधान है।

मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार लिखी गयी कहानियों को सौद्देश्य कहना गलत होगा, या कि सही। निरुद्देश्य यहाँ कुछ है, यह कहना भी कम जोखिम भरा नहीं है।

कुछ कहानियाँ हैं जो मानो कि न प्रमेय पर और न प्राप्त पर ही लिखी गयी हैं। एक बार का स्मरण है कि सन्ध्यानन्तर अकेले एक मैदान में से जाते हुए मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ। था कहीं कुछ नहीं, तो भी एक डर लगा। बाहर का न-कुछ ही जैसे जाने क्या-कुछ मेरे लिए हो गया था और साँस फूल आयी थी। छाती धक्-धक् कर रही थी। वह कुछ एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सुन्न पड़ जा सकती थी। कोरे डर से जाने कितने मर गये हैं। यह डर, जिसे कोरा कहते हैं, क्या है? वह कुछ है अवश्य। और मानो उसी का सचेतन भाव से पुनः स्पर्श पाने के लिए मैंने एक कहानी लिख दी। उसमें तो पात्र भी नहीं है, घटना भी नहीं है, केवल मात्र वातावरण है। उसमें प्राणी तो प्रेत के मानिन्द, जिसमें देह ही नहीं और वे निरे सम्भ्रम के बने हैं। ऐसी कहानियों में सोते पेड़, बिछी घास, बहता पानी, सूना विस्तार, रुकी वायु, टिका आसमान, मटमैला अँधियारा, ये ही जैसे व्यक्तिगत संज्ञा धारण कर लेते हैं। ऐसे में धरती आसमान

से बातें करने लगती है और जो अचर है वह भी मनुष्य की वाणी बोलने लगता है।

क्या मुझे मानना होगा कि जहाँ पेड़, पौधे और चिड़िया आदमी की बोली में बोलते हैं, वह कहानी अयथार्थ है? क्या वह एकदम अवास्तव है, इसीलिए निरी व्यर्थ वस्तु है? सम्भव है, वह हो अवास्तव और अयथार्थ, और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। पर डर भी तो अयथार्थ ही है! पर जो डर के मारे मर तक गया है, उसकी मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यन्त यथार्थ होने का प्रमाण नहीं है?

इसलिए मैं मानता हूँ कि वातावरण-प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नहीं हैं। बल्कि चूँकि उनमें अस्थि-मांस की देह नहीं है, इसलिए हो सकता है कि उनमें स्थायित्व कदाचित् अधिक ही हो। देह मर्त्य है, अमर आत्मा हैं, इससे जिसमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है, उन कहानियों में चिरजीविता भी अधिक है, ऐसा मानने को मेरा जी करता है।

तभी तो जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत की सम्भवता की सीमाओं से पराजित नहीं है, वह कथा जाने काल के कितने स्थूल पटलों को भेदती हुई शताब्दियों से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षसवाली कहानियाँ, जातक की कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएँ फैलकर हमारे नित्य-प्रति के जीवन में घुल-मिल गयी हैं। अत: यथार्थता का आबन्धन और अवलेप जिस पर जितना कम है, वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे, तो मुझे अचरज न होगा।

पुनः

काफी अरसे पहले यह अपनी कैफियत दी गयी थी। आज दस बरस से ऊपर हो गया। उसमें कुछ अधिक जोड़ने की इस समय रुचि नहीं है। अपना ही विश्लेषण आप मुझसे न चाहें। बाहर की घटनाओं या व्यक्तियों का प्रभाव मुझ पर क्या पड़ा, यह मैं छाँट-बीनकर बता नहीं सकता हूँ। जो हूँ, उन सब प्रभावों के परिणाम में ही हूँ। अलग-अलग करके उन्हें दे सकूँ, तो शायद मैं स्वयं कुछ भी न रह जाऊँ।

'नीलमदेश की राजकन्या' कहानी को मैं अपनी सर्वप्रिय सर्वश्रेष्ठ कृति समझता हूँ, ऐसा न मान लीजिए। न प्रियता जड़ चीज है, न श्रेष्ठता। दोनों गुण सापेक्ष भाव से जहाँ-तहाँ न्यूनाधिक परिमाण में बँटे रहते हैं। इस दृष्टि से अपनी रचनाओं

में चुनाव करना मेरे लिए कभी सम्भव नहीं हुआ। चुनौती के जवाब में भी वह मैं कर नहीं पाया। इस 'नीलमदेश की कहानी' की चर्चा शायद कम ही हुई है। वह किसी बाहरी स्थिति या बोध या मत के लिए नहीं बनी है। वास्तव उसमें कुछ है ही नहीं। देश है तो नीलम का, कन्या है तो उसके माता-पिता का आभास नहीं है, सहस्रों वर्ष से ऊपर उसे आयु मिली है। इस तरह कुछ भी वास्तविकता वहाँ नहीं है। उस कथा का सारा कलेवर मेरे अपने अन्तरंग के भाव-सूत्रों से बुना और बना है। इसलिए किसी एक कहानी का नाम जब मुझे आपको बता देना ही पड़ा तो मैंने सहज भाव से वह नाम ले दिया। मैं श्रद्धा का कायल हूँ। बुद्धि-व्यापार सत्य की उपलब्धि में अन्त में लँगड़ा ही ठहरता है। बुद्धि की इस सीमित सार्थकता और उसके आगे उसकी व्यर्थता को जतलाने के लिए कहानी लिखी गयी 'व्यर्थ प्रयत्न'। उसी की जोड़ में, लगभग साथ ही यह कहानी बनी, 'नीलमदेश'। जैसे वह उत्तरपक्ष है, पहली में नकार है तो इसमें स्वीकार। मैं इस रचना को अपनी मूलभूत वृत्ति की परिचायिका कह सकता हूँ।

□

निवेदन और जिज्ञासा

मई महीने के बाद 'चाँद' के एक लेख में मेरी कहानी 'ग्रामोफोन के रिकॉर्ड' को याद किया गया है। लेख पर लेखक का असली नाम नहीं है। मैं हठात् मान लेता हूँ कि लेखक स्त्री नहीं है, यद्यपि उपयुक्त (और सम्भव) है कि वह स्त्री हो! उनका पता मुझे हो तो सीधे उन्हें लिखकर मैं उनसे मार्गदर्शन चाह लूँ। जहाँ वह लेखक निश्चिन्त और निश्शंक है, वहाँ मैं स्वीकार कर लूँ कि मैं नहीं हूँ। मैं अभी राह बूझ ही रहा हूँ। प्रार्थी हूँ कि राह पा जाऊँ। इससे यहाँ मैं अपनी स्थिति लेखक और पाठक के सामने रखने की इजाजत चाहता हूँ।

कहानी तो कहानी है। इसके बारे में कुछ कहना वृथा है। उसकी सफाई मुझसे न चाही जाये। सफाई देने लगने से यों भी गलतफहमी दूर होते कम देखी जाती है। मैं मानता हूँ कि उन पाठक-लेखक को गलतफहमी हुई है। शायद उन्होंने मेरी कम चीजें पढ़ी हैं, तो भी वह इसी कहानी को दुबारा पढ़ सकते हैं, तिबारा पढ़ सकते हैं। मैंने उसे फिर-फिर पढ़ा है। मैंने यह नहीं पाया उसके भीतर कि बुराई को पोषण मिला है। वहाँ भी मुझे मानव-हृदय के वैज्ञानिक अनुसन्धान की अपनी लगन मिली है। उससे पहले भी मुझे बताया गया था कि मेरी उपयुक्त कहानी में से किन्हीं को बुराई फूटती दीख पड़ती है। पढ़कर मैंने अपने से पूछा था कि क्या उस कहानी की 'विजया' को मैं अपनी सगी बहिन मानने के लिए तैयार हूँ? उस प्रश्न के जवाब में मेरा मन काँपा नहीं था। मैंने उत्तर पाया था कि हाँ, क्यों नहीं, तैयार हूँ! उस लेख के बाद भी मैंने उत्तर पाया था कि हाँ, क्यों पढ़ी और फिर अपने से वही पूछा। मन ने कहा कि बेशक, विजया तेरी बहिन ही तो है। इस सवाल पर मेरा मन काँप जाता तो मैं प्रार्थना करता कि परमात्मा शक्ति दे कि मैं हिन्दी-संसार से अपनी उस काली कहानी को वापस खींच लूँ। पर अब जब बात वैसी नहीं है, मैं लेखक और पाठक से पूछता हूँ कि कृपया बतावें, मैं क्या करूँ? क्या पाठक के समक्ष कहानी के प्रति अपनी स्वीकृति और अपना पूरा दायित्व ही नहीं स्वीकार कर लूँ?

समस्याएँ इसी स्थल पर खड़ी होती हैं। क्या सभी कुछ लिखा जा सकता

है? क्या निषिद्ध कुछ है ही नहीं? जो भरमाए, फुसलाए, जो बहकाए और हमारी पशुता को जगाए, क्या वह भी लिखा ही जाये?

एक ही वस्तु में से किसी को विराग प्राप्त होता है। दूसरे में उसी के सहारे उत्कट वासना फनफना उठती है, तो उस वस्तु के बारे में क्या निर्णय किया जाये?

निषेध की रेखा यदि है और आवश्यक है तो उसे कहाँ खोजा और कहाँ खींचा जाये? अनिष्ट और इष्ट साहित्य में क्या अन्तर है? क्या कुछ अन्तर है ही नहीं?

ये और ऐसे और सवाल खड़े होते हैं। वे अपना हल माँगते हैं। मैं चाहता हूँ कि समीक्षक लोग इन बातों का समाधान करके दें। मुझे लेख पढ़कर ऐसा नहीं मालूम हुआ कि उसके लेखक ने इन प्रश्नों की गुरुता पर पूरा ध्यान दिया है। या फिर यह हो सकता है कि उनकी बात पूरी तरह मैं ही नहीं समझ पाया हूँ।

लेखक का काम जोखिम से भरा है। सो उसके अपने विश्वास हैं, मानो उसके बारे में भी उसे निर्मम होना पड़ता है। उसमें सतत जिज्ञासा है, निरन्तर प्रश्न है। अपनी मान्यता, अपना अभिमत, अपनी धारणा, अपना अहंकार—इन सबसे उसे किनारा लेना होता है। उनके प्रति भी वह निरन्तर सप्रश्न है। प्रश्न बिना जिज्ञासु कैसा? तटस्थ हुए बिना द्रष्टा कैसा? लेखक के लिए मतावेश का कहीं अवकाश नहीं रहता। सब उसके हैं, फिर भी कौन उसका है? वह श्रद्धावान है, फिर भी (अथवा, तभी) शंकाशील है। स्नेही है, इसी से निस्स्व है। इस भाँति परमात्मा भी उसके निकट आलोच्य बनता है। वह जितना ही निस्संग हो, निर्मम हो, उतना ही कम है। यह निर्ममता, असंलग्नता, उसी अनुपात में व्यक्ति को प्राप्त होती है कि जितना गम्भीर और कठिन उसका अन्तःस्थ प्रेम होता है। लेखक द्वेष इसीलिए किसी से नहीं कर सकता, क्योंकि राग नहीं कर सकता। द्वेष भी राग है। दोनों मोह-जन्य हैं। इसी से लेखक के निकट जब देवता भी आलोचनीय होता है तब वेश्या भी विवेचनीय बनती है।

क्या यह ठीक नहीं है कि लेखक जज नहीं है? हमारे सब विशेषण जो अनैक्य की स्पर्द्धा में से बने हैं, जो पिनल-कोड के जैसे मालूम होते हैं, वे लेखक के लिए नहीं हैं। समझो कि वे उसकी पहुँच से बाहर हैं। पापी, नारकीय, घृण्य, अस्पृश्य, नीच, शत्रु, पामर शब्द लेखक के काम के लिहाज से भोथरे, ओछे, निरे स्थूल पड़ते हैं। इनमें से किसी दुर्विशेषण से पुकारा जानेवाला व्यक्ति लेखक के लिए वर्जनीय कैसे हो सकता है? इस दुनिया से बाहर का सत्य उसके लिए अप्रतिष्ठित है। उसे दुनिया के दीनों, पतितों, दलितों और पीड़ितों में, पापिष्ठ और पापिष्ठाओं में भी उसी आत्मा को देखना है जो सत्य है जो कि एकमात्र सत्य

है। जिसको समाज का न्यायाधीश जेल और फाँसी की सजा देगा, लेखक को उसे भी छाती से लगाने को तैयार रहना होगा। लेखक जज नहीं हो सकता। जज बड़ा आदमी हो, लेखक को अपने से तुच्छातितुच्छ से भी बड़ा नहीं गिनना होगा। लेखक शून्य है, इसी सबके प्रति वह सम्मानशील होगा। 'विजया' यदि 'पतिता' है तो हो, लेखक उसे अपनी बहिन क्यों न मान सके? लेखक को उसके पतन में सुख नहीं है। वह उसके दुःख में दुःखी है। उस पतिता को लांछना देकर, उपहास देकर लेखक को चैन नहीं है। उसकी दयनीयता में से लेखक को रस नहीं लेना है। क्यों वह उसे उतारने के लिए अपने को विसर्जन करने की क्षमता भी नहीं चाहता? चाहता है और ठीक इसीलिए वह उस 'पतन' की ओर आँख नहीं मींच सकता। क्योंकि क्या असम्भव है कि उसके निमित्त उसे खपना भी पड़े?

जब मैं ऊपर की बात कहता हूँ, तब मुझे लगता है कि जगत् के कर्म-कलाप के बीच कहीं गहरे कोई ऐसी रेखा खींची हुई नहीं है जिसके उस पार पुण्य हो और इस पार पाप हो। पुण्य प्रेम है और पाप अप्रेम के अतिरिक्त और क्या है? अपने जी से बाहर पुण्य और पाप का अस्तित्व मुझे नहीं दीख पाया। इसलिए मैं जानता हूँ कि आलेख्य और विवेच्य वस्तु के सम्बन्ध में विधेयता और निषिद्धता को समझना होगा तो अधिकार-भेद और अधिकारी-भेद की अपेक्षा के बिना मात्र वस्तुजगत् में उसे नहीं समझा जा सकेगा।

क्या क्लैब्य पाप नहीं है? क्या निर्वीर्यता, निश्चेतनता और जड़ता पाप नहीं है? हम निर्वीर्यता को पवित्रता की परिभाषा ओढ़ा दें, तो इससे क्या वह कम पाप हो जाती है? जिस तरह कायर और भीरु की अहिंसा अधर्म है, वैसे ही निस्तेज रोगी का सदाचार स्पृहणीय नहीं है। रोगी का रोग समझना होगा और उसके सदाचार के गर्व को खण्डित हो जाने देना होगा।

लेख में भारतीय नारी की बात कही गयी है। वह ठीक है। लेकिन नारीत्व भारत में समाप्त नहीं है। नारी यदि आदरणीय है तो इस शर्त के ही साथ नहीं कि वह भारतीय हो। यदि नारी भारतीय से इतर है तो इस कारण वह कम सम्मानीय और अधिक आलोच्य नहीं बन जाती। जान पड़ता है कि भारतीय न होकर नारी लेखक के निकट किंचित् कम आदर की पात्र रह जाती है। मैं इस दम्भ के विरुद्ध हूँ, भले वह राष्ट्रीय हो। भारतीय संस्कृति के समर्थक होने का यह अर्थ मैं अपने लिए नहीं लगाता कि इतर संस्कृति अथवा भिन्न जीवन के लिए मेरे मन में आदर शेष न रहे। भारतीय नारी यदि चिरन्तन नारी की प्रतिनिधि है तो यूरोपीय रमणी भी क्यों नहीं है? मैं नारी की भारतीयता को अपनी सहानुभूति और दृष्टि की परिधि नहीं बना लेना चाहता। मैं मानता हूँ कि सजीव भारतीय, तस्वीरी भारतीय

नहीं, प्रतिक्षण विकासशील है। अपरिवर्तनीयता अचेतन पदार्थ का लक्षण है।

जिसकी जरूरत है वह है यहाँ प्राणता। साहित्य में उसकी जरूरत है और जीवन में उसकी जरूरत है। छोटी-छोटी ममताओं से ऊँचा उठना होगा। तंग दायरे नहीं काम देंगे। धर्म, सिद्धान्त, मत-मान्यता, प्रकृति-संस्कृति, पथ-सम्प्रदाय ऐसे शब्दों की ओट लेकर संकीर्ण ममताएँ और सीमित स्वार्थ आज पाले और पोसे जा रहे हैं। उनसे चिपटकर मानव और मानव समुदाय अपने को निर्बल रख रहे हैं। अपनी ही निर्बलता उन्हें प्यारी है, वे मोह में मुग्ध हैं। लेकिन नहीं, जग विकसित होगा और मानव देवता होगा। हम क्षुद्र कैसे रह सकेंगे? विराट् का आह्वान क्या प्रतिक्षण हमको नहीं प्राप्त हो रहा है? तब क्षुद्र बने रहने का अवकाश हम क्षुद्रों को भी नहीं मिलेगा। हम चीखते रह सकते हैं कि हमारा धर्म गया, हमारी संस्कृति डूबी, हमारा आदर्श मिटा! लेकिन जो कल्याणकर है, वह सम्पन्न ही होगा। हमारा रोना वह सुने तो हमारा ही मंगल-साधन कैसे हो?

मैं मानता हूँ कि सत्य गहन है। मैं जानता हूँ कि सत्य जितना व्यापक है, उसके नाम पर उतना ही पाखण्ड के फैलने की गुंजायश है। जो वर्षा हरियाली उपजाती है वह गन्दगी भी बढ़ाती है; लेकिन इसके लिए वर्षा को रोकने का यत्न नहीं करना होगा। हमको अपने भीतर परख जगानी होगी। पीतल भी पीला होता है, इससे सशंक होकर स्वर्ण का बहिष्कार करना बुद्धिमत्ता नहीं है। समवर्ण और सस्ते होने की विशेषता से लाभ उठाकर पीतल बाजार को पाट दे सकता है, तो भी सोना इस पीतल के सौभाग्य की स्पर्द्धा नहीं कर सकता। वह अपने को दुर्भागी मानकर अपनी स्वर्णता तज देने का अहंकार किस भाँति ठाने? वह विनीत हो; पर अपनी स्वर्णता पर लज्जित उसे नहीं होना होगा। हाँ, उसे चाहो तो तिरस्कृत किया जा सकता है।

मुझे आशा है कि समीक्षक लोग ऊपर उठाए गये प्रश्नों को हमारे निकट सुलझाने की कृपा करेंगे।

□

मेरी रचना-प्रक्रिया

कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आपको अधिकांशतः जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से?

—बन चुके दृष्टिकोण को फिर-फिर कर सँवारते रहना होता है अर्थात्, दृष्टिकोण कितना भी स्थिर हो, नये आते हुए अनुभवों से संस्कार प्राप्त करता ही है।

जीवन और जगत से आनेवाला प्रभाव संवेदनों को मिलता है। वहाँ से स्वयं जिसे दृष्टिकोण कहा, उसमें रच-रम जाता है।

कहानी-उपन्यास मेरे लिए केवल भावोद्गार नहीं हैं। उसमें दिशा होती है और वह विचार से आती है। विचार मनोदृष्टि या दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नहीं हुआ करता। मैं जानता हूँ कि यदि उसके पीछे दृष्टि या विचार न हो तो रचना में बहुत कुछ भावात्मकता होकर भी अर्थ की उतनी गरिमा नहीं हो सकती। प्रभाव की इसे अन्विति कहते हैं या एकाग्रता और एकत्रता कह सकते हैं। वह उस विचार में से आती है जो पहले से ही उपस्थित रहता है और स्वयं घटना और रचना में से अपना समर्थन-प्रकाशन चाहता है। घटना मैं जीवन और जगत की ओर से आनेवाले प्रभावोपलक्ष को कहता हूँ।

जिसे आपने मनोदृष्टि कहा है, साहित्यिक कृति के माध्यम से आप प्रायः उसकी पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं?

—प्रायः पुष्टि करता हूँ। जाँच करने का साधन अधिकांश इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला सीधा जगत-बोध होता ही नहीं है। जाँच का साधन यदि हो तो स्वयं अन्तरंगता के पास है, बाह्य विवरण और विगत के पास नहीं है।

यह सच है कि मैं श्रद्धा से चलता हूँ। श्रद्धा के पास मानो कुछ ग्रहीत मान्यता रहती ही है। बाह्य सामग्री इन्द्रियों के द्वारा जितनी भी बुद्धि के पास पहुँचती है,

उस सबमें मानो बुद्धि चुनाव और छँटाव करती हैं यह सब बुद्धि का धन्धा श्रद्धा से स्वतन्त्र नहीं हुआ करता; बल्कि श्रद्धा के अनुसार ही होता है। लेकिन श्रद्धा मत-कट्टरता से सर्वथा भिन्न वस्तु है। मत की जड़ता प्रश्न का स्वागत नहीं करती। श्रद्धा के लिए प्रश्न भोजन है। इस तरह बुद्धि श्रद्धा को काटती नहीं, न उसे संस्कार, परिष्कार देती हुई कही जा सकती है। वह तो श्रद्धानुसारिणी ही होती है। किन्तु सजीव श्रद्धा मानो नित्यप्रति अपने को आत्म-संस्कार दिया करती हैं और इसमें व्यक्तित्व का वह अंश सहकारी होता है। जो तर्क बुद्धि से गहरे, व्यथा के स्तर पर काम किया करता है। श्रद्धा आत्मव्यथा में से स्नान कर नित-नूतनता प्राप्त करती है।

बाहरी घटनाएँ इस श्रद्धान्वित व्यक्तित्व स्तर में से स्वयं अर्थ पातीं और अपना रस देकर उसे और पुष्ट कर जाती हैं। इससे अधिक शायद वे नहीं कर सकतीं।

जिस श्रद्धा को लेकर आप साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं, जब उसमें मत की कट्टरता या मताग्रह का लेश भी नहीं है तो आपके जाने या अनजाने मनोदृष्टि की जाँच की गुंजाइश तो रह ही जाती है। अपनी किसी कृति को लिखते समय या पूरा करके क्या आपने कभी ऐसा भी महसूस किया कि जिस मनोदृष्टि को लेकर वह चली थी, उसमें हेर-फेर की अपेक्षा है?

—हाँ, कोई रचना ऐसी नहीं है कि जो मेरे हाथ आकर बदली न जाये। बार-बार आये तो बार-बार बदलने की इच्छा होती है। इसीलिए मैं कोशिश करता हूँ कि होने पर रचना फिर मेरे सामने आएगी ही नहीं।

यह फेर-फार करने की इच्छा क्यों होती है? आखिर इसीलिए हो सकती है कि व्यक्तित्व और जीवन एक क्षण के लिए भी गतिहीन नहीं होता है।

हाँ, सृजन में आलोचन गर्भित हुआ चलता है। इसलिए सृजन कोई सहज प्रक्रिया नहीं है। बड़ा कष्टदायक अनुष्ठान है। कष्ट मुख्यता से इसी दाँतेदार आलोचना से होता है जो आरे की तरह से तुमको बराबर काटती रहती है। जो बात ध्यान देने की है और जिसे मैं बड़े महत्त्व की मानता हूँ वह यह कि आलोचना वह अन्तर्मन और अन्त:विवेक से आती है। बाहर से आयी हुई कुछ भी प्रतीति उसके लिए सहायक नहीं हो पाती। उपदेश-आदेश अथवा ज्ञान-विज्ञान की आज्ञा-अनुज्ञा सहायक नहीं होती, बल्कि ऊपर से आयी सीख एकदम असंगत जान पड़ती है। और उपदेश की अधिकांश अवज्ञा होती है। वह इसी कारण कि चैतन्य का परिष्कार वस्तु की ओर से नहीं आ सकता, उसे आत्म की ओर से ही आना होता है।

आत्माभिव्यक्ति में आत्मालोचन गर्भित रूप से, और अनिवार्य होता ही है।

इसलिए वह श्रद्धा, जिसमें मत की कट्टरता का विशिष्ट रह गया है, साहित्यिक सृजन में से मानो स्वयं अपनी जड़ता का परिहार प्राप्त करती है। साहित्यिक कृति का प्रभाव और उतना ही होगा जितना सहानुभूति का प्रवाह खुला रह सका है और कट्टरता अवरोध नहीं बन सकती है। अवरोध यदि कहीं बनी हो तो साहित्यकार और साहित्य-रसिक तत्काल अनुभव करेगा और इस प्रकार स्वयं उस साहित्य की कृति से कट्टरता से मुक्ति का उपाय हो चलेगा।

अभी-अभी आपने बड़े मार्के की बात कही है, 'श्रद्धा आत्म-व्यथा में से स्नान कर नित-नूतनता प्राप्त करती है।' परन्तु सुनीता, सुखदा, विवर्त और व्यतीत की नायिकाओं का समानान्तर विकास और उपन्यास समाप्त होते-होते उनके एक ही रूप का उभरकर सामने आना क्या इस बात का द्योतक नहीं है कि इन उपन्यासों का अन्त एक ही निष्कर्ष में हुआ है?

—दो व्यक्ति सृष्टि में कभी पूरे एक-समान नहीं होते। न रचना में दो पात्र बिलकुल एक हो सकते हैं। समान-जैसे दीखते हों, पर होते नहीं हैं। जिन उपन्यासों का आपने नाम लिया, उनकी नायिकाओं में आप चाहें तो अन्तर देख सकेंगे। मेरे उपन्यासों में अन्तिम परिणति यदि कुछ एकोन्मुखी दीखती हो? हाँ, वह हो सकती हैं मेरे लिए अन्त में सब बातें एक बड़े प्रश्न और बड़े धर्म में समाई है। वह यह है कि अन्त में अहं को अखिल में अर्पित और लीन हो रहना है। समस्या मूल में यही है कि व्यक्ति है। व्यक्ति की समस्या जैसी मालूम होती है, लेकिन वह सृष्टि की समस्या है, इसलिए जो निदान समस्या को बाहर देखता है, देश और काल में रखता है, वह रोग के लक्षणों को पकड़ता है, मूल तक नहीं जा पाता। राजनीति और दूसरी कार्मिक प्रवृत्ति उसी तरह चलती है। मुझे वहाँ समाधान नहीं जान पड़ता। इसलिए शायद मेरी सब कहानियाँ अन्त में जैसे कुछ एक ही रहस्य में आकर समाप्त होती हैं। उसके अतिरिक्त शायद उन रचनाओं में समानता न भी देखी जा सके, पर वह विचारणीय नहीं है।

अब तक आप अपना अधिकांशतः जीवन-दर्शन, या आपके ही शब्दों में, मनोदृष्टि साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते आये हैं। क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि यदि यह साहित्य की ओट में न होकर अपने वास्तविक रूप में सीधा पाठकों के सामने आया होता तो बेहतर होता?

—नहीं, अपनी ओर से तो नहीं लगा। कहानी-उपन्यास पढ़े जाते और पढ़ाये भी

जाते हैं; तब प्रश्न होता है और मुझसे किया जाता है कि वाक्य का अर्थ क्या है, या उस प्रसंग का भाव क्या है? तब मालूम होता है कि जीवन का प्रश्न जानकारी का बन गया है और जो फैलने और सहने के लिए था, वह समझने-समझाने का बना जा रहा है।

मैं मानता हूँ कि जीने के सवाल को जानने का बनाना जीने से बचना है। शायद जो कठिन है उसे हठात् आसान मान लेता है। फिर भी यह करना पड़ता है। लेकिन इस काम का मूल्य दोयम है। प्रथम जीते-जागते चरित्र-प्रतीकों की सृष्टि है। तत्त्व-सिद्धान्त का उत्पादन उतना बड़ा काम नहीं है।

फिर भी मुझ कथा-लेखक को छोड़कर मुझ विचारक को अपनानेवाले लोग भी मिल जाते हैं। ऐसे लोग प्रतिष्ठा-प्राप्त और गम्भीर होते हैं। अनेक हैं जिन्होंने कहानी मेरी एक भी नहीं पढ़ी है, न पढ़ेंगे। निबन्ध पढ़ते हैं और उसी को पढ़ने योग्य मानते हैं। बहुत हैं जो ताजा हालत में फल पसन्द नहीं करते, सूखी हालत में सिर्फ मेवा के कायल होते हैं। मानना होगा कि फल से जल्दी रस छोड़ रहता है। सूखी मेवा को बनाये रखा जा सकता है। जिसमें से जान चली गयी है उसे आगे फिर मरना शेष कहाँ रह जाता है? ऐसे ज्ञान अधिक जी जाता है। क्योंकि बेजान होने से उसके जीवन का आरम्भ होता है।

मैं उस काम में पड़ा हूँ क्योंकि युग बुद्धिवादी है और मैं उस युग रोग से बचा हुआ नहीं हूँ। अपेक्षाकृत यह काम आसान भी होता है। कहानी में अपने से ज्यादा लड़ना-झगड़ना पड़ता है और वह चीज हलकी दीखने पर भी मुश्किल होती है। मर्म का रस मुझे उसी में मिलता है। और सबसे बड़ी सुविधा यह है कि कहानी की व्याख्या आवश्यक नहीं हुआ करती है। फिर भी पढ़ने-लिखनेवाले लोग व्याख्याओं पर चलते और चलाते हैं। इससे उसकी भी कुछ उपयोगिता है।

इस बीच आपके विभिन्न समस्याओं पर बहुत सारे चिन्तनात्मक लेख पढ़ने को मिले हैं। तो आप जब विचार करते हैं तो किसी-न-किसी एक निष्कर्ष बिन्दु पर तो साधारणतः पहुँचा ही करते होंगे। तो सूत्ररूप में आप प्रमुखता से क्या कहना चाहते हैं?

—एक मुश्किल मेरी शुरू से रही है, और अभी तक भी कटी नहीं है। वह यह कि मुझे अपने को मानना पड़ता है। इसके बिना काम ही नहीं चलता है; यानी पहले से मान लूँ कि मैं हूँ। लेकिन मैं अपने को पूरी तौर पर मान भी नहीं सकता हूँ। क्योंकि इतना अनन्त यह जो कुछ बाहर है, वह भी हैं तो मेरा बाकी इस सारे ब्रह्माण्ड से, समाज से, जगत से, देश से, दुनिया से, सूरज से, चाँद से, शेष से क्या सम्बन्ध है? यह बड़ा प्रश्न बन आता है। सम्बन्ध न रह जाए, मैं अपने

में ही मुँह गाड़ लूँ, तो उसमें समाधान मुझे दीखता नहीं है, और सब पद्धति का अध्यात्म यही बताता जान पड़ता है। मैं अपने को इनकार कर दूँ, और शेष काल-इतिहास में नकार-वत् ठहरा दूँ तो भी ऐसा मालूम होता है कि 'मैं' नाम की चीज समाप्त नहीं होती है। यह जो कर्मवाद है, भौतिकवाद जिसको शब्द दिया जाता है, उसके जोर से भी 'मैं' खत्म नहीं हो पाता है। बल्कि बढ़ जाता, फूल आता देखा गया है। तो आखिर में मुझे लगता है कि मैं और बाकी जो कुछ है, उसके बीच में सतत आदान-प्रदान का सम्बन्ध ही सच है। मैं, बाहर से जो-कुछ मेरी इन्द्रियाँ लाकर मुझे देती हैं उसको स्वीकार करूँ, यह कहकर तिरस्कार न करूँ कि यह मिथ्या, माया है। फिर इस ओर से भी अपनी चेतना-भावना अपने में न रखूँ, दूसरे को दूँ। इस प्रकार अगर पूरा वृत्त हो जाए, वहाँ से लूँ और अपने को दूँ, तो मैं समझता हूँ कि जीवन में चित् विद्युत-रेखा प्रवाहित हो जाती है। नहीं तो विद्युत-प्रवाह चलता नहीं है। तो अब इस सम्बन्ध को मैं प्रेम का सम्बन्ध कहता हूँ, जहाँ अभिन्नता पाने की कोशिश है और भिन्नता की अनुभूति है। तथ्यानुभूति भिन्नता की है, श्रद्धा-धारणा अभिन्नता की है। देह में विछोह, आत्मा में संयोग। विरह-वेदना और संयोगानन्द। तो यही एक मेरी मुख्य चीज है कि ये दो जो हैं, धर्म और कर्म, अध्यात्म और वस्तु, मैं और समष्टि, व्यक्ति और समाज, इत्यादि-इत्यादि दो किनारे बना रखे हैं, इन दो में एकता हो। दो में नाश किसी एक का भी न हो, पर दोनों के बीच में प्रीति हो। इसको मैं आदर्श मानता हूँ, इसको साध्य मानता हूँ। इसी की उलझन में मेरा जो कुछ लिखना होता है, होता रहा है।

प्रेम के सामाजिक स्वरूप पर आप विशेष जोर देते हैं?

—मैं समझता हूँ कि अप्रेम असामाजिक है, प्रेम सदा ही सामाजिक है।

कहीं व्यक्ति प्रधान हो जाये और कहीं उसमें उसका जो दूसरा सामाजिक स्वरूप... ।

—नहीं, मैं समझता हूँ कि व्यक्ति प्रधान होता है। प्रेम तब अप्रेम के मिश्रण के कारण होता है। प्रेम अपने आप में अभय-प्रधान है। उसमें 'स्व' और 'पर' दोनों की समान रक्षा है और मैं समझता हूँ कि क्योंकि वह अभिन्नता का प्रयास है, इसीलिए प्रेम कभी भी असामाजिक हो सकता नहीं है। और जो असामाजिक होता है वह अप्रेम के मेल के कारण होता है। इसलिए प्रेम मेरे लिए, मेरी कहानियों में, और तरह से भी, अन्तिम मूल्य है। उस मूल्य की परख के लिए कोई दूसरा मूल्य नहीं रहता। वही है जो कि स्वप्रतिष्ठ और प्राथमिक है और इस मूल्य की

कसौटी पर दूसरी चीजें कसी जा सकती हैं। प्रेम को कसने के लिए उपयोगिता कसौटी नहीं है। प्रेम तो सर्वथा शुद्ध है, पवित्र है। यह मेरा मत है।

आपके इस विचार के साथ ही एक और दूसरा प्रश्न मेरे मन में उठ आया है कि कथा-साहित्य के सृजन के समय आपके विचार कथा से आगे-आगे चलते हैं या कथा विचारों से आगे रहती है?

—इस प्रश्न को मैं कुछ अपनी भाषा में कहूँ तो मुझे लगता है कि मेरा दिमाग कागज पर जो शब्द लिखे जाते हैं—उससे आगे नहीं चलता। दोनों साथ-साथ चलते हैं। याने दिमाग में लिखे जाने के साथ-साथ ही कागजवाला लेख भी लिखा जाता है। अगर दिमाग में कहानी कागज से स्वतन्त्र होकर बन जाती है तो लिखने में कभी नहीं आती। आप इसमें से क्या निकालिएगा? मैं समझता हूँ शायद सार यह निकले कि दोनों प्रक्रिया साथ-साथ चलती हैं। ऐसा मेरे साथ हुआ है। यानी कि कथा का आत्म-निर्माण, अर्थात् आन्तरिक भावबोध और कथा का कलेवर बाह्य, ये दोनों युगपत् साथ चलते हैं। इसमें आगे-पीछे होने में उलझन हो जाती है।

ये बात तो मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन इस बात, इस प्रश्न की प्रेरणा इसलिए भी मिली थी कि आपका व्यक्तित्व जब भी सामने आता है, एक चिन्तक या विचारक-व्यक्ति जैसा सामने आता है। आप विचारक-कथाकार हैं। इसलिए आपका विचारक प्रमुख हो जाता है या कथाकार प्रमुख हो जाता है? प्रश्न के मूल में मैं यह जिज्ञासा आपके समक्ष रखना चाहता था।

—आप सच मानिए कि एक चीज जिससे मैं बेहद ज्यादा घबराता हूँ, डरता हूँ, वह विचारकता है। मैं किसी विचार को कभी भी अपने पास फटकने नहीं देना चाहता। कोशिश रहती है कि मैं सारे विचार के प्रति, अपने दिमाग को बन्द रखूँ। क्योंकि मुझको यह लगता है कि जब तक दुःख भीतर नहीं है, उलझन सामने नहीं है, तब तक जो भी विचार है, सो खामख्याली है, बुखार है, वह विचार नहीं है। इसलिए मैं विचारक कुछ भी नहीं हूँ भाई। और मैं समझता हूँ कि विचारक और कथाकार इस दोनों के बीच झगड़ा अनिवार्य हो, तो वैसा झगड़ा होता हुआ मैंने तो अपने अन्दर अनुभव किया नहीं है। बाहर सुनता हूँ कि कोई दार्शनिक हुआ करता है जो कलाकार नहीं होता है, इत्यादि-इत्यादि। वह सब तो वे लोग जानें, जो कहते हैं। इस तरह का झगड़ा मैंने अनुभव नहीं किया है, कब कथाकार ऊपर आ जाता है, या कि दार्शनिक ऊपर आ जाता है। मैं समझता हूँ पण्डितों के बीच में बात करनी होगी तो कलाकार को मौका ही नहीं है, तब ऊपर-नीचे क्या, दार्शनिक ही दार्शनिक सामने आएगा। और जनसामान्य के बीच में बात करनी

होगी, जहाँ पर कि दार्शनिक गुत्थी नहीं है, वैचारिक गुत्थी नहीं है तो वहाँ कथा का रूप आ जाएगा, उदाहरण का रूप।

और एक विनम्र पाठक के रूप में आपके उपन्यास पढ़ते हुए कई बार मुझे कुछ पात्रों के प्रति क्रोध हो आता रहा है, खासकर इसलिए कि वे झटके के साथ सबकुछ को तोड़कर अपना मनचाहा क्यों नहीं कर लेते हैं। मैं आपसे बड़ी विनम्रता के साथ यही पूछना चाहता था कि ऐसा ही कुछ कभी-कभी आपने स्वयं भी अनुभव नहीं किया है?

—मुझे इससे बहुत खुशी है कि मेरे पात्रों के प्रति किसी में क्रोध पैदा होता है। खुशी इसलिए है कि उसमें प्रगट हो जाता है कि वह पात्र जीता-जागता है। उसके सामने प्रत्यक्ष हो जाता हो तभी तो क्रोध हो सकता है। तो ये भावनात्मक सम्बन्ध, रागात्मक सम्बन्ध यदि पात्रों के प्रति पैदा हो जाएँ तो मैं समझता हूँ कि कहानी की सार्थकता इसी में है। अब वह गलत पात्र है या सही पात्र है, यह प्रश्न शेष नहीं रहता। विवशता को तोड़-फोड़ क्यों नहीं डालता है? पात्र, मिसमिसाकर क्यों रह जाता है? यह परिस्थितियों का जो एक उसके ऊपर आवेष्टन है, उसको तोड़कर क्यों नहीं तीर की तरह से निकल जाता है, उलझा हुआ क्यों रह जाता है? यह प्रश्न है और संगत है। तो मैं यह मानता हूँ कि परिस्थितियों को तोड़ने में जो एक मुक्ति समझी जाती है, कि जिसको विद्रोह-विप्लव कहते हैं, क्रान्ति इत्यादि कहते हैं, वह मुक्ति है ही नहीं। उसको मैं मुक्ति नहीं मानता हूँ। जहाँ वह विद्रोह अधिक है, मैं समझता हूँ वहाँ फड़फड़ाहट तो है, लेकिन उसका फल मुक्ति नहीं है। इसलिए परिस्थिति और व्यक्ति इन दोनों में सम्बन्ध वह बना डालना, जहाँ पर कि हम समझें कि ताड़ना ही एक सिद्धि है, वहाँ भ्रम है। तो अन्त में यह प्रगट होगा कि परिस्थिति वह चीज है जिसके साथ सन्धि की जा सके, तो आदमी का विकास आरम्भ होता है। इसलिए मेरा पात्र परिस्थिति को धक्का देकर तोड़ने में उतना उद्यत नहीं मालूम होता। परिस्थिति साथ ज्यादा लड़ता-झगड़ता है, और अपनी रुचि-अरुचि, अपनी अन्तर्वृत्तियों के साथ, बाहर के साथ कम लड़ता है। यह मेरे पात्र में इसलिए दिखाई देता है कि मैं यह मानता हूँ कि चेतना परिस्थितियों का उपयोग करके अपने को विकसित कर सकती है। परिस्थिति को टक्कर देकर, उसमें कोई छेद या दरार पैदा करके चेतना विकास पाती है, ऐसा मैं नहीं मानता।

लेकिन वह परिवर्तन तो कर सकता है उस परिस्थिति का?

—होता ही है। प्रत्येक ऊर्ध्वगामी चेतना परिस्थिति का परिवर्तन किए बिना रह

नहीं सकती, बशर्ते कि परिस्थिति के प्रति। मेरे ख्याल में यह जो मेरे पात्रों की नामर्दी है, और चिन्तनशीलता है, उलझन में रह जाना है, और वीर पराक्रमी पुरुष की भाँति तोड़ते हुए आगे निकल जाना अगर नहीं है तो वह इसी मेरी मान्यता के कारण ही है कि पराक्रम के नाम पर जो मोह हमें आकर्षित करता है, वह सचमुच पराक्रम नहीं है, वह प्रतिक्रिया है।

एक अगला प्रश्न आपसे पूछूँ कि आपकी अधिकांश पात्राएँ पत्नी के साथ ही प्रेमिकाएँ भी हैं या उनके प्रेमिका-रूप का एक व्यतीत उनके साथ जुड़ा हुआ है। कृपया बतलाइए कि आपके लेखन की सहानुभूति नारी के किस रूप के साथ है?

—अब यह तो आपका शब्द है 'व्यतीत', इससे दुविधा झलकती है। आप निस्संकोच रहें। क्योंकि सत्य का हमें सामना करना है। अतीत का ही प्रश्न नहीं है, वर्तमान और भविष्य में भी प्रेम को रहना ही है। विवाह जितनी ही आयु उसकी नहीं होती। मुझे लगता है, आप माफ करें, कि विवाह हो जाने के कारण और स्त्रियों में मैं सौन्दर्य न देख सकूँ तो मैं समझता हूँ यह अर्थ करना विवाह का अपमान है।

सौन्दर्य-दर्शन का मतलब लेकिन हम प्रेम से कैसे ले लेंगे?

—सौन्दर्य की अनुभूति जहाँ है वहाँ प्रेम नहीं है यह सिद्ध किया जा सकता है? रूपक है प्रेम।

लेकिन वह प्रेम जो हर सामने आनेवाली नारी—

—हाँ, सब नारियों के प्रति समक्षता चाहिए। पीठ की तरफ कोई होनी ही नहीं चाहिए। सबके प्रति सम्मुखता ही धर्म है। पीठ देना कायरता है, पलायन है। प्रेम जो निखिल के प्रति है, वह विवाह से टकराएगा नहीं। पत्नी एक व्यक्ति है—इसी तरह से प्रेम इस केन्द्र के बजाय, पत्नी के केन्द्र के बजाय, किसी प्रश्न भी पैदा हो सकता है।

पर पत्नी स्वयं ऐसा करती है तो क्या वह अपने समाज के प्रति या अपने पत्नी रूप के प्रति भी न्याय करती है?

—मैं समझता हूँ कि अपनी आत्मा के प्रति और इस तरह से गृहस्थ के प्रति और इसके आगे जाकर समाज और समष्टि के प्रति भी न्याय तभी हो सकता है जबकि आदमी, स्त्री हो या पुरुष हो, अपने प्रेम को घेराबन्द करके गृहस्थी में नहीं घेर लेता है। तभी न्याय कर सकता है अपने प्रति और गृहस्थ के प्रति। इसलिए प्रेम

विवाह का पूरक ही है, पत्नी के लिए भी और पति के लिए भी। पत्नीव्रत अथवा कि पतिव्रत शब्द को प्रेम के निषेध के रूप में लेने से, मैं समझता हूँ, विवाह-संस्था ही गिर जाएगी।

एक बात और मैं आपसे पूछना चाहता था कि आज की हिन्दी में जो कि यह शास्त्रीय तत्त्वों से मुक्त होकर, जो ये प्रभाववादी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें आपको हिन्दी-साहित्य की कौन-सी सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं?

—मैं समझता हूँ कि शास्त्रीय तत्त्व के प्रति कुछ बहुत आग्रह नहीं है, तो यह कथा-सृष्टि के लिए इष्ट ही है। सृजन-कर्म के लिए शास्त्रीय बोध की जो निर्भरता है, अच्छी नहीं है, सहायक नहीं है। आज की कहानी में उक्त निर्भरता उत्तरोत्तर कम होती जा रही है, यह मुझे अच्छा ही मालूम होता है। सम्भावनाओं के चिह्न हैं, यह मेरे लिए तनिक भी चिन्ता का विषय नहीं है।

लेकिन इसमें शिल्प के प्रति एक विशेष सजगता जो आ गयी है, उसके प्रति आपके क्या विचार हैं?

—मैं समझता हूँ शिल्प के प्रति सचेत सजगता भी एक प्रकार की शास्त्रीयता ही है, वह भी इष्ट नहीं है।

□

कहानी में अपेक्षणीय और उपेक्षणीय

'नयी कहानी' की इन दिनों बड़ी चर्चा है, लेकिन जैनेन्द्रजी, कहानी में नया क्या और पुराना क्या?

—मुझे चर्चा का पूरा पता नहीं है। कहानी मेरे विचार में नयी ही हो सकती है। कारण, घटना जो जगत में घटती है, वही समय से बँधी होती और पुरानी पड़ा करती है। कहानी की घटना जागतिक और सामयिक न होकर मानसिक होती है, इसलिए वह सनातन बन जाती है। पाठक के मानस पर पढ़ने के साथ-साथ घटित होते जाने के कारण वह नित-नूतन प्रतीत हो सकती है।

मैं अपने को कहानी-लेखक नहीं मानता हूँ, यानी वह लेखक, जिसे साथ ही कहानी के विधि-विधान का जानना भी आवश्यक होता है। मैं कहानी के शिल्प अथवा कि नये-पुराने शिल्प के बारे में बेखबर हूँ और रहना चाहता हूँ। ज्ञाता होने से मुझे लेखक होने में बाधा पड़ने का भी डर है। ज्ञान सृजन के काम में अकसर बाधक हुआ करता है। छलकता वह है, इसलिए कहानी के मामले में अज्ञता का मैं अधिक कायल हूँ और विज्ञता से सदा भयभीत रहता हूँ।

यह मेरी अपनी बात है। उससे आप देखेंगे कि नयी-पुरानी की चर्चा या कहानी-सम्बन्धी कोई भी चर्चा मुझसे अलग किनारे ही छूट जाती है, मेरे काम से बहुत संगत नहीं हो पाती।

जो नयी के पीछे रहते हैं, या पुरानी के आगे रहना चाहते हैं, ऐसे सब लोग कहानी के बाजार में और उसके मोल-तोल में भटक जा सकते हैं। कहानी की सृष्टि बाजार में नहीं, उस निभृत गुहा में है जहाँ पीड़ा के लिए स्थान पाकर दबी-दुबकी रहती है।

जैनेन्द्र जी, एक ओर आपने कहा कि कहानी नयी ही हो सकती है। दूसरी ओर यह भी कि वह सनातन है। इसमें क्या विरोधाभास नहीं है?

—विरोध का आभास ही है। विरोध नहीं।

सो कैसे? इससे मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई।

—क्षण सदा ताजा होता है। लेकिन उतरकर वह पीड़ा का बनता है—वह गहन पीड़ा जहाँ दु:ख और सुख, व्यथा और आनन्द, एकमएक हो जाते हैं—तो वही क्षण सनातन हो जाता है। वह कभी नहीं बीतता और शाश्वत बना रहता है। इसी से कहता हूँ कि शाश्वत का अस्तित्व नहीं है। है तो क्षण ही शाश्वत है यानी एक साथ जो पुरातन और नितनूतन हो, वही सनातन है। कहानी में सनातनता का प्राण चाहिए। बाकी सब ऊपरी है, अदल-बदल सकता है, फैशन है, साज-सज्जा है, पहरावन और प्रेज़ेण्टेशन है।

इससे मेरी शंका दूर हुई। आपका आशय यही है न कि सनातन और शाश्वत ही कहानी का प्राण है। जिसे नया कहा जा सकता है और ऐसा नयापन आनेवाले कल के सन्दर्भ में पुराना पड़ जाएगा। है न?

—यही तो मुश्किल है कि कहते-कहते क्षण बीत चुकता है और नया ही पुराना बन जाता है। नये के नारे पर फैशन की दुकानें चला करती हैं। क्यों न उन निपुणों का भी कारबार चलता रहे जो बदलते फैशनों पर चलते हैं, बदलते फैशनों की पूँजी से चलते हैं। इस निमित्त यह उचित हो सकता है कि उस चर्चा में थोड़ा समय हम उसी तरह दे दें जैसे क्लब में दे दिया करते हैं। अधिक वहाँ सत्त्व और सार मान लिया जाएगा तो प्रदर्शन बढ़ेगा, दर्शन कम होगा। यह लाभ की बात नहीं होगी।

मूल बात तो यह है कि कहानी का जन्म कहानीकार की पीड़ा में है और पाठक के लिए उसकी सार्थकता इसमें है कि कहानीकार की पीड़ा कहानी द्वारा सम्प्रेषित हो, उसके अपने सुख-दु:ख से जुड़ती है। क्या यही कहानी के आकर्षण का रहस्य नहीं है?

—हाँ, कहानी द्वारा लेखक की सम्बद्धता अनेक पाठकों से जुड़ती है, यही उसकी सच्ची सार्थकता है; अर्थात् एक अनेक में बँटता, व्याप्त होता है।

जैनेन्द्रजी, आपने कहा कि ज्ञान कहानी के मार्ग में बाधक है। कहानी छलकने में से निकलती है। आपका दार्शनिक क्या आपके कहानीकार के मार्ग में बाधक नहीं है?

—बहुत बाधक है, लेकिन दार्शनिक मैं हूँ कहाँ? मैं अपने को निपट जिज्ञासु मानता

हूँ। अकसर अपने ऊपर पैरोडी और व्यंग्य जहाँ-तहाँ देखता हूँ। मुख्य बात उसमें यही रहती है कि जैनेन्द्र यह भी है, वह भी है; उसकी हर बात यह भी है, वह भी है। दार्शनिक का यह लक्षण तो नहीं होना चाहिए, पर मेरी गति सचमुच ऐसी ही है। निश्चिति मुझे प्राप्त नहीं है। बल्कि जो विपदा है, उसमें से हठ और आग्रह और आदेश-उपदेश निकल आते हैं और स्नेह-प्रेम कुचले जाते हैं। मुझे उन पैरोडियों और कटाक्षों में सदा ही बड़ा रस मिला है और मैं उनसे पूरी तरह सहमत हूँ। मेरी-सी गति भगवान किसी को न दे।

ज्ञान की जड़ अहं में है। प्रेम अहं के विसर्जन का नाम है। इसलिए ज्ञान और प्रेम में सदा लड़ाई चलती है। मैं प्रेम का बिन बिका गुलाम हूँ। द्रोह करके ज्ञान की पंक्ति में कैसे बैठ सकता हूँ?

कहानी को मैं प्रेम-तत्त्व से जुड़ा देखना चाहता हूँ। विच्छेद जहाँ दीखता है, जहाँ जानकारी और जवाबदारी स्नेह की इस सहानुभूति को दबा डालती है, वहाँ से ही मुझे अरुचि और अतृप्ति सदा बनी रहती है।

जैनेन्द्रजी, आपने कहानीकार होने से इनकार किया। किन्तु आपके अतिरिक्त आपके कहानीकार होने से कौन इनकार कर सकता है? दार्शनिक होने से आपके इनकार को भी इसी रूप में लेना होगा। अब मैं आपसे कहानी के उपयोगिता-पक्ष पर, उसके देश-सम्बन्धी दायित्व पर, राष्ट्रीय दायित्व पर प्रकाश डालने का अनुरोध करता हूँ।

—इनकार कहानीविद् होने से किया है; कहानी-संग्रहों के भाग पर भाग निकलने पर कहानीकार होने से इनकार मेरा कैसे चलेगा? ज्ञान से इनकार है, कर्म का स्वीकार है।

देश को मैंने नक्शे में देखा है। उससे बाहर तो आदमी ही आदमी दीखते हैं। नक्शे की तरफ यदि अपना दायित्व मैं मान लूँ तो काम बहुत आसान हो जाएगा। मैं वह आसानी नहीं चाहता। नक्शा गणित के अंकों के और ड्राइंग की रेखाओं के काबू में आ जाता है और तत्सम्बन्धी बढ़िया से बढ़िया योजना बिना प्रेम के, योग के परिपूर्ण बनायी जा सकती है। मेरी हालत यह है कि मैं उस कमबख्त से परेशान हूँ जिसे प्रेम कहते हैं। दूसरे सबको भी उसी से परेशान पाता हूँ। रेखागणित या अंकगणित में से मिलनेवाली सान्त्वना राजनीतिक को प्रसन्न करती है, वह उससे स्वास्थ्य और बल पाता है। मुझमें रोग गहरा है और उसका उपचार साहित्य में से भी पर्याप्त मिल नहीं पाता। कभी धर्म की भी आवश्यकता जान पड़ती है।

मानव व्यक्ति सामने हैं, मानव जाति का वही व्यक्त मूर्त पक्ष है। व्यक्ति

की एकता में जाति की एकता सम्पन्न एवं निष्पन्न होने ही वाली है। बाकी एकताओं की मुझे चिन्ता नहीं है। मैं समझता हूँ, कहानी को भी उस चिन्ता की आवश्यकता नहीं है।

यह जो धारणात्मक है जिसको अहं ने दृढ़ और पुष्ट करके मानो अचल सच बना दिया है, वह सब सापेक्ष है। जो चाहिए, वह मानव व्यक्ति की निरपेक्ष स्वीकृति है। विचार यदि प्रथम और व्यक्ति द्वितीय होगा तो दृश्य उपस्थित हो सकता है कि अमुक धर्म-विचार, मत-विचार या दल-विचार के लिए हजारों-लाखों की नरबलि दी जा रही हो, और निश्शंक-निर्वेद भाव से दी जा रही हो! साहित्य से और साहित्य के अन्तर्गत कथा-कहानी से अपेक्षा है कि वह व्यवस्था के ऊपर व्यक्ति की प्रतिष्ठा करे और सब प्रकार के विचारों के शीर्ष पर मानव को सत्य-रूप में अभ्यर्थनीय बनाए। साहित्य का दायित्व है तो यह है। यह दायित्व हर वैचारिक मान्यता या जातीयता अथवा राष्ट्रीयता से उत्तीर्ण ठहरता है। सच पूछिए, दृप्त और तृप्त राष्ट्रवाद ही आज का संकट है और युद्ध के मूल में भी वही है।

तात्पर्य यह है कि कहानी जातीय-राष्ट्रीय आदि आरोपित प्रयोजनों से शून्य होनी चाहिए, यानी जीवन की ही तराशी हुई फाँक होनी चाहिए?

—शून्य की जगह मुक्त कहिए; अर्थात् कहानी अन्दर से रिक्त नहीं हो सकती। जीवन किसी ऐसी अन्तिमता का नाम नहीं है जहाँ राष्ट्रीय अथवा जातीय सब प्रयोजन समाप्त हो जाएँ; अर्थात् जीवन का हर चित्र और साहित्य की हर कहानी उस प्रकार के नाना प्रयोजनों से अछूती नहीं हो सकती। हर कोई सीमितता में रहता और जीता है। जीवन का अर्थ सीमा का अस्वीकार नहीं है। सारे प्रयोजन सीमा के साथ हैं, लेकिन आस्था असीम की ओर चलती है और वही मूल पूँजी है। उस आस्था से सब प्रकार के सब प्रयोजन पुष्ट होते हैं, नष्ट तनिक भी नहीं होते। किन्तु जब हम प्रयोजन को ही अपने-आपमें पोसना और पालना चाहते हैं तो यह दूसरे के प्रयोजन से टक्कर में आ जाता है। इस तरह स्वदेश-राग विदेश-द्वेष पर पलने लग जाता है। प्रयोजनीयता के तल पर साहित्य को उतारने में यही खतरा है। आज आवश्यकता के दबाव में आकर हम राष्ट्रीय रचना माँग सकते और उसकी अभ्यर्थना कर सकते हैं, लेकिन काम निकलने पर कल की वह हमारे लिए भूल जाने लायक पदार्थ बन सकता है। जिसका यह भाग्य होता हो, उसे साहित्य नहीं कहते।

जैनेन्द्रजी, 'उसने कहा था' से लेकर 'नयी कहानी' तक हिन्दी-कहानी की प्रगति

के बारे में आपके क्या विचार हैं?

—विचार खराब नहीं हैं, इतना जानता हूँ। क्या है, यह बताने लायक सही-सही उन्हें नहीं जानता। कहानी को मैं धारा नहीं मानता कि जैसे गंगोत्री से निकलकर हिन्द महासागर में पड़नेवाली गंगा है। हर कहानी का अपना व्यक्तित्व होता है और सब कहानियाँ मिलकर कोई एक धारा बना देती हैं जो कालानुक्रम से बढ़ती है, यह धारणा मेरी नहीं है। बुद्धिवादियों द्वारा पश्चिम से लायी हुई परिपाटी यह चल पड़ी है जो इतिहास की भाषा में ही जीवन और जगत को समझना चाहती है। मेरे पास कोई बहाना यह मानने का नहीं है कि अगर दो हजार वर्ष पहले महाभारत लिखा गया तो गुण में आज सवेरे लिखी गयी मेरी कहानी उससे ठीक दो हजार वर्ष आगे हैं। समय के अर्थ को इस रूप में समझना केवल स्वार्थ से लगना और परमार्थ से दूर होना है। हर नया लेखक आगे है और 'उसने कहा था' नाम की कहानी मील के पत्थर की तरह बस अपनी जगह गड़ी रह गयी है, ऐसा मैं नहीं मानता। उस प्रकार से सोचने की मेरे लिए कभी आवश्यकता नहीं हुई। ऐतिहासिक भाषा से अलग नैतिक भाषा में साहित्य-विचार हो तो मैं समझता हूँ, यह अधिक सार्थक और सारगर्भित होगा। तब समय का प्रवाह हमको नहीं बहाएगा और हम किन्हीं स्थिर मूल्यों को पहचान और पकड़ सकेंगे।

साहित्य को अथवा कहानी को ऐतिहासिक भाषा से नापने पर मेरा आग्रह नहीं है। किन्तु क्या आप यह नहीं मानेंगे कि 'उसने कहा था' की स्थिति से बढ़कर कहानी, जिसमें हिन्दी कहानी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं की कहानी भी सम्मिलित है, आज हमारे साहित्य की यह विधा बन गयी है जिसमें वह विश्व-साहित्य की समता कर सकती है?

—तो क्या मैं यह मानूँ कि 'उसने कहा था' विश्व-साहित्य की समता नहीं कर सकती, और वह केवल हिन्दी-साहित्य अथवा पुरातन साहित्य है? जी नहीं, मैं उस तरह नहीं सोचता। हर बूँद, अगर वह अपनी जगह निर्मल है, तो विश्व ही नहीं, ब्रह्माण्ड की निर्मलता में योग देनेवाली है। विश्व की भौगोलिक एकता और अपनी भौगोलिक विस्तृति की ओर अधिक सम्भ्रम से देखने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं होकर, आंचलिक होकर, प्रादेशिक होकर रचना सहज भाव से सार्वभौम हो सकती है। प्रश्न प्रेम की स्वच्छता एवं अविकलता का है।

आज स्वीकार करना चाहिए, हमारी माँग सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। पहले स्थल से चला जाता था। प्रयोजनाश्रित रचनाएँ मन को भा जाती थीं। एक लम्बे अर्से तक समाज का सुधार और कुरीति का निवारण मानो कहानी-लेखन के प्रेरणा-

सूत्र बने रहे। 'नयी कहानी' अवगाहन में जाती है, यह उसकी प्रगति शुभ है। लेकिन यह तो समग्र काल की ही गति है और जीवन-विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता ही है। आज सूक्ष्म संवेदनाओं के आकलन का प्रयास अधिक दीखता है, घटना के घटाटोप का आग्रह कम है, और यह शुभ लक्षण है।

बूँद के महत्त्व को घटाना मेरा उद्देश्य नहीं। मैं तो केवल यह कह रहा था कि गत वर्ष में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और मोहन राकेश आदि कहानीकारों ने समग्र रूप में कहानी को इतना कुछ दिया है कि वह स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

—जैनेन्द्र को गिनती से बाहर कर दीजिए। वह जरूरत से ज्यादा मनमाना है। न भाषा को सँवारता है और न शिल्प को। ऐसे अहंनिष्ठ को विचार की सभा में से बहिष्कृत रखना चाहिए। यह मैं किसी निजता के प्रभाव में नहीं कह रहा हूँ, वस्तुनिष्ठ विचार की दृष्टि से ही कहने की छूट ले रहा हूँ।

अन्य रचनाकारों में प्रेमचन्द और यशपाल मुझे वे प्रतीत होते हैं जिनके पास कथ्य है और तत्सम्बन्धी पुष्टता और निष्ठा है। शिल्प और कला इन दोनों के लिए साध्य नहीं है और यह श्रेय की बात है। अज्ञेय गहरे जाते हैं और सूक्ष्मता को हस्तगत किया चाहते हैं; लेकिन कला मानो उनके निकट साध्य हो जाती है, और कथ्य कथन की मीनाकारी में गौण और झीना पड़ने लगता है। चन्द्रगुप्तजी बड़े स्वस्थ लेखक हैं, इतने कि इसी कारण न उनसे ईर्षा होती है, न उत्तेजन मिलता है। मुझे लगता है लेखक को अवश्य किंचित्हीन और असामाजिक होना चाहिए। चाहिए से मतलब होनहार ही यह होता है। चन्द्रगुप्तजी अपवाद नहीं हो सकते। मोहन राकेश की कहानियाँ मुझे सदा भिगोती और छूती रही हैं और यह मुझे अच्छा लगता है कि जोरदार वक्तव्य को वह बचाते हैं और रंग तीखे नहीं देते। मैं बड़े चाव से दूसरे लेखकों की भी कहानियाँ, जब हाथ आती हैं, पढ़ जाता हूँ और कुल मिलाकर मैं देख रहा हूँ कि हमारा संवेदन और संवेद्य सूक्ष्मतर होता जाता है और वातावरण की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। सुधार या उद्धार के आग्रह में वातावरण पर बलात्कार होने लग जाता था। प्रेमचन्दजी में यदि उसका अवकाश था तो यशपालजी में और अधिक है। मन्तव्य अधिकांश तो इनकी कहानी में रमा रहता है, पर कभी उसके ऊपर भी बैठा हुआ दीखने लग जाता है।

मानना होगा कि आज के दिन कहानी सबसे सशक्त माध्यम है, यों तो उपन्यास बड़ी उपलब्धि है और प्रभाव भी उसका घना होता है। लेकिन समय सकता है। कहानी प्रवाही है और बृहत्काय नहीं हो सकती। यह अधिक समयानुकूल है और कहानी पर एक तरह अधिक दायित्व ले आती है।

आजकल जहाँ-तहाँ दीखनेवाली कहानियों के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दी के लेखक उतने ही प्रबुद्ध और जाग्रत् हैं, स्थिति के प्रति उतने ही तत्पर हैं, जितने देश की अथवा विदेश की दूसरी भाषाओं के मान्य लेखक समझे जा सकते हैं। डर यही है कि कला और शिल्प यदि अपने-आपमें साध्य बनेंगे तो अदायगी ऊपर आ जाएगी, आत्मदान अकुण्ठित हो नहीं पाएगा, कला की जड़ावट-सजावट का, उसकी घिस-माँज का कहीं कुछ आधिक्य और अतिरेक तो नहीं हो रहा है, ऐसी शंका होती है। लेकिन प्राणवेग इस कौशल की अतिशयता के लिए अवकाश नहीं छोड़नेवाला है और आज के विश्व का या हर कहीं का, आकुलित एवं विकलित जीवन स्वयं इस अतिरेक का उपचार करता चला जा सकता है।

□

कहानी : प्रेरणा, प्रभाव और शिल्प

जैनेन्द्र जी, हमारी भेंट का आपको स्मरण होगा। उसमें आपने 'अहंनिष्ठ जैनेन्द्र' को 'विचार की सभा से बहिष्कृत' रखने को कहा था। आज हम उसी 'गिनती से बाहर' व्यक्ति पर अलग से चर्चा करेंगे। कहिए, इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं?

—आपत्ति हो तो भी क्या आप टलनेवाले हैं?

नहीं, लेकिन इस प्रकार स्वेच्छा से बहिष्कार का मार्ग अपनाकर क्या आपने अपने को विशिष्टता प्रदान नहीं कर दी?

—इसीलिए कहता था कि आपत्ति से क्या फायदा है? अन्य बाण आपकी तरफ से शायद पीछे आएँगे, पहले इसी प्रतिष्ठावाले को झेल लिया जाए।

हाँ, आपकी बात सही भी हो सकती है। प्रतिष्ठा अपनाने का भी वह बहाना हो सकता है। लेकिन क्या प्रतिष्ठा ऐसी बुरी चीज है कि उसे अपनाने से डर हो?

क्या अच्छा यह न होगा कि प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा को अलग करके बात आगे चलाई जाए, क्योंकि वैसे हमारे बीच संशय आ जाएगा और हेतु परस्पर-विरुद्ध पड़ जाएँगे। उस तरह चर्चा बेकार हो जाएगी।

अपनी उस दिन की भेंट को मैं अपूर्ण मानता था। जैनेन्द्र का व्यक्ति और शिल्प विशिष्ट है, यह स्वीकार करना होगा। इसलिए उस पर विस्तार से विचार की आवश्यकता हुई।

—अच्छा, आप कहते हैं तो स्वीकार किया। फिर?

फिर, हम आरम्भ से चलेंगे—और मैं आपसे कहानी लिखना आरम्भ करने की

मूल प्रेरणा पर प्रकाश डालने को कहूँगा।

—मुझे मूल का ठीक पता नहीं है। एक बन्धु क्रान्ति और उसी तरह के कामों से उखड़कर बेकार हो गये और बेकारी में काम खोजते हुए दिल्ली आये। बड़ी कोशिश से उनको प्राइमरी स्कूल में मुदर्रिसी मिली। आदमी ऊँचे विचार के थे और कलाभिमुख थे। चौथे दर्जे तक का स्कूल और उन्होंने वहीं हाथ लिखी पत्रिका जारी की। बड़ी सज-धज और उद्यम से उसे सँवारते थे। उसी के लिए पहली, दूसरी, तीसरी कहानी लिखी गयी होगी। लिखते वक्त, कहानी है, यह भी नहीं मालूम होता था। चिट्ठी आती थी और जो मन आया, लिख भेजता था। पहली कहानी में शायद व्यंग्य के साथ उपदेश देने की मैंने ठानी होगी। दो-एक पैराग्राफ के बाद एक नेता उसमें अँग्रेजी में बोल पड़ते थे। उस अँग्रेजी की वक्तृता के दो-चार वाक्य लिखने पर पता चला कि जहाँ चीज जानेवाली है, वहाँ चटसाल के बच्चे होंगे, अँग्रेजी कौन समझेगा? इसलिए उसे रोक लिया गया और वह पीछे 'देश-प्रेम' के नाम से छपी। उसकी जगह लगे-हाथ वह घटना लिख भेजी जो कुछ रोज पहले मेरे साथ घटी थी। उसके आगे भी कल्पना से कुछ जोड़-जाड़ दिया और वह 'फोटोग्राफी' बन गयी। उसी हस्तलिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिए 'खेल' और 'चोरी' बनीं। ये तीनों कहानियाँ पीछे दूसरी पत्रिकाओं में छपीं। लेकिन ये सब लिखते वक्त प्रेरणा का प्रश्न ही न हुआ था। बन्धु थे, चिट्ठी का उत्तर जरूरी होता था और मैं मनमाना लिख भेजता था। क्या पता था कि ये रचनाएँ कहानी कहलाएँगी और मुझसे एक दिन जवाब तक तलब होगा। मूल प्रेरणा को लेकर, बताइए, अब मैं कहूँ तो क्या कहूँ?

जैनेन्द्रजी, आपने कहा कि अपनी पहली, दूसरी, तीसरी कहानी लिखते वक्त आपको यह भी नहीं मालूम होता था कि वे कहानी हैं। लगभग ऐसा ही आपका वह वक्तव्य है, जो मुझे स्मरण पड़ रहा है कि कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र का प्रवेश राजमार्ग से नहीं हुआ; किन्तु क्या आप यह नहीं मानते कि मूल में आपके अन्तरतम का वह भाव-वेग था जो व्यक्त होने को निरन्तर व्यग्र था और आपको अपने-आपको उँड़ेल देने के लिए विवश किये डालता था?

—अन्दर कुछ भाव था, यह मानने में उज्र क्या हो सकता है, लेकिन वह बन्धु मुदर्रिस न बने होते और उन्होंने पत्रिका न निकाली होती, तो अधिक सम्भव था कि मेरा लिखना ही न हो पाता यानी लिखने की कोई विवशता मैं अपने जीवन में नहीं देखता। बरसों-बरस गुजर गये हैं और मैंने एक हरफ नहीं लिखा है। अन्त:प्रेरणा की कोई विवशता होती तो यह हरामगीरी मुझसे नहीं हो सकती थी।

अभी देखिए कि लिखने के सिवाय कोई मैंने काम का काम नहीं किया है; लेकिन जितना लिखा है, उतना तो कोई प्रामाणिक कार्यकर्त्ता तीन साल में लिख फेंक सकता था। नहीं, वैसी कोई भीतरी बेबसी मुझमें नहीं थी। मुझमें न कुछ वक्तव्य है, न सन्देश है। जैसे बोल लेता हूँ वैसे ही लिख भी जाता हूँ। बहुत अधिक आयास-प्रयास की मुझे आदत नहीं है, न ऐसा कुछ मेरे पास मालूम होता है कि जिस पर आयास खर्च किया जाये। पाठकों और आलोचकों की ओर से जो कभी सुन पड़ता है, उसको अगर भुला दिया जाये तो मैं अपने बारे में किसी भूल में नहीं हूँ; अर्थात् मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता।

आप कहते हैं कि 'लिखने के सिवाय कोई मैंने काम का काम नहीं किया। क्या लिखना अपने-आपमें सब कामों से बढ़कर काम नहीं है? महमूद गजनवी के भारत पर आक्रमणों या उसके साम्राज्य को आज कौन याद रखता है? पर उसी के दरबार के फिरदौसी का 'शाहनामा' आज भी एक जीवित स्रोत है। शासक और सत्ताधारी, जो राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण करते हैं, वे इतिहास में स्मारक-स्तम्भ की भाँति जहाँ के तहाँ गड़े रह जाते हैं। पर लेखक विचार के प्राण-वेग के संचारण के कारण शताब्दियों के आर-पार जीवित रहता है। फिर लेखक के काम को हम छोटा कैसे मान सकते हैं?

—नहीं, नहीं, लिखने की तारीफ आप मुझसे न कीजिए। उससे अहंकार उद्दीप्त हो सकता है और वह घाटे की बात है। आप कहते हैं, लिखना बड़े काम का काम है। काम का नहीं, यह तो मैंने भी नहीं कहा। कैसे कह सकता हूँ? उसी की खा रहा हूँ, नहीं तो नौकरी ढूँढ़ने गया तो क्या बीस-पच्चीस रुपए की नौकरी भी मुझे मिल सकी थी? एकदम नहीं मिल सकी थी। अब यह मौका है कि आप तक से बात हो रही है। यह अवसर जिसकी बदौलत आया है, वह लिखना सचमुच बेकाम नहीं कहा जा सकता। लेकिन इससे आगे आप मुझे छल में नहीं डाल सकते। जैसे और काम हैं ठीक वैसे ही यह लिखने का काम हो सकता है; उनसे कम या अधिक मूल्य का मैं उसे नहीं मान सकता। मेहनती से और किसान से मैं अपने को किसी बूते भी कोई खास नहीं समझ सकता हूँ। सच यह है कि लिखना कोई काम ही नहीं है। काम होता तो कबीर जुलाहे क्यों बने रहते, और तुलसी ने भी कभी अपने को 'रॉयल्टीवाला' कवि क्यों न माना होता, अन्त तक भिक्षुक क्यों माना होता? यह सब इसलिए कि लिखना काम नहीं होता है। यह तो पश्चिम ने उसे धन्धा बना दिया है और कम्युनिज्म ने तो सबसे ही ठाठ का धन्धा बना दिया है। समाज और राज की महिमा ही कहिए कि जो चाहे बना दे। सच में गहरे जाएँ तो जान पड़ेगा कि लिखने को काम मानना और

धन्धा बनाना शुभ नहीं है। फिर भी अगर उसकी दुहाई दी जाती है तो मैं उन दुहाई देनेवालों को धन्यवाद भी दे सकता हूँ, क्योंकि अन्त में उससे मेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है।

किन्तु जैनेन्द्र जी, जुलाहे और भिक्षुक क्या संख्यातीत नहीं? अपनी वृत्ति से अतिरिक्त कारण से ही कबीर और तुलसी हमारे लिए अविस्मरणीय हैं, वैसे यह ठीक है कि समाज के किसी व्यक्ति का पेट दूसरों की ठठरियों के पसीने पर न पनपे। लेखक और कलाकार अपने को भौतिक अथवा शारीरिक श्रम से सम्पृक्त करने का दृष्टिकोण अपनाएँ और अपने को जनजीवन के समीप रखें। इससे अधिक शुभ एवं श्रेयस्कर और क्या हो सकता है? अब जैनेन्द्रजी, आप यह बताएँ कि प्रेमचन्दजी के सम्पर्क में आप कब आये और उनसे किस रूप में प्रभावित हुए?

—मैं चिट्ठी से उनसे पहले-पहल सन्' 27 में मिला हूँगा। रूबरू सन् '28 के अन्त में।

सबसे ज्यादा उनकी बेबाकी और बेगानगी का मुझ पर असर पड़ा। मैं नामी आदमी के पास गया, लेकिन मिलने पर मालूम हुआ कि जैसे उन्हें मालूम ही नहीं है कि वह नामवर हैं। यों तो अनजान कहना उन्हें मुश्किल है, लेकिन यह ज्ञान उनके भीतर तक नहीं उतर सका था और उनकी साधारणता को उनसे नहीं छीन सका था। इसकी झलक उनके लिखने में भी है। मानो लिखनेवाला लिखे गये चरित्रों से अलग और अन्य कुछ है ही नहीं, कुछ रहना ही नहीं चाहता। यह दिमागी आदमी के लिए कम सम्भव होता है। वह मानो ऊपर से लिखता है और चरित्रों को अपनी अधीनता में रखता है, उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देता। ऐसे उनका व्यक्तित्व अव्वल तो बनता नहीं, या बनता है तो वह बनता है जो स्वप्रतिष्ठ नहीं होता, लेखक के (अधिकांश मतवादी) प्रयोजन का उपकरण मात्र होता है। प्रेमचन्द का यह निरीह स्वभाव मुझे ऐसा छू गया कि उसके लिए मैं अब तक उन्हें याद करता हूँ। पहली बार आये तो क्या देखता हूँ कि गली में से कम्बल कन्धे पर डाले और हाथ में झोला लटकाए चले आ रहे हैं; तार न खत, बस, बेखबर चले आ रहे हैं। बोले, 'तार में फिजूल बारह आने डालने से क्या फायदा था? आखिर घर तो आ पहुँचा न...।' यह चीज अब बहुत खोजता हूँ, लेकिन बहुत ही कम मिलती है। बाकी प्रतिभा वगैरह तो सब ठीक है, लेकिन यह चीज जैसे जड़ की है। जैसे जड़ ही न हो तो ऊपर सोचिए, खिलेगा क्या?

जैनेन्द्रजी, आपके कहानीकार के निर्माण में मात्र संयोग, प्रेमचन्द के सम्पर्क के अतिरिक्त जिन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव रहा

हो, उन पर प्रकाश डालिए।

—मुश्किल है और मेरे पास इस बारे में कुछ प्रकाश नहीं है। इतना जानता हूँ कि जब मेरा लिखना हठात् शुरू हुआ तब मैं बहुत बहाल और बदहाल था। यहाँ तक कि मरने की बात सोचा करता था। ऐसे में कोरा तत्त्व-सिद्धान्त काम नहीं दे सकता, न प्रिय हो सकता है। हर तत्त्ववाद को मानो संवेदन की कसौटी पर उतरना और अपने को खरा साबित करना होता है। सबसे प्रथम तथ्य और मूल तत्त्व है दुःख—इस बौद्ध कथन का भी शायद यह सार है। इसी अनिवार्यता में से विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

इधर-उधर की जो किताब हाथ आती, मैं पढ़ता तो रहता ही था। लेकिन उस पढ़ने में से लिखना आया, या कभी आ सकता था, यह मैं नहीं कह सकता। लिखना शायद बाहरी संयोग के योग से ही हुआ। यहाँ दिल्ली में एक हिन्दी सभा बनी थी। मेरा सन् '21 में माखनलालजी से परिचय हुआ था जिसमें साहित्य का सन्दर्भ तनिक न था। लेकिन वह एक बार दिल्ली आये तो चतुरसेनजी के यहाँ ठहरे। ऐसे चतुरसेनजी की कृपा और उदारता से हिन्दी सभा में उपस्थित होना मिल गया। पहली कहानी वहीं पढ़ी गयी होगी...मुझे एक घटना की याद आती है। एक बड़े मानी विद्वान थे। थे क्या, अभी हैं। बड़ी आशा से उन्हें कहानी सुनायी, बड़े धैर्य से उन्होंने सुनी। अन्त में यदि कुछ बात उनसे मालूम हुई तो यह कि भाषण 'दिया' नहीं जाता, 'किया' जाता है। कहानी के लिए, यानी उस पर प्रकाश के लिए मैं उनकी ओर देखता रह गया। पर जो वहाँ था, या वहाँ से आ सकता था, वह कुल जमा यह 'दिया' और 'किया' का फर्क था। ऐसा मालूम हुआ था तब कि कहानी इत्यादि सब वृथा है, 'दिया' 'किया' सम्बन्धी ज्ञान ही सार्थक है। आप सोचते हैं कि इस शिक्षा-दीक्षा के अधीन मैं कहानी को महत्त्व ही कैसे दे सकता था! उन परम विद्वान की आलोचना को या आलोचक को मैं आदर्श मानूँ या नहीं, यह मैं निश्चय नहीं कर सका हूँ। लेकिन ऐसा अवश्य मालूम होता है कि भाषाविद् जिस लोक में रहता है, कहानी-लेखक की दुनिया उससे न्यारी ही होती है। दर्जी मन के दुःख की बात जानने की जरूरत में बिलकुल नहीं है, उसको बदन की नाप-जोख बस है। व्यवसाय का सचमुच यही गुर है। लेकिन दरजीपना भूलकर वह यदि आदमी और किसी का भाई-बेटा या पति वगैरह हो जाता है, तब बात अवश्य दूसरी हो जाती है यानी कहानी (मेरे लिए) शिल्प नहीं है, वह संवेदन और संवेद्य है। उस प्रकार उसमें सीखने-जानने को बहुत कम रह जाता है। या कहिए कि जो सीखा-जाना जाता है वह सब वहाँ उपकरण-भर रहा जाता है, अर्थात् इष्ट नहीं, आनुषंगिक होता है। मतलब यह नहीं कि

जिन्हें मैंने पढ़ा है और जिनसे रस प्राप्त किया है, उनके प्रभाव का मैं ऋण नहीं मानता हूँ। लेकिन आशा है कि मुझे उनमें से किसी को याद में या नकल में लेने की आवश्यकता नहीं हुई है। उनका उपकार इतना हार्दिक है कि मुझे एक क्षण के लिए भी उपकृत बनने की याद नहीं आती। सच यह है कि दुनिया की और जिन्दगी की जो खुली पुस्तक सामने है, उसको उन्होंने मेरे लिए कुछ अधिक खुली बनाने में ही मदद की है। उस किताब के और मेरे बीच में आने की किसी ने कोशिश नहीं की।

जैनेन्द्रजी, मैंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के विषय में जिज्ञासा की थी।

—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति की बात मैं क्या कहूँ? अठारह वर्ष की अवस्था में मैं बालिग हुआ होऊँगा। उस सन् '23 से अब सन् '63 तक—इन तीनों प्रकार की, या अन्य प्रकार की जो परिस्थितियाँ यहाँ रही हैं, वे उजागर हैं, नहीं तो रिपोर्टों से उन्हें जाना जा सकता है। जीवन में बाहरी जो घटनाएँ घटीं, उनका मेल भी कुछ उनसे बिठाकर देखा जा सकता है। लेकिन परिस्थिति मेरे लिए कोई मन:स्थिति से स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली चीज नहीं है। उस दृष्टि से परिस्थिति की बात करूँ तो मेरे जीवन का कच्चा चिट्ठा ही खुल निकलेगा। उसे खोलना मुझे मंजूर नहीं है। न खुले, इसीलिए तो कथा-कहानी और उपन्यास हैं। जी नहीं, कच्ची चीजें आप मुझसे नहीं पा सकेंगे।

जैनेन्द्रजी, आपका रचनाकाल गाँधी-युग रहा जिसमें एक महान हस्ती ने जग-जीवन को भीतर तक झनझनाकर जाग्रत् कर दिया। उस हस्ती का प्रभाव आपके और आपके युग के साहित्य पर कहाँ तक पड़ा?

—उस 'तक' को मैं तय नहीं कर सकता। मेरे मन में समग्रता और संयुक्तता की चाह रहती है। मुझे लगता है कि मुक्त पुरुष पूर्ण भाव से युक्त भी होता होगा। गाँधी को मैं उसी चरम योग के सन्दर्भ में देखता हूँ। इतिहास के दूसरे महापुरुष उस तरह युक्त और मुक्त नहीं दिखाई पड़ते; मानो द्वैत के दो सिरे उनमें परस्पर टकराते हैं, समन्वित नहीं होते। इसी से गाँधी के प्रति मेरा गहरा आकर्षण है। घटनात्मक जो हुआ, यानी मैंने कॉलेज छोड़ा, जेल गया, वह सब ऊपरी बातें हैं, शायद उसका निदर्शन मेरी रचनाओं में जहाँ-तहाँ मिल भी जाता हो। लेकिन जिसको गाँधीवाद कहते हैं, उसका राई-रत्ती भी बोध मैंने अपने दिमाग पर अनुभव नहीं किया है। वे न्याय नहीं करते हैं जो अपना बोझ गाँधी के मृत्यु में से मुक्त हो जाने पर भी उन्हीं पर टिकाए रखना चाहते हैं। जो किया, उसमें से मैं गाँधी

को नहीं देखता हूँ; जो वह हुए, उसी को सीधे देख लेना चाहता हूँ। इस तरह गाँधी मेरी अपनी मुक्ति में सहायक ही हो सकते हैं, मुझे बाँध नहीं सकते।

इसी युग के एक अन्य महापुरुष रवीन्द्रनाथ को आप मुक्तात्मा मानते हैं या नहीं? यदि हाँ, तो क्यों और नहीं, तो क्यों नहीं?

—मुक्त को शायद निर्गुण होना चाहिए यानी कोई विशेषण उस पर सही-सही बैठ न सके। गाँधी महात्मा थे और गोडसे के लिए दुष्टात्मा थे। कोई ऐसा शब्द नहीं है कि उसका प्रतिरोधी विशेषण भी उसी तरह गाँधी पर लगाया न जा सके। पर रवि ठाकुर को बड़े निश्चय से हम कवि कह सकते हैं, और शायद 'अकवि' कोई नहीं कह सकता। रवीन्द्र की विभूति सगुण है। गाँधी को उस प्रकार रूप-वर्ण के ऐश्वर्य में से देखना मुश्किल होता है।

जैनेन्द्रजी, आपने कहा कि कहानी के शिल्प में आप विश्वास नहीं करते, फिर भी क्या कहानी शिल्पहीन हो सकती है?

—नहीं हो सकती। पर क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो जिसे मानव-यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है!

कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु शरीर-यन्त्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है? शायद ज्ञान अपनी खातिर सृष्टि-मर्म से संगत ही नहीं है।

तात्पर्य यह कि आप अपने कहानी-शिल्प के विषय में विशेष जानकारी का दावा नहीं करते। यही न? लेकिन आप लोगों की इस धारणा के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ प्रश्नान्त होती हैं? साथ ही, आप हमारी परस्पर की चर्चाओं में कभी-कभी व्यक्त किये गये अपने इस वक्तव्य के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ थियोरम में से निकलती हैं?

—दोनों बातें ठीक हैं। प्रश्नान्त होती हैं मेरी कहानियाँ, क्योंकि प्रश्न मुझमें है और शान्त नहीं है। फिर यह कि कहानी थियोरम में से निकलती है, मानो अपने-आप अनिवार्य हो आता है। मैं श्रद्धा का विश्वासी हूँ लेकिन प्रश्न का अधिवासी हूँ। इसलिए प्रश्न मेरी कहानी में नोचता-काटता-सा नहीं आता, बल्कि समाधान खोजता-पूछता-सा आता होगा। संसार प्रश्न है, ईश्वर समाधान है। लेकिन मेरा

ईश्वर संसार के प्रश्न को बन्द नहीं करता है प्रत्युत् अनन्त काल तक मानो उसे खुला रखने को तैयार है; अर्थात् श्रद्धा में मैं अनन्त प्रश्न का समावेश सम्भव देख सकता और बना सकता हूँ, बल्कि मुझे लगता है कि आस्तिक होकर ही प्रखर नास्तिक हुआ जा सकता है—अन्यथा नास्तिकताा में भी प्रखरता नहीं आएगी, जड़ता बनी रह जाएगी।

प्रश्न के लिए आवश्यक है कि वह जिज्ञासा रहे, आलोचना न बने। यह सम्भव श्रद्धा के योग से ही हो सकता है और मैं आशा करना चाहता हूँ कि मेरी कहानी के गर्भित प्रश्न में अहंवाद का दर्प नहीं रह जाता, अज्ञवाद और जिज्ञासा भले रहती हो।

अच्छा, जैनेन्द्रजी, आजकल कहानी के लिए आवश्यक समझे जानेवाले बोधों—युग-बोध, रस-बोध, भाव-बोध, सूक्ष्म-बोध और दल-बोध तथा अन्य अनेक बोधों को आप कथा की आत्मा अथवा कथा-शिल्प के लिए कहाँ तक संगत और सार्थक मानते हैं?

—मैं भी उन बोध-व्यूहों की चर्चा छपी देखता और कभी पढ़ता भी हूँ। पढ़कर, भई, चौकड़ी भूल जाता हूँ। बड़े लोगों की भीड़ के बीच कोई अनाड़ी पड़ जाए, तो उसका जो हाल हो, वही मेरा होने लगता है। कहानी के मामले में 'बोध'वाला माल मुझे जरूरत से भारी मालूम होता है। शायद वह शब्द कहानी से कहीं ऊपर अधर में विराजा हुआ रहता है; या कहो, वह अचल शब्द है, कहानी के मर्म तक जाने का उपाय उसके पास नहीं है। बोध मानो कुछ स्थित तत्त्व है; कहानी की जान गति है। इसलिए बोध ही है जो कहानी को जड़ और निःस्पन्द बना दे सकता है। हमारे नये बन्धु जितने हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में आ रहे हैं, सब खूब पढ़े-लिखे होते हैं। इसलिए बोध के चक्कर में वे पड़ें तो वे इसके अधिकारी माने जा सकते हैं। मैं अपने अभागे भाग्य का कृतज्ञ हूँ कि उस अधिकार से वंचित हूँ। जीने से इतना घिरा हूँ कि अतिरिक्त जानने से आसानी से किनारे छूटा रह जाता हूँ। ऐसा लगता है कि बेहद अक्षर-पाठी लोगों को कुछ निरक्षर पाठों की आवश्यकता है, नहीं तो उनकी कहानी उनके साथ इतनी विद्वान बन जा सकती है कि सही-सही जी न पाए। कहानी के लिए एक अकेला प्यार काफी है; फिर सारे दूसरे बोध नष्ट भी हो जाएँ तो कोई हानि नहीं। समझ में नहीं आता कि ज्ञान से फूँक-फूँककर ये जवान लोग प्यार को क्यों ठण्डा बनाना जरूरी समझते हैं? ज्ञान से पहले ठण्डा बना लेंगे, फिर शब्दों के जोर से उसे गरमाना चाहेंगे! यह सब चक्कर जरूरी नहीं होना चाहिए और विज्ञ में थोड़ा अज्ञ बनने की तैयारी चाहिए। कहानी पर बातें वे अवश्य करें जिनका वश बात में है, कहानी में नहीं

को नहीं देखता हूँ; जो वह हुए, उसी को सीधे देख लेना चाहता हूँ। इस तरह गाँधी मेरी अपनी मुक्ति में सहायक ही हो सकते हैं, मुझे बाँध नहीं सकते।

इसी युग के एक अन्य महापुरुष रवीन्द्रनाथ को आप मुक्तात्मा मानते हैं या नहीं? यदि हाँ, तो क्यों और नहीं, तो क्यों नहीं?

—मुक्त को शायद निर्गुण होना चाहिए यानी कोई विशेषण उस पर सही-सही बैठ न सके। गाँधी महात्मा थे और गोडसे के लिए दुष्टात्मा थे। कोई ऐसा शब्द नहीं है कि उसका प्रतिरोधी विशेषण भी उसी तरह गाँधी पर लगाया न जा सके। पर रवि ठाकुर को बड़े निश्चय से हम कवि कह सकते हैं, और शायद 'अकवि' कोई नहीं कह सकता। रवीन्द्र की विभूति सगुण है। गाँधी को उस प्रकार रूप-वर्ण के ऐश्वर्य में से देखना मुश्किल होता है।

जैनेन्द्रजी, आपने कहा कि कहानी के शिल्प में आप विश्वास नहीं करते, फिर भी क्या कहानी शिल्पहीन हो सकती है?

—नहीं हो सकती। पर क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो जिसे मानव-यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है!

कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु शरीर-यन्त्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है? शायद ज्ञान अपनी खातिर सृष्टि-मर्म से संगत ही नहीं है।

तात्पर्य यह कि आप अपने कहानी-शिल्प के विषय में विशेष जानकारी का दावा नहीं करते। यही न? लेकिन आप लोगों की इस धारणा के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ प्रश्नान्त होती हैं? साथ ही, आप हमारी परस्पर की चर्चाओं में कभी-कभी व्यक्त किये गये अपने इस वक्तव्य के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ थियोरम में से निकलती हैं?

—दोनों बातें ठीक हैं। प्रश्नान्त होती हैं मेरी कहानियाँ, क्योंकि प्रश्न मुझमें है और शान्त नहीं है। फिर यह कि कहानी थियोरम में से निकलती है, मानो अपने-आप अनिवार्य हो आता है। मैं श्रद्धा का विश्वासी हूँ लेकिन प्रश्न का अधिवासी हूँ। इसलिए प्रश्न मेरी कहानी में नोचता-काटता-सा नहीं आता, बल्कि समाधान खोजता-पूछता-सा आता होगा। संसार प्रश्न है, ईश्वर समाधान है। लेकिन मेरा

ईश्वर संसार के प्रश्न को बन्द नहीं करता है प्रत्युत् अनन्त काल तक मानो उसे खुला रखने को तैयार है; अर्थात् श्रद्धा में मैं अनन्त प्रश्न का समावेश सम्भव देख सकता और बना सकता हूँ, बल्कि मुझे लगता है कि आस्तिक होकर ही प्रखर नास्तिक हुआ जा सकता है—अन्यथा नास्तिकताा में भी प्रखरता नहीं आएगी, जड़ता बनी रह जाएगी।

प्रश्न के लिए आवश्यक है कि वह जिज्ञासा रहे, आलोचना न बने। यह सम्भव श्रद्धा के योग से ही हो सकता है और मैं आशा करना चाहता हूँ कि मेरी कहानी के गर्भित प्रश्न में अहंवाद का दर्प नहीं रह जाता, अज्ञवाद और जिज्ञासा भले रहती हो।

अच्छा, जैनेन्द्रजी, आजकल कहानी के लिए आवश्यक समझे जानेवाले बोधों—युग-बोध, रस-बोध, भाव-बोध, सूक्ष्म-बोध और दल-बोध तथा अन्य अनेक बोधों को आप कथा की आत्मा अथवा कथा-शिल्प के लिए कहाँ तक संगत और सार्थक मानते हैं?

—मैं भी उन बोध-व्यूहों की चर्चा छपी देखता और कभी पढ़ता भी हूँ। पढ़कर, भई, चौकड़ी भूल जाता हूँ। बड़े लोगों की भीड़ के बीच कोई अनाड़ी पड़ जाए, तो उसका जो हाल हो, वही मेरा होने लगता है। कहानी के मामले में 'बोध'वाला माल मुझे जरूरत से भारी मालूम होता है। शायद वह शब्द कहानी से कहीं ऊपर अधर में विराजा हुआ रहता है; या कहो, वह अचल शब्द है, कहानी के मर्म तक जाने का उपाय उसके पास नहीं है। बोध मानो कुछ स्थित तत्त्व है; कहानी की जान गति है। इसलिए बोध ही है जो कहानी को जड़ और निःस्पन्द बना दे सकता है। हमारे नये बन्धु जितने हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में आ रहे हैं, सब खूब पढ़े-लिखे होते हैं। इसलिए बोध के चक्कर में वे पड़ें तो वे इसके अधिकारी माने जा सकते हैं। मैं अपने अभागे भाग्य का कृतज्ञ हूँ कि उस अधिकार से वंचित हूँ। जीने से इतना घिरा हूँ कि अतिरिक्त जानने से आसानी से किनारे छूटा रह जाता हूँ। ऐसा लगता है कि बेहद अक्षर-पाठी लोगों को कुछ निरक्षर पाठों की आवश्यकता है, नहीं तो उनकी कहानी उनके साथ इतनी विद्वान बन जा सकती है कि सही-सही जी न पाए। कहानी के लिए एक अकेला प्यार काफी है; फिर सारे दूसरे बोध नष्ट भी हो जाएँ तो कोई हानि नहीं। समझ में नहीं आता कि ज्ञान से फूँक-फूँककर ये जवान लोग प्यार को क्यों ठण्डा बनाना जरूरी समझते हैं? ज्ञान से पहले ठण्डा बना लेंगे, फिर शब्दों के जोर से उसे गरमाना चाहेंगे! यह सब चक्कर जरूरी नहीं होना चाहिए और विज्ञ में थोड़ा अज्ञ बनने की तैयारी चाहिए। कहानी पर बातें वे अवश्य करें जिनका वश बात में है, कहानी में नहीं

है। बातों का क्षेत्र ही अलग है। कहानी में जिनकी कामना है, उनको कहानी लिखनी-पढ़नी चाहिए।

भाई यशपाल ने एक जगह ठीक लिखा है कि अपना माल बेचने का सवाल भी आता है और वहाँ दस तरह की बातें बनानी होती हैं। उस हुनरमन्दी का मामला हो तो सचमुच इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर आखिर स्वाद की परख चखने से ही होती है, बात कहने-सुनने से सही परख नहीं होती।

आप कहते हैं कि कहानी के लिए एक अकेला प्यार काफी है। इसकी जरा और व्याख्या कीजिए।

—प्यार में व्यक्ति अनायास निःस्व बनता है, अर्थात् स्वत्व को निछावर कर डालना चाहता है। प्यार के अतिरिक्त जब हम अपने पास कुछ रोक रखते हैं तो असल में उस बहाने अपने स्वत्व को ही अपने पास संचित और सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। इसमें हम समीक्षक और आलोचक बन जाते हैं और शेष सब हमारे निकट हमारी अपेक्षा दोयम बन जाते हैं। हम ज्ञाता, वे ज्ञेय। यह दिमाग की स्वत्ववादी (Appropriative) वृत्ति है और इसमें से न जागतिक सत्य हाथ आ सकता है, न आत्मिक। यह एक प्रकार की स्वरति का ही रूप है। इसी से परम अनुभवियों ने चेतावनी दी है कि विद्या अविद्या भी है, ज्ञान अज्ञान भी है। बोध की दुहाई से इसीलिए मुझे डर लगता है कि उसमें अन्ततः अहं का अर्जन और अर्जन आ जाता है और विसर्जन बचा रहता है।

क्या घृणा भी आपके उक्त प्यार के अन्तर्गत आती है?

—घृणा के अत्यन्ताभाव में से ही प्यार उत्पन्न होता है। घृणा को समझें तो वह मूल में अपने प्रति प्यार का ही उत्कट रूप निकलेगा। स्वरत व्यक्ति चारों ओर घृणा का अधिकार पा जाता है। जब यह घृणा असह्य होती है और अपने प्रति हो चलती है, ठीक उसी क्षण प्यार जग उठता है, प्यार के तत्त्वदर्शन में जाने की बिलकुल जरूरत नहीं है। रोजमर्रा के उथले-से-उथले प्यार में भी आप एक बात पाइएगा। आदमी जिससे प्यार करता है, पहले उसकी निगाह तक से बचना चाहता है यानी अपने सम्बन्ध में एक हीनभाव की अनुभूति से प्यार आरम्भ होता है। उसमें प्रेमी आस और त्रास एक साथ पाता है। यह घृणा अपने से ही जो होने लगती है, अपने निज की रति से उलटे निज से खीज और ऊब हो जाती है, तब मानो पूजा अपने से बाहर की ओर जाती है। इसी को तो प्यार का अनुभव माना जाता है।

इस तरह प्यार में से ही, मैं मानता हूँ, वह सच्ची घृणा की अनिवार्य और अमोघ शक्ति प्राप्त होगी जिससे हमारे परस्पर सम्बन्धों में आयी घृणा अनावश्यक और व्यर्थ हो जाए। तब वह घृणा निर्वैयक्तिक होगी, व्यक्ति के सन्दर्भ से वह मुक्त हो जाएगी। अर्थात्, पाप से ही होगी और पापी के लिए प्रेम को मुक्त करनेवाली होगी।

□

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कहानी : एक विवेचन

आज हमें विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कहानी के बारे में बातचीत करनी है। इस सम्बन्ध में पिछले दिनों आपके वक्तव्यों से लगा है कि इस अवधि में कहानी ने प्रगति नहीं की है। क्या आप सचमुच मानते हैं कि पिछले वर्षों में हिन्दी-कहानी ने प्रगति नहीं की?

—कहानी ने प्रगति की है अथवा नहीं की है, मैं समझता हूँ, यह शब्दावली ही संगत नहीं है। कहानी की प्रगति को कलेक्टिव्ली यानी सामूहिक रूप से आँका जा सकता है, ऐसा मैं नहीं मानता। होता यह है कि कुछ लेखक अच्छा लिखते हैं, कुछ वैसा नहीं लिखते। दोनों तरफ के लेखक हर काल में होते हैं। मैं कहानी का सम्बन्ध समय से नहीं, रचनाकार व्यक्ति से जुड़ा मानता हूँ।

इससे विशेष अन्तर नहीं आता। अब मेरा प्रश्न है—स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकार के पूर्ववर्ती कहानी की अपेक्षा कहानी को आगे बढ़ाया है अथवा नहीं?

—इस अवधि में बोधात्मक ज्ञान को मान मिला है, भावोत्कर्ष को नहीं। विश्लेषण का आग्रह बढ़ा है। आदर्श ओझल हो गया है। यथार्थ की कुरेदबीन करने में प्रयत्न अधिक सीमित हो गया है।

आज के कहानीकार का आग्रह है कि उसने समय और समष्टि के प्रति अपने दायित्व को ज्यादा शिक्षित और ज्यादा जिम्मेदारी के साथ अनुभव किया है। इस बारे में आपका क्या मत है?

—समाज के प्रति सचेत भाव से दायित्व अनुभव करना ही वैसा दायित्व ओढ़ सकता है। नये कथाकार की संवेदना व्यक्तियों के दुःखों के प्रति न होकर, समाज नामक संस्था के प्रति हो तो उसका विशेष अर्थ नहीं बनता है। इससे अहम्मन्यता बढ़ती है। मैं इसीलिए समाजवाद का कायल नहीं हूँ। समाजवादी सहज अहंवादी

हो सकता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों में आंचलिकता भी एक है। क्या आप समझते हैं कि यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हो सकी है?

—आंचलिकता शब्द तो अंचल से बँधा है। लेकिन हाँ, स्थानीयता, जिसे 'लोकल कलर' कहें, उस पर विशेष ध्यान है। परिस्थिति को बारीकी में चित्रित करने का आग्रह बढ़ा है। यही आग्रह आंचलिकता तक भी गया है। प्रवृत्ति गलत तो नहीं थी, पर शायद अति हो गयी। परिस्थिति के बीच मानव-भावना की स्थिति क्षीण बना दी गयी। परिस्थिति अपने-आपमें साहित्यकार के निकट पट ही तो है। उस पर मानव-चित्त की क्या और कितनी गहनता अंकित हुई है, साहित्य की सफलता का मुख्य मान यही है।

आज के लेखक का यह भी आग्रह है कि उसने कथा को अपने पूर्ववर्तियों के रोमेण्टिसिज्म से मुक्ति दिलायी है और उसे यथार्थ की भूमि दी है। आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं?

—बिलकुल सहमत नहीं हूँ। मैं रोमांस के बिना साहित्य की कल्पना ही नहीं कर सकता। आज विश्लेषण इतना बढ़ रहा है कि रोमांस को खाए जा रहा है। बौद्धिकता ने हार्दिकता को ग्रस लिया है।

यह तो रही कथ्य की बात; अब मैं जानना चाहूँगा कि आपकी राय में पिछले वर्षों में शिल्प की दृष्टि से विकास हुआ है अथवा नहीं?

—शिल्प की दृष्टि से अवश्य विकास हुआ लगता है। सूचकता और सांकेतिकता का आग्रह बढ़ा है, लेकिन बाहर की साज-सज्जा क्या कुछ काम देगी, अगर भीतर का स्वास्थ्य क्षीण हो? क्या देखने में यही नहीं आता कि स्वास्थ्य स्वयं सौन्दर्य है? ऊपर की सौन्दर्य-सज्जा स्वास्थ्य के अभाव में भोंडी तक लग सकती है। मुझे कई बार ऐसा लगा कि शिल्प-चातुर्य ने अमुक कहानी को बनाया या सँवारा नहीं, बल्कि दबा दिया है। यदि वस्त्र की बनावट और सजावट व्यक्तित्व को ढँककर ऊपर उभर आती है तो अरुचि ही पैदा करती है।

अभी आपने कहा कि शिल्प की दृष्टि से अवश्य विकास हुआ है। आज के किन कथाकारों की रचनाओं में वह शिल्प-वैशिष्ट्य है, जो आपके इस कथन की आधारभूमि बनता है?

—यानी नाम चाहते हो?

आपको असुविधा हो तो मैं आसानी से प्रश्न वापस लेकर आगे बढ़ सकता हूँ।

—मुझे निर्मल वर्मा में शिल्प की सूक्ष्मता और सांकेतिकता मिली है। साथ ही वह लेखन शिल्प की अधिकता और अतिशयता से बरी है। शिल्प के आधिक्य की दृष्टि से मुझे राजेन्द्र यादव का नाम याद आ जाता है। वहाँ कौशल के नीचे सत्त्व दब-सा जाता है। और भी रचनाओं में अदायगी और तर्ज पर ज्यादा जोर है। एक और भी बात है—लेखक आजकल सभी पढ़े-लिखे होते हैं। एम.ए. से कम शायद कोई ही हो। उन्हें अपनी विज्ञता का पता रहता है। कहानी की कला के लिए मुझे अज्ञता बहुत आवश्यक मालूम होती है, यानी कि लेखक खुद कुछ जानना चाहता हो। लेखक जब हाथ में निर्णय लेकर लिखता है तो अज्ञता बहुत आवश्यक मालूम होती है, यानी कि लेखक खुद कुछ जानना चाहता हो। लेखक जब हाथ में निर्णय लेकर लिखता है तो अज्ञात की उत्सुकता उसके लेखन में नहीं रह पाती। आज की पीढ़ी के लोग अधिकांश बहुत-कुछ जानते हैं। यह तक जानते हैं कि पुरानी पीढ़ी के कुछ नहीं जानते थे।

आप उनके इस कथन से कहाँ तक सहमत हो पाते हैं?

—बात तो सच है। बेशक आज बेटे के मुकाबले बाप बहुत ही कम जानता है। लेकिन यह बहुत और अन्तिम और निर्णीत ज्ञान रखने की क्षमता कहानी-लेखन की क्षमता नहीं बनती। वह विद्रोह आदि के मामले में ज्यादा काम की साबित हो सकती है, जहाँ संघर्ष लेना, जीना और जीतना पड़ता है। कहानी के लिए तो सहानुभूति की अधिक अपेक्षा है। वह अपने को कम मान सकने की तैयारी में से सृष्ट होती है। पर क्या किया जाए, जानकार युवक अपने को अज्ञ कैसे मानें?

आपकी बातों से लगता है कि पुरानी-नयी पीढ़ी में कसाव-तनाव की स्थिति है?

—वह तो है।

तो क्या यह स्थिति साहित्य के लिए श्रेयस्कर भी है?

—श्रेयस्कर न हो, लेकिन फल आने से पहले वृक्ष यदि नहीं झुक पाता, तो दोष उसे कैसे दिया जाए? विद्रोह की अवस्था हर जीवन में आती है। उस अवस्था में व्यक्ति अपने को अपरिपक्व मान ही नहीं सकता। उचित यही है कि उसे अपरिपक्व न कहा जाये। असमान में से विनय या नम्रता को नहीं उपजाया जा सकता। आगे-पीछे तो स्वभाव में वह आर्जव आएगा ही। किन्तु जब 'एडोलोसेंस'

(अल्हड़पन) की यह अवस्था हो तब सामने न पड़ना ही इष्ट है; बल्कि ऐसी अवस्था में कुछ और प्रशंसा देते रहना भी हितकर हो सकता है।

वह किस दृष्टि से?

—दृष्टि यह कि अहं उसमें कहीं दबा हुआ है। वह अपने को आजाद और सर्वसमर्थ समझना चाहता है। यह थोथी तृष्णा है। बढ़ावा देने से वह दमित भाव दूर हो सकता है और अहं अपने प्रकाशन का मार्ग पाकर स्वास्थ्य का लाभ कर सकता है।

आपने नयी पीढ़ी पर अपरिपक्वता का आरोप लगाया है। इसके विपरीत नयी पीढ़ी का आरोप है कि पुरानी पीढ़ी के अधिकांश लोग अति-पक्व यानी ओवर-राइप हो गये हैं। इस सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे?

—आयु के साथ एक समय जरा आती ही है, और फिर मृत्यु आ जाती है। यह क्रम तो स्वत:सिद्ध है। अपनी ओर से किसी को धक्का देकर जरा और मृत्यु में धकेलने की आवश्यकता अनुभव होती है, तो यह कुछ अपनी ही असहिष्णुता के कारण। राज-परम्परा में अकसर देखा गया है कि बेटा बाप के मरने तक ठहरा नहीं है, उससे पहले ही उसने आगे आकर बाप के सिर को काट डाला है। कारण इसमें राजसिंहासन बना करता है। ऐसा कोई सिंहासन साहित्यकार के पास नहीं है। पर हठात् पहले से काम करते आनेवालों के नीचे कोई-न-कोई आसन तो बन ही जाता है। अस्तित्व के युद्ध में वह सब भी क्यों सहा जाए? जीवन-संघर्ष का यह भी एक पहलू है। पर, सच बस इतना ही कि इससे साहित्य अथवा संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि मुझे लगता कि जरा-जीर्णता की ओर बढ़ते जानेवाले व्यक्ति को अतिरिक्त सम्मान देना कुछ कठिन नहीं होना चाहिए। सच पूछिए तो यह आदर-मान ही उसे विश्राम की ओर भेजता है। अपमान तो उलटे जीवनदायी तत्त्व है। तिरस्कार का भाव देंगे तो पुरानी पीढ़ी में जीने और अपनी सत्ता रखने का भाव उपजेगा। नयी पीढ़ी को यह अनुभव नहीं है और इसीलिए पुरानी पीढ़ी को उलटे जमाए और जगाए रखने का काम उससे हो रहा है।

फिर तो मैं समझता हूँ, नयी पीढ़ी की यह अनुभवहीनता और दोनों पीढ़ियों के बीच तनाव की स्थिति उत्पादक ही है?

—संघर्ष और तनाव कायम रखा जाता है तो इसमें आदमी का कितना भी नुकसान होता हो, साहित्य का भला ही होता है।

आदमी का नुकसान भी बहरहाल नुकसान है। और आपके हिसाब से तो अन्तत: व्यक्ति ही महत्त्वपूर्ण है तो क्या इस तनाव की स्थिति का कोई निराकरण नहीं है?

—तनाव की स्थिति का निराकरण चाहा ही क्यों जाता है? उससे कष्ट होता है, उससे गम्भीर प्रेरणा रुकती है, मनो में विकार आता है, वह सब तो है। लेकिन दूसरी ओर उत्साह भी जागता है, कर्म में प्रखरता आती है, जीवन में वेग बढ़ता है।

तनाव में अवश्य ही दो पक्ष होते हैं। क्या यह इष्ट है कि एक पक्ष दूसरे के मुकाबले, झुके या मन्द पड़ जाए? जिसको झुकना (सबमिशन) कहते हैं, उसमें लगता तो है कि तनाव मिट गया, लेकिन उस पद्धति से जीवन में क्षति आती है इसलिए निराकरण का मार्ग झुक जाना नहीं है; बल्कि तनाव स्वयं में हठात् समाधान की ओर बढ़ता है। विकास की इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का मार्क्स ने अच्छा निरूपंण किया है। थीसिस एण्टी-थीसिस को जन्माता और वहाँ से फिर सिंथेसिस घटित होता है। आप घबराएँ नहीं, यह जो बाढ़-तूफान-सा नजर आता है, बहुत सतही है। यह तो बुखार है, जो शरीर के दोषों को जलाने के लिए आया है। यह स्वस्थता के उदय में सहायक होकर चला जाएगा।

मेरे खयाल में व्यक्ति और लेखक की उम्र अलग-अलग होती है। रचनाकार के जीवन में एक समय आता है, जब उसके व्यक्ति के रहते भी रचना-क्षमता चुक जाने के कारण रचनाकार नहीं रहता। ऐसी स्थिति आने पर स्वयं उस रचनाकार के हित में नहीं है कि वह लिखना बन्द कर दे?

—तुम्हारा प्रश्न विकट है। स्त्री पचास वर्ष से पहले अपनी सार्थकता समाप्त कर लेती कही जाती है। पुरुष के बारे में अभी ऐसा नियम शायद कोई पाया नहीं गया। लोगों की पच्चीस से पचास वर्ष की वय के बीच लिखी कृतियाँ सर्वोत्तम मास्टरपीस मानी गयी हैं, लेकिन गेटे का 'फाउस्ट' लगभग उस वय में लिखा गया जिसे जरा-जीर्ण माना जाएगा। इसी से कहा। जाने लगा है, 'वह है कि मरण आने से पहले ही आदमी जीना क्यों न बन्द कर दे,' कि मानसिक आयु काल आदि से भिन्न होती है। मरे-मुरदे मन के आपको नवयुवक तक मिल जाएँगे। उधर 79 की आयु में गाँधी इतने जीवन्त थे कि गोली मारकर ही उन्हें हटाया जा सका। इस बारे में हम आयु और पीढ़ी आदि संज्ञाओं को एकदम ही निकाल दें तो अच्छा है! ये संज्ञाएँ अधिकांशत: स्वरक्षात्मक मनोदशा में काम लायी जाती हैं। अन्यथा अभी देखिए कि अपनी और आपकी वय का उल्लेख हमारे बीच

अब तक अनावश्यक क्यों बना रह गया है!

इधर कुछ नये लेखकों के वक्तव्य आये हैं, जिनसे लगता है कि वे लोग आलोचक से बहुत रुष्ट हैं। पाठक के और अपने बीच किसी तीसरे आदमी को नहीं देखना चाहते। इस बारे में आपकी क्या राय है—आलोचक क्या सचमुच फालतू किस्म का प्राणी है या उसकी कोई सार्थकता है?

—लेखक और पाठक के बीच आलोचक आता है, तो उसे उस सम्बन्ध की सघनता और स्वच्छता बढ़ाने के लिए आना चाहिए। वह अपना अमुक मन्तव्य हाथ में लेकर यदि सम्बन्ध को अनिष्ट दिशा में ले जाता है तो प्रशंसनीय नहीं है। लेखक को जिलाता पाठक ही है। सब शक्ति का स्रोत पाठक है। उसने जिसे मान लिया, आलोचक अन्त में उसे मानने के लिए विवश हो गया। प्रेमचन्द का शुरू में यही हाल हुआ। उनके लिए मंगलाप्रसाद पुरस्कार की बात उठी नहीं, उठ नहीं सकती थी। हिन्दी के बड़े-बड़े सम्मेलन होते, लेकिन प्रेमचन्द को बुलाया तक न जाता। बाद में पाठकों के स्नेह से विवश होकर उन्हें सम्मान मिलना शुरू हुआ तो सम्मान करनेवालों की जैसे होड़ लग गयी।

अन्त में एक प्रश्न और—पिछले दिनों यशपाल ने एक इण्टरव्यू में आपकी कहानी 'बेकार" के बारे में कुछ कहा था...।

—क्या?

आपने 'नयी कहानियाँ' में छपा वह इण्टरव्यू नहीं पढ़ा?

—नहीं, मैं उसे पढ़ नहीं पाया।

खैर, वह था बहुत मजेदार। यशपाल ने कहा कि अगर मैं जैनेन्द्र होता तो 'ज्ञानोदय'-सम्पादक पर अपनी इतनी रद्दी कहानी छापने के आरोप में मुकदमा दायर कर देता। आप इस विषय में यशपाल से कहाँ तक सहमत हैं?

—कतई नहीं। प्रकाशन के लिए तो वह कहानी यहाँ से भेजी ही गयी थी!

कई बार ऐसा होता है कि सम्पादकीय आग्रह अथवा अन्य किसी कारण से कोई रचना जल्दी में लिखी जाती है और वह स्वयं लेखक के अपने ही स्तर को नहीं पहुँच पाती। कारण कुछ भी हो, क्या आप उस कहानी के स्तर से असन्तुष्ट हैं।

—अवसर ही नहीं है। मेरी अधिकांश रचनाएँ ऐसे ही आग्रह और जल्दी में लिखी गयी हैं। असल में सन्तुष्ट तो मैं अपने से या अपनी किसी भी चीज से नहीं हूँ।

हिन्दी की नयी कहानी का जो स्वरूप उभरकर सामने आ रहा है, उससे आपका मन उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त होता है या नहीं?

—नयी कहानी वही न, जो पत्र-पत्रिकाओं के नये अंकों में छपी देखी जाती है तो क्या यह कहानी एक ढंग की है? अखबार बहुत-से हैं और रोज-रोज सबके नये अंक आ रहे हैं। बहुतायत और बहाव में ठीक कौन नमूना नयी कहानी का है, यह मैं जानता नहीं हूँ। लिखनेवाले के साथ कहानी का रूप जुड़ा है और सभी तरह के लिखनेवाले हैं। हलके हैं, भारी हैं, धोतीवाले हैं, टाईवाले हैं। एक साँचे में देखना मुझसे हो नहीं पाता है।

'नया' शब्द सदा फैशन का है। फैशन का भविष्य नहीं होता, केवल वर्तमान होता है।

आपने हिन्दी कथा-साहित्य में वर्षों का प्रवाह देखा है। क्या वर्तमान की कहानियाँ, विगत की तुलना में आपको अधिक सामर्थ्यवाली लगती हैं?

—नहीं। न कम, न अधिक। सामर्थ्य समय में से नहीं, व्यक्तित्व में से आता है। नया 1961 का साल गत वर्षों से समर्थ हो, तो असमर्थों के लिए बने हुए योजनालय, भोजनालय और औषधालय सब खत्म हो जाएँ और लोग कुछ न करें, सिर्फ समय का आसरा देखा करें!

सामर्थ्य श्रद्धा में से आता है। श्रद्धा का जमाना यह नहीं समझा जाता, इसलिए सामर्थ्य का भी जमाना शायद यह नहीं है। कुछ बिखरा-बिखरा है। मानस का गठाव और जुटाव उतना उपयोगी नहीं समझा जाता, जितना बिखराव; सामर्थ्य से उलटी चीज है, प्रिज्म में से बिखरा दी गयी यह रंगीनी और नुक्ताचीनी। कहानियों में ऐसा मसाला मैं आज ज्यादा देखता हूँ।

हिन्दी की नयी कहानी में प्रयोगों का जो एक क्रम या नये ढंग से बात कहने का जो प्रयत्न दृष्टिगत है, वह आपको नयी पौध के फलने-फूलने का सन्तोष दे पाता है?

—प्रयोग या प्रयत्न मेरी समझ में नहीं आता। हर सृष्टि प्रयोग है। हर नयी कहानी प्रयोग में से आती है। क्या पहले, क्या अब! यह प्रयोगशीलता गर्भित है जीवन में और पुरुषार्थ का नाम है। लेकिन प्रयत्नपूर्वक होनेवाला प्रयोग जीवनमय नहीं होता है। इसलिए रूप-शिल्प के साथ ही अधिकांश हुआ करता है जो व्यर्थता है।

कहानी के बारे में आपका निजी मत क्या है? आप कौन-सी दिशा को नये लेखकों

के लिए श्रेयस्कर मानेंगे?

—निजी मत कुछ नहीं है। कारण, मैं कहानी-लेखक रहा हूँ, अब भी हो सकता हूँ। मत अ-लेखक के लिए जरूरी होता है।

दिशा मुझे वह चाहिए जो किसी भी दूसरी दिशा से अलग या उलटी होने की मजबूरी से बची रहे। दिशाएँ सब स्पेस में चलती हैं। मैं टाइम की दिशा पसन्द करूँगा, जो स्पेस की किसी दिशा को नहीं काटती और सबको भरपूर बनाती है। टाइम की दिशा को आत्मिक कहना चाहिए। ऑब्जेक्टिव से स्वतन्त्र सब्जेक्टिव।

अपने को आज का कहानीकार मानने के नाते, वर्तमान यन्त्रणामय परिस्थितियों—खासतौर से राजनीतिक और आर्थिक शोषण की यन्त्रणामय परिस्थितियों के प्रति कहानी-लेखन के स्तर पर सक्रिय पाते हैं या इन स्थितियों के साथ अपने को सिर्फ संलग्न ही पाते हैं और कहानी-लेखन के समय इन्हें ग्रहण कर सकने अथवा ग्रहण करने के बावजूद 'व्यक्त' कर सकने में असमर्थता महसूस करते हैं?

—परिस्थिति की क्या अलग सत्ता है? मनःस्थिति के साथ उसकी सम्बद्धता के स्वरूप पर मैं सब निर्भर मानता हूँ। लेखक परिस्थिति व्यक्त नहीं करता; उनकी अपेक्षा में अपने को व्यक्त करता है। वह अपनी ओर से निदान खोजता और सुझाता है। अपने बारे में मैं अनजान हूँ।

आप मानते हैं कि परिस्थिति और मनःस्थिति परस्पर सम्बद्ध होती हैं। इसे हम भी मानते हैं; किन्तु आपने यह स्पष्ट नहीं किया कि परिस्थिति का अपनी ओर से निदान आपकी रचनाओं में कहाँ पर या कहाँ तक खोजा या सुझाया गया है?

—हाँ, यह स्पष्ट नहीं है। शायद मुझसे अधिक स्पष्ट हो भी नहीं सकता। मनःस्थिति के मैं साथ हूँ। तद्‌गत हूँ, इससे उसका तटस्थ ज्ञाता होने का मेरा वश नहीं है।

परिस्थिति का ज्यों-का-त्यों स्वीकरण या समर्थन लेखक में नहीं हो सकता। परिस्थिति उसकी मनःस्थिति पर आकर टकराती है, या कहो कि मन परिस्थिति की मर्यादाओं पर टकराता है। यहाँ जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, लेखन में उसी का निदर्शन मिला करता है। अब क्योंकि मन के भाव और संस्कार सबके थोड़े-बहुत भिन्न हैं, इसलिए लगभग एक समान परिस्थिति में होकर भी उनके लेखन में भिन्नता आ जाती है।

अपने लिखने को मैं याद करूँ तो शुरू के उपन्यासों में एक बात उभरकर

स्वयं मेरे सामने आ जाती है, उनमें बौद्धिक आदर्शवाद का प्रतिवाद है। पहली ही रचना 'परख' में वह आग्रह झलकता दीख सकता है। क्रान्तिवाद को भी मैंने एक बौद्धिक आदर्शवाद के रूप में देखा, इसलिए माने गये या दीखनेवाले क्रान्तिकारी का चित्र मेरी कलम से केवल मनोज्ञ और महान होकर नहीं उतर सका। इसमें परिस्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है, लेकिन मन:स्थिति के योग से प्रभाव वह अनुमोदन का नहीं, प्रतिवाद का हो गया है। उस समय की अन्य रचनाएँ हैं और हो सकती हैं, जिसमें क्रान्तिवादिता को अत्यन्त रमणीय वर्णों में प्रस्तुत किया गया है; अर्थात् परिस्थितियाँ सीधे होकर अगर रचना में आती भी हैं तो कथा-पट के रूप में आती हैं, कथ्य-तत्व के रूप में नहीं।

क्या आजादी के बाद के परिवर्तनों और पिछले दो सीमा-युद्धों ने आपके कहानी-लेखन पर कोई सीधा प्रभाव डाला है? डाला है तो कहाँ, किस रूप में? यदि नहीं डाला है तो क्या आप लेखक के 'सामाजिक यथार्थ' से जुड़े होने की बात से सहमत नहीं हैं?

—नहीं।

आपका उत्तर केवल नहीं है और इससे बात स्पष्ट होती नहीं।

—नहीं का आशय प्रभाव से इनकार नहीं, उस प्रभाव के सीधे होने से इनकार है। सीधे प्रभाव में सरकारी रचनाएँ बनी हैं और शायद वे साहित्य नहीं कही जा सकतीं। साहित्य होगा तो तभी जब प्रभाव सीधा नहीं होगा। प्राण-रक्त में रम चुकने के बाद परिस्थिति की ओर से प्रकट होता हुआ नहीं दीखेगा, बल्कि मर्माभिव्यक्ति के रूप में अन्तर्मन से प्रकट होगा। इस प्रक्रिया में बाहरी इतना आन्तरिक हो जाता है कि उसको प्रभाव शब्द तक से अभिहित करना कुछ कृत्रिम और स्थूल मालूम होने लगता है।

आपके उत्तर में प्रश्न का दूसरा हिस्सा, यानी 'सामाजिक यथार्थ' छूटता नजर आता है।

—यथार्थ जो सामाजिक ही है, साथ ही आत्मिक भी नहीं है, उस यथार्थ को मैं जानता नहीं। मेरी समझ से वैसा कुछ 'एनुअल रिपोर्टों' से बाहर हो तक नहीं सकता।

यदि हम एक-दो अपवादों को छोड़ दें तो क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि आजादी के बाद उपन्यास-विधा ने आत्महत्या कर ली है और फिलहाल इस विधा में

महान रचनाओं की सम्भावना दूर-दूर तक नजर नहीं आती, जबकि इससे ठीक विपरीत देश की वर्तमान घोर अराजकतामय स्थिति, इस विधा में किसी-किसी महान रचना के लिखे जाने के एकदम उपयुक्त है?

—महान कृति (उपन्यास) होने या न होने देने का निर्णय शायद समय के पास नहीं है। (एक विचित्र उत्तर था)।

बात को कुछ खोलकर कहिए।

—महान कृति बनने या न बनने देने में समय और स्थिति का निर्णायक स्थान नहीं हो सकता।

कुण्ठा, अनास्था, त्रास, अकेलेपन आदि की बात जिन कहानियों की वकालत करते समय कही जाती है, क्या उन्हें आधुनिक कहानियाँ और उनके लेखकों को आधुनिक कहानीकार माना जा सकता है?

—हाँ।

कृपया विस्तार से कहें।

—'आधुनिक' विशेषण किन कहानियों अथवा व्यक्तियों को पहचाना जाए, इसके बारे में, मैं कोई निर्णय अपने पास लेना या अपने पास से देना नहीं चाहता। उस विशेषण का जो भी आम चलन है, उसको स्वीकार करके चलना ही सुविधाजनक होता है। क्या आपने ही जो नाम अपनाया है, उसे मैं इस समय बिना प्रश्न के स्वीकार नहीं कर ले रहा हूँ? आपके नाम की परिभाषा में जाने की आवश्यकता किसी को नहीं होती, न होनी चाहिए। इसी से, जो आधुनिक कहे जाते हैं, या कहे जाना चाहते हैं, मुझे उन्हें आधुनिक मान लेने में क्यों कोई कठिनाई होनी चाहिए? मेरे पहले 'हाँ' का यही मतलब है; अर्थात् मैं बेझिझक और बेशर्त उनको आधुनिक मान लेता हूँ, जो आधुनिक माने जाना चाहते हैं।

यों आधुनिक की आपकी परिभाषा क्या है?

—उस शब्द की ध्वनि में ही गर्भित है कि वह पुरातन या सनातन नहीं हो सकता है, सिर्फ अधुनातन ही हो सकता है। इसीलिए मैं कभी-कभी आधुनिक नहीं होना चाहता, क्योंकि काल से तत्सम होना चाहता हूँ। काल के खण्ड को लेकर तुष्ट और मग्न नहीं हो जाना चाहता।

क्या आप यह भी मानते हैं कि 'आधुनिक लेखन' और 'अच्छा लेखन' दो अलग-

अलग बातें हैं?

—हर वास्तविक और मार्मिक लेखन में आधुनिक अथवा उस तरह की दूसरी अतिरिक्त चेतना के लिए अवकाश नहीं रह सकता। —जैनेन्द्र ने मानो प्रश्न को अपने अनुकूल पाकर तुरन्त कहा और आगे जोड़ा—समय के प्रति जो सच्चे अर्थों में सच्चा रहना चाहते हैं, वे अपने प्रति ही सच्चे रहकर यह साधना सिद्ध कर सकते हैं। समय के फैशन पर जो बहता-लहराता है, वही है जो समय के साथ न्याय नहीं करता, क्योंकि समय सदा चुनौती के रूप में चेतना के समक्ष आता है। उस चुनौती का उत्तर बनना समय के साथ न्याय करना है, न कि समय के आगे पराभूत हो रहना।

आपके अनुसार इधर जो लोग लिख रहे हैं, वे समय के आगे पराभूत हैं या समय के साथ न्याय कर रहे हैं?

—लोग कभी नहीं लिखते, सदा व्यक्ति लिखता है; अर्थात्, इन मामलों में समूहवाचक संज्ञा को सदा बचाना चाहिए।

प्रश्न का आशय समूहवाचक संज्ञा को लाना नहीं था, अतः आप चाहें तो 'लोग' के स्थान पर 'व्यक्ति' का प्रयोग करके ही उत्तर दें।

—अनेक लिख रहे हैं और सब अलग-अलग लिख रहे हैं। सबको गड्डमड्ड एक करके उन पर फतवा देने से बचना चाहिए।

ठीक है, तो इस सन्दर्भ में आप एकाध उदाहरण देकर ही बात स्पष्ट कर दें।

—मैं काल की छलनी के निर्णय को अपनी मुट्ठी में नहीं लेना चाहता। अपनी रुचि से मैं आबद्ध हूँ और विवश हूँ। क्या पता कि यह इतिहास की प्रतिनिधि रुचि हो ही नहीं। अधिक से अधिक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे अमुक कहानी या पुस्तक अच्छी लगी, लेकिन उस निर्णय को कालक्रम पर थोप तो मैं नहीं सकता।

फिर भी!

—जैसे अभी निर्मल वर्मा की एक कहानी पढ़ी थी और उसका असर गहरा हुआ।

'सारिका' में प्रकाशित कहानी से आशय है?

—हाँ, पर काल देवता का निर्णय उसके पक्ष में होगा कि नहीं, कौन जाने! इसीलिए

अब तक कभी मैंने निर्णय का काम अपने तक नहीं आने दिया है। विद्वान, पण्डित यह काम करते आये हैं और अपने व्यवसाय को वे ही अधिक अच्छी तरह जान सकते हैं।

क्षमा करें, कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रश्नों के सही उत्तरों से आप 'इस्केप' करना चाहते हैं?

—इस्केप करने से मुझे भय हो, ऐसी बात नहीं।

परिवर्तन की दृष्टि से पूछा, 'सन् साठ के पहले की और सन् साठ के बाद की कहानी में क्या आपको कोई विशेष अन्तर नजर आता है?'

—बौद्धिक मात्रा निरन्तर बढ़ रही दीखती है। व्यक्ति में स्वरक्षात्मकता के भाव गहरे होते जाने का यह प्रमाण है; अर्थात् सभ्यता की रुग्णता का प्रमाण!

नामवर सिंह के इस कथन के बारे में आपका क्या विचार है कि हिन्दी-कहानी में 1959-60 के आस-पास कहानीकारों की जो नयी पीढ़ी उभरकर सामने आयी है, वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत' से जोड़ना पसन्द करती है। राकेश, यादव, कमलेश्वर द्वारा विज्ञापित नयी कहानी के विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है कि इन्होंने 'कहानी' मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी में 'अ-कहानी' की आवाज उठा दी।

—बहुत कुछ से सहमत हूँ; पर सही जवाब उसी पीढ़ी से लेना चाहिए।

सही जवाब तो वस्तुतः आपसे मिलना चाहिए, जो कि पहले की पीढ़ी के हैं, और केवल हैं ही नहीं, बल्कि उस पीढ़ी के प्रतिनिधियों यानी विशिष्ट व्यक्तियों में से भी हैं।

—मेरी कठिनाई—भई, यह है कि व्यक्तित्व को मैं पीढ़ी में देख ही नहीं पाता, केवल व्यक्ति मैं देख सकता हूँ। इसलिए कहना पड़ता है कि पीढ़ी के बारे में सही जानकारी अगर चाहिए तो उस पीढ़ी से ही लेनी चाहिए। मुझे डर अवश्य है कि आप पीढ़ी से लेने चलेंगे तो जवाब इतने विविध हो जाएँगे कि कौन-सा उनमें पीढ़ी का है, यही तय करना मुश्किल होगा। इसलिए मेरी सलाह तो आपको भी यह है कि पीढ़ी के चक्कर से बचिए और व्यक्तियों की रचनाओं को व्यक्तिशः लीजिए।

अभी आपने 'जानकारी' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु यदि मूल प्रश्न को देखें

तो उसमें आपसे 'जानकारी' नहीं, 'विचार' माँगे गये थे।

—विचार पहले ही इस बात पर अटकता है कि पीढ़ी का कोई वस्तुगत अस्तित्व भी है? असल में वह संज्ञा धारणात्मक है। धारणा के बाहर वस्तुत्व के अर्थ में उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए उसके बारे में विचार बनाने भी लगूँ तो किस आधार पर? संक्षेप में पीढ़ी के बारे में मेरे पास कोई आशय-विचार नहीं। बहुत सुनता हूँ (साहित्य नहीं, चरित्र के क्षेत्र में) कि पीढ़ी बिगड़ रही है। मुझे वैसा कुछ भी नहीं दीखता और ऐसे कथन उन लोगों के मुँह में ही शोभा या सार्थकता पा सकते हैं, जो समझना नहीं, सिर्फ बताते रहना चाहते हैं। विचार का सम्बन्ध समझने से अधिक है, बतलाने से कम और इसलिए देखता हूँ कि समझने की चेष्टा में पीढ़ी जैसे समुदाय-वाचक शब्द अपनी इयत्ता की रेखाएँ खो बैठते हैं और अवास्तव हो जाते हैं। विचार को उन पर रखने की फिर आवश्यकता शेष नहीं रहती।

क्या इस्केप-सम्बन्धी अपने प्रश्न को अन्त में ला सकता हूँ?

—आप स्वतन्त्र हैं, पर 'इस्केप' से मुझे भय हो, ऐसी बात नहीं। मरखना बिजार सींग बढ़ाए सामने आ जाये तो क्या आप समझते हैं, मैं बचने और भागने में देर लगाऊँगा? जी नहीं, इतना नासमझ मैं नहीं हूँ। इसलिए पलायन की आवश्यकता को मैं मान लेता हूँ।

'नयी कहानियाँ' आन्दोलन को आप किस सन्दर्भ में लेते हैं?

—मुझे उसमें साहित्यिक सन्दर्भ तो मिल नहीं पाता; अर्थात् उस स्तर पर मुझे उस आन्दोलन को फालतू मानना होता है। सन्दर्भ कुछ यदि मिल पाता है तो आदिम प्रेरणाओं में। उनको जीवनपरक या एक्जिस्टेंशल प्रेरणाएँ कहिए। वे प्रेरणाएँ जीवन का कम आवश्यक भाग नहीं हैं। लेकिन उनसे विग्रह फलित होता है और वह अपनी बातचीत के क्षेत्र से बाहर की बात होनी चाहिए।

नये परिवर्तन तो उस साहित्य में निरन्तर आते ही रहते हैं, फिर उन्हें स्वीकार करने में झिझक क्या है?

—परिवर्तनों को अस्वीकार करने की भूल कौन करेगा? पर, पानी वह नहीं है, क्षण-क्षण बदल रहा है, तो क्या गंगा भी मिट रही है? साहित्य को रूपाकार में ही बँधा देखेंगे तो उसकी अमरता नष्ट हो जाएगी।

व्यक्ति पल-पल बदलता है, जो अभी था, अभी नहीं है। कला में भी परिवर्तन

अवश्यम्भावी है। उसी तरह यदि साहित्य की विधा भी बदले तो इसमें अस्वीकार क्यों? प्रेमचन्द खत्रीजी की तिलिस्मी कहानियों से उभरकर एक नये यथार्थवादी धरातल पर आये, वैसे ही उससे अगले परिवर्तन जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि द्वारा हुए। उसी तरह अब जो नये परिवर्तन होंगे, जो अवश्यम्भावी हैं, उनको अस्वीकार करना क्या यथार्थ को अस्वीकार करना नहीं है?

जैनेन्द्र को मैं जानता हूँ। उसने कोई परिवर्तन नहीं किया। उसने बस वह कहानी लिखी जो लिख सकता था यानी अपनी कहानी लिखी। परिवर्तन करने के लिए नहीं, अपने को साधने के लिए। गृहस्थी की कहानियाँ प्रेमचन्द के बाद आगे भी लिखी गयीं और लिखी जाएँगी। वे पढ़ी भी जाएँगी। कहानी लिखनेवाले के साथ है, समय के साथ उतनी नहीं है। समय से लगी भाषा हो सकती है, शैली हो सकती है, या इस तरह की और ऊपरी बातें हो सकती है। उनको लेकर आन्दोलन और विज्ञापन होते रहे हैं, खड़े भी किये जा सकते हैं। पर साहित्य की आत्मा से उनका कोई वास्ता नहीं होता। परिवर्तन खूब हों, फैशन चाहे पल-पल बदलें, तो कुछ भी बुरी बात नहीं है। पर जिसके लिए वे वस्त्र होते हैं, न वह मनुष्य का शरीर ऐसे जल्दी बदलता है, न स्वभाव; फिर आत्मा की बात तो कहिए क्या!

ऐसे न भी बदले, लेकिन यह तो मानना ही होगा कि वह सब परिवर्तनशील है। जहाँ तक प्रश्न है विज्ञापन का, या विज्ञापन की मनोवृत्ति का, वह बुरा कहा जा सकता है, लेकिन केवल उसी वृत्ति के लिए सम्पूर्ण साहित्यिक धारा-परिवर्तन को नकारा जाए, और उन्हीं पुरानी लकीरों पर चला जाए, तो क्या वह विकास है? आपने अभी कहा, जो साहित्य कहानी लिखनेवाले के साथ है, समय के साथ नहीं है; क्या समय, लिखनेवाला, कहानी—ये सब रिलेटेड नहीं हैं? एक थोड़ी-सी कमजोरी के लिए, सम्पूर्ण अस्तित्व को अस्वीकार करना प्रगतिशीलता नहीं मानी जा सकती।

—नये-पुराने शब्दों को बीच में डालकर मानो काल के सातत्य को हम झेलना और सहना नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सनातन और सत्य से अपने को वंचित करना किसी के हित में नहीं हो सकता। पुराने के विरोध में किसी नये को खड़ा करके देखने की पद्धति सदा आत्मसमर्थनात्मक होती है और हीन भाव में से आती है।

लिखनेवाला मर जाता है, उसका लिखा फिर भी जिन्दा रहता है तो क्यों? अपरिवर्तनीय का श्वास रहा, उतना ही चिरन्तन अमर बनकर यहाँ शेष रह गया, परिवर्तनीय तो उसके कलेवर के साथ मर-खप गया। सचमुच क्या आप उस

कलेवर को पकड़कर ही साहित्य के मूल्यों की पहचान करना चाहते हैं?

साहित्य के मूल्यों की परख यथार्थ से होती है। यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि नया साहित्य सनातन और सत्य से वंचित है? जितनी गहराई और निकटता से जीवन एवं जगत की समस्याओं को देखने का प्रयत्न अब किया जा रहा है, उतना शायद पहले कभी भी हिन्दी-साहित्य में नहीं किया गया। नये-पुराने के भेद को बेधते रहेंगे, लेकिन साहित्य आगे नहीं बढ़ता और सब कुछ यह प्रचारात्मक ही है, यह कैसे हो सकता है?

—यथार्थ क्या है, मैं अब तक जान नहीं पाया।

प्रयत्न सच्चा होगा, वहाँ दावा नहीं होगा। दावा है, इसी से संशय होना चाहिए कि क्या प्रयत्न भी है? और क्या वह सच्चा है?

—नये-पुराने के भेद पड़ेंगे, डाले जाएँगे; उठेंगे, उठाए जाएँगे। पर जो उसमें रमेगा और भूलेगा, वह खोएगा ही, पाएगा कुछ नहीं।

आज मेरी उम्र अट्ठावन है, कभी अट्ठाईस भी रही होगी। आलोचकों की और आपकी बात मानूँ तो शायद मुझमें कुछ वैसा प्रयत्न रहा हो; पर उस जमाने में भी, किसी नयेपन के दावे की बात मुझे सूझी तक हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। क्या बिना हो-हल्ले के निर्माण हो नहीं सकता?

शोरगुल की प्रवृत्ति स्वस्थ न हो, लेकिन इससे वास्तविकता में क्या अन्तर पड़ता है? गंगा बहती है और प्रतिपल बहती रहती है, यदि हम उसे न देखें या न स्वीकारें और या उससे तटस्थ बने रहें, तो वस्तुत: कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। शोरगुल की प्रवृत्ति शायद समय की देन हो, क्योंकि यह हिन्दी तक ही सीमित न रहकर विश्व के सभी साहित्य में विद्यमान हैं। अल्बेयर कामू, सार्त्र, हैमिंग्वे, विलयम फॉकनर यदि मूर्ख ही होते तो विश्व के साहित्यकारों की श्रेणी में नहीं पहुँचते और दुनिया की सब भाषाओं में उनका रूपान्तर नहीं होता और करोड़ों पाठक उन्हें नहीं पढ़ते।

—मुझे नहीं मालूम कि आपके गिनाए नाम के लोगों ने दूसरों को कितना जीर्ण और मूर्ख बताने की कोशिश की थी। यदि वे मान्य हुए और रहेंगे तो निश्चय ही इस कारण कि उन्होंने अपने प्रति ईमानदारी अवश्य अपनायी होगी, लेकिन पूर्वजों के प्रति उद्दण्डता नहीं।

अन्तर जो उस तरह बातों से पड़ता है, वह यह है कि समझा जाने लगता है कि बाप बेटे की, प्रौढ़ किशोर की, उन्नति नहीं चाहता है। याद कीजिए कि

माता-पिता किस कृतार्थ-भाव से पुत्र को प्राप्त करते और उसका पोषण करते हैं! लेकिन राजनीति में अधीरता की परम्परा रही है कि युवराज राजा को खतम करके पहले गद्दी छीन लेना चाहता है। गद्दी के कारण बात समझ में आती है और आज के कानून ने सचमुच साहित्य को सम्पत्ति बना दिया है। इसलिए उस क्षेत्र में भी इस तरह की बदा-बदी आये तो कोई विस्मय की बात नहीं है। लेकिन साहित्य-चिन्तना उस अनिवार्यता से डिगे तो सचमुच शोचनीय बात होगी।

नयी कहानी के नाम पर हिन्दी में जितना कुछ लिखा जा रहा है, क्या आपको सब वैसा ही भावशून्य और उथला नजर आता है? और उसमें कहीं भी सार और टिकाऊपन नहीं नजर आता?

—हाँ, नयी कहानी के सम्बन्ध में और उस पर जो लिखा जा रहा है, अधिकांश तो मुझे अर्थहीन और अनभीष्ट प्रतीत हुआ है। कहानियाँ सचमुच ऐसी अनेक सामने आयी हैं। जिन्हें पढ़कर चित्त को आनन्द प्राप्त हुआ है। नयेपन के शोर में अक्सर देखता हूँ कि अच्छा अनपूछा रह जाता है और बनावटी उभार में ले आया जाता है। इस चर्चा में सबसे बड़ी हानि यह हो रही है कि लेखन हार रहा है, गुटबन्दी जीत रही है।

लेकिन लोग तो यह दावा भरते हैं कि उन्होंने सचमुच साहित्य की नौका दलदल से निकालकर पार लगा दी है। यदि ऐसा न होता तो वे कैसे इतना बिकते, छपते और थोड़े ही समय में इतना यश अर्जित कर लेते?

—दावा वे भरते हैं, क्योंकि उनमें इसकी स्पर्धा है, इतना गुमान है। इस क्षमता के लिए उनके प्रति सराहना का भाव हो सकता है। आखिर इतनी हिम्मत हर किसी में कहाँ हो पाती है? और हाथों-हाथ इसका इनाम भी मिलता है कि नाम की चर्चा होती है, और किताबों की बिक्री होती है। लेकिन इस सबके बावजूद उनके प्रति सबसे बढ़कर मुझमें सहानुभूति का उदय होता है। क्योंकि यह निश्चित है कि अहंकार अथवा आग्रह में से नहीं, बल्कि उसके अर्पण में से श्रेष्ठता की सृष्टि होगी। बाजार के ऊँच-नीच पर ज्यादे न जाइए; काल निरवधि है और धरती भी विपुला है, हम-आपसे सीमित नहीं है। और वहाँ अहम् नहीं टिकेगा, प्रेम ही टिक पाएगा।

□

हिन्दी-कहानी : शील-निरूपण

अभी 'धर्मयुग' में आपका जो लेख आया है, उसमें कुछ इस प्रकार की ध्वनि निकलती है, जैसे आपका लेखन विशेषत: उपन्यास और कहानी की विधा को अपनाना कुछ अपने-आप हुआ है। लेकिन, मैं समझता हूँ कि उपन्यास और कहानी को अपनी विधा के रूप में अपनाने के पीछे कोई वैचारिक पृष्ठभूमि जरूर रही होगी। यूँ उपन्यास और कहानी विशेष रूप में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की विधाएँ हैं। अपने बारे में फैसला करते वक्त क्या पश्चिम की किसी खास विचारधारा के लेखक या किसी खास पीढ़ी के लेखक आपके सामने थे?

—मैं निर्णय में से तो लेखक बना नहीं। यह घटनात्मक तथ्य है। मैं अपने सम्बन्ध में इतनी स्वस्थ अवस्था में ही न था। ऐसी हीनभावना में दबा था कि निर्णय वहाँ से नहीं बन सकता था। कहानी और उपन्यास-लेखक बनने का निर्णय तो और भी वश का न था। मैं समझता हूँ कि हर आदमी के साथ...

क्षमा करेंगे, मेरे प्रश्न का सम्बन्ध बनने से नहीं, करने से हैं इसलिए मैंने किसी-न-किसी स्तर पर निर्णय की बात कही थी।

—मैं जो कहने जा रहा था, आपका प्रश्न उससे सम्बद्ध दीखेगा। हर आदमी दो चीजों के बीच से चलता है, और वे दोनों सामान्यतया मेल नहीं खातीं। एक तो, जो सपना-सा लगता है, जिसके प्रति आकांक्षा होती हैं। दूसरे वह, जो अपने साथ यथार्थ और वास्तव होता है। इन दोनों के बीच काफी फासला है और प्रत्येक व्यक्ति चुनौती अनुभव करता है कि कैसे इन दोनों फासलों के बीच में रिक्तता न रहे, बल्कि एक सम्बद्धता हो, तो इस प्रयत्न में, मैं मानता हूँ कि कहानी-उपन्यास आदि की सृष्टि सहज और अनिवार्य हो आएगी। पश्चिमी साहित्य पढ़ता मैं जरूर रहा हूँ, लेकिन किसी लेखक या अमुक रचना के कारण मैं कहानी पर आया, ऐसा मुझे याद नहीं आता। शुरू में जो कहानियाँ लिखी गयीं, वे मेरे उस समय

के जीवन से जुड़ी-सी देखी जा सकती हैं। उनकी प्रेरणा अमुक लेखक या अमुक रचना में से नहीं आयी होगी, क्योंकि वह बिलकुल जुड़ी हुई थी, मेरे तात्कालिक जीवन से। निमित्त कुछ बन गया हो, वह बात जुदा है।

जहाँ तक आपके कहानीकार के आपकी निजी जिन्दगी से जुड़े होने की बात है, वे आकांक्षाएँ और यथार्थ कौन-से थे, जिन्हें जोड़ने की चुनौती आपके सामने आयी?

—मेरे साथ घटना ही हुई कि मुझे नौकरी मिली। यह दूसरी बात है कि मिलते ही वह नौकरी खतम भी हो गयी, तो मेरे मन में उथल-पुथल हुई। मैंने उसी आप-बीती पर कुछ लिखा और वहीं दे दिया। फिर दूसरी रचना की बात। आश्वासन मिला था कि वह छपेगी। पाँच महीनों तक नहीं छपी, तो मैं दफ्तर पहुँचा। मालिक ने कहा कि वह अभी डाक से वापस आयी है, सम्पादक बाहर गये थे, उन्होंने ठीक करके भेजी है। देखी तो वह बहुत 'शुद्ध' हो गयी थी। इतनी शुद्ध कि वह मेरी रचना ही नहीं रही। अब वह रचना मैं कैसे छपने दूँ? क्योंकि उसका सब इतना दुरुस्त था कि मैं तो वैसा न था। कहने लगे कि नहीं, रचना हमारी हो गयी है, अगर आप ले जाएँ, तो इस शर्त पर कि कल तीसरे पहर तक एवज की दूसरी कहानी दे जाएँगे। खैर, मैं वादा कर आया। मैं जहाँ रहता था, वहाँ सामने उजाड़, ऊबड़-खाबड़ जगह पड़ी थी, वहीं खटोला डाल मैं सोया करता था। कल कहानी देने की फिक्र और मैं ऊपर तारे देख रहा था। लगा कि एक-एक तारा बहुत बड़ा है और बहुत दूर; और मैं कुछ नहीं हूँ और मैं तारा नहीं हो सकता। इसी लड़ी में एक सूत्र मन से आकर टकराया कि यदि मैं अपनी चाह को तारे में बिठा दूँ, तो कुछ हाथ नहीं आएगा; अर्थात् आग्रही आदर्शवाद वृथा है। महत्त्वाकांक्षा से अगर चलें और बाहर में कहीं एक आदर्श को प्रतिष्ठित कर लें, तो अन्त व्यर्थता में होगा, पूर्णता हाथ नहीं लग सकती। बस, ऐसा एक सूत्र-सा था उस समय मन में, घटनात्मक कुछ नहीं था। इस सूत्र को मूर्त करने के लिए अनायास दो चरित्र अवतार पा उठे। बस, उन दो प्रतीक-पात्रों की बन-अनबन से 'स्पर्द्धा' कहानी बनती चली गयी; तो अधिकांश रचनाएँ अमूर्त्त सिद्धान्त को अपने निकट मूर्त्त करने की प्रेरणा से बनी हैं। मेरी अधिकांश रचनाएँ, सोचता हूँ कि साठ प्रतिशत, ऐसी ही होंगी।

तो क्या मोटे तौर पर आप इस विचारधारा से सहमत हैं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य किसी सिद्धान्त का निरूपण करना होता है?

—नहीं, मैं सोचता हूँ कि निरूपण करने के मानी होंगे कि सिद्धान्त प्राप्त है और आपमें बन्द है। लेकिन हाँ, सिद्धान्त यदि आपकी अभीप्सा और खोज का विषय

हो, तो आप उसको प्रयोग और परख में ला सकते हैं, अपने निकट मूर्त करने के लिए। अपने तईं उसको घटनात्मक स्तर पर उतारकर देखना चाहते हैं कि सिद्धान्त सही ढलता है या नहीं। इसमें निरूपण नहीं होगा। साहित्य सिद्धान्त को परखने का ढंग अवश्य हो सकता है।

क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि यह प्रक्रिया दुनिया के हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होगी?

—निकालना चाहें तो निकालें, लेकिन मैं सोचता हूँ कि अगर मेरे लिए प्रक्रिया यह संगत है, तो दूसरे के लिए भी संगत होनी चाहिए। मानव-यन्त्र के रूप में क्या मैं कोई औरों से अलग हूँ?

जब हम यह मान लेते हैं कि साहित्य के सन्दर्भ में कोई प्राप्त सिद्धान्त नहीं हैं, जिनको निरूपित करना है, बल्कि घटना से सिद्धान्त की तरफ जाने और फिर उस सिद्धान्त को परखने की प्रक्रिया को अपनाते हैं, तो निश्चय ही यह प्रक्रिया हर व्यक्ति के लिए अलग हो जाती है। हर व्यक्ति को यह रास्ता अपने-आप तय करना होगा?

—मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वैसे मैं व्यक्ति के रूप में यह नहीं मान पाता कि दूसरों से सर्वथा अनमिल हूँ और जो यान्त्रिक अन्त:प्रक्रिया मुझमें चलती है, वह दूसरों में नहीं होगी?

मेरे सवाल का मतलब है कि 'मेरे' किसी आधार को लेकर, यानी जो मैंने प्राप्त किया है, उसको आधार बनाकर दूसरा आदमी रास्ता नहीं बना सकता?

—मेरा स्वप्न केवल मेरा ही है, दूसरे का नहीं। इसी तरह मार्ग भी किन्हीं दो का एक नहीं हो सकता। कारण, हर दो में स्थिति-भेद है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने आकांक्ष्य और अपने ही यथार्थ के अन्तर की चुनौती से बच कैसे सकता है, मैं जानता नहीं। इसलिए मैं तो यही कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने घटित और आकांक्षित—इन दोनों तटों को छूता हुआ चलता है।

उसकी परिभाषा दूँ कि जहाँ से चुनौती है? नहीं, वह न होगा। परिभाषा दी जा सके तो चुनौती खत्म हो जाती है। चुनौती ज्ञात में से नहीं आती, हमेशा अज्ञात-अज्ञेय में से आती है। जो घटित है, वह यथार्थ का चित्र है। जहाँ से चुनौती आती है, आती रहेगी, कभी खत्म नहीं होगी, वह उस भाषा में अयथार्थ है—नितान्त और नित्य अयथार्थ! उस सर्वथा अवास्तव का नाम मेरे निकट भगवान है। सत् कुछ हो तो वही हो सकता है। उसे असत् तक कहना चाहो तो कहो।

बहुतेरे कहते ही हैं। पर अन्तिम और परम चुनौती का वह ऐसा स्रोत है कि कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। इसलिए मैं जो भी परिभाषा दूँ, वह अन्त में ईश्वर में खोने के लिए होगी।

इससे अगली बात क्या यह कही जा सकती है कि आपकी राय में घटना का और आकांक्षाओं की चुनौती का भी कोई सामूहिक रूप नहीं होता?

—बात कहीं भारी तो नहीं हो रही? मैं समझता हूँ, क्षण समय का अंग है। क्षण न हो तो समय समाप्त हो जाता है। यद्यपि क्षण स्वयं को समय में समाप्त करके असार्थक बनता है। यही बात व्यक्ति और समूह, समाज या देश की सम्बद्धता के बारे में सही माननी चाहिए; अर्थात् व्यक्ति घटक है, इसी से समूह समाज है। व्यक्तित्व के नाश में सामाजिकता फलित नहीं हो सकती। इस तरह अंश और समग्र, दोनों जहाँ परस्पर में सुरक्षित रहते और परस्पर को सुरक्षित रखते हैं, वही सफल साहित्य है। समाज प्रधान बनता है और व्यक्ति अस्वीकृत होता है, अगर ऐसा कोई साहित्य है तो वह सफल नहीं है। और व्यक्ति का अहम् इतना प्रतिष्ठित हो, जहाँ कि शेष अनाहत हो जाता हो, तो वह भी साहित्य अभ्यर्थनीय नहीं है।

आपने अभी जो कहा, यह क्या किसी हद तक चुनौती की परिभाषा नहीं है?

—अगर है, तो होगी।

दोनों बातों को अगर मान लेते हैं, तो पहली बात अधूरी हो जाती है।

—अधूरी तो होगी ही। और जब तक तीसरी बात निकलनेवाली हो, तो दूसरी बात अधूरी हो जाएगी!

एक छोटा-सा निजी प्रश्न पूछना चाहता हूँ। कई लोगों ने कहा है कि आपका लेखन हिन्दी के कथा-साहित्य में एक नयी दिशा में किया गया प्रयास था। क्या आपने खुद भी यह अनुभव किया कि जो दिशा उस समय थी, हिन्दी के कथा-साहित्य में उससे आप कुछ भिन्न दिशा में जा रहे हैं?

—नहीं, बिलकुल अनुभव नहीं किया।

अभी पश्चिम में एक प्रवृत्ति ऐसी है जहाँ यह मान लिया गया है कि जिसे अभी आपने चुनौती कहा है, उस चुनौती का कोई उत्तर दिया नहीं जा सकता। इसलिए भविष्य की कोई कल्पना नहीं कर सकता।

—फिर भी कल्पना भविष्य की ओर चलने को बाध्य है। निरर्थक मान लो, लेकिन कल्पना बेचारी जाये और किधर? वर्तमान के प्रति हमारा सम्बन्ध बुद्धि का है। उधर कल्पना जाये तो कैसे? क्या अपनी पीठ की तरफ जाया जा सकता है? अर्थात् चुनौती का उत्तर चाहे न बने, पर प्रेरणा वहीं से बनती है। समय का प्राप्त पहलू क्षण ही है; अर्थात् क्षण के साथ वही न्याय कर सकता है जो समय के प्रति जीता है। 'क्षण' में जीना समय की धारा से विच्छिन्न होना है। जो समय की सनातनता के साथ तत्सम होता है, वही क्षण के साथ न्याय कर पाता है।

समय से तत्सम होने की तरकीब समय के प्रति निश्शंक होकर चलना है; अर्थात् समय के प्रति उद्यत और निरपेक्ष। आज युग-धर्म क्या है, यह प्रश्न पैदा करके हम समय से युग को विच्छिन्न करते हैं। इसलिए आदमी अपनी चेतना से अधिक तत्सम होकर चले, तो उसमें ही समय के साथ की अभिन्नता आ जाएगी।

लेकिन आपकी यह बात तो आपकी उस चुनौती के आधार को ही नष्ट कर देगी?

—मेरा कुछ पहले कहा हुआ इससे नष्ट हो जाता है, तो उसकी आप चिन्ता मत कीजिए। यह मुझ पर छोड़िए। मैं आगे चल रहा हूँ, तो अनिवार्य अपनी भूमिका को बदलते हुए भी चलता हूँ। इसलिए मुझे भय नहीं है यदि मेरी एक बात दूसरी बात को काटती लगती हो।

जो निरपेक्ष रहता है, उसी के प्रति तत्सम होने की शिकायत नहीं होती?

—इसीलिए मैं कहता हूँ कि युगबोध को आत्मबोध से अलग समझने की आवश्यकता ही नहीं।

कठिनाई दुनिया की तरफ से नहीं है, अपने अन्दर से है। स्वस्थ हों तो दुनिया प्रसन्नता देती दिखाई देती है; और खुद अगर रुग्ण हों तो दुनिया में कहीं प्रसन्नता नहीं देख सकते।

यह कहना ठीक है, पर आपके अनुसार आत्मबोध और युगबोध दो इकाइयाँ नहीं हैं?

—यदि जैनेन्द्र अपने लिए बन्द घेरा बना लेता है, तो वह नष्ट ही होगा। ध्यान रखना होगा कि बोध बुद्धि से अलग नहीं होता। चाहे फिर उस बोध को किसी संज्ञा के साथ जोड़ो—देश, युग, काल या कुछ—हमेशा वह धारणा में लेनेवाली बुद्धि के अनुसार होगा, इसीलिए समग्र के सन्दर्भ को सदा साथ रखने की बात मैं कहता हूँ।

आपकी बात से दो नतीजे निकलते हैं : एक नतीजा तो यह निकलता है कि आज का बुद्धिजीवी, विशेषतः पश्चिम का, निरन्तरता को, या आत्मबोध और युगबोध के सामंजस्य को, उपलब्ध नहीं कर पा रहा। दूसरे, दिक्कत उसकी यह है कि वह उस जगह पर पहुँच नहीं पा रहा है, जहाँ उसको यह महसूस हो कि वह समय के साथ तत्सम हो गया है, इसलिए वह आगे बढ़ सकता है।

—मैं समझता हूँ कि मूलगत अस्तित्वबोध दुःख के बोध के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता। आपकी बात को मानता हूँ कि इस 'मैं हूँ' की अनुभूति दुःख और पीड़ा के रूप में ही मिलती है। क्योंकि 'मैं हूँ' में ही यह है कि 'मैं सब नहीं हूँ।' इसलिए आज के साहित्य में जो एक अकेलेपन का अहसास है, व्यथा की अनुभूति है, वह अनिवार्य है। और अशुभ नहीं है। आदमी आज नाम और शब्दवाले परमेश्वर को भूलकर, बल्कि तोड़कर, जो सच्चाई को खोजना चाहता है, सो भी अनुचित नहीं है। मेरा अपना खयाल है कि समय के साथ तत्सम रहें, इसकी भी अलग से चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। बेचैनी शुभ लक्षण है, इससे बुद्धि की कुरेद चेतना की गहरी परतों का उद्‌घाटन करती और समय के साथ तत्समता लाने में सहायक होती है। अन्तिम विश्लेषण में सद्‌बोध दुःख-बोध में से ही मिलेगा।

बातचीत के दौरान आपने तीन स्तरों पर चेतना की बात कही है : एक कष्टबोध की, एक युगबोध की और एक आत्मबोध की। आत्मबोध और युगबोध की चेतना परस्पर-सम्बद्ध है। इस वैचारिक सन्दर्भ में नवलेखन के सम्बन्ध में जो स्थापनाएँ हैं, नवलेखन के प्रवक्ताओं की, उनके बारे में और विशेष रूप से नयी कहानी के बारे में, आपकी राय क्या है?

—शब्दों की बारीकियों में कहीं हम भटक न जाएँ। दुःखबोध से हमारा आरम्भ है। उसका बाहर की ओर प्रक्षेपण होता है तो वह आत्मबोध के रूप में परिणत होता है; अर्थात् उससे फलित होता है—सह-अनुभूति। जब हम दुःख के अथवा अहं के बोध को सहानुभूति में परिणत नहीं करते, आग्रह पर रुक जाते हैं, तो उसको अच्छे-अच्छे शब्दों का बाना पहनना आवश्यक हो जाता है। तब उसको युग पर, देश पर या इस प्रकार के अन्य अतिरिक्त लटकों पर लटका देते हैं। नवलेखन ऐसी संज्ञा है, जिसमें जितना नया लिखा जा रहा है और जितने नये लिखनेवाले हैं, सब-के-सब समा जाते हैं। लेकिन उन लेखकों के लेखन में अपनी-अपनी निजता एवं विविधता है। इसलिए 'नवलेखन' के बारे में कोई निर्णय दे सकना, मेरे लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि यह संज्ञा समुच्चयबोधक है, और

अपने-आपमें कुछ 'आर्बिट्रेरी' है। कुल मिलाकर मुझे लगता है कि परस्पर की संवेदनात्मक सम्बद्धता पर उतना आग्रह नहीं है, जितना होना चाहिए और निजत्व की प्रतीति पर कुछ ज्यादा निर्भरता है।

मैं एक मिसाल देना चाहता हूँ, जैसे राजकुमार। राजकुमार की जितनी कहानियाँ पिछले दिनों आयी हैं, मुझे लगता है कि उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके जितने भी पात्र हैं, वे सब किसी स्तर पर आकर यह महसूस करते हैं कि उनके अन्दर संवेदना की शक्ति नष्ट हो गयी है। लेकिन कहानियाँ इसका संकेत नहीं करतीं कि लेखक की संवेदना-शक्ति भी नष्ट हो गयी है; तो यह नतीजा निकाला जा सकता है कि लेखक के सामने जो वस्तुस्थिति है, जो जीवन की घटना है, उसमें संवेदना नष्ट हो गयी है, या बहुत कम हो गयी है। और उसके परिणामस्वरूप लेखक की संवेदना ने यह रूप ले लिया है।

—जैसाकि मैंने कहा है, निजत्व का बोध पीड़ात्मक होता है। अब पीड़ा की तीव्रता प्रेरित करती है कि उसका निवारण हो। इस चेष्टा में समूह-सत्ता और परस्परता की सृष्टि होती है। राजकुमारजी की मिसाल मेरे लिए बहुत मददगार नहीं हो पाती। उनकी रचनाएँ कुछ पढ़ी तो हैं, लेकिन अलग से उनकी याद मैं नहीं कर पाता। पर यह मैं समझता हूँ कि कहानी के पात्रों में, उसके चित्रण में निजत्व हो, स्वयं कथाकार में उसका मोह न हो। बल्कि पात्रों-चरित्रों के निजगत वैशिष्ट्य का चित्रण सफलतापूर्वक हो पाता है, तो यह तभी हो सकता कि जब लेखक स्वयं निज के अहंवाद का शिकार न हो। लेकिन आज निजत्व के चित्रण से अधिक उसकी लिपटन, अर्थात् स्वरति-जैसी जो चीज मिलती है, उससे मन सन्तोष नहीं पा सकता। आजकल समाजवाद का, समूहवाद का जो जोर है, उसकी प्रतिक्रिया में निजत्व और व्यक्तित्व पर बल आ पड़ा है। किन्तु राजनीति की एकांगिता का उत्तर साहित्य की एकांगिता से नहीं दिया जा सकता। मुझे लगता है कि 'नवलेखन' में जैसे वह उत्तर उलटी एकांगिता से देने का प्रयास भी कुछ-कुछ है।

अगर मैं कहूँ कि 'नवलेखन' की समस्या हिन्दुस्तान में इस वक्त यह है कि आप जिसे आत्मबोध की प्रक्रिया कहते हैं, उसका कोई रास्ता उसको नजर नहीं आता, तथा जो सिद्धान्त हमारे बुजुर्गों के लिए पर्याप्त रहे हैं, वे उसको पर्याप्त नहीं लगते, और इस कारण जिसके पास पर्याप्त सिद्धान्त हैं, उसको ऐसा लगता है कि उसमें संवेदना नहीं है, तो क्या यह गलत होगा?

—आप सही कहते हैं। संवेदन को ही धर्म मान लेंगे, तो जीवन-पराक्रम का आधार खतम हो जाएगा, सिर्फ दबना रह जाएगा। भावुक विशेष कुछ कर नहीं पाता।

संवेदन में इसलिए जो बिलकुल गीता है, बेहद आर्द्र है, तो समझना चाहिए कि भीतर का अस्थि-संस्थान उसमें शीर्ण है। अस्थितन्त्र मजबूत न हो, तो शरीर का रूप-लावण्य भी नहीं रह सकता। भाव का भीगापन अधिक है, तो अवश्य घबराना चाहिए। लेकिन निज-बोध अपने-आपमें कष्टकर ही है। 'निज' का 'पर' से सम्बन्ध जब तक नहीं होता, तब तक स्वत्वबोध में भी रस-सामर्थ्य नहीं आता। तो स्वत्वबोध को मैं बहुत उपयोगी मानता हूँ, बशर्ते कि उसी पीड़ा में रमकर रुक न जाया जाए, बल्कि उससे मुक्ति पाने में उठा जाए। पीड़ा को यदि झेलते नहीं, उससे जूझते नहीं हैं, तो एक रोमाण्टिक साहित्य पैदा होता है। वह स्व-(रति)-मूलक होता है। पीड़ा को मानना है, पर रमणीय नहीं मानना है।

इस बारे में मैं निजी तौर पर आपसे पूरी तरह सहमत हूँ कि पीड़ा में रस लेना शुभ नहीं है। लेकिन दो दिक्कतें आती हैं : एक दिक्कत यह आती है कि जिसे समूहवाद या समाजवाद कह सकते हैं, केवल वही नहीं, बल्कि जो व्यक्तिवादी या उदारवादी सिद्धान्त कहे जाते हैं, वे भी आज निष्फल लग रहे हैं। समस्याएँ लेखक के सामने समूहवाद के प्रतिकार की नहीं है, कुछ लोगों के लिए यह बात हो सकती है; लेकिन सम्पूर्ण जो प्रक्रिया है, उसके लिए सत्य नहीं है। सार्त्र के लिए भी सच नहीं थी। हाल ही में जैसा उन्होंने कहा है कि 19वीं सदी का प्रतिनिधि उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' है, और यदि बीसवीं सदी का कोई प्रतिनिधि उपन्यास होगा, तो वह समाजवादी-विषयक होगा। और सार्त्र की निजी जिन्दगी भी गवाह है कि उन्होंने अपने-आपको सामूहिक आन्दोलनों से काटने की कोशिश नहीं की। फर्क यहाँ पड़ गया है, जहाँ तक मैं समझता हूँ कि कुछ मूल आस्थाएँ मौजूद हैं, जैसे कि बीसवीं सदी के सन्दर्भ में जातिभेद की समाप्ति, उपनिवेशवाद की समाप्ति, या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में समानता की समाप्ति, उपनिवेशवाद की समाप्ति, या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में समानता, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राज्य द्वारा निजी जीवन में हस्तक्षेप की समाप्ति, इस तरह की कुछ मूल आस्थाएँ मौजूद हैं। लेकिन चाहे वह व्यक्तिवाद हो, चाहे समाजवाद हो, चाहे समूहवाद हो, जो भी राजनीतिक दर्शन या सिद्धान्त उसके सामने आज हैं, वे सब उसको अप्रासंगिक लगते हैं। इसलिए वह इन सारे सिद्धान्तों से, जो तात्कालिक साहित्य में किसी हद तक निहित होते हैं, अपने-आपको काट लेता है। राजनीतिक संगठन से काट लेता है, लेकिन उद्देश्यों से नहीं काटता। इसको हिन्दुस्तान में देखें तो भी बात वही आती है। लेकिन बने-बनाए सिद्धान्त उसको अपर्याप्त लगते हैं। आपका क्या विचार है?

—सार्त्र सामूहिक आन्दोलनों में शरीक हो सकते हैं, लेकिन अस्तित्ववाद निश्चय

ही समाजवाद नहीं है; बल्कि दोनों में सामान्य भूमि भी लगभग नहीं है। सार्त्र के लिए अथवा हर किसी के लिए जरूरी होता है कि वह समूह से, समाज से न टूटे, साथ ही समय से भी जुड़ा रहे। इस तरह हर कोई दो प्रतिरोधी प्रवृत्तियों के बीच जीने के लिए रह जाता है। बल्कि साहित्य में जैसे मुझे लगता है, वह इतना नहीं आता जो व्यक्ति स्वयं है; बल्कि अधिक वह आता है जो वह नहीं है, सिर्फ होना चाहता है। सार्त्र के घटित अथवा वास्तविक जीवन में यदि झुकाव इस प्रकार सामूहिक आन्दोलनों के प्रति दीखता है, तो शायद इस कारण और भी अनिवार्य है कि लेखक में उसका झुकाव उलटा रहा हो।

आपकी यह बात सही है कि आज इति-निश्चिति का भाव टिक नहीं सकता है। सिद्धान्त कोई नहीं है। सिद्धान्त सब सहारे का काम देते हैं। सहारे तक के लिए उन्हें रखा जा सकता है। समय वह भी आ सकता है कि वे काम न दें, और तब उन्हें छोड़ना ही कर्तव्य हो जाता है। आप स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की परिवर्तित और नयी धारणा की बात करते हैं, उसे ही लीजिए। मुझे नहीं मालूम कि वह नयी धारणा क्या है। स्त्री का अपना भी निजत्व है, इसको क्या नयी धारणा कहा जाएगा? मैं स्त्री-पुरुष के बीच के आकर्षण को पवित्र मानता हूँ। इसको काम कहते हैं और काम मेरे लिए अनीश्वरीय शक्ति नहीं है। किन्तु मैं समझता हूँ कि काम की उत्कृष्टता एक विशेष प्रकार के निग्रह और संयम को जन्म दे सकती है। प्रेम में काम की पूर्णता है और ब्रह्मचर्य में प्रेम की पूर्णता है; अर्थात् ऐसे पौरुष की मैं कल्पना ही नहीं, बल्कि दर्शन भी कर सकता हूँ कि जो रूढ़ अर्थ में कापुरुषता-जैसा लगे। अहिंसा मेरे लिए परम पराक्रम है, इसी तरह ब्रह्मचर्य परम पौरुष। मैं नहीं मानता हूँ कि यह दृष्टि पुरातन अथवा नूतन कही जाने के लिए है। किंचित् दुर्लभ आवश्यक है। मुझे लगता है कि नवरतन नव्यनर्तन है, ऐसा लेखन अनिवार्यतः इस दर्शन की ओर बढ़ेगा। और तब केवल काम या सेक्स को श्लाघा न मिलेगी, न समर्थन। आज तो अवश्य वैसा नहीं दीखता।

कमलेश्वरजी की एक कहानी है : 'एक अश्लील कहानी।' उसमें निरूपण है इस समय की स्थिति का, कि ब्रह्मचर्य भी नहीं है, और काम भी नहीं है; बल्कि एक तरफ दुराव-छिपाव है, दूसरी तरफ मन में बढ़ती हुई कुण्ठाएँ। या मोहन राकेश की कुछ कहानियाँ, जो मातृत्व की लालसा और आधुनिक जीवन की कठिनाइयों के टकराव को व्यक्त करती हैं या एक और व्यापक समस्या अकसर आती है। खासतौर से मध्यम वर्ग के लड़के-लड़की, सचमुच किसी अर्थ में जवान नहीं होते। या तो बच्चे रहते हैं या माँ-बाप बन जाते हैं। इन सब चीजों को लेकर जैसा आपने भी कहा है, एक व्यापक स्थिति है, जिसकी प्रतिक्रिया नवलेखन में

मिलती है। विशिष्ट रूप से, क्या आप इस स्थिति पर कोई राय देना चाहेंगे? इधर किन्हीं लेखकों में क्या आपको ऐसा लगता है कि वे निजत्व को पार कर पा रहे हैं?

—इधर की बहुत-सी कहानियों में जीवन के घुटे और ढँके पहलू भी प्रकाश में लाए जा रहे हैं। यह व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हितकर होगा। पहले सचमुच ऐसे मुक्त भाव के मार्ग में कुछ मर्यादाएँ थीं, जिनको पार करना मुश्किल हुआ करता था। आज की परिस्थिति कुछ ऐसी संकुलित है कि मर्यादाओं की सख्ती रह नहीं गयी है और बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति खुल गयी है। कुल मिलाकर यह अच्छा ही है। किन्तु बुद्धि अपनी सीमा से आगे काम नहीं कर सकती, अर्थात् प्रकाश नहीं दे सकती। जिसके पास आस्था नहीं है, दूसरे शब्दों में दिशा नहीं है, उस बुद्धि द्वारा जो रचना होगी, उसमें व्यंग्य तीखा हो सकता है, आलोचना पैनी, कटाक्ष रोमांच का, लेकिन उस रचना का दान, उसका प्रभाव, स्थायी शायद न हो पाए। सृजनात्मक रचना में खण्डन, व्यंग्य, कटाक्ष उपयुक्त नहीं होगा, ऐसा नहीं; किन्तु मूल प्रेरणा आलोचनात्मक नहीं होगी। कारण, बुद्धि नितान्त विश्लेषणात्मक है, और उसको सिर्फ अपना शौक पूरा करने की छूट नहीं दी जा सकती। बल्कि उसके निर्माण में लक्ष्य रहना चाहिए। इन दोनों प्रकार की रचनाओं अर्थात् सृजनात्मक और समीक्षात्मक में एकाएक पहचानकर पाना आसान नहीं। लेकिन विवरण और विश्लेषण जहाँ स्वयं में प्रधान और चमत्कारी बन जाए, वहाँ अधिकांश मेरे मन में संशय हो आता है। दिल तो हर आदमी के भीतर इतनी सुरक्षा में रखा गया है कि वह हाथ आ नहीं सकता। जो दीखता है, वह शरीरावयव हैं। इसलिए जहाँ हृदय के व्यापारों का अत्यन्त सुनिश्चित विवरण या विश्लेषण है, वहाँ मुझे मतवादिता की आशंका होने लगती है। सही दृष्टि घटनात्मक के प्रति उदासीन नहीं हो सकती। इसलिए कहानी बाह्य घटनात्मक या स्थूल रहे, तो यह उचित ही है। जो आन्तरिक है, उसके प्रति तो पढ़नेवाले में उन्मुखता जगती जानी चाहिए; अर्थात्, रचना में उसकी सूचना हो सकती है, प्रतिपादन या निर्देशन नहीं हो सकता। घटना में सत्य निभृत एवं गूढ़ होता है। किन्तु घटना ही सत्य की वाणी भी है; अर्थात् घटना दीखती है। सत्य को उसमें से ढूँढ़ना पड़ता है। कहानी में भी व्यक्त-अव्यक्त का कुछ यही सम्बन्ध समीचीन होगा।

आपने कुछ नाम सामने किये हैं। नामों के बीच से मुझे राह ढूँढ़ना मुश्किल होता है। जैसे श्री राकेश के साथ श्री राजेन्द्र यादव को लिया गया हो, तो इन दोनों में मुझे बहुत कम सामान्य मिलता है। लगभग अलग ही नहीं, बल्कि परस्परविरोधी-जैसा लेखन भी लगता है। सूचकता जो राकेश में है, राजेन्द्र में

आकर जैसे उसकी परत पर परत खोलकर देखने के शिल्प में परिणत हो आती है। यह दूसरी पद्धति मुझे खींच नहीं पाती। क्योंकि मेरे लिए मेरी कल्पनात्मकता के लिए वह उतना अवकाश नहीं छोड़ती। कमलेश्वरजी में घटनात्मक का अभाव नहीं है। किन्तु घटनात्मकता वहाँ केवल उपादान नहीं है, किंचित् स्वयं में सार्थक तक है। मैं स्वयं घटना को सत्य के संकेत के रूप में ही महत्त्व दे पाता हूँ। शेष में तो वह वस्त्र है, जो व्यक्तित्व को अपने में प्रकट भी कर सकता है, ढँक भी सकता है। वस्त्र के विवरण की सार्थकता इसमें है कि उस पर ध्यान न जाए, ध्यान सीधा उसके द्वारा व्यक्तित्व पर जाए।

इस समय जो अपेक्षतया नयी पीढ़ी है, उसमें सर्वाधिक सन्तोषप्रद रचनाएँ आपको किन कहानीकारों की लगती हैं?

—यह तो आप मुझे घसीटते हैं। मैं निर्णय नहीं देता हूँ। न सबको पूरा पढ़ा ही है। उल्लेख के लिए नामों की आपने ही कुछ सहायता कर दी है। मोहन राकेश के लेखन ने मुझे पकड़ा। छिटपुट रचनाएँ ही देखी थीं, फिर संग्रह मँगाकर पढ़ गया। इससे पहले निर्मल वर्मा की ओर मैं नहीं जा पाया था। लेकिन नये संग्रह, जो मैंने प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किये और पढ़े, उनमें मुझे निर्मल में सूचकता विशेष मालूम हुई। सूक्ष्मता और तात्कालिकता की दृष्टि से मोहन राकेश अलग हैं और स्वयं हैं। इधर जो नाम आते हैं, उनमें कमलेश्वर की रचना में सत्व हैं। वे इतनी महीन नहीं हैं कि हाथ से खो जाएँ। राजेन्द्र की कुछ रचनाएँ अच्छी लगीं, पर कभी मुझे पढ़ते-पढ़ते एक ऐसे ड्राइंगरूम की याद आ जाती है, जिसमें बढ़िया-बढ़िया सामान इतना था कि जगह ही शेष नहीं रह जाती थी, जिसे रूम कहो। उस ड्राइंगरूम में पहुँचकर विस्मय तो हुआ, पर जी कुछ घुट गया।

बाज-बाज कहानियाँ ऐसी नजर में आयी हैं कि वहाँ टिक गयी हैं। उनके लेखकों के नाम सहसा याद में प्रस्तुत नहीं हो रहे। उषा प्रियंवदा की कुछ कहानियाँ पढ़ने पर देर तक मुझमें झूमती रह गयी थीं। लेकिन लिखनेवालों का सबका अलग व्यक्तित्व है। और गिनाने में किसी का नाम उल्लेख से बचा रह सकता है, पर व्यक्तित्व अपना स्थान रखते हैं। बक्षी का वितान लम्बा है, लेकिन लक्ष्य की एकाग्रता उतनी नहीं लगी। शैलेश की व्यापक सहानुभूति है और चरित्र मांसल और विश्वसनीय होते हैं। राजकमल चौधरी की सूझ प्यारी और पैनी है। सर्वेश्वर, रघुवीर के पास मन्तव्य हैं और वे सूक्ष्म हैं, किन्तु रचना इतनी वास्तविक और शारीरिक नहीं रह जाती।

भीष्म का लेखन स्वतन्त्र और पुष्ट है और अप्राप्य-दुष्प्राप्य को पाने-पकड़ने के पीछे नहीं है। कृष्णा सोबती की इधर एक कहानी 'मित्रो-मरजानी' अत्यन्त

सशक्त कहानियों में से है। मुझे उसकी निर्मम तटस्थता विस्मित कर गयी है। दूसरे अनेक बन्धु हैं, जो अपने ढंग से कीमती काम कर रहे हैं और नये आयामों की ओर बढ़ने के प्रयासी हैं।

हाँ, पीढ़ियों के सवाल ने इधर कुछ दिक्कत पैदा कर दी मालूम होती है। तीस से चालीस तक की पीढ़ी यदि अपने को नया कहती है तो बीस या बाईस से बत्तीस तक की पीढ़ी अपने को क्या कहना चाहेगी? इसलिए समयबोधक शब्द से कहानियों में अन्तर डालने या देखने की पद्धति साहित्य की दृष्टि से बहुत विश्वसनीय नहीं हो सकेगी। इस काम के लिए किसी गुणात्मक विशेषण को लिया जाये तो ज्यादा अच्छा हो।

जैनेन्द्र अगर सोच-समझकर नयी कहानी लिखता है, ऐसी या वैसी कहानी लिखता है, तो इस शर्त पर लिख सकता है कि उसकी वह कहानी जैनेन्द्रीय न रह जाए; अर्थात् हरेक, यदि वह सृजनशील लेखक है, अपनी ही कहानी लिख सकता है। किसी भी नाम-नमूनेवाली कहानी वह नहीं लिख सकता।

□

कहानी, नयी कहानी, अ-कहानी : कुछ प्रश्न

कहानी-विधा में परिवर्तित शिल्प और कथागत मूल्यों को, उनकी परिवर्तित होती स्थिति को, आपने किस रूप में ग्रहण किया?

—शिल्प और विन्यास का मुझे कभी पता ही नहीं रहा। कभी न मैं उनपर अटका, न रुका। कथ्य भी मेरे पास बाहर से आया, यह मैं नहीं कह सकता। इसलिए बाहर होते हुए किसी परिवर्तन की चिन्ता ने मुझे विशेष नहीं सताया। परिवर्तन हठात् अन्दर भी होता ही रहता है। नहीं तो जीवन चेतन नहीं कहलाएगा। उन परिणतियों को मैं और मेरा लेखन स्वीकार करता चला गया, इतना ही मेरे लिए काफी है। कहानी के बनाव के बारे में जो मैं शुरू से निश्चिन्त रहा, सो उसका लाभ ही मुझे यह मिलता रहा कि एक कहानी दूसरी जैसी नहीं बनी। सब अपने-आपमें स्वतन्त्र और भिन्न बनती चली गयीं। जानता हूँ कि कहानी-विन्यास के बारे में बहुत चर्चा चलती है, लेकिन कहानी जिसे लिखनी हो, वह उनसे अप्रभावित बना रहे तो इसी में मुझे खैरियत मालूम होती है।

क्या अ-कहानी का परम्परा से हटकर कोई अपना स्वतन्त्र दर्शन हो सकता है; या महज भाषा और कथ्य के नगण्य के कारण ही वह अपने को अलग साबित करना चाहती है?

—वहाँ 'अ-कहानी' शब्द में कहानी के इनकार की जो ध्वनि है, वह क्यों? बस, उसी से वहाँ अहंकार का आभास होता है। कहानी कोई सीमित विधा तो अब रह नहीं गयी है। उसमें सभी तरीके की रचनाओं का समावेश हो सकता है। शर्त केवल यह है कि वहाँ शब्द अभिधा से नहीं, बल्कि व्यंजना से अपनी बात कहें। 'कहानी' संज्ञा में इतना कुछ अवकाश होते हुए फिर 'अ-कहानी' शब्द का निर्माण यदि करना पड़ता है तो मालूम होता है कि वह अनायास नहीं, एक सप्रयास प्रक्रिया है। इसलिए मुझे कहानी-अ-कहानी की चर्चा कृत्रिम मालूम होती

है।

अगर इस बात को आप मानते हैं तो यह बात काफी पहले तथाकथित नयी कहानी ने भी क्या कुछ अंशों में न की थी?

—वैसा ही कुछ मनोभाव 'नयी कहानी' शब्द के निर्माण और विज्ञापन के पीछे मालूम होता है। उसमें कोई साहित्यिक सत्त्व नहीं है। किसी भी एक समय में लिखी जाती हुई कहानियों के वैविध्य में हम उतरें तो दीख पड़ेगा कि वे तत्त्व बीज-रूप में वहाँ भी विद्यमान थे जिन पर नयी कहानी या अ-कहानी के निरूपक जोर देते देखे जाते हैं। इसलिए मेरी सलाह होगी कि नित नये उठनेवाले इन नारों से आप उद्विग्न न बनें, कहानी को जहाँ तक हो सके, जीवन से तद्गत मानते रहें और साहित्यिक वादों और आग्रहों से अपने को मुक्त एवं निर्विवाद बने रहने दें।

नयी वस्तु अपने नयेपन के कारण कुछ काल तक नयी रहती है। क्या नयी कहानी अब नयी कहलाने योग्य रह गयी है?

—हर पल नित नया कुछ खिलता ही रहता है। तड़के अँधेरे ही गया सवेरा फूट आया था। देखा, पौधे में नयी कली उझक आयी है। दिन खिलते दोपहर तक वह फूल बन आयी। यह सब अनिवार्य और अनायास घटित होता है। कोई इसमें बाजे नहीं बजते, न शोर होता है। इसलिए जोर और शोर के साथ अगर कुछ नयापन लाया जाता या फिर जताकर उभारा जाता है, तो निश्चय ही वह कुछ बना हुआ मामला है। इस ढंग का नया मार्का हुआ करता है जिसका ठप्पा चलाने के लिए अमुक माल पर लगाया जाता है। इससे और जीवन की नित नवीन परिणतियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि यह ज्ञापन-विज्ञापनवाद नूतनता के नवाविष्कार में अवरोध और बाधा ही अधिक बना करता है। कारण, जिन्दगी लेबिल के तहत लिखनेवाली चीज़ नहीं है। बल्कि वैसे तो वह और मुरझा जा सकती है। लेबिल के अधिकतर समूहगत मत-स्वार्थ पर चिपकने की आवश्यकता होती है। समूह साहित्यिक क्षेत्र में सन्दिग्ध वस्तु हैं। कहानी पर लेखक का नाम होता ही है, बस, उसी व्यक्तिगत रुख, रुचि या वृत्ति के लिए साहित्य में अवकाश है। अधिक होने पर मानो राजनीति का क्षेत्र आ जाता है, जहाँ स्वार्थ अमुक प्रयोजन ओढ़ लेता है और दलगत बन जाता है। हर व्यक्ति को साहित्य के क्षेत्र में हिम्मत होनी चाहिए कि वह अपने कलम के साथ अकेला खड़ा हो और गोल या झुण्ड बाँधकर जीने की आदिम आदत को चुनौती देता रहे। अनेक आधुनिक मतवादों के नाम पर यूथबद्ध होकर चलने के इन आदिम संस्कारों से मानव-व्यक्तित्व को

ऊँचे उठना चाहिए और साहित्य इसी की दीक्षा देता है। उसे अन्त:करण के साथ और सत्य के साथ जीना आना चाहिए। उसे साहित्य के क्षेत्र में भी यदि धड़ेबन्दी चल निकलेगी तो आशा फिर किससे की जा सकती है?

कहानीगत प्रवृत्तियों के इन नामकरणों का आपके वक्त की या यों कहिए, आपके द्वारा लिखी जानेवाली कहानियों की सापेक्षता में क्या महत्त्व है?

मेरी जानकारी में तो कोई महत्त्व नहीं है। कहानी हरेक की उसके व्यक्तित्व से अभिन्न होगी। बाहर पैदा किये जानेवाले नाम और विशेषण उस अभिन्नता में अन्तराय ही डाल सकते हैं। इसलिए वे किसी के लिए इष्ट नहीं हो सकते, यानी इष्ट साहित्य-सर्जना में किसी दूसरे प्रकार का प्रयोजन अभीष्ट हो तो वह अलग बात है।

आप अपना या अपने समकालीन सीनियर कथा-लेखकों का एग्जीस्टेण्ट किन जूनियर लेखकों में हुआ मानते हैं; अर्थात् जैनेन्द्र, अज्ञेय किन लोगों में आज जी रहे हैं?

—यह मैं कुछ नहीं कह सकता। हर लेखक को स्वयं होना पड़ता है फिर प्रभाव वह जहाँ से चाहे ले, बल्कि उस प्रकार के प्रभावों के बीच वह जनमता-जीता ही है। ये पचाये गये प्रभाव फिर उसके निजी और संश्लिष्ट बनकर व्यक्त होते तो साहित्य रच जाता है। जहाँ दावा हो कि वह मौलिक है, बढ़कर है, ऐसा है, वैसा है, वहीं मान लेना चाहिए कि आत्म-निर्मिति और आत्म-स्वीकृति में कुछ त्रुटि रह गयी है। छलकना अधभर होने के कारण हुआ करता है। दूसरे का इनकार उसी अलक्ष्य प्रभाव को जतलाता है। कृतज्ञ स्वीकार स्वस्थ व्यक्तित्व का लक्षण होता है। जहाँ दूसरों का इनकार देखें, नयेपन का, मौलिकता का दावा सुनें, वहाँ ही हमें सहानुभूति देने को तैयार रहना चाहिए। कारण वहाँ स्वास्थ्य का अभाव और किंचित् हीनता का प्रभाव है।

क्या आप इस दृष्टि से प्रेमचन्द को मृत मानते हैं? अगर नहीं तो वे कौन लेखक हैं जिनमें प्रेमचन्द की परम्परा विकसित हुई है?

—सन् 1936 में प्रेमचन्द जी क्या सचमुच गत नहीं हो गये? लेकिन साहित्य उनका जीता है और जिएगा। दूर क्यों जाऊँ, स्वयं मैं अपने को उनसे उऋण नहीं मानता हूँ। लेकिन हाँ, मेरे प्रश्न उनका रूप दूसरा है कि जिनसे मुझे जूझना-निपटना पड़ता है। मैं सुधारवादी वृत्ति इसलिए नहीं अपना सकता कि मैं अपने को खुद सुधरा हुआ नहीं पाता हूँ। यह मेरी अन्तर्वृत्ति की बात है। लेकिन निश्चय ही

नयों में भी ऐसे लोग हैं जो सुधारक मनोभाव रखते हैं। कहने-लिखने के तौर-तरीके में फिर कितना भी विभेद हो, वे उसी परम्परा को निबाहनेवाले माने जाएँगे। एक लेखन बतानेवाला है, दूसरा खोजनेवाला; मानना होगा कि आज कई लेखक इतने जानकार हैं कि वे आसानी से पाठक के नजदीक बताने-सिखानेवाले बने रहते हैं। प्रेमचन्द के जमाने में लेखक एम.ए. वगैरा कम हुआ करते थे। अब उससे कम तो शायद होते ही नहीं, आगे डॉक्टर इत्यादि भी हों, तो अलग बात है। इस अतिविज्ञता के कारण मुझे सन्देह है कि साहित्य उतना पुष्ट और स्थायी कदाचित् कम आ रहा है।

नामकरणों तथा गोष्ठियों और इधर जो कथा-समारोहों का सिलसिला शुरू हुआ, क्या आप उसे कहानी के क्षेत्र में आये गतिरोध की प्रतिक्रिया मानते हैं या महज कुछ लोगों के प्रचार के निमित्त एक आयोजित सिलसिला है?

—गतिरोध में से यह चर्चाओं और परिसंवादों का अतिरेक निकला या उस अतिरेक से गतिरोध निकला, कहना कठिन है। लेकिन दोनों में नाता अवश्य है। आप अपने साथ शोध और संवाद में भुक्त हो सकते हैं तो लेखन निकलता है। वाद और विवाद की उत्कंठा में यदि रहते हैं, तो भाषण और समीक्षण निकलता है। यह भी हो सकता है कि भाषण-समीक्षक को ही लेखन में उतार दिया जाए। लेकिन तब वह साहित्य नहीं होता। हाँ, पत्रकारिता का नाम अवश्य दे जाता है।

आपने कलकत्ता में हुए समारोह में भाग लिया था, उस कलकत्ता-समारोह में, जिसमें मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, मुद्राराक्षस, श्याम परमार, कुलभूषण, कमल जोशी, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, अमृतराय, देवेन्द्र इस्सर, राजकमल चौधरी, मधुकर गंगाधर, आनन्द प्रकाश जैन आदि को आमन्त्रित नहीं किया गया किन्तु आप उसमें फिर भी पहुँचे। क्या इसका मतलब निकाला जाये कि आप भी किसी तरह के प्रचार की आकांक्षा रखते हैं या आप अपने को इतना अकेला महसूस करने लगे हैं कि आप कुछ लोगों के साथ आ जाने के लिए मजबूर हुए हैं?

—आकांक्षाहीन तो मैं नहीं हूँ लेकिन कौन आ रहे हैं और कौन नहीं जा रहे हैं, उसकी पूरी खबर रखने में जितना कुशल भी मैं नहीं हूँ। सोचता अवश्य हूँ कि मुझे उससे अधिक व्यवहारज्ञ और नीतिज्ञ होना चाहिए, पर मैं अपने सम्बन्ध में स्वयं को लेकर निर्णय कर ले जाया करता हूँ। टीम के साथ चलना शायद अधिक सकुशल होता हो, पर वह मुझे अब तक आया नहीं है। साधारणतया मैं कलकत्ता जा नहीं रहा था। 22 तारीख तक यही जानता था कि नहीं जाना है। फिर जो पहुँचा तो वह बहुत-कुछ इस कारण कि अपने आत्मीय बन्धुओं के अनुरोध की

अवज्ञा अशिष्टता समझ ली जाती। कुछ आकर्षण यह भी था कि मुझे अनुमान था कि वहाँ अभियुक्त के रूप में पेश होना होगा। मैं अहिंसा का विश्वासी हूँ। लोभ रहता है कि ऐसी परीक्षाओं में पड़ूँ, जहाँ प्रहार हो और देखूँ कि मैं अपनी समता तो नहीं खोता हूँ। उसके साथ अपनी बात पर भी दृढ़ तो रहता हूँ न। इन सब कमजोरियों के कारण मैं कलकत्ता गया और यद्यपि बहुत से आवश्यक नाम अनिमन्त्रित रहे तो भी वहाँ पहुँच जाने में अपनी ओर से उनके प्रति कोई अविनय नहीं देखता। न जाने के लिए पछताता ही, बल्कि अच्छा हुआ कि मुझे परीक्षा में पड़ना पड़ा। वहाँ की रिपोर्ट बहुतेरी निकली हैं। अधिकतर मुझ पर क्षोभ उतारा गया है। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने एक भी वाक्य बिगड़कर कहा। उघड़े यदि कुछ शब्द आ गये तो उनकी चोट का मुँह खुद मेरी ही तरफ था। दाढ़ी में तिनके की बात अलग है, वैसे मैंने विग्रह की ध्वनि में कुछ नहीं कहा, न समझौते की ठकुरसुहाती में ही कुछ कह सका। इस तरह सत्य और अहिंसा इन दोनों दृष्टियों से मैं उस परीक्षा में नापास हुआ, यह मैं नहीं कह सकता। शिष्टाचार ऐसा भी हो सकता है जो सत्य की दृढ़ता को खा जाए, वह अपनाना उतना कठिन नहीं होता। साधारण सभा-सौजन्य का निर्वाह सहज और ऊपरी व्यवहार है। वह आत्मीयों की गोष्ठी थी और तकल्लुफ का प्रश्न नहीं था, सच्चाई का प्रश्न था। उस सम्बन्ध में आज के दिन आवश्यक है कि हर कोई स्पष्ट और दृढ़ हो। मतभेद के बीच जो सौजन्य फलित हो सकता है वही मूल्यवान है। कलकत्ते से वह पैदा होगा और बढ़ेगा, ऐसी मेरी आशा थी। बाद में जो अखबारों में छपा उससे आशा पूरी नहीं हुई और आगे के लिए मैं अवश्य सोचता हूँ कि ऐसी गोष्ठियों में जाने के बारे में अधिक संयमी और सावधान रहूँ।

कथा-समारोह के सम्बन्ध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

—वह कथा-समारोह एक ऐतिहासिक घटना मानी जा सकती है। इतने विविध और विमुख लोग एकसाथ आसानी से जमा नहीं होते। आगे भी शायद यह कठिन हो, पर निष्पत्ति जो हो सकती थी, नहीं हुई। लोगों के भीतर के नकार-निषेध अधिक बाहर आकर व्यकत होते रहे और वातावरण में संवादिता उत्पन्न नहीं हो पायी, विवादी स्वर मुखर रहा। संयोजन के समय कोई स्वस्थ और समग्र दृष्टि पीछे काम नहीं कर रही थी। आयोजन कदाचित् एकांगी वृत्ति के हाथ में अधिकांश बना रह गया। उतने खर्च में कहीं अधिक उपलब्धि हो सकती थी। फिर भी यह कि एक अवसर प्राप्त हुआ, जहाँ साहित्यिक लोग अपने मन का विग्रह और वाद की विद्वत्ता एक-दूसरे पर निकाल फेंकें। इस दृष्टि से समायोजन को उपयोगी और महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

इधर आपने पत्र-पत्रिकाओं में उसकी रिपोर्टिंग पढ़ी होगी। आप उससे सहमत हैं?

—सहमति का प्रश्न कहाँ है! अपनी-अपनी मनचीती लोगों ने लिखी और इसके सिवा दूसरा हो क्या सकता है। एक रिपोर्ट में उलटकामों के भीतर मेरे नाम पर कुछ उदाहरण दिये गये हैं, न वे शब्द मेरे थे, न भाव मेरे आ पाए। उलटकामों के भीतर उन्हें न रखा जाता तो पाठक समझ लेता कि वे लेखक की याद के शब्द हैं, जैनेन्द्र के कथन के चाहे न भी हों। तब उतना भ्रम न होता। आगे अगर ऐसी सावधानी रखी जाये तो अच्छा है। मुनासिब तो यह हो कि कोट के भीतर के शब्द वक्ता द्वारा पहले प्रमाणित करा लिये जाएँ। मैंने उनकी सफाई देना जरूरी नहीं समझा। कारण, मिथ्या के पाँव नहीं होते। हर जगह उसकी काट करने दौड़ना उसको महत्त्व देना है।

हमने सुना है कि आपको कलकत्ता-समारोह के बीच कुछ व्यक्तियों ने 'काँग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का एजेण्ट घोषित किया। क्या इस सम्बन्ध में आप कुछ कहना चाहेंगे?

—नहीं। क्योंकि जिन्होंने ऐसा कहा, प्रश्न उनसे होना चाहिए कि किस हेतु से कहा? वह संस्था निषिद्ध तो है नहीं, अनिष्ट भी नहीं है और यह मेरे लिए कोई कृतार्थता की बात नहीं है कि मैं उस संस्था से वास्ता नहीं रखता हूँ। फिर भी कहनेवाले को क्यों वैसे प्रचार की आवश्यकता हुई, वही जाने! मालूम होते ही मैंने वह सूचना तत्काल वहीं अपने से निकाल बाहर कर दी थी। इतना ही मैं यथेष्ट मानता हूँ।

आज आप कथाकार और हिन्दी कहानी की नियति क्या मानते हैं?

—मैं तो मानता हूँ कि कुल मिलाकर वर्तमान भविष्य की ओर बढ़ रहा है और भविष्य उज्ज्वल है। कुछ अहंवादी शक्तियाँ उस आशाप्रद भविष्य को अपने हाथों में या अधिकार में बन्द मानती हों तो, उनको भले निराशा प्राप्त हो सकती है, किन्तु उनके नाते भविष्य ठिठकनेवाला नहीं है। कई हैं जो कलह-कोलाहल से दूर हैं और कहानी के क्षेत्र में सही दिशा में कीमती काम कर रहे हैं। वही रचनात्मक कार्य टिकेगा और भावी को उजला करनेवाला सिद्ध होगा। शोर-शराबा नहीं, जो बस बैठ जाने के लिए कभी-कभी उफन आया करता है। काल-गति से उसका सम्बन्ध नहीं है, चाहे उस शोर को युगबोध जैसे शब्दों द्वारा ही क्यों न ऊपर उठाया जाता हो।

कितना नया, कितना पुराना

आपके नारी पात्र आपके साहित्य की सबसे बड़ी देन हैं, लेकिन जिस नारी का विलक्षण चित्रण आपने कभी किया था, क्या आप समझते हैं कि औद्योगीकरण के इस युग में उसमें परिवर्तन नहीं आये हैं?

—मैं आपके प्रश्न का खण्डन नहीं करता। नारी जो मेरे साहित्य में प्रस्तुत हुई है, कितनी साम्प्रतिक है, कितनी आधुनिक है, कितनी परम्परागत है, यह मैं नहीं जानता। मेरे लिए प्रश्न वह असंगत है। सच यह है कि मैं उसके सामाजिक या सामयिक रूप पर नहीं अटका हूँ। मेरे लिए धर्म का, नारी-धर्म का प्रश्न रहा है। इस प्रश्न की दृष्टि से नारी के रूप में घटित हुआ काल या देशगत विवरण विशेष संगत नहीं रहता। जीवन का धर्म उत्सर्ग और विसर्जन है। यह धर्म नारी के जीवन में अनायास प्रतिष्ठित देखा जाता है। गाँधी को अहिंसा का सबक कस्तूरबा से मिला। जो पुरुष के लिए साधना का, तितिक्षा और अध्यवसाय का विषय है, मालूम होता है, वह नारी-प्रकृति के लिए सुलभ और सहज बन जाता है।

मेरी पत्नी सवेरे से उठकर दिन के दो बजे तक निरन्तर श्रम में लगी रहती है। उसे आज तक यह शिकायत नहीं हुई कि उस सारे समय में मैं आराम ही आराम तो नहीं करता हूँ। इसको जो चिन्तक और विवेचक नारी की दासता कहते हैं, वे अपनी जानें। मैं तो इसे उसकी गरिमा और महिमा मानता हूँ।

क्षमा कीजिएगा, क्या यह पुरुष का दृष्टिकोण नहीं है?

—निश्चय पुरुष का दृष्टिकोण है। इसे निरा स्वार्थ माना जा सकता है कि आराम को वह अपना हक बना ले और गरिमा-महिमा के नाम पर चाकरी स्त्री के पल्ले डाल दे। पर पुरुष ने ही अपने चिन्तन के अभियान में स्त्री में भी आधुनिक चिन्तन डाल दिया है। स्त्री भी यह मानकर कि पुरुष उससे कुछ बुद्धिमान है, पुरुष की

इस बनी हुई निष्पक्षता को अपने पक्ष में स्वीकार कर लेती और भूल की राह चल पड़ती है।

उस दिन ही मुझे सुनने को मिला कि 'सुखदा' में जैनेन्द्र ने नारी के लिए घोर प्रतिक्रियावादी आदर्श प्रस्तुत किया है। लेकिन यूरोप में जब-जब गया, मुझे वहाँ की नारी की स्थिति अधिक करुण और दयनीय प्रतीत हुई। आर्थिक स्वतन्त्रता और स्वनिर्भरता के नाम पर वहाँ स्त्री को हीनतम स्थिति में डाल दिया गया है। यहाँ तक कि पैसे के लिए अपने को बेचने का वह अपना प्राकृतिक हक मानती है। प्रगति और उन्नति की इस धारणा से भला और हो ही क्या सकता है? आज भी भारत में यह झूठ नहीं है कि आदमी कमाने का मालिक है, लेकिन खर्चने की मालकिन स्त्री ही है।

मैं खुद अपने घर में पैसे के खर्च के मामले में उतना स्वतन्त्र नहीं हूँ जितनी स्वतन्त्र मेरी पत्नी है। इस स्थिति को मैं अपने लिए धन्यता की स्थिति मानता हूँ। मेरा यह आर्थिक पारतन्त्र्य मुझे संयम में रखता है।

आप चाहें न चाहें, औद्योगीकरण के युग में स्त्रियाँ बाहर आएँगी, आ रही हैं...

—स्त्री कमाती हो तो पति होकर पुरुष उस कमाई का लाभ नहीं लेना चाहेगा। यह खयाल उसमें अहंभाव जगा सकता है और सामंजस्य में आड़े आ सकता है। उससे फिर समाज-परिवार के सूत्र क्षीण और छिन्न-भिन्न होने की ओर बढ़ेंगे।

इधर आपने अपनी कुछ कहानियों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की अस्थिरता का विवेचन किया है। क्या यह कहना सही होगा कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को आप समाज के बन्धनों से परे—उनके उन्मुक्त अस्तित्व को स्वीकार करते हैं?

—समाज यदि आपसी सम्बन्धों के विकास को रोकने के लिए घेरा बन जाता है तो उसमें समाज का ही अहित है। प्रेम जड़-तत्त्व नहीं है। वह चिन्मय है, इसलिए विकासशील भी है। जिसको अस्थिरता आपने कहा, उसको मैं विकसनशीलता कहूँगा। पत्नी को पाकर पुरुष का प्रेम रुक नहीं सकता, न पति का प्रेम जकड़बन्द होकर रह सकता है। ऐसा हो तो यह प्रेम का अपलाप होगा; अर्थात् ईश्वर के प्रति अपराध हो जाएगा। पातिव्रत और सतीत्व अथवा पतित्व के आदर्श को उस स्थिर और जड़ रूप में मानने के मैं शुरू से ही खिलाफ हूँ। शायद अमुक ओर से घिरकर रह जाने को धर्म मान लिया गया था। मैं उनको खुलकर अधर्म मानता हूँ। यहीं आप और दूसरे बन्धुओं को मुझसे शिकायत होने लगती है।

हाल ही में कमलेश्वर ने आपको 'भाभीवाद का कहानीकार' कहा है। आपको

इस सम्बन्ध में क्या कहना है?

—मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या कहना चाहते हैं, वैसे मैं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में उस विशिष्ट कल्पना और धारणा को भारतीय संस्कृति का एक अनुपम उपहार मानता हूँ।

सन् '60 के बाद की कहानी के बारे में आपके क्या विचार हैं?

—मैं काल को विभक्त करके पकड़ने के खिलाफ हूँ। जो लोग ऐसा करते हैं, वे सत्य को जड़ित करते हैं। काल तो प्रवाही है। काल के पट पर सत्य अभिव्यक्त होता रहता है, इसलिए काल की अमुक अवधि में साहित्य की सत्यता को विभक्त नहीं किया जा सकता। अध्ययन के निमित्त विभाजन हो तो हो। आप इतिहास देखिए, मार्क्स ने भी...।

आप मार्क्स से बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं!

—मैं मार्क्स से प्रभावित हूँ इस अर्थ में कि मार्क्सवादी नहीं हूँ।

आप मानते हैं कि इधर एक दशक में कहानी बदली है?

—परिवर्तन तो क्षण-क्षण हो रहा है। कल जो था, आज नहीं है—आज जो है, कल नहीं होगा।

मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव ने, आप समझते हैं, कहानी को नयी दिशा दी है?

—कहा न, कि परिवर्तन तो होते रहते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि जैनेन्द्र और निर्मल वर्मा में कम फर्क है। कमलेश्वर और जैनेन्द्र में अधिक फर्क है। यानी निर्मल और कमलेश्वर में, दोनों का समय एक होने पर भी बेहद फर्क है। सो क्यों? अन्तर समय से नहीं, पृथक् निजत्व के कारण से होता है।

आप नये लेखकों को क्या सन्देश देना चाहेंगे?

—वे भूल जाएँ कि वे एक-दूसरे से कितने नये हैं।

साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों—भीड़ में अकेलापन और अँधेरे की आवाज के बारे में आपके विचार?

—आज जो आर्थिक विकास है, पैसे की बहुतायत है, उसमें व्यक्ति के अहं पर

जोर पड़ रहा है। इस तरह बुद्धिवाद ठेला जाकर अध्यात्मवाद की ओर बढ़ता जा रहा है। जैसे अध्यात्मवाद में कहा गया है कि इंसान अकेला दुनिया में आता है, अकेला जाता है। वही बात आज दोहरायी जा रही है—साहित्य चेतना का वह सूत्र मूलाधार बन रहा है। व्यक्ति को अस्तित्व के विरोध में अस्मित्व की चिन्ता अधिक है। निज को निखिल के बनाम पाने और टिकाने की चेष्टा उसके लिए आवश्यक बन आयी है।

आपको जीवन में जो कुछ कहना था, वह कह चुके या अभी कुछ कहना बाकी है?

—अरे, अभी तो मैं जिन्दा हूँ! जिसके लिए इस दुनिया में आया हूँ, वह प्रयोजन हो गया हो और फिर भी मैं यहाँ रहने दिया जाऊँ तो यह ईश्वर के दरबार की भूल होगी, जो हुआ नहीं करती।

आजकल आप क्या लिख रहे हैं?

—कुछ नहीं।

क्या आप समझते हैं कि आत्मतुष्टि के लिए लिखा जाता है?

—यदि यह बात 49 प्रतिशत सही है कि अहंतुष्टि के लिए लिखा जाता है, तो यह बात 51 प्रतिशत सही है कि अहं से मुक्ति के लिए लिखा जाता है।

बंगाल की भूखी पीढ़ी के बारे में आपका क्या खयाल है?

—मैं समझता हूँ, उनमें भूख कम है या नकली है या है ही नहीं। खाने-पीने की चीजों से बाजार भरे पड़े हैं, उन पर वे टूट क्यों नहीं पड़े? लगता है, उनकी भूख पेट की भूख नहीं है।

क्या आप यह नहीं समझते कि यह भूख पेट की नहीं है, कुछ और ही भूख है जो कविता में निकल रही है?

—यानी वह भूख सिर्फ कविता वाली है। मुझे यह लगने लगा है कि शब्द से मुक्ति नहीं है, इसलिए शब्द के द्वारा जो अभिव्यंजना है, उसकी ओर पूरा ध्यान कभी मेरा नहीं गया था—अब तो उससे भी कम हो गया है।

आज के युवकों के विद्रोह के बारे में आपको क्या कहना है? उनके अन्दर जो गाली है, उसके लिए कौन दोषी है?

—पहले तो गाली उनके अन्दर पैदा हो, यही गलती है। अगर वह पैदा हो भी

गयी है और वह मुझ-जैसों के ऊपर निकलकर खतम हो जाती है तो यह हमारा सही उपयोग होगा।

लेकिन गाली पैदा ही क्यों हो?

—इसलिए कि मन:स्थिति और परिस्थिति में सही सम्बन्ध स्थापित वे नहीं कर पाए। परिस्थिति तो सदा थामनेवाली होती है। यदि हम उसे स्वीकार कर लें तो क्षोभ की जगह श्रम का आरम्भ हो सकता है। वैसे मैं क्षोभ, क्रोध, विद्रोह आदि को सृजनात्मक प्रेरणा की त्रुटि मानता हूँ।

किसे दोष दिया जाए?

—दोष दिया जाने को नहीं होता; हाँ, दोष लिया जा सकता है। आज के विद्यार्थियों को जैनेन्द्र दोष नहीं देगा। इसमें दोष वह अपना भी मानता है।

आपके विचार में भारतीयता क्या है?

—कुछ तो वह जो प्रकट है। जैसे सामाजिक रीति-नीति, रहन-सहन इत्यादि के रूप और साँचे। और कुछ है जो अव्यक्त है, उसका सम्बन्ध आत्मा से है। वह आन्तरिक हुई। उसी पर मेरा ध्यान है। उसमें लेने से अपने को देना प्रमुख है। यह भारतीय संस्कृति और भारतीयता का मूल तत्त्व माना जा सकता है।

क्षमा कीजिए, हमारा फोटोग्राफर नहीं आ सका।

—कोई बात नहीं, पुराना ही चित्र छाप दीजिए। उसमें मैं जवान लगूँगा। अच्छा ही है।

□

कहानी-लेखन और न जानना

यह कथा-समारोह तनिक विशिष्ट है कि सभी तरह के कथाकार यहाँ हैं। कुर्सी उछालना मैंने भारत में नहीं देखा है। हाँ, लंका में देखा है और जिसके पास उछालने के लिए शब्द हैं, वह कुर्सी क्यों उछालेगा? जितना जो लक्ष्मीचन्द्रजी ने कहा, पहले तो उससे मन में आतंक छा गया। उसके बाद फिर अपेक्षाएँ बखानीं जो उन्होंने रखी हैं हम सबसे, उससे कुछ घबराहट चढ़ गयी। मैंने जिन्दगी में केवल एक इम्तहान दिया है, वह काफी है। बार-बार इम्तहान में पड़ूँ, इसी डर से मैं आता नहीं था। कहानी लिखते तो मैं लिख जाता हूँ, पर कहानी के बारे में पूछताछ होगी और परीक्षा होगी, अगर आज से मुझे ऐसा पता लग जाये तो शायद अब से लिखना बन्द कर दूँ; क्योंकि मेरा अपना अनुभव यह है कि जानना जब काफी नहीं होता है, उससे मन नहीं भरता है, तब कहानी शुरू होती है; और कहानी की भाषा जीने की भाषा है, जानने की भाषा नहीं। जानने की भाषा जो कहानी पर लादते हैं और अपेक्षा करते हैं कि कहानीकार से कुछ जानकारी भी हासिल करें, कहानी के सम्बन्ध में, वे शायद ज्यादती करते हैं। मैंने कहानी लिखी, किस जीवन-दृष्टि से लिखी, 'जीवन-दृष्टि' शब्द कुछ ऐसा लम्बा भारी भरकम शब्द है कि जीवन-दृष्टि शब्द उस समय मेरे कान पर आ जाता तो शायद कहानी लिखी नहीं जा सकती थी। कहानी लिख गये, लेकिन जीवन-दृष्टि का, वक्तव्य का पता नहीं है, वह अब तक निर्मित नहीं हुई; क्योंकि जब भी दृष्टि कोई बनती है, जीवन में ऐसी कुछ घटनाएँ देखने में आ जाती हैं, कि वह दृष्टि फिर लिप-पुतकर साफ हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि दृष्टि न बन पाए, तभी कहानीकार के लिए खैरियत है। जहाँ जम गयी दृष्टि, फिर आप कुछ तत्त्ववाद लिखिए, कुछ और लिखिए, कुछ उपदेश दीजिए और बहुत-से काम हैं...जिसको जीवन-दृष्टि प्राप्त हो गयी, वह तो सिद्ध हो गया। फिर उसको कहानी लिखने की आवश्यकता का खयाल रहना ही नहीं चाहिए। मैंने तो कम से कम कहानी दृष्टि प्राप्त करने के लिए लिखी, दृष्टिदान के लिए नहीं। मुझे लगता है कि जीवन

कितना गूढ़, अनन्त, विलक्षण और रहस्यमय तत्त्व है कि नहीं लगता, कोई दृष्टि ऐसी हो सकती है जो यहाँ से वहाँ तक घेरे में उसे बाँध ले! होते होंगे कोई सिद्ध लोग, पहुँचे हुए लोग, जो घेर लेते होंगे जीवन को, लेकिन मालूम नहीं कि वे अपने को कितना घेर लेते हैं। शायद जीवन के नाम पर वे अपने को घेर लेते होंगे। जीवन तो क्या घिरता होगा क्योंकि जीवन तो अनन्त है। अनन्त काल है, लेकिन अनन्त काल भी जीवन की अनन्तता को समाप्त नहीं करता है, चुकाता नहीं है। दिमाग है, हरएक के पास है, और करीब-करीब हर आदमी यह सोचता है कि जो उसके पास है और जितना है, वह दूसरे के पास नहीं है; एक उसके पास है और आधे में सारी दुनिया है। अक्ल चीज ही ऐसी है। दूसरे का धन बड़ा लग सकता है; लेकिन दूसरे की अक्ल कभी बड़ी नहीं लग सकती है। तो मेरे मन में शुरू से इस अक्ल नाम की चीज का अविश्वास रहा। और मैंने जब लिखना शुरू किया तो मुझे ऐसा लगा कि प्रश्न और संशय शुरू से ही आ गया है। लिखने लगा तो लगा, संशय हुआ कि क्या यही ठीक है, इतना ही ठीक है? ये जितने भी हमारे मत हैं, मान्यताएँ हैं कि हम जमकर बैठ जाते हैं, जिसके लिए अक्ल को हम मौका देते हैं कि वह फैसला करे, मुन्सिफ बने। यदि दुनिया को खण्डित कर दें, वर्गों में बाँट दें तो यह अपनेपन के मोह से होता होगा। इसका मूल्य सन्दिग्ध है। यह काम बड़े लोगों के लिए ही छोड़ देना चाहिए। मेरे लिए तो जिज्ञासा ही काफी है। ज्ञानी बनने की अभिलाषा मेरे बस की है नहीं। मेरे लिखने का कारण जिज्ञासुता और सप्रश्नता है। जिसको कहानी लिखना है, उसको विज्ञता से घबराना चाहिए और अज्ञता को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। जो ज्ञान सत्य है, टिकनेवाला है उसका रूप सत्य का है, मतवादिता का नहीं है। ज्ञान वह है जो जीवन को समर्थ कर सकता है। जानने की इच्छा ही बुद्धिमत्ता का लक्षण है—जो जान गया कि वह जानता है, जान चुका है, वही है जो नहीं जानता है। और जो यह जानता है, वह इच्छुक रहता है। अगर कोई विचार है तो उसे आचार में परिणत करें। दूसरों से टकराने के लिए वह उसे नहीं फेंकता। वे लोग जीवन में परास्त हो गये हैं, टूट गये हैं, बिखर गये हैं जिन्होंने जीवन में केवल जाना ही जाना है। दो के बाद जिन्होंने तीन-चार एम.ए. किये हैं, उनकी गति आप देख लीजिए कि क्या हो गयी है! जीवन में से जो उपलब्ध होता जाता है और फिर जीवन पर घटित होता जाता है, वह तो ज्ञान है। मैं तो इसी में खैरियत देखता हूँ कि किनारे से निकल जाऊँ। हमारी कहानी-लेखक बिरादरी में से कोई इसका जवाब देगा। इस समारोह की निष्पत्ति क्या होगी, मैं कह नहीं सकता। कथा की गति में वेग आएगा, आये तो बहुत अच्छा है। लेकिन अधिक सम्भव यह भी है कि अवरोध आएगा। क्योंकि कहानी लिखी जाने और पढ़ी जाने से,

चर्ची जाने की चीज हो जाये तो समझ लीजिए कि वेग आएगा कि अवरोध? कहानी एक ऐसी चीज है कि लिखनेवाले और पढ़नेवाले के बीच किसी बिचौलिये की आवश्यकता नहीं होती, ईश्वर और मनुष्य के बीच पुजारी इत्यादि इतने लोग होते हैं कि ईश्वर गूढ़ होता चला जा रहा है। मैं मानता हूँ कि कहानी भी ऐसी ही सीधी-सादी चीज है कि उसमें एक हमारा बिचौलिया हो जो लेखक और पाठक के बीच कहानी की व्याख्याएँ करे तो मैं मानता हूँ कि कहानी जब-जब पाठक और लेखक के बीच पढ़ी जाती है, समझी नहीं जाती। यह सम्भव है कि इस व्यवधान के कारण पाठक भी प्रभावित हो कि कितनी ऊँची चीज है जो हमारी समझ में नहीं आयी। और लेखक भी समझें कि पढ़नेवाले चमत्कृत रह जाते हैं—इससे बड़ी चीज क्या है? आम तौर पर जो चीज समझ ली जाती है उसका मूल्य क्या है; वह तो बहुत सस्ती चीज है। ऐसी चीज होनी चाहिए जिसे समझने में दिमाग पर जोर पड़े। इस व्यवधान से आलोचक, प्राध्यापक, समीक्षक, कथा-ज्ञानी आदि का समावेश हो जाता है तो मैं मानता हूँ कि कहानी की प्रतिष्ठा उससे बढ़ती ही है। एक और चीज है जिसके बारे में चर्चा चलती रहती है कि यह जो समय है, युग है, समाज है, वर्तमान है, इनके साथ कहानी और साहित्य का सम्बन्ध क्या है? कहते हैं कि साहित्य दर्पण है। समय का, युग का दर्पण ही हो तो साहित्य से जो अपेक्षाएँ हैं वे पूरी नहीं हो सकेंगी। अगर केवल मात्र प्रतिबिम्ब हो तो वह काम पूरा हो नहीं सकेगा। इसलिए मुझे लगता है कि जो वस्तुगत तथ्य है, जो समय पर प्रतिफलित दीखता है, उसकी ज्यों का त्यों हम कहानी में बारीकी के साथ चित्रण कर देते हैं तो मेरे खयाल में इतने मात्र से कहानी सफल नहीं हो जाती। वह सदा साहित्य नहीं बन जाती है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि यह जो पैसा बढ़ रहा है इससे हमारी बुद्धि पैनी और प्रखर हो गयी है। इससे जो कुछ भी हम देखते हैं, उसको खण्ड-खण्ड, अणु-अणु छितराकर देख लेना चाहते हैं—विश्लेषक बुद्धि से। इतना विश्लेषण करती है कि संश्लिष्ट तत्त्व लगभग रह नहीं जाता, जिसे रस कहते हैं, प्रेरणा कहते हैं, वह संश्लिष्ट प्रभाव है। विश्लेषक बुद्धि केवल बारीकी में उतर सकती है किन्तु रस और प्रभाव की अन्विति उसमें कम हो जाएगी। जीवन के साथ कहानी का क्या सम्बन्ध है? इस पर जब विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि वैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं हैं। कहानी का सम्बन्ध अवश्य जीवन के साथ रोमेण्टिक सम्बन्ध है और रोमेण्टिक सम्बन्ध के माने यह कि हम प्रयत्नपूर्वक अन्तर रखते हैं। अन्तर नहीं रखते हैं तो आदर समाप्त हो जाता है, मूल्य समाप्त हो जाता है, मर्यादा समाप्त हो जाती है। अन्तर रखते हैं तो भावना का अवकाश रहता है। अगर विज्ञान वह है जो सेण्टीमेण्ट के लिए अवकाश नहीं छोड़ता है तो वह विज्ञान एटम बम

बनाएगा और एटम बम को सिर्फ रखे रहने से सन्तुष्ट नहीं हो जाएगा, आगे भी चलेगा। कोई चीज है कि जिसके कारण विज्ञान अपनी मर्यादा में रहता है। जीवन के बारे में मेरा दृष्टिकोण बना है कि आदर आवश्यकता है—जीवनमात्र का, जैसा श्वाइत्जर कहते थे। आदर रख सकना जीवन के लिए आसान काम नहीं होता। क्योंकि हर चीज में अपूर्णता दिखाई देती है और आदर तिरोहित हो जाता है। हर कोई अपने को मानता है और किसी को नहीं मानता है। इस प्रकार समाज चलता नहीं, चल सकता नहीं, लेकिन मैं अपने से दूसरे को मानूँ और अपने से अधिक मानूँ, यदि ऐसा हो सके तो मैं समझता हूँ कि हमारे जीवन में से विष समाप्त हो जाएगा और अमृत पैदा होगा। जीवन उस विज्ञान को स्पर्श दे जो ब्रह्माण्ड तक व्याप्त है और जिसे मैंने रोमांस कहा। विराट् के प्रति जो विस्मय का भाव है वह विज्ञान है। साहित्य की यदि कोई उपलब्धि है या उपादेयता है तो वह आदमी और आदमी के बीच में अहंता के सम्बन्ध को अनिवार्य नहीं समझता बल्कि दूसरे प्रकार का सम्बन्ध मानता है—सहानुभूति का, इससे आगे प्रेम का सम्बन्ध है। जब मैं किसी के निकट झुकता हूँ, उसके प्रति कृतार्थता अनुभव करता हूँ, उसे प्रथम और अपने को दोयम मानता हूँ तो वह प्रेम है। इसी का बढ़ा हुआ रूप भक्ति है। साहित्य में जब भक्ति का तत्त्व रहता है तो वह चरमोत्कर्ष पर रहता है और जितना उसमें तिक्त, अहंता का भाव रहता है तो वह अपने प्रयोजन में च्युत होता है। कहानी के बारे में मुझे लगता है कि साहित्य में कोई विधा नहीं है जो कहानी के अभाव में टिक सके। कहानी ही थी, उसका रूप बनावट, पहनावा कविता का था। वे हमारे पुराण हैं जिन्होंने हमारी संस्कृति की एकता को कायम रखा। उसके मध्य में कहानी की सिचुएशन जरूर रहती है। तो भी कुछ मुक्तक हैं जिनमें कथा का सन्दर्भ नहीं है। कथा की इतनी प्रधानता केवल इसलिए है कि जीवन के सम्बन्ध में हमारी मान्यता स्थिर और बँधकर रह जाये, दिमाग उस वक्त चला करता है। कहानी संस्कार देती है। उसका संशोधन करती है। चलता हुआ जो जीवन-व्यवहार है, उसके द्वारा सत्य की झाँकी कहानी देती है और वह टिक जाता है। शब्द में, सूत्र में, बँध गया वह तो स्टेटस-को का समर्थन करनेवाला होता है, जीवन को आगे नहीं बढ़ाता है। उपनिषद् को जब परम गुह्य बात कहनी हुई तो उसके पास कथा के अलावा कोई सहारा नहीं था। कथा-साहित्य का वही साफल्य है, कहानी से वह बात यदि हमें मालूम हो जाये जिसे मालूम होना चाहिए, कि जितने भी वाद हैं, जितनी मान्यताएँ हैं, उनका सापेक्ष्य मूल्य है। मनुष्य उसके मध्य में है, जो निरपेक्ष, मानव से व्यवहार में अलग जाकर, मानव-व्यवहार से अलग जाकर कोई मन्तव्य, कोई सूत्र अपने-आपमें सत्य हो नहीं सकता है...। मानव-व्यवहार की कसौटी पर जो टिकता है वह सही

है, तो मैं मानता हूँ कि ऐसा हमारा मनोभाव बन जाये तो साहित्य में, कथा-साहित्य में, अपना काम बहुत कुछ पूरा किया। मैंने कहानियाँ लिखी हैं और जब एकाध कहानियाँ छप गयी थीं, तो मैं बहुत उत्सुक रहा कि मैं यह जानूँ कि कहानी है क्या चीज! इधर-उधर जाता था कि कहानी क्या होती है, मुझे बताइए! एकाएक जब कुछ कहानियाँ छपीं तो किसी ने कहा—छपा हुआ मिल गया पढ़ने को, जब मैं घूमता-फिरता था दिल्ली में और आदत यह थी, कि जीवन से परास्त हो चुका था, यहाँ कलकत्ते में आया था, इस आशा से कि दस-पन्द्रह रुपये की कहीं नौकरी मिल जाये तो रह जाऊँगा। माँ का सामना नहीं होता था...। यह मेरी हालत थी और मैं जानना चाहता था कि कहानी क्या होती है; तो उसी समय पढ़ने को छपा हुआ मिल गया कि कहानी का जानकार जैनेन्द्र है। तब से कहानी का लिखना मेरा चलता रहा है, उसमें कोई खास दिक्कत नहीं हुई है; लेकिन यह बात मेरे मन में बँध गयी है कि कहानी का जानना कुछ होता नहीं है। जो कहानी के बारे में इतना जानकार था और वह जगह-जगह जाकर पूछता था कि कहानी क्या होती है, बताओ! उसी के सम्बन्ध में यह छपा मिल जाता है कि उसके समान जानकार कोई नहीं है, तो सिवा इसके क्या साबित होता है कि कहानी जानने की कोई चीज नहीं है। उसकी भाषा जब जानकारी की भाषा बतायी जाती है और लिखी जाती है तो मैं मानता हूँ कि कहानी पर कुछ अवलेप आ जाता है। जब कहानी जानकारी की भाषा से मुक्त होकर जीने की भाषा अपनाकर चलती है तो सरल हो जाती है, सबके लिए सुलभ हो जाती है। पण्डित के लिए इसी कारण वह शायद गूढ़ हो जाती है। मैं मानता हूँ कि कहानी के सम्बन्ध में परिचर्चा का जो बीड़ा आपने उठाया है, वह साहस का काम जरूर है, लेकिन मेरी प्रार्थना और भावना यह है कि कहानी-लेखन की दृष्टि से भी यह समारोह उपयोगी और लाभकारी हुआ तो मैं अपने को, आप सबको और समारोह को सफल समझूँगा—जिसकी कि सम्भावना मुझे कम दिखती है।

□

हिन्दी कहानी में यथार्थवाद का विरोध

आपके कलकत्ता कथा-समारोह में दिये गये भाषण पर हुई प्रतिक्रियाओं से ऐसा आभास होता है जैसे आपने यथार्थवाद का विरोध किया है। क्या आप इसे साहित्य के लिए इष्ट नहीं मानते?

—हाँ, वाद को साहित्य में मैं ठीक नहीं मानता हूँ। वाद स्थित मत का प्रतीक है! साहित्य में स्थिति से आगे गति की प्रतिष्ठा है। इसलिए किसी भी मतवाद के प्रतिपाद्य के लिए मैं साहित्य में अवकाश नहीं देखता हूँ। फिर यथार्थवाद की संज्ञा तो मुझे और भी सीमित जान पड़ती है।

कहा जाता है कि साहित्य समाज-जीवन का दर्पण है। साहित्य के लिए यह स्थिति कि वह बस बाह्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, मुझे ग्राह्य नहीं। आवश्यक मालूम होता है कि वह उस जीवन को प्रेरित भी करे। इसलिए मैं मानना चाहता हूँ कि यथावस्थित यथार्थताओं से अधिक साहित्य में सम्भावनाओं और कल्पनाओं का प्रतिफलन मिलता है। इन्हीं तत्त्वों के कारण साहित्य जीवन के लिए प्रेरक भी हो पाता है।

ऐसी मान्यता रखकर मेरे लिए अपने आरम्भिक भाषण में यह कहना आवश्यक हो गया कि केवल विश्लेषणपूरक बुद्धि से जो रचना होगी, वह यथार्थ को पकड़ने की कोशिश में परत पर परत खोलते हुए अन्त में नास्ति पर पहुँच जाएगी और उसमें समन्वित प्रभाव-प्रयोजन की कमी होने लग जाएगी। आवश्यकता साहित्य-सृजन में संश्लिष्ट आस्था की भी है जो वस्तु को अन्वित और खण्डित करके ही न देखे, बल्कि उसको अखण्ड के सन्दर्भ में सौन्दर्य से मण्डित करके भी देख सके। इसको यथार्थ-आग्रही से अधिक सत्य-आग्रही दृष्टि कह सकते हैं। यथार्थ के आग्रह में सौन्दर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। वस्तु की अनेकता बेहद उभर पड़ती है। जैसे मानो सब-कुछ परस्पर को व्यर्थ करता हुआ सिर्फ कटा-फटा हो। साहित्य वस्तु की अनेकता में से अपेक्षाकृत दृश्य के बीच मानो इतना

अन्तर रहने दिया जाता है कि दृष्टि काम कर सके और वहाँ सौन्दर्य को आविष्कार कर सके। चित्र से आँख सटाकर रखेंगे तो उसका सौन्दर्य समाप्त हो जाएगा। वहाँ रंग के धब्बे भर रह जाएँगे। भाव और अर्थ वहाँ से तमाम लुप्त हो चुका होगा। आज वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग के प्रभाव में कुछ ऐसी ही घटना घटती दिखाई दे रही है। अति बौद्धिकता का जोर है; वस्तु और व्यक्ति के बीच का अन्तर यथार्थवादी आग्रह के कारण विलीन-सा हुआ जा रहा है। मुझे कहना हुआ था कि इस युग में काव्य की जो माँग घट रही है, आदर्श का स्थान अवगणनीय बन रहा है, सो श्लाघनीय नहीं है। मुझे आवश्यक मालूम होता है कि वस्तु से वास्तव का अन्तर देखा जाये और रोमाण्टिक वृत्ति को तनिक फिर से अपनाया जाए। वैसी तटस्थता और निरपेक्षता के बिना वस्तुजगत का आशय पकड़ में नहीं आएगा, बल्कि वह वस्तुजगत ही हमको पकड़ लेगा और इस प्रकार साहित्य-स्थिति को सँभाले रखनेवाली राजनीति का अनुकर्त्ता मात्र रह जाएगा, उसका मार्गदर्शक एवं दिग्दर्शक नहीं हो सकेगा।

आज वैज्ञानिक बुद्धि के वशवर्ती होकर हम गणना में फँस गये हैं। वह गणन-वृत्ति हरेक को एक-दूसरे से अलग कर देती है। प्रत्येक पृथक् और घटक हो जाता है किन्तु सब अलग-अलग होने के लिए ही नहीं हैं। उनके बीच में व्याप्त एकता का सूत्र है जो अमोघ है। साहित्य उसी अमोघ, अनिवार्य, यद्यपि अप्रत्यक्ष तत्त्व की आस्था रखता और उसकी प्रतिष्ठा करता है। अनेक के बीच वह ऐक्य का उद्घाटन करता है। यही ऐक्य है वह पृष्ठ-सत्य, जो यथार्थ को सच्ची यथार्थता देता है। नहीं तो यथार्थ स्पर्द्धा-प्रतिस्पर्द्धा से भरा एक उलझाव मात्र रह जाता है और उसमें हर-स्वयं इतना प्रधान बन जाता है कि वह सर्वस्व को खा डालना चाहता है। इसी वृत्ति का परिणाम है कि संघर्ष सब कहीं दीखता है और सौमनस्य का अभाव-सा हुआ जा रहा है।

इसलिए आरम्भ में ही मैंने यथार्थवाद के प्रति अपनी दृढ़ अमान्यता प्रकट की थी और आस्था की आवश्यकता का समर्थन किया था।

यह आज की सभ्यता और विश्व की मानसिकता के प्रवाह को देखते हुए मैंने कहा था। मुझे डर है कि हिन्दी कथा-क्षेत्र में नये-पुराने शब्द को लेकर जो वृथा विवाद की स्थिति पैदा कर डाली गयी है, उसके सन्दर्भ में उन वाक्यों को ले लिया गया और फिर शायद उसके प्रति दुर्लक्ष ही हो गया। मेरे मन में उन नयी-पुरानी संज्ञाओं के लिए स्थान कभी नहीं रहा, न अब है। मैं मानता हूँ कि उनके सहारे चलकर साहित्य के मूल्य-निर्णय के सम्बन्ध में कोई प्रकाश मिलनेवाला नहीं है।

आपने जो संश्लिष्ट दृष्टि की बात कहीं, वह तो ठीक है, किन्तु विज्ञान के इस युग में गणक हुए बिना लिखा गया साहित्य पाठक को विभ्रमित ही नहीं करेगा?

विश्लेषक और विवेचक बुद्धि को ताक पर रखकर साहित्य लिखा जा सकेगा, यह मैं कैसे कह सकता हूँ। लेकिन हाँ, विज्ञान और अनुमान से इतना यदि सृजन में उसका उपयोग होगा तो उस बुद्धि को भावना की आवश्यकता होगी। एक शब्द 'प्रतिबद्धता' आज कल चला करता है। आस्था के अभाव में प्रतिबद्धता सम्भव नहीं है। यदि यह प्रतिबद्धता आत्मगत बिलकुल न हो, सर्वथा वस्तुगत हो जाए, तो साहित्य समाप्त हो जाता है, सिर्फ राजकारण हाथ में रह जाता है। तब बढ़ा-बढ़ी और आपाधापी आदि का प्रवेश साहित्य को घेर लेता है। हरेक के लिए यदि अपना-अपना स्व और स्वार्थ ही यथार्थ हो जाता है तो फिर बीच में से उनके प्रेम तिरोहित हो जाता है। साहित्य का सर्वस्व उन सबके बीच का प्रेम ही है, वही उसका यथार्थ भी है। सबका अपना विलगा और विरुद्ध स्व और स्वत्व साहित्य के लिए मिथ्यार्थ बना रहता है। साहित्य और राजनीति में यही अन्तर है। इसलिए वह दृष्टि जो स्वत्व को और स्वार्थ को किसी एक परमार्थ में मिला-जुला अभिन्न देखती है, इस दुनिया में किंचित् रोमाण्टिक दृष्टि समझ ली जाती हैं। कह लिया जाये उसे रोमाण्टिक, लेकिन अन्त में सत्‌दृष्टि भी वह ही है। इस दृष्टि को अपनाने में बुद्धि के लिए भरपूर पुरुषार्थ का अवकाश रहता है। सच पूछिए तो उस बुद्धि के साथ सही-सही न्याय तभी हो पाता है जब वह उस आस्था से अपना सामंजस्य बिठाने का निरन्तर प्रयास करती रही है। अन्यथा आस्थाहीन बुद्धि तो निरी अहंकृत हो जाती है और निन्दा, आलोचना का या काटने-कुतरने का ही उसका एक काम रह जाता है। वह रचना-निर्माण में फिर समर्थ नहीं हो पाती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि आप, साहित्य में जो यथार्थवाद आज चल निकला है, उसे आस्थाहीन बुद्धिजन्य मानते हैं और यह भी कि वह घटिया है! यहाँ साहित्य की परिभाषा का प्रश्न उभरता है जिस पर कलकत्ता कथा-समारोह में बहसें हुई थीं। क्या साहित्य की परिभाषा भी समय-समय पर बदलती रहनी चाहिए? कलकत्ता कथा-समारोह की इस दिशा में क्या उपलब्धि रही?

—हाँ, यथार्थवाद जो कहा जाता है, प्रकृतवाद तक पहुँच गया, सो शायद इसी आस्था-च्युत बुद्धि-प्रयोग के कारण।

मैं यथार्थ शब्द को सत्य में मिलाकर खो देना चाहता हूँ। ऐसे यथार्थ वस्तुतः और बाह्यता से मुक्त होकर अंतरंगता और आत्मता से अपनी सन्धि स्थापित कर

लेता है। ऐसे ऑब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव में अभेद स्थापित हो आता है। एक समन्वित संयुक्त इण्टिग्रल वास्तविकता अथवा सत्ता के प्रति उन्मुखता प्राप्त होती है। यथार्थ शब्द अपने-आपमें आत्मता से जो अछूता रह जाता है सो उसी मात्रा में अवास्तविक भी बन जाता है। इसी से स्थिति अनिवार्यतया यह बनी और आगे भी बन सकती है कि यथार्थ के वाद में से प्रकृतवाद या अश्लीलवाद जन्म ले निकले।

नहीं, विचार के उस स्तर पर कलकत्ता के कथा-समारोह में कोई उपलब्धि नहीं हुई। एक बहुत सँकरे दायरे में बातें चलती रहीं और वहाँ जो कुछ हुआ, उसमें काफी तो मेरे लिए अगम बना रह गया। कुछ व्यक्तिगत चर्चाएँ भी रहीं जिनका सार्वजनिक महत्त्व नहीं बनना या मानना चाहिए।

—कलकत्ते का यह कथा-समारोह संस्कृति-संसद की ओर हुआ था। उनका प्रयत्न सच्चाई के साथ उस कथा-समारोह को पूरी तरह सफल और समग्र और प्रतिनिध्यात्मक बनाने का था। यदि वह वैसा नहीं हो सका, कुछ एकांगी बन गया, तो कारण कुछ अन्य अथवा अन्यत्र रहे होंगे। लेकिन इन नेपथ्य की बातों की न मुझे परिचिति है, न चिन्ता है। इन और ऐसे समारोहों में साहित्येतर वातावरण बन ही जाया करता है। मेरी वहाँ जाने की रुचि अथवा वृत्ति नहीं थी। बाईस तारीख तक मैं निश्चित जानता था कि मैं नहीं जा रहा हूँ। बीच के डेढ़ दिन में मैं कुछ ऐसा घिर गया कि अन्त में मैंने अपने को कलकत्ते में पाया। यह निस्सन्देह बड़ी सफलता है कि इतने हिन्दी-कथा से सम्बन्ध रखनेवाले लोग वहाँ उपस्थित हो सके। सभी क्यों, धाराओं, विधाओं के बन्धु थे। उससे वातावरण किसी निश्चित स्तर का नहीं बन सका। मालूम होता है, ऐसे संयोजनों में विस्तार के लोभ का सँवरण अधिक उपयोगी होगा। यह मैं नहीं मानता कि खुलकर बातें हो सकें तो उससे अनिष्ट होता है। यह भी कि न वहाँ आपस का मनोमालिन्य था, न पैदा हुआ। कुछेक अप्रियताओं को छोड़कर मतभेद वहाँ मानसिक और वैचारिक था, जो स्वाभाविक और उचित है।

कथा-लेखकों से कथा-मीमांसा के अवसर पर अपेक्षा रखी जा सकती है कि वे किताबी भाषा में बात कम करेंगे जिसमें भारी-भरकम शब्द बेहद आ जाते हैं। बात कुछ निजी और घरेलू भाषा में की जाएगी जिसमें से परस्परोपलब्धि हो सके। शास्त्रीय शब्दों में की जानेवाली चर्चा किंचित् परोक्ष और सुरक्षात्मक बन जाती है। उस पर से रिपोर्ट तो अच्छी बनती है, निष्पत्ति कम होती है। समझ में नहीं आता कि कहानी-लेखक किताबी भाषा की विवशता में क्यों पड़ता है। वहाँ बहुत-कुछ ऐसा सुनने को मिला जो वक्तृत्व की कोटि तक उठा हुआ था और आपसीपन

से अछूता था। मेरे लिए वह अगम बना रह गया और विचारणीय नहीं हो सका।

प्रतिक्रियाएँ वहाँ की क्या हुई, मुझे पूरा पता नहीं है। एकाध जगह कुछ उस बारे में छपा अवश्य पढ़ा है। यह सही है कि हवा उससे साफ नहीं बनी। धुँध कुछ अधिक बढ़ गया। जो शब्द विचार को सुलझाने के बजाय उलझा रहे थे उन पर ध्यान उलटे बढ़ा और उभरा। नये पर जोर रहा, जो अपने-आप पुराने पर भी पड़ता चला गया। मुझे अपने बारे में सुनने को मिला कि प्रेमचन्द के समय के कहानी के साँचे को मैंने तोड़ा था। यह निरा अपवाद है। मैंने सिवा अपने-जैसा लिखने के कुछ और नहीं किया। प्रेमचन्द को तनिक भी कभी मैंने अस्वीकार नहीं किया। अपने को स्वीकार करने में किसी का अस्वीकार मेरे लिए आवश्यक या उचित नहीं बना, बल्कि उल्टे मैंने यह अनुभव किया है कि अपने सहज स्वीकार, अर्थात् अपनी मर्यादाओं के स्वीकार में शेष सबका सत्कार अपने-आप आ जाता है। किसी व्यक्ति या पीढ़ी का अस्वीकार जब भी मन में उठे तो मान लेना चाहिए कि हममें निश्छल आत्म-स्वीकारता की प्रक्रिया अभी अपूर्ण रह गयी है। हमारे मनों में अमुक ग्रन्थियाँ काम करने लग जाती हैं। ग्रन्थि बनने का कारण केवल अपनी निश्चल स्वीकृति का अभाव ही होता है। अमुक अभिनिवेश या आग्रह या आक्रमण उसी में से फलित होते हैं। यदि ऐसा होता हुआ कहीं दीख पड़े तो उसको सुनना और सहन कर लेना चाहिए और कभी उसको महत्त्व नहीं देना चाहिए। वैसी मनःस्थिति में से निकले सब उद्गार व्यक्ति को प्रकट करते हैं, साहित्यिक मूल्य-विचार से वे निरपेक्ष हुआ करते हैं। ऐसी लहरें तात्कालिक स्तर पर हमेशा चलती आयी हैं। तत्काल से आगे उनकी कोई संगति नहीं रह जाती है। लेकिन इस सम्बन्ध में अधिक चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक द्वारा सृष्ट साहित्य ही पीछे रह जाएगा, वादानुवाद पूछा नहीं जाएगा। कलकत्ता कथा-समारोह का बहुत-कुछ है जो टिकेगा नहीं, भूल जाएगा और खो जाएगा। इतना भर रह जाएगा कि सब लोग मिले और अपने-अपने मन का प्रकाशन किया और अन्त में इस मात्रा में सौमनस्य बढ़ा। और मैं मानता हूँ कि मुझे निजी तौर पर इस अर्थ में काफी लाभ हुआ। मेरे निकट आविष्कार हुआ कि भाई परसाई और श्रीकान्त वर्मा इतनी साफ, सीधी, खिलती और चुभती भाषा में अपनी बात कह सकते हैं। डॉक्टर शिवप्रसाद और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल की बातें भी मुझे हार्दिक और स्पष्ट लगीं। भीष्म साहनी लगभग नहीं बोले, किन्तु जितने शब्द आये, मिठास में से आये। वृन्दावनलाल जी, भगवती बाबू, और अमृतलाल नागर से तो अधिकार ही था कि हम अनुभव-सिद्ध वाणी के अतिरिक्त कुछ न सुन सकें। शेष मेरे मन में अपेक्षा बनी रह गयी कि बात यदि हृदय की भाषा में अधिक हो सकती तो मुझे भी कुछ पल्ले पड़ता।

वहाँ अपने पार्ट के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ। इतना याद है कि शब्द मसोसकर मैंने नहीं कहे। वह मेरा अभ्यास नहीं। अपनी समझ से व्यक्तिगत भी मैंने नहीं कहा और जहाँ जब कहना भी हुआ, वहाँ खुलकर उस व्यक्ति का नाम आ गया। एक बात जरूर दृढ़ता के साथ और शायद उघड़े शब्दों में मैंने कही और वह यह कि लिखने के लिए भुक्तभोग की भूमि ही आवश्यक है, यह विचार भ्रम है। विधायक और रचनात्मक कल्पना का साहित्य-सृजन में मुख्य भाग होता है, जीवन की सम्भावनाएँ उसी कुंजी से अधिक खुल पाती हैं। अनुभूतियों के घटनात्मक विस्तरण की आकांक्षा एक वृथा मोह है। साहित्यिक पूँजी जो उस प्रकार जुटाने की सोचता है, वह भटकने के लिए ही मार्ग निकालता है, जीवन-संचय उतना नहीं करता। नव-लेखन के नाम पर इस तरह की थियरी जगह-जगह प्रतिपादित की जाती सुनता और देखता हूँ। उस प्रतिपादन से निश्चय ही मेरा तीव्र विरोध है और उस विरोध को प्रकट करने के लिए अपनी भाषा को अहिंसाग्रही से अधिक सत्याग्रही रखना मैंने उचित समझा और समझता हूँ।

आपने कहा है, 'घटनात्मक विस्तरण की आकांक्षा एक वृथा मोह है।' और इसी सन्दर्भ में शायद आपने इस समारोह में भी कहा था कि यदि तुलसीदासजी वैसी आकांक्षा रखते तो सीता माता न होकर सीता मादा ही रह जातीं। प्रेस रिपोर्ट्स में इस बारे में इकतरफा तस्वीर सामने आयी है। क्या आप इसे अधिक स्पष्ट करने की कृपा करेंगे?

—हाँ, मैं असहमत हूँ इस मत से कि भोग के विस्तार में से जीवन का उतना ही मर्माशय प्राप्त होता है। तुलसीदासजी ने रामायण लिखी। मैंने कहा था कि मालूम नहीं, उन्हें अपनी पत्नी का कितना सहवास मिला। यदि एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी पत्नी आदि के साथ का वास उन्हें मिला होता तो शायद नारी-स्वभाव का अनुभव उनका विशद बना होता। तो क्या वैसी अवस्था में हम यह दावा कर सकते हैं कि वह रामायण से कहीं बड़ा मास्टरपीस लिख जाते? नहीं, इस प्रकार के अनुभवों के विस्तरण से अधिकांश हुआ करता है कि स्त्री देवी होने की ओर नहीं उठती, बल्कि घटकर मानो मादा होने लग जाती है। तुलसी उस दिशा में बढ़ते तो कौन जाने, सीता माता की जगह उनके लिए मादा भर रह जाती। मैं उस दृष्टि को वैज्ञानिक और यथार्थ नहीं मानता हूँ जिसमें स्त्री, स्त्री से अधिक मादा बन जाती है। मेरे लिए वह कहीं अधिक मानवीय, वैज्ञानिक और सत्य दृष्टि है जिसमें स्त्री हमारे लिए देवी का रूप तक प्राप्त कर लेती है। पश्चिम से चलकर बहनेवाली हवा कुछ ऐसी चल रही है कि हम पुरुष-स्त्री को नर-मादा तक उतारकर देख सकें तो वही दृष्टि गहरी, पैनी और यथार्थ है?

उलटे में यह मानना चाहता हूँ कि इस वासना में दृष्टि और दर्शन जैसा कुछ है ही नहीं। इसमें तो प्रकृत आसक्ति मात्र है। रचना की सम्भवता तक इस वृत्ति में शक्य नहीं है। रचना के लिए तटस्थता अनिवार्य है। यदि मनुष्य केवल भोक्ता है तो स्रष्टा नहीं हो सकता। स्रष्टा तभी हो सकता है जब भोक्ता में स्रष्टा भी जीवित रहता है। तमाम सृष्टि, कला-सृष्टि, साहित्य-सृष्टि, ज्ञानसृष्टि—मनुष्य के स्रष्टा रूप के परिमाण में ही प्राप्त होती है।

इसलिए शायद दृढ़ से भी अधिक कठोर शब्दों में मैंने उस भ्रान्ति का निराकरण किया था जो कलाकार समाज में बेहद फैली हुई मालूम होती है। 'बीटनिक, एंग्री, हंग्री' आदि शब्दों की दुहाई देते हुए जो अनेकानेक वर्ग उठते जा रहे हैं, वे इसी सिद्धान्त के आकर्षण में विभोर हैं। हमारे यहाँ भी अध्यात्म का गाँजे और सुल्फे से सम्बन्ध बन गया था। अघोर पन्थ जैसा भी पथ उठा था। साधना का तान्त्रिक रूप चला था। उस सबमें कुछ तर्क नहीं है, यह मैं नहीं कहता हूँ, बल्कि मैं स्वयं मानता हूँ कि योग कोई आनन्दहीन तत्त्व नहीं है। भोगानन्द, ब्रह्मानन्द की तुलना में अत्यन्त स्वल्प होता है। इसलिए इन शब्दों में निग्रह, दमन अथवा किसी कृच्छ तपश्चर्या का समर्थन नहीं देखना चाहिए। जो आशय है वह यह कि जीवन की सार्थकता की दिशा फैलाव नहीं, गहराई है। एक में सबको पाया जा सकता है। और सब-कुछ को छान देखने के आग्रह में भी एकदम खाली हाथ रह जाया जा सकता है। उस प्रकार के अनुभव के विस्तार के सिद्धान्त में से लोग हुए हैं जिन्होंने पाप में घुसकर पाप के मूल को समझ लेना चाहा है। समझकर क्या वे पा सके, या दे सके हैं, पता नहीं। लेकिन मैं उस लालसा में कोई समुपलब्धि की सम्भावना नहीं देखता। मुझे नहीं मालूम, इस सम्बन्ध में अखबारों में क्या छपा है। लेकिन जो बात मेरी ओर से कही गयी थी, वह सीधे-सादे शब्दों में ऊपर आ जाती है।

क्या उक्त प्रश्न पर समारोह में मीमांसा हुई? मोहन राकेश और कमलेश्वर के वक्तव्यों पर आपका क्या मत है?

—शायद उन वाक्यों को व्यक्तिगत आक्रोश और आक्षेप के रूप में समझकर टाल दिया गया। मेरे मन में व्यक्ति थे ही नहीं। मेरे मन में केवल मूलभूत प्रश्न था। असल में यह चर्चा प्रसंगवश ही उठ आयी थी। दो-एक वक्तव्यों में कह दिया गया था कि हिन्दी-कहानी में आधुनिकता जैनेन्द्र से शुरू हुई। यह भी कि जैनेन्द्र लेखक आधुनिक है। इसी पर हठात् उठकर मुझे कहना पड़ा कि मैं इस अभियोग को अस्वीकार करता हूँ (आई प्लीड नोट गिल्टी)। जैनेन्द्र किसी हालत में आधुनिक लेखक नहीं हो सकता है, न उसे आधुनिक होना मंजूर है। आधुनिक

जीवन का बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसके अनुभव से वह वंचित है। इस अनुभव की पूँजी की कमी पर यदि कोई चिन्तित नहीं है तो वह आधुनिक कैसे मान लिया जा सकता है?

इसी बचाव में मैंने अपने अन्तिम वाक्य में कहा था कि साठ बरस आयु के हो चुकने पर भी अगर जैनेन्द्र आधुनिक लेखन करता है तो क्या बीसी-तीसी के उमर के लेखक, आप मानते हैं, झख ही मारते हैं? इसका आशय था कि आधुनिक और उसी जोड़ में प्राचीनता आदि शब्दों के सहारे जैनेन्द्र का काम नहीं चला है। खासकर आधुनिक मतवाद की कसौटी से कि जिसका चलन है, वह एकदम उतरा हुआ है। उसकी कहानियाँ वस्तुगत अनुभव की सृष्टि से सच्ची नहीं हैं, उनकी सच्चाई यदि है तो निष्ठागत है। स्पष्ट ही वे गढ़न्त हैं।

उक्त मेरे मन्तव्य को व्यक्तिगत भूमिका देकर उद्वेग का कारण बन जाने दिया गया। विचार-विवेचन के स्तर से उसे अलग-थलग रह जाने दिया गया, इस पर मुझे खेद रहा और अब भी खेद है। हमारे एक नेता बन्धु, जो यों विचक्षण हैं, उसके सारे आशय से अछूते बने रह गये और भड़क तक पड़े। इसी से समारोह के उत्तप्त वातावरण की कल्पना की जा सकती है।

श्री मोहन राकेश और श्री कमलेश्वर के वक्तव्य संभ्रमयुक्त और विद्वज्जनोचित थे। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वे मेरी कक्षा से ऊँचे थे। मुझे अनुभव हुआ कि मैं उतना पढ़ा-लिखा नहीं हूँ।

आज के कहानी-लेखन में आप क्या सम्भावनाएँ पाते हैं?

—सम्भावनाएँ! सम्भावनाएँ तो बड़ी उज्ज्वल मालूम होती हैं। डर यही है कि हिन्दी का क्षेत्र बढ़ रहा है और बाजार भी बढ़ रहा है। इसलिए उस धूमधाम और कोलाहल में गुण अनपहचाना और पिछड़ा रह जा सकता है; लेकिन हर सच्चाई को इस परीक्षा में से तो गुजरना ही होता है। इसलिए व्यग्र अथवा निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है।

कहानी के क्षेत्र में बहुत तेजी से और बहुत दिशाओं में काम हो रहा है। उस सबका लेखा-जोखा तो मैं नहीं दे सकता हूँ, तो भी काफी-कुछ निगाहों से गुजरता है और अपने को अत्याधुनिक से अवगत रखने की भी कोशिश करता हूँ। इस प्रयास में तीन नाम सहसा मन पर अंकित होकर उभर आये हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों की पकड़ से मैं बच नहीं सका हूँ। उषा प्रियंवदा की रचनाएँ मर्महीन कभी मैंने नहीं पायीं। उनमें संगोपन और सांकेतिकता भरपूर मिलती है। इधर मनहर चौहान का एक संग्रह देखने को मिला। कथा कहने की सहजता, साथ ही संवेदन की समता और सूक्ष्मता मुझे बहुत प्रभावोत्पादक लगी। याद पड़ता

है, मोहन राकेश की रचनाओं की छाप मुझ पर गहरी पड़ी थी। इधर वह अपेक्षया अवश्य कुछ भूखी-सी रह जाती है। अतीव नयों में कोई नाम उतना अभी पक्का तो नहीं बन सका है, लेकिन एक ताजगी अकसर देखने में आती है। कुल मिलाकर बहुत कीमती काम हो रहा है और हिन्दी में निश्चय ही कहानी के स्तर की तुलना किसी भी भारतीय भाषा बल्कि अनेक विदेशी भाषाओं की तुलना में हलकी नहीं बैठती। भारतवर्ष में नयी से नयी लहर का स्पर्श भी मिलता है और प्राचीन परम्परा की जड़ें भी यहाँ से कभी उखड़ी नहीं हैं। इस तरह अत्यन्त गहन और सम्पन्न भाव-मंथन की सामग्री भारतीय जीवन में आज उपस्थित है। रूस देश का वह जमाना जब वहाँ एक साथ तुर्गनेव, टॉल्स्टाय, दास्तोएविस्की और गोर्की जैसे दिग्गज उदय में आये, मानो सम्प्रति भारत भोग रहा है। यहाँ की राजनीति शिथिल और स्थितिशील जो बनती जा रही है, सो आशा है कि उसकी क्षतिपूर्ति साहित्य द्वारा होगी। ऐसा ही होता है और सचमुच उसकी चिंगारी जहाँ-तहाँ कहीं-कहीं दीख जाया करती है।

□

वक्तव्य

अभी एक पत्रिका में कुछ प्रतिक्रियाएँ पढ़ने को मिलीं। कलकत्ते में कथा-समारोह हुआ था और उसी के परिणाम में वे उपजी हैं। उसने मुझे चिन्ता में डाल दिया है। मैं अपने को अहिंसा का विश्वासी मानता हूँ। मानता हूँ कि यहाँ हर प्रकार के जीवन को खिलने-खुलने का अवसर मिलना चाहिए लेकिन उस पत्रिका से मालूम होता है कि काफी कुछ अनिष्ट भाव मुझको और मेरे वक्तव्यों को लेकर जन्मे और सब जीवन के सौमनस्य को वे नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं।

इससे लिखे शब्द की अपेक्षा में बोले गये शब्द की उपयोगिता-अनुपयोगिता के बारे में मन्थन चल निकला है। लिखा गया शब्द समूह के, भीड़ के, पास नहीं जाता। वह एक-एक पढ़नेवाले के पास पहुँचता है और हठात् नहीं पहुँचता, यानी वह उसके अस्तित्व को टक्कर नहीं देता। पढ़नेवाले में माँग होती है, ग्रहणशीलता होती है और तब लिखे हुए शब्द के द्वारा लेखक की बात उस तक पहुँचती है। दोनों में किंचित् परस्परोन्मुखता बन चुकी होती है। हो सकता है कि लेखक का शब्द और भाव पाठक के, मन के, और मत के अनुकूल न हो। चाहे तो वह प्रतिकूल ही पड़ जाता हो, तो भी पाठक के अस्तित्व को कहीं लेखक के शब्द से यदि कुछ चुनौती मिलती भी है, तो वह उसकी मानसिकता को मिलती है। इस पद्धति से साहित्य के शब्द का प्रभाव एक-एक की मानसिकता को जगाता, चौंकाता या ठेलता हुआ व्यापक बनता जाता है। उसका परिणाम चैतन्य-उद्‌बोधन की दृष्टि से इसलिए अनभीष्ट नहीं होता। साहित्य के शब्द ने काफी हलचल और उथल-पुथल भी मचा दी है। लेकिन यह आलोड़न मानसिकता के स्तर पर होने के कारण अन्ततः जीवन-साधक ही होता है। वह मन्थन जीवन के नवनीत को ऊपर लाता है और कुल मिलाकर चैतन्य को प्रकर्ष और उत्कर्ष देनेवाला बन जाता है।

लिखा हुआ शब्द किसी के सिर पर जाकर नहीं पड़ता। आप नहीं पढ़ना चाहते हैं तो नहीं पढ़ते हैं। पढ़ते-पढ़ते अरुचि से ऊब जाते हैं तो छोड़ देते हैं।

यह सुविधा मंच से बोले हुए शब्द में नहीं रहती। वह हठात् आप पर पड़ता है और आपसे टकराता है। आपमें उसकी माँग नहीं है। पर अगर बैठे हैं तो उससे बचने का उपाय भी आपके पास नहीं है। मंच से बोला गया शब्द आप पर पड़ता है। आपसे बात नहीं की जा रही है, आप पर वह डाली जा रही है और इस तरह उसमें खतरा पैदा हो जाता है कि आपके अस्तित्व और व्यक्तित्व को वह छेड़ पड़े, जबकि आपकी मानसिकता सर्वथा उससे अछूती ही बनी रह जाती है। उसकी चोट अहंता को लगे और वे शब्द ही लेखक, पाठक के सम्बन्ध से विरुद्ध वक्ता-श्रोता में एक प्रकार की अनात्मीयता पैदा करनेवाले बन जाएँ। वे शब्द ऐसी लहरें उठाएँ जिनसे विग्रह बढ़े और आवेश उत्पन्न हो। मंच से बोले गये शब्द व्यक्ति के प्रति नहीं जाते, समूह और भीड़ से कहे जाते हैं। इसलिए उनके अर्थ भी अलग-अलग तरह से लिये जाते हैं। तात्कालिक मनोभावों का ही उन अर्थों या अनर्थों पर असर पड़ सकता है। इस तरह मंच पर से बोला गया शब्द व्यक्तिगत अनुबन्ध से निरपेक्ष हो जाता है और वह चैतन्य का उपकरण नहीं रहता बल्कि समूह के आवेशों, अभिनिवेशों के काम आने लगता है। उससे इस कारण सांस्कृतिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अधिकांश राजनीतिक परिणाम निकाला जाता है। सामुदायिक आवेश और अभिनिवेश राजनीति में गर्मी लाते हैं और हम इस पद्धति से उसे उभारते हैं। राजनीति में व्यक्ति गौण हो जाता है, गुट गणनीय बनते हैं। इसलिए राजनीति का खेल अन्तश्चैतन्य को उद्बुद्ध करनेवाला नहीं हुआ करता है, अधिकांश मोहाविष्ट करता है और व्यक्ति की आत्म-निर्भरता को वह कम करता है। वह संगठन का माध्यम बनता है और उद्बोधन के मार्ग में अकसर रुकावट बन जाता है। खासकर वह मंच, जहाँ वक्ता-श्रोता के बीच केवल ग्रहणशीलता का सम्बन्ध न हो, बल्कि वह मंच वाद-विवाद का हो।

मैं इस बारे में अब तक असावधान रहता आया हूँ। मंचों पर जाने और समूह के प्रति बोलने में झिझका नहीं हूँ। अब मालूम होता है, झिझकने की आवश्यकता है। आवश्यकता इसलिए है कि लिखे हुए शब्द का भी उपयोग मैं करता हूँ। लिखा शब्द समूह को स्वीकार नहीं करता; व्यक्ति से वह व्यक्ति को जाता है और जिसके लिए समर्प्य व्यक्ति हो, उसे जमाव के प्रति बोलने में कठिनाई होनी चाहिए। छोटी-मोटी गोष्ठी तो भी चल सकता है। कारण, उस गोष्ठी में मानो एक व्यक्तित्व का निर्माण हो आता है। खुले जमाव में वह शक्यता नहीं रहती, इसलिए वहाँ का शब्द स्थिति-निरपेक्ष और व्यक्ति-निरपेक्ष हो चलता है और अर्थ का अनर्थ पैदा कर देता है।

गहरे सोच में इसलिए मुझे अब पड़ जाना पड़ा है। सुनता था कि लेखक अच्छे वक्ता नहीं होते। अब तक इसकी संगति मुझे समझ नहीं आती। अब मालूम

होता है कि लेखक को वक्ता होना भी नहीं चाहिए। यदि वक्ता वह सफल हो तो शायद लेखकी पर उसका दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। बोलने में तात्कालिक प्रभाव की अपेक्षा भी जुड़ जाती है। लिखने से भी उसका योग हो जाता है तो उसमें कृत्रिमता आने की सम्भावना है। लेखन आत्माभिव्यक्ति है। जितनी वह अपने प्रति सच्ची होगी, उतना दूसरे के अन्तरंग को छुएगी। अगर बाह्य प्रभाव की आसक्ति उसमें आ मिलती है, तो उसकी अन्तरंगता किंचित् अहंता से कलुषित होती है। वह फिर सच्ची नहीं रह जाती है। लेखक को इसकी थोड़ी सुविधा भी इस कारण रहती है कि वह अकेला होकर लिखता है, कोई श्रोता-वर्ग उसके समक्ष नहीं रहता। उसे अपने से जूझना पड़ता है; और लिखने के द्वारा मानो वह अन्ततः अपने से ही सामंजस्य साधना चाहता है। फैला श्रोता-वर्ग उसके सामने हो तो उसके मनोभाव विचलित हो सकते हैं और अपनी ही मर्म-भूमिका से च्युत होकर वह तात्कालिक और लौकिक प्रयोजनों में बह जा सकता है।

आदमी अपनी ही भावना में तब उतरता है तो आत्मशुद्धि की ओर बढ़ता है। लेखन इसमें सहायक होता है और कोई ऐसा नहीं है जो सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो। इसलिए बाहर आकर वे लोग अधिक सफल होते हैं जो हार्दिक से अधिक कुशल होते हैं। हार्दिक जैसा का तैसा प्रकट हो सकता है। कुशल वह है जो अपने ही अनभीष्ट को पीछे रोक रख सकता है और केवल अभीष्ट को ही सामने लाता है। किन्तु कुशल व्यक्ति अपने अनभीष्ट को पीछे रखकर चलने की क्षमता के आधार पर इसलिए घाटे में रह जाता है कि वह उस अनिष्ट तत्त्व से मुक्त होने की चिन्ता से बच जाता है। ऐसे दुमुँही व्यक्ति बनने की सम्भावना रहती है। दो खाने बन सकते हैं जिनमें हम अपने भीतर बँटे हैं—शिष्ट सामने आने के लिए और शेष पीछे बचे रह जाने के लिए। लेखक होकर किसी के लिए यह सम्भव नहीं रह जाता है और नहीं रह जाना चाहिए कि वह दो खानों में बँटा हुआ जीये चला जाये। उसे अविभक्तता चाहिए कि फिर लौकिक सफलता चाहे उससे हटती ही क्यों न चली जाये। इस तरह अकसर देखा गया है कि लेखक, जो कोमलतम भावों की अभिव्यक्ति अपने लेखन में कर पाता है, प्रत्यक्ष जीवन में वही अनगढ़ और फूहड़ दीखता है। उदात्त अनुदार दीखने में आता है और आदर्शोपम कृपण बन आता है। यह केवल इसलिए कि अपने अनिष्ट भाव को केवल पिछवाड़े रखकर ही जीने की कला उसे नहीं आती है। भावना में उतरकर जब वह लेखन-कार्य करता है तब अवश्य यह अनिष्ट वहाँ उपस्थित होने के लिए नहीं आ पाता। इस तरह उसकी रचना भव्य से भव्यतर होती चली जाती है और वह अपने बहिरंग में उजड्ड और अव्यवहारी बना रहता है। अपने इस असावधान बहिरंग को लेकर उसे बाहर जाना और जीना पड़ता है और अन्तरंग

की दुहाई नहीं दे सकता। इसलिए अच्छा है कि वह लिखे और बाहर व्यापक सामुदायिक सम्पर्कों से वह बचे।

पर इस सबके बाद मैं अपने को लेकर सोचता हूँ। लेखक मैं बना तो अपने बावजूद। लेखक के स्वधर्म के बारे में मैं कभी सावधान नहीं रहा। लिखा तो बहुत कम और जो मन में आया। लेखक की एक श्रेणी होती है। उसका अपना एक स्थान और भूमिका होती है। मालूम होता है कि उस पर टिककर रहने का अवसर मेरे लिए आया नहीं। आवारा था, आवारा बना रह गया और सोचता हूँ कि अगर बाहरी सम्पर्कों की कसौटी से बचकर, अपने में रहकर कलम चलाये जाता हूँ तो फिर अपने दोष उघड़कर उजागर सामने आएँगे कैसे? मानव-सम्बन्धों और सम्पर्कों में व्यक्ति की वास्तविकता नंगी हो पड़ती है; मानो वह दर्पण है जहाँ आदमी अपने को देख सकता है। मन में मैं अपने को जो चाहे मान सकता हूँ पर जो हूँ वह तो मुझसे अन्य पर अनायास प्रकट हो आता है। इसलिए क्या मुझे सचमुच चाहिए कि वहाँ से टूटकर मैं कोई कृत्रिम एकान्त बनाकर अपने में खिंच बैठूँ कि जहाँ आदमी की कसौटी है और फिर जहाँ ही उसकी मुक्ति भी है! आदमी नहीं है मुक्त अपने में। न ही ऐसे मुक्त हो सकता है। उसकी मुक्ति है अनिबन्ध प्रेम-सम्बन्ध में। मुक्ति है इसमें कि वह सबके प्रति समर्पित हो और वैर-विरोध की आवश्यकता उसके लिए कहीं रह न जाये। कुछ न बचे जो उसे अनात्मीय हो। न कुछ रहे जिससे उसे भय या आशंका की आवश्यकता हो। अपने को लेकर सब में होने के लिए वह बढ़ निकले। कहीं उसे अंतराय न रह जाये, न कहीं उसके अपनेपन को बन्द होना पड़े।

लेखक सफल शायद वह हो सकता है जो भावना में रहे और इसलिए शुद्धतम और सूक्ष्मतम रूप पकड़ता जाये। ऐसे वह स्वल्पतम भी होता जाएगा। वह एक बनेगा और एकाकी बनेगा। शायद इसमें वह असामाजिक भी बन जाये। होते-होते वह विक्षिप्तता के निकट ही पहुँच जाये। वह भावुक होता जाये इतना और इतना कि स्वयं सीधा स्तर टिक न सके। आश्रय उसे कृपा का हो और लेखनी के सिवा अन्यत्र उसकी भावना निरी गुण्ठल बनी रह जाये। यह हो सकता है और इसमें मेरे लेखन का साफल्य भी देख लिया जा सकता है।

लेकिन भावना में व्यक्ति नहीं जीता। जीने में कर्म भी लगता है। और भोग से वह बाहर नहीं जा सकता। बचकर अपने में सिमटे तो गाँठ के मानिन्द ही वह बनता है, मुक्त और प्रशस्त नहीं बनता। पर चैतन्य होकर वह जन्मा है तो चेतना घिरकर रहनेवाली नहीं है। सब ओर से उसे आमन्त्रण है और चुनौती है। चैतन्य अपने को सर्वथा जड़ बना नहीं सकता। आमन्त्रण और चुनौती के उत्तर में जो रुकता है तो जड़त्व को ही अपनाता है। यहाँ रुकना नहीं है, खुलते जाना

है। रुकने पर बाह्य जगत बन्धन हो रहता है। उसके निमन्त्रण और चुनौती पर अपने चैतन्य को खुलते जाने देने में से ही मानो बाह्य जगत में से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। निश्चय ही इसमें टक्कर होगी, विग्रह होगा। नाना प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होंगे और मालूम होगा कि मुक्ति पथ राजपाथ नहीं है। वह बड़ा ही कण्टकाकीर्ण है और जीना पुरुषार्थ है, समस्या है। इसमें यात्री क्षत-विक्षत होता है। अस्त-ध्वस्त होता है। पर यात्रा छोड़ी कैसे जा सकती है? यदि मूल चैतन्य खो नहीं गया है और प्रेम-निष्ठा अकुण्ठित है तो बीच के सारे झगड़े-बखेड़े सहे जाएँगे और पार होते जाएँगे। अति दुर्गम मार्ग है और संसार नाना अहंताओं से घिरा रहता है। पग-पग पर अवरोध है क्योंकि वहाँ मुझसे दूसरा है। किन्तु दूसरा यहाँ किया है, कौन है और इसलिए चित्तनिष्ठ होकर जो चलता है, मानो वह आत्मताओं और आत्मीयताओं के बीच से सहज मार्ग पाता जाता है। धूल उड़ती है, धुन्ध भी पैदा होती है, ताने-तिरस्कार बनते और मिलते हैं, पर यह तो जीवन का भोग और प्रसाद है; अनबन बनती है और अर्थ का अनर्थ रचा जाता है। फिर भी क्या डर है? अन्त में आदमी को तो रहना नहीं है। रहना सच को है और सच की राह में फूल ही फूल तो मिलनेवाले नहीं है; काँटे फूलों से कम सच नहीं होते और आयु बीतती है और आदमी का अन्त होता है। शरीर गिर जाता है और क्षय को प्राप्त होता है। जो बचता है, वह स्वयं नहीं होता। स्वयं से शेष होकर जो रहता है, वही बचा रह जाता है; अर्थात् सृष्टि रहेगी और सृजन रहेगा और आदमी एक-एक कर आता जाएगा, करता जाएगा और जाता जाएगा। इसलिए भावना की पूँजी लेकर हर आदमी को परस्परता के विशद होते हुए कर्म-मार्ग पर बढ़ते ही जाना है। कुलिश और कर्दम से उसे व्यक्त नहीं होना है और लगता है कि साहित्य की मौन वाणी के अवलम्ब से ही उसे नहीं जीना है बल्कि आपसीपन में काम आनेवाली मुखर और मंच वाणी से भी उसे कतराना नहीं है। कारण, आदमी कितना ही लेखक हो, कितना ही भावुक हो, वह अपने में कुल और समाप्त नहीं है। उसे शेष दिशाओं में भी होना है। उसे हर 'पर' में उतरना है जिसको उसका एकाकी स्वयं सार्वजनीन आत्म बन जाये। इस प्रक्रिया में विकास साधने के लिए उसे शब्द प्राप्त हुआ है। लिखा गया मूक शब्द, साथ ही बोला गया मुखर शब्द, हर शब्द लहर उठाएगा। उन लहरों से फेन पैदा हो सकता है, गर्जन-तर्जन का रव भी उठ पड़ सकता है; किन्तु लहर उठकर फिर रुकना नहीं जानेगी और यदि शब्द आत्म के तल से आया होगा, तो वह सर्वात्म को प्राप्त होगा, बीच में बन्ध नहीं होगा।

और मैं सोचता हूँ कि पत्रिका में प्रकट हुई प्रतिक्रियाएँ यद्यपि घोर हैं, कठोर हैं, तो भी यदि मुझे मुक्ति चाहिए तो उस सबको पी जाना होगा और निष्ठा को

अक्षुण्ण रखकर बचने की युक्ति की खोज में पड़ना नहीं होगा। अच्छा है कि व्यक्तित्व न विचलित हो। उनकी मानसिकता ही हिले। प्रत्येक की श्रद्धा अविचल रहे, आग्रह और अभिनिवेश अवश्य क्षुब्ध और आलोड़ित हो आएँ। लहरें उभरें जो शरीर को ज्यों का त्यों पार करती चेतना को झनझनाती और जगाती चलें। शब्द इसी तरह अपना काम करेगा। स्थूल को छोड़ देगा, सूक्ष्म जाकर अपना प्रभाव छोड़ेगा। किन्तु यदि स्थूल उससे विचलित होता दीखे, स्वार्थों के सूत्र हिलें और छिड़ आएँ और उस कारण विग्रह में द्वेष भी पैदा हों, तो भी सब कुछ सह जाना होगा और अपनी प्रार्थना और निष्ठा में भंग नहीं आने देना होगा। प्रार्थनाएँ सब अक्षुण्ण रहें और सब जड़ता और अहंता से उठकर जाग और चैतन्य में एक होते चले जाएँ।

□

'पत्नी' के बारे में

'पत्नी' कहानी किस सन् में लिखी गयी, ठीक याद नहीं। जान पड़ता है, प्रेमचन्द तब जीवित थे यानी सन् 1936 रहा होगा।

यों तो 'क्रान्तिकारी' शब्द हमेशा ही आकर्षण का केन्द्र रहा है। पर तब उसमें और भी विशेष महिमा पड़ चुकी थी। लेकिन मेरे मन में होता था कि दृष्टि पर बहुत-कुछ निर्भर है। सच अपने में निर्गुण होता है। वह वर्णनातीत है, उसमें अपना रूप-वर्ण नहीं होता। धूप को तोड़ो तो ही नाना रंग बनते हैं, अन्यथा धूप केवल उजली होती है यानी क्रान्तिकारी को अपनी मनोरम अभिलाषाओं से मण्डित करके जो हम देखते हैं, सो शायद यथार्थ सत्य नहीं देखते। उसे निरपेक्ष परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो चित्र तब शायद बदला हुआ दीखे। उतना मोहक भी चाहे वह न हो। चलो, प्रयोग कर देखें।

उन दिनों क्रान्तिकारी भगवतीचरण की कहानी उज्ज्वल वर्णों में उभरकर सामने आयी थी। वह बम-गोले के साथ प्रयोग करते समय लाहौर में रावी नदी के किनारे घायल हुए और देहान्त प्राप्त कर गये। घायल होने और मरने के बीच काफी समय उनमें साँस रहा। बताया जाता था कि इस अवधि में भी उन्हें अपने कष्ट का उतना ध्यान न था जितनी देश के और दूसरे साथियों के योग-क्षेम की चिन्ता थी, आदि-आदि। वीरता की बातें सुनकर हठात् उन पर मन जाता था। मैंने सोचा कि वह तो क्रान्ति को लेकर जी गये, लेकिन उनको लेकर सगे-सम्बन्धियों ने क्या पाया?

कहानी उपजी इस बिन्दु से। पति के देहान्त, बल्कि बाद तक कहानी को मैं ले जाऊँगा, ऐसा सोचकर रचना का आरम्भ हुआ। केन्द्र में पत्नी हो आएगी, ऐसा अनुमान न था। आप जानते हैं, मैं स्वयं नहीं लिखता-लिखाना पड़ता है। लेखक बन्धु को बीच में तनिक उठना हुआ। मैंने देखा कि पाँच-छः शीट होने आ गये हैं। कहानी तकाजे के जवाब में लिखनी शुरू की गयी थी यानी कि झट इधर हो, उधर फट उसे भेजकर छुट्टी पायी जाए। पाँचेक पृष्ठ में तो कहानी

बन ही जाती है। कहानी के नाम पर उतना आकार-प्रकार आसानी से निभ जाएगा। लेखक बन्धु आये तो मैंने कहा, 'छोड़ो, एकाध वाक्य और बोले देता हूँ। बस, इतनी ही को भेज दो।' ऐसे वह कहानी बनी और नाम 'पत्नी' देना पड़ा। 'पत्नी' इसलिए कि वहाँ तक जो रचना की रूपाकृति बनी थी, वह पत्नी के पत्नीत्व को ही उभार दे पाती थी। पत्नी की अपेक्षा में ही पति वहाँ मानो अपना समर्थन-असमर्थन अथवा व्याख्या प्राप्त करते थे। मानो उस कहानी में वह स्वयं उतने शीर्षस्थ नहीं रह जाते थे। ऐसे कहानी बनी और मुद्रण द्वारा परोसी जाकर लोगों के सामने आ गयी। सुनने को मिला है कि वह रमणीक रचना है, शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त भव्य है, सर्वथा सटीक है और जाने क्या-क्या नहीं है। अब बताइए, कि यदि यह सब है तो इसमें मेरा दोष कितना है? मैं जो बनाने चला था, उसके तो अभी तट तक भी नहीं आ पाया था। जो बन गयी, वह बनाना कभी सोचा नहीं था। इसलिए यदि उसमें कला की या शिल्प की या न्यास-विन्यास की कोई कुशलता-निपुणता है तो वह नागहानी आ गयी होगी। मुझे उसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है।

कहानी-लेखक की हैसियत से मैं निर्णय अपने पास नहीं रखता हूँ। हो सकता है कि कहानी में पत्नी चमकी हो और पति फीके रह गये हों, ऐसा कुछ तो कहानी में विविध रंगों के उपयोग से होना अनिवार्य ही है। मेरा उद्देश्य किसी को घट-बढ़कर दिखाना नहीं है! जो जितना और जैसा है, है। किसी को अच्छा-बुरा कहने से क्या आता-जाता है? दृष्टि और चिन्तन यदि वैज्ञानिक हो तो इन रुचि-निर्भर विशेषणों से छुटकारा मिल जाना चाहिए। यथार्थ वह कि जिसमें अपनी ओर से फैसला न जाए। निर्णयवाचक विशेषण बहुत से चला करते हैं और उनका डर भी बन जाता है। एक शब्द है 'अग्रगामी', दूसरा 'प्रतिगामी'। कहानी के पति पर पहला और पत्नी पर दूसरा विशेषण चाहे तो चिपका दिया जा सकता है। पर उन विशेषणों से विशेष्य को अथवा पाठक में उद्‌भूत हुए भाव को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। विशेषण विवेचन के पटल तक जा पाते हैं। वहीं वे बनते-टूटते रहते हैं। किन्तु कहानी का प्रभाव वहीं तक रहने के लिए नहीं होना चाहिए, उसे संवेदन तक उतरना चाहिए। मतवादिता का श्लेष वहाँ तक पहुँचने में बाधक हो जाया करता है। वह निर्विशिष्ट अर्थात् केवल संवेद की जो भूमि है वहाँ सिंचन पहुँचना चाहिए। वहाँ से अंकुरित हुए को फिर चाहे हम जिस अभिमत की संज्ञा दें। आत्मसंवेदन को स्पन्दन प्राप्त हो चुका होता है और चेतना को एक उद्‌बोधन मिल जाता है, तो बस है। फिर यह अलग बात है कि किस उपयोग में हम उसे लाते हैं।

कहानी की पत्नी, पत्नी इतनी अधिक हो सकती है कि व्यक्ति वह हो ही

नहीं। मानो वह परम्परागत धारणा को चित्रित करने के निमित्त बना चरित्र-मात्र हो। उसका अपना निजी स्वत्व स्वत: हो ही नहीं। ऐसा होता है और यही जीवन की विडम्बना है। निजता नियतता में कसकर कसमसाती रह जाती है। पर उस सम्बन्ध का कोई मन्तव्य रचना के समय मेरे मन में न था। मेरी ओर से वह एक खण्ड-चित्र से अधिक नहीं है जिससे पति विचार में प्रवृत्त है, पत्नी संवेदना में संवृत्त। ये दोनों वृत्त परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं, पर दोनों की सापेक्षता जैसे आंशिक है और इस तरह द्वैताद्वैत की एक अजीब पहेली-सी सामने से आती और झाँकी देकर निकलती चली जाती है। एक विवशता है जिसमें सहानुभूति की व्याप्ति का अनुभव हो सके तो सार्थकता आ जाती है, अन्यथा वह निरी व्यर्थता बनी रहती है।

[फरवरी '67]

□

विवाद-प्रतिवाद

इस बीच श्री जैनेन्द्र जी की खूब कहानियाँ आ रही हैं। शीर्षक के काण्ट्रास्ट से दो कहानियाँ एकदम सामने रख रहा हूँ। 'विज्ञान' और 'अ-विज्ञान' दोनों कहानियाँ आधुनिक हैं, आधुनिक चित्राधार की रौ में, जिसे आज के परिप्रेक्ष्य से ले लिया गया है। आदित्य और मिस्टर एक्स, दोनों मेरे सामने हैं, दोनों के सामने औरत नाम की चीज नंगी होकर या ठोंक-बजाकर, नाप-जोखकर देख लो, इस स्थिति में सामने आती हैं जिस काम-कला और जिस प्रेम-कला की बात जैनेन्द्र जी घोर दार्शनिक होकर किया करते हैं, वह अब भी उनकी कलम पर आती हैं। जैनेन्द्र जी ने जैसे उलझे हुए दर्शन को 'परख' और 'सुनीता' में सामने रखा है उससे वे एक इंच भी आगे नहीं बढ़े हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि 16 से 60 तक वही की वही उलझन कैसे बनी रह सकती है? साफ बात तो यह है कि प्रेम और सेक्स दो अलग-अलग चीज़ें हैं। पहले प्रेम को अशरीरी और सेक्स को शरीरी समझा जाता था। अब मनोविज्ञान यह कहता है कि प्रेम शरीरी भी हो सकता है और सेक्स अशरीरी या दिमागी या मानसिक आत्म-भोगा की शक्ल का भी। 'विज्ञान' में क्या स्त्री प्रयोजनवती ही है? पर प्रश्नांत आ गया है, शायद उत्तर विज्ञान से बाहर की बात है, जबकि हक़ीक़त यह है कि कोई वेश्या अपने शरीर को प्रयोजनधर्मा मानकर भी अपने उसी शरीर में दिल नाम की चीज भी रख सकती है। 'अ-विज्ञान' में लीडरानी का श्री आदित्यप्रसन्न राय के सामने साफ-साफ-साफ समर्पण और श्रीराय का साफ-साफ नपुंसकत्व, दोनों ही अ-वैज्ञानिक हैं। सेक्स का बिन्दु उद्दीपन के क्षण किसी के लिए रुकता नहीं; वह तो बरसता पानी है, सुराही में झेलो, सुराही की शक्ल का। नयी पीढ़ी के यथार्थवादी कथाकार के रूप में मुँहफट शैली में। 'विज्ञान' तथा 'अ-विज्ञान' दोनों

ये विवादास्पद कहानियाँ लेखक के कहानी-संग्रह 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग नौ, में संकलित हैं

में तथाकथित औरत की समर्पण सेक्स ही और शरीर-नपवा आदतों में सिवाय मानसिक आत्मभोग के कुछ और नहीं देखता। स्वयं जैनेन्द्र जी ने कहा है, ''अपने भीतर की आत्मग्लानि, हीन भावनाएँ और उनमें सिमटी हुई स्वप्नाकांक्षाएँ, इस सबको कागज पर निकाल कर निकालकर जैसे मैंने स्वास्थ्य का लाभ किया।''...यह वाक्य ऐसा नहीं लगता क्योंकि कोई लाभ उठाकर उसमें विज्ञान, अ-विज्ञान को भरकर कह रहा हो,....फ़ार यौर हैल्थ... ?

फरवरी'64 — रमेश बक्षी, भोपाल

❐

श्री...

कुछ अर्सा हुआ आपने पत्र में छपी 'अ-विज्ञान' कहानी पर आये पत्रों का एक बण्डल मुझे भेजा था। चाहा था कि मैं उन सब पर इकट्ठा जवाब दे दूँ ताकि आप उन पत्रों के सारांश के साथ वह उत्तर छाप सकें। कहानी लिखी जाय, फिर उसपर भाष्य लिखा जाय, यह मुझे कभी समझ में नहीं आया। ऐसी हरकत भी इसलिए मुझसे कभी नहीं हुई। इस तरह अब तक मैं उस बारे में अनमना बना रहा। यह भी सोचा कि छपते ही कहानी सबकी हो जाती है, फिर उस पर लेखक का स्वत्वाधिकार नहीं चलता। छपी काहनी को जो जैसे चाहे समझे, जो चाहे उसका मतलब लगाए। क्यों जरूरी है कि एक की कहानी पर दो पढ़नेवाले भिन्न मत न रखें, यहाँ तक कि उन मतों के विरोध को लेकर लड़-भिड़ न पड़ें? जानदार कहानी पर यह स्थिति आसानी से आ सकती है और लेखक का यह सदभाग्य है कि वह अपने मनत्व्य को अफने में रोककर विवाद से असंपृक्त बना रह सकता है।

लेकिन आज मिले अंक में, उन पत्रों में से रमेशश बक्षी की कुछ पंक्तियाँ मुझे छपी दिखी हैं। इसलिए लगता है कि उन पत्रों को ध्यान में लेना मेरे लिए अब उतना निषिद्ध और अनुचित न होगा।

कुछ पत्रों में कहानी की प्रशंसा है। उचित भी है कि अनुपात में ऐसे पत्र तीन में या चार में, एक से अधिक न हों। इन अल्प-संख्यकों का ध्यान कहानी पर रहा है। उन्होंने कहाने के विश्वस्तर के भी उच्च स्तर को छूने की बात कही है। मुझसे समझ में नहीं आता कि मैं विश्व-स्तर का क्या बनाऊँ? या वैसी बातों का क्या बनाऊँ? इसीलिए उन प्रशंसात्मक पत्रों को सहज ही बाद किया जा सकता है। अर्थात् उनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

आलोचना में निन्दा के पत्र मेरे लिए अवश्य काम के हैं। उनके लिखनेवाले

कहानी के पार मुझ तक पहुँचे हैं। इस कृपा के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। उन्हें मेरी चिन्ता है और इसमें मेरे प्रति उनका सम्मान और प्रेम झलकता है। वे मुझे अच्छा देखना चाहते हैं। स्वभावतः उन्हें दुःख प्रकट करना पड़ता है कि जब उनकी आशा मुझसे पूरी नहीं होती है।

एक बहिन मद्रास से खेद प्रकट करती हैं कि क्या जैनेन्द्र आदरणीय से कामुक बनते जा रहे हैं?

उस बहिन ने अवश्य भूल की होगी। काम से मैं कभी मुक्त न था, न अब हूँ। उमर बढ़ने से काम घटता हो, ऐसा भी मेरा अनुभव नहीं है। इन्द्रिय शिथिल हों, तो कोई काम नहीं कि काम भी शिथिल पड़े। इसलिए उनका नाम मन्मथ है। मन जब तक है, तब तक उसको मथनेवाला तत्त्व भी रहनेवाला है। इसमें जैनेन्द्र बेचारा क्या कर सकता है!

दूसरे बन्धु को जैनेन्द्र के सम्पूर्ण कथा-साहित्य को पढ़ने के बाद उसके प्रति श्रद्धा हुई थी। 'विज्ञान' से वह खण्डित हो गई। मुझे विस्मय है कि श्रद्धा उत्पन्न ही कैसे हो पाई! निश्चय ही मेरी पहली कहानियों में ऐसा बहुत-कुछ है जो संदिग्ध है और जैनेन्द्र को अवश्यमेव अश्रद्धेय बना सकती है। इस अश्रद्धा की आवश्यकता के आविषअकार में उन्हें इतनी देर नहीं लगनी चाहिए थी। 'विज्ञान' से यदि वह कर्त्तव्य अब पूरा हो जाता है, तो मैं उसको अशुभ नहीं बल्कि शुभ ही मानता हूँ।

और भी कुछ इसी तरह की शिकायतें हैं। कुछ टेकनीक की एक्सपैरेमेंटशन की, कुछ पौनोग्राफिक स्टफ़ की! किसी को यह अच्छा नहीं लगा कि क्रिस्टीन कीलर काण्ड को इतनी भंजी हुई कलम क्यों मिली? आदि।

टेक्नीक और प्रयोग शब्द अब तक मेरी चेतना से अछूते रहे हैं। मुझे उनका पता नहीं रहता है। हर कहानी फिर भी अपने में अलग बन जाती है। यह अनिवार्यता अनिवार्य और सहज है।

स्टफ़ का सवाल जहाँ तक है, मुझे किन्हीं निषेध की रेखाओं का पता नहीं है। सत्य के अनुसंधान में ऐसी रेखाएँ ठहर भी नहीं सकतीं। बल्कि अनुसंधान के लिए अधिकांश सतह के नीचे ही जाना होता है, यानी वर्जित क्षेत्र ऐसे काम के लिए अधिक उपयोगी हो निकलता है।

एक भाई ने बहुत पते की बात उठाई है। अनासक्ति को लेकर वे पूछना चाहते हैं कि शरतचन्द्र के 'देवदास' को आदर्श माना जाए, कि धर्मशास्त्र के श्रीकृष्ण को? यह जिज्ञासा मार्मिक है किन्तु उसके विवेचन के लिए अवसर दूसरा बनाना होगा। देवदास पार्वती के द्वार पर जाकर अन्त में मर जाता है, यह अनासक्ति का लक्षण नहीं माना जाएगा।

एक अनोखे बन्धु ने तो कमाल ही किया है। 'वि-ज्ञान' में जो 'वि' को अलग करके लिखा गया है, सो वह कहते हैं कि वह अंग्रेजी का 'वी' है। और वह प्रथम अक्षर Victory का नहीं है, Vagina का है। यह सदाशय कहानी की प्रशंसा करते हैं और उसमें गहरी गूढ़ता देखते हैं। स्वीकार करना चाहिए कि वैसी अन्तर्दृष्टि मेरे पास नहीं है।

अब श्री रमेश बक्षी! वह स्वयं कहानी लेखक हैं। कहानी ही नहीं लिखते, 'नई' भी लिखते हैं। उन्हें अचरज है कि जो मैं शुरू सोलह में था, वही अब साठ वर्ष के पेटे में आकर कैसे बना रह गया हूँ! वही का वही दर्शन! अगर उनकी बात सच है तो मेरे लिए स्वयं प्रसन्नता का कारण है। साठ पर भी मैं सोलह जितना नया हूँ, तो क्या यह गौरब की बात नहीं होनी चाहिए? यानी अगर रमेश बत्तीस बरस के हों, तो मैं उनसे दुगुना नया ठहर सकता हूँ। उनको साफ है कि प्रेम और सेक्स दो अलग चीज़ें हैं, दो समानान्तर रेखाओं जैसी सीधी, बेहद सीधी समझ के लिए ही हो सकती हैं। लेकिन आदमी और उसकी समझ लकीर की तरह सीधी हो सकती है, इसमें शक है!

यों मेरी उम्र साठ तक आया चाहती हो! मानव जाति की तो लाखों-लाख बरस हो चुकी है। काम-प्रेम की उलझन उसकी अब तक कटी नहीं है। क्या करें इस पीढ़ी में जन्म कर रमेश बक्षी उसका पार पा गये हैं, तो बहुत ही शुभ सूचना है, लेकिन इसका भरोसा होता नहीं है। अभी मैं सलाह दूँगा कि वे जीयें और भुगतें। उसके बाद जो कहेंगे, वह अधिक सुनने लाय.क होगा। दिमाग की बहक में न आ जाएँ कि बात उनके लिए सुलझ चुकी है। ऐसा होता तो उपदेश और फ़तवा देने का ही काम उनके लिए रह जाता। फ़तवा भी उनसे आने लगा है। लेकिन ग़नीमत है कि कहानी भी आ रही है। वह सुलझन में से नहीं, उलझन में से ही आ सकती है।

एक जगह उन्होंने मेरे लिए 'आत्म-भोग' शब्द का उपयोग किया है। सन्दर्भ चाहे भद्दा हो, शब्द वह बहुत ही सही है। जैनेन्द्र (के साहित्य) का नहीं, सारे साहित्य का ही इष्ट आत्म-भोग है। भला सोचिए कि कागज़-क़लम से आत्म-भोग और आत्म-सुख ही नहीं, तो क्या इन्द्रिय-भोग और इन्द्रिय-सुख भी पाया जा सकता है? साहित्य से यदि कोई लेखक या पाठक सचमुच कायिक या यथार्थ भोग पाने की आकांक्षा रखते हों तो वह प्रत्याशा अन्त में विडम्बना ही सिद्ध होने वाली है। यथार्थवाद कुछ इसी भूल में पड़कर, सीमा लाँघकर अतिवाद बन गया था। और अब भी उसके लक्षण समाप्त नहीं हैं। आत्म-भोग की मर्यादा ही साहित्य की एक मर्यादा हैं। इस स्वीकृति और सीमा में से न जैनेन्द्र छूट सकता है, न कोई और।

बक्षी अभी मुझे भोपाल में मिले थे। विस्मय हुआ कि काम और प्रेम के दो-पन का सहारा उनकी समझ ने अब तक थाम रखा है। मैं उन्हें कहता हूँ कि इस सहारे उनका नया-पन अधिक टिक नहीं पायेगा, कारण, वह सूत्र बहुत पुराना और जीर्ण बन चुका है। यह तो पलायनी अध्यात्मवादी सूत्र है, जो आज काम नहीं दे पा रहा है। जीवन को एकत्रित और एकीकृत होना। धर्मपूर्वक काम के पुरुषार्थ को मोक्ष में अभिषिक्त होना है, बीच में अर्थ व काम को छोड़कर चलनेवाला धर्ममोक्ष तक तो उठा ही नहीं सका, उलटे नाना बन्धनों की रचनाएँ कर सका है। नव्यता का सहारा लेकर क्या बक्षी उसी द्वित्व को बढ़ाना चाहते हैं?

एक बात और , नपुंसक शब्द से वे घबराते मालूम होते हैं। इसी से उसे मानो गाली मान लेते हैं। स्त्रीत्व और पुरुषत्व से व्यक्तित्व अलग होता है, वह स्त्रीलिंग अथवा पुलिंग नहीं होता है। कोई भी आदर्श अथवा मूल्य स्त्रीलिंग व पुलिंग नहीं होता। महत् तत्त्व सब लिंग की उभयता से पार होते हैं। दूसरे शब्दों में समग्रता या नपुंसकता की भूमि पर ही वे प्रतिष्ठ होते हैं। स्वयं स्त्री-पुरुषों का सामाजिक सार्वजनिक व्यवहार व्यक्तित्व की भूमिका पर और लिंगहीन हुआ करता है। इस तरह नपुंसकता में हम व्यक्तित्व के आदर्श की स्थापना भी चाहें तो करके देख सकते हैं। आज के युवकों को अपने पौरुष के बापरे में इतना संदिग्ध नहीं होना चाहिए कि हर जगह अपने पुरुषत्व को प्रमाणित करने की हविस हो, अन्यथा भय हो कि कहीं वे नपुंसक न मान लिये जाएँ। विश्वस्त पौरुष का नहीं, बल्कि यह निश्चित क्लैब्य का प्रमाण है। प्रत्येक समाहित व्यक्तित्व लिंगातीत और नपुंसक होता है और यह स्वेच्छित नपुंसकता सज्जनता औ सभ्यता का लक्षण है। नपुंसक शब्द से किसी को घबराने की आवश्यकता नहीं है। खासकर उसे तो बिल्कुल नहीं, जो पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों से घबराना नहीं चाहता है। स्त्रीत्व के अथवा पौरुष के व्यर्थ प्रदर्शन में से कभी व्यक्तित्व की गरिमा नहीं झलकी है और न अपनी कहानियों में यह मैं सम्भव बना सका हूँ। इस सम्बन्ध में मेरे मन में तनिक भी दौर्बल्य की अनुभूति नहीं है। बल्कि मानता हूँ कि यदि युवावस्था में इस तत्त्व की याद रखी जा सके, तो प्रेम अधिक गम्भीर और विधायक होगा। और समस्या से अधिक सफलता की सृष्टि कर सकेगा।

इन आये पत्रों से एक दूर की बात भी यहाँ कहना संगत और आवश्यक जान पड़ता है। वह यह कि मैं अच्छा होना नहीं चाहता हूँ। रोग यही है। हम सभी लोग अच्छा होना चाहते करते हैं। इससे होता है यह कि बुरा ढंक जाता है, अच्छा मढ़ जाता है। अच्छाई को लिबास की तरह ऊपर से हम ओढ़ लेते हैं और बुराई को ओट दिये रहते हैं। मेरी दिक़्क़त, ख़ासकर लिखने में, यह है

कि मैं अच्छाई को अलग से देख ही नहीं पाता हूँ; उलटे झूठा होकर कोई शिष्ट, समय, संभ्रान्त, शान्त आदि दीखे तो मेरी सह्यता टूटने लग जाती है। समाज भले को चाहता है, और पूछता है। बुरे से वह इतना आकुलित रहता है, भलाई उसे भली और बुरी लगती है, सच्चाई से और सच्चे से उसे खटका रहता है। इसलिए सच्चे के मार्ग में बाधाएँ और विपदाएँ आती हैं। मुझे लगता है कि कठिनाई यहीं से बनती है। नीतिनिष्ठ पुरुषों के रूप में जिन नामों की महिमा वे अपने काल में दुरदुराए गए थे। नई नीति, सदा-स़र्वदा, शुरू में अनीति-जैसी लगती रही है, कारण, कि सुविधा प्राप्त लोगों को आरम्भ में उससे असुविधा प्राप्त होती रही है।

मेरे मन में निश्चय है कि शुभता अन्त में सत्यता के ही साथ है। इसलिए सत्य के मार्ग में विनम्रता कितनी भी आवश्यक हो, विचिकित्सा अथवा भय के लिए वहाँ बिल्कुल अवकाश नहीं है।

12 फरवरी '64 —जैनेन्द्रकुमार

❐

श्री...

आपके इस अंक में जैनेन्द्रकुमार जी के विचार छपे दिखे हैं। ज़ाहिर है कि वे अपनी 'जानदार कहानी' पर आये खतों तक सीमित नहीं रहे हैं। वे चाहते तो दार्शनिक फब्तियाँ कसने तथा अपने लेखन में 'अच्छा' और 'सच्चा' ढूँढ

ने के बजाय उस कहानी पर आयी बातों का उत्तर सीधे से उसके सृजन का प्रोसेस बताते हुए दे सकते थे। उन्होंने किया तो यह कि प्रश्नों को दिमाग की बहक बताकर नव्यता, यथार्थवाद, नयी कहानी और रमेस बक्षी तक पहुँच गये हैं। यदि वे मेरे बारे में ही नाराज़ होकर कुछ कह देते तो मैं यह पत्र नहीं लिखता, लेकिन लगता है कि वे झोक में कुछ 'कमिट' कर गये हैं और तैश में सारे नव लेखन को चुनौती भी दे गये हैं। अब नयी पीढ़ी की दृष्टि और समकालीन जीवन पर चर्चा करने के लिए एक माध्यम मिल गया हैं मुझे। आप सोचिये तो: 'सारे साहित्य का इष्ट आत्मभोग है?' इन्द्रिय-संचेतना और काम को जो अलग मानते हैं क्या वे एकीकृत हैं? लिंगहीन व्यवहार और स्वेच्छित नपुंसकता से विधायक प्रेम किया जा सकता है? विभाजित व्यक्तित्व, बुरा बनाम सच्चा, अतिवादी, झूठा...ये सब नये लेखकों को महिमा को उनके द्वारा दिये गये विशेषण हैं। मैं सोचता हूँ, नयी पीढ़ी का रास्ता भूलभुलैया वाला हो सकता है, उसका मस्तिष्क नहीं। कभी जैनेन्द्रकुमार जी कहते थे—''प्राणि मात्र के सुख-

दु:ख से तद्रूप होकर ही हम अहंशून्य हो पाते हैं। यही साहित्य की चरम उपादेयता है।'' वे ही आज कह रहे हैं—''सारे साहिगत्य का इष्ट आत्म-भोग है।''

बात तो एक तरतीब देना चाहूँगा :

ठीक-ठीक तारीख याद नहीं, लेकिन कोई 10 वर्ष पहले एक प्राध्यापक जी ने आधुनिक काव्य पर लिखा हुआ अपना एक छात्रोपयोगी लेख दिखाया था, उसमें यह ध्वनित था कि आज छायावाद के बाद प्रगतिवाद का ही बोलबाला है और प्रगतिवादी कविताएँ ही लिखी जा रही हैं। मैंने उन्हें सुजाव दिया कि प्रगतिवाद था, अब नहीं है, अब आप प्रयोगवाद पर आकर लेख समाप्त कीजिए। वे मुझसे दो-चार प्रयोगवादी काव्य-संकलन लेकर चले गये। सँयोग हुआ कि पाँच वर्ष आधुनिक काव्य पर उनकी एक पुस्तिका प्रकाशित हुई। उसमें वे प्रयोगवाद की जय-जयकार करते हुए उपसंहार पर पहुँचे थे। मैं फिर बोला, ''प्रयोगवाद अब कहाँ है? वह तो आकर चला भी गया। अब आप नयी कविता को समझ लीजिए। सच ही उसने सारी परम्पराओं को तोड़ दिया है और वह रूढ़ियों से आगे है।''...फिर कुछ वर्षों के अन्तराल से उनसे मुलाकात हुई। अब वे नयी कविता की आधुनिकता को अन्तिम सीमा मानने लगे थे। मैंने हँसकर कहा—''नयी कविता तो अब चुक गयी। मुक्तिबोध जी ने कहा कि नयी कविता रूढ़िग्रस्त हो गयी है, वह दायरे में जकड़ गयी है।'' मेरी बात से वे एकदम चिढ़ गये। बोले—''तुम मेरे साथ प्ले कर रहे हो। पता नहीं तुम नयी पीढ़ी के लोगों को क्या हो गया है...तुम नये लोग इतनी तेज़ी से कैसे आगे बढ़ जाते हो?'' मैंने उन्हें शान्त किया और कहा—''मुझे भी आश्चर्य है कि आप पुराने लोग आगे क्यों नहीं बढ़ते, अपनी ही जगह क्यों रेंगते रहते हैं?''

यह का यही सवाल मैंने जैनेन्द्र कुमार जी से भी पूछा था कि सोलह से साठ तक वह की वही उलझन कैसे बनी रह सकती है? नयी पीढ़ी का ही नहीं, हर व्यक्ति हर क्षण आगे बढ़ता रहता है। लाखों-लाख वर्षों के इस समय पर चढ़ते हुए सारी पीढ़ी आगे बढ़ती है। सारे समाज की एक उम्र होती है, जो बढञती रहती है। हर व्यक्ति विकास-रेखा पर आगे बढ़ता है। हर नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के बिन्दु से आघे जाती है। उम्र, समय-सृष्टि, समाज और साहित्य में पीछे की तरफ चलना कभी होता नहीं है। धरती का गोल धूमना धुरी पर ही गोल है, समय पर नहीं। समय के प्रारम्भ और अन्त कभी मिलते ही नहीं। हर व्यक्ति अपने में हर क्षण कुछ न कुछ जोड़ता है। पाँच की उम्र में जो बाल-जिज्ञासाएँ रहती हैं दस की उम्र में वे बेमानी हो जाती हैं। दस का मस्तिष्क बीस तक पहुँचते अधिक सूक्ष्म बन जाता है। बीस की उम्र में जिस प्रेम में व्यक्ति तल्लीन होकर डूबता है, तीस पर पहुँचते वह स्वयं उसे 'एडोलेसेण्ट नानसेन्स' कहने लगता

है। व्यक्ति प्रौढ़ होता रहता है। यह विकास और प्रगति की एक प्रक्रिया है जिसमें से भी गुज़रते हैं। कहना यह चाहता हूँ कि सोलह की उम्र में व्यक्ति जितना अपरिपक्व, सीमित ज्ञान और अनिश्चित दिशा वाला होता है, वैसा वह साठ की उम्र में नहीं रहता। सोलह और साठ दोनों छोरों पर नयापन हो सकता है, लेकिन प्रश्न उनकी नियति का है जो सोलह में भी नये नहीं थे। कुछ की गति धीमी हो सकती है, वे एक सदी पूर्व भी चल सकते हैं, तब प्रश्न यह है कि कि आज नयी कविता और नयी कहानी के बीच रत्नाकरजी और कौशिक जी कैसे लगेंगे? आझ जब युग का युग समय के तेज़ी से घूमते पहियों पर बैठा है, हम लोग एक दौड़ती हुई दुनिया में रहते हैं तो समय के साथ पैर मिलाकर चलना नयी पीढ़ी की नियति है। यह एक अलग बात है कि जैनेन्द्र जी कह दें—''कौन चला है समय के साथ पैर मिलाकर? ऐसा सोचना तो हमारा अहंभाव है।'' यदि किसी अवैज्ञानिक तरीके से कोई अपने को उम्र के किसी हिस्से पर रोक सके तो वह वैसा ही जन्म भर लिख और सोच सकता है। रोमांस लिखना शुरू किया तो जन्म भर रोमांस लिखते रहे; मुरलिया-फुरलिया के गीत गाना शुरू किया तो आजन्म वैसे ही गीत गाते रहे। यह अपनी दुकानदारी की बात भी है। वैसा न करना ग्राहकों को तोड़ना होगा। किसी गानेवाले को नयी कविता लिखने की सलाह देना उसके कवि-सम्मेलनों का मार्केट छीनना होगा। किसी भी देश के साहित्य में संयोग से लेखक की नियति नहीं बनती है, लेकिन अपने देश में ऐसा होता है किसी समीक्षक ने किसी को दार्शनिक कह दिया तो उसी शाल को ओढ़ने लगा। लेकिन आज की पीढ़ी का लेखक संयोग को चुनौती देने की क्षमता रखता है। मुझे यह साफ़ लगता है कि कट्टो ('परख' वाली) पाठकों को पसन्द आयी थी, इसलिए जैनेन्द्र कुमार जी अपनी बाद की रचनाओं में रूपान्तर से कट्टो को बार-बार लाये हैं। सुनीता का नग्न होना चर्चा का विषय रहा, पाठकों ने उसके साड़ी-ब्लाउज़ उतारने में बड़े चटखारे लिये, इसीलिए आज भी वे 'विज्ञान' और 'अ-विज्ञान' में वैसी की वैसी स्थिति ले आये हैं। यह उनके लेखने का नुस्खा है, पुरानी कहानी की दुकानदारी का राज़ है। सुनीता 1932 में नंगी हुई, वही 1964 में लीडरानी या कीलर-रूप होकर फिर शरीर अनावृत कर रही है। अनावृत होने की धज वैसी की वैसी है। पाठकों को किसी स्थिति विशेष में चाट का मज़ा आता है, तो क्या विकास-धर्मा लेखक को चाट का ठेला लगा लेना चाहिए?

नयी कहानी के लेखकों की ट्रेजडी यही है कि वे परिपक्व होते चलते हैं और उनका नयापन है, ऐसा अगर नहीं होता और वे नुस्खों पर ही चलते तो हिन्दी में दस जैनेन्द्र कुमार, बीस कृशनचन्दर और चालीस शरच्चन्द्र पिछले एक दशक में पैदा हो जाते।...

नयी पीढ़ी के लेखक के साथ एक और दिक्कत है, कि वह कुछ ओढ़ता नहीं या कुछ ओढ़कर चलना पसन्द नहीं करता। जहाँ दर्शन की बात आथी है वह उसका विश्लेषण कर देता है। जहाँ आध्यात्मिकता की बात आती है वह उसे अव्यावहारिक ठहरा देता है। जहाँ 'काम' का प्रश्न उठता है वह उसमें उलझता नहीं। जहाँ प्रेम की गुत्थियाँ पेश की जाती हैं वह उसे 'आउट ऑफ डेट' कहकर अफने दूसरे जरूरी कामों में व्यस्त हो जाता है। काम और प्रेम को सहजता से वह क्रिया और भाव की संज्ञा दे देता है। उसका विभाजित व्यक्तित्व आदर्श की दृष्टि से गलत हो, लेकिन हक़ीक़त है, इसलिए उसे स्वीकार कर लेता है। वह घर में दीपक पहले जलाता है, उसका घर आज का वास्तव लोक है। वह प्रेम से असम्पृक्त होकर काम में डूब सकता है, क्योंकि काम उसके लिए भूख है। वह काम से असम्पृक्त होकर काम में डूब सकता है, क्योंकि काम उसके लिए भूख है। वह काम से असम्पृक्त होकर प्रेम में कुछ समय के लिए खो सकता है क्योंकि प्रेम उसकी संवेदना है। वह शग़ल के लिए कुछ नहीं कर सकता, उसके लिए प्रेम शरीर पर इत्र छिड़कने की तरह बेमतलब है। वह 'काम' में सदा-सर्वदा डूबा नहीं रह सकता, क्योंकि भूख सबसे जरूरी है। लेकिन चौबीसों घण्टे खाना खाते नहीं रहा जा सकता। उसके पास ऐसे दर्शन में उलझने को भी वक्त नहीं है। वह इन्द्रिय-संचेतना लेकर पैदा हुआ है—उसे काला, काला और सफेद, सफेद दिखायी देता है। उसे खट्टा, खट्टा लगता है, और मीठा, मीठा लगता है। यदि नयी पीढ़ी के किसी व्यक्ति की आँखें खराब हो जायें तो वह स्वीकार करेगा कि उसे दिखायी नहीं दे रहा है; जबकि पुरानी पीढ़ी का व्यक्ति आँख फूट जाने पर भी यह कहेगा-'उमर बढ़ने से दिखना घटता हो, ऐसा मेरा अनुभव नहीं है। आँखें शिथिल हों तो कों कारण नहीं कि देखना भी शिथिल पड़े।' आदमी ऐसा ब्रह्मत्व प्राप्त कर ले तो क्या कहने, फिर तो दुनिया का सत्य मुट्ठी में होगा। नयी पीढ़ी का आदमी इन्द्रिय-संचेतना को नकार कर नहीं जी सकता, इसी से वह ईमानदार भी है। जो वह देखता है, जिसे वह जीता है, जिसे वह अनुभव करता है उसे ही कहता और लिखता भी है। चूँकि उसके पास भ्रम नहीं है, वह सुलझन की बातें करता है। उसकी आँखें रंगीन शीशों के पार कहीं नहीं पहुँचतीं। उसकी दृष्टि सीधे से कहीं भी जा सकती है।

वह आत्म-भोग नहीं करता, वह इस कार्य में अक्षम है। उशके लिए महज़ दिमागी, किताबी और खाली चीजें मूल्यहीन हो चुकी हैं। उसकी संवेदना सान पर चढ़ी हुई है, उसकी संवेदना की जड़ें समाज की मिट्टी के अन्दर हैं, उसकी संवेदना का छतनार फैलाव इस मिट्टी के ऊपर पला और पनपा है। एक ओर तो लिखते समय वह अपने राग-विराग, अपनी कुण्ठा और आत्म-रति से असम्पृक्त

होने की क्षमता रखता है, दूसरी ओर उसके जीवन में सब लोग कुछ जो 'व्यक्तिगत' अनुभूति होकर आता है, व्यापक अभिव्यक्ति का रूप लेकर लौट जाता है। वह तो बाँस का जंगल है; कोई भी हवा मलयानिल या और किसी नाम से उसके दरवाज़े आ सकती है। अब जब भी लौटेगी, वंशी की ध्वनि होकर ही। लेकिन जैनेन्द्र कुमार जी के शब्दो में—'जैनेन्द्र (के साहित्य) का नहीं, सारे साहित्य का ही इष्ट आत्मभोग है।' यह मानसिक आत्मभोग नई पीढ़ी के वश का नहीं है। न तो लिखते समय वह दिमागी आत्मभोग को सम्प्रेषित करता है, न साहित्य पढञते समय इस आत्मभोग को जीता है।

जो साहित्य रसात्मक वाक्य-स्रष्टा, रमणीयार्थ का प्रतिपादक, लोकमंगल से गर्भित, जीवन का समीक्षक, समाज का दर्पण, युगबोध की तस्वीर, सामाजिक सन्दर्भों का संवेदन तथा समय के रथ पर बैठकर नयी दुनिया की यात्रा के रूप में जाना जाता रहा, उसी साहित्य का इष्ट जैनेन्द्र कुमार जी के लिए आत्मभोग है। वे कहते हैं कि आज के ही नहीं बल्कि समस्य साहित्य का इष्ट आत्मभोग रहा है। लेकिन क्या सचमुच ऐसा है ? 'महाभारत' पढ़ते कथा की विस्तृत शिलाओं को फलांगते समय जब एक युग का युग मानवीकृत होकर हमें दर्पण दिखाने लगता है। तब हम आत्मभोग कर रहे होते हैं क्या? रामायण गानेवाला भक्त जब विविध रसों की फुहारों से भीगता राम की मर्यादा के सामने मस्तक टेक देता है तो वह भक्ति नहीं, आत्मभोग है क्या ? कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पढ़ते जब शकुन्तला के साथ आपका साधारणीकरण हो जाता है, आप दुष्यन्त के साथ तादात्म्य अनुभव करते हैं, तब श्रृंगार की रसनिष्पत्ति होती है या मानसिक आत्मभोग होता है ?

जैनेन्द्र कुमारजी यह भी चाहते हैं कि लिंगहीन व्यवहार और नपुंसक व्यक्तित्व होना वांछित है। खुद को अपने अहसास से विस्मृत कर देना (पुरुष को पुरुषत्व से, नारी को नारीत्व से) इस दुनिया में रहनेवाले व्यक्ति के लिए जैविक स्तर पर असम्भव है। जम्म के बाद का सारा विकास लिंगभेद से होता है—ध्वनि, रूपरेखा, व्यवहार से सब लिंगानुसार विकसित होते हैं। यहाँ तक कि ईश्वर की कल्पना में भी अर्द्धनारीश्वर की तस्वीर बनायी गयी है, अर्द्धनारीश्वर की या नपुंसक ईश्वर की नहीं। परब्रङ्म को भी परमपुरुष संज्ञा दी गयी है, देवी को जगज्जननी कहा गया है। आकर्षण, सृष्टि, विकास और प्रगति एक स्वाभाविकता है। पुरुष होकर या नारी होकर अपने स्वाभावानुसार व्यवहार करना ईमानदारी है, अथवा पुरुष या नारी होकर भी स्वयं को नपुंसक और लिंगहीन व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना ईमानदारी है ? मेरे सोचे जैसे दार्शनिकता जैनेन्द्र जी के लिए उपवस्त्र है, उसे वे ओढ़े हुए हैं। वैसे ही क्लैब्य (उन्हीं के शब्दों में उनकी 'स्वेच्छित

लिंगहीन नपुंसकता') उनके लिए अन्तर्वस्त्र है, उसे वे कसे हुए हैं और आत्मभोग की उलझन उनका कवच है। प्रश्न यह है कि जो पुरुष है और खुद को पुरुष कहता है, वह पुरुष है या जो पुरुष है (?) और खुद को नपुंसक कहता है और चाहता है कि सारी दुनिया अपने को नपुंसक मान लें, वह पुरुष है? स्त्रीत्व और पौरुष का व्यर्थ प्रदर्शन वे नहीं करते, इसलिए वे नपुंसकत्व का सार्थक प्रदर्शन करना चाहते हैं।

सत्य की खोज क्या है? अच्छे और सच्चे में क्या भेद है? नीतिनिष्ठ पुरुष कौन है? नपुंसकता की नयी नीति क्या बाद में अनीति नहीं लगेगी? आत्मभोग की मर्यादा-रेखा कहाँ है और कौन-सी है?—सारे प्रश्न नपुंसक और लिंगहीन हैं। इनका मात्र एक ही उपयोग है कि महाभारत के अवसर पर जब भी जरूरत पड़े, इनको शिखण्डी का औचित्य दिया जाये। साथ ही एक कार्टून भी उभर रहा है कि शोकमग्न अर्जुन के रथ को लिये श्रीकृष्ण सारथी बने हुए हैं और पीछे की तरफ घूमकर बार-बार समझा रहे हैं—'हे अर्जुन, नपुंसक बन!' मैं चाहता हूँ, ऐसे नाजुक मौके पर भी अर्जुन हँस..., दे और वल्गाएँ खुद हाथ में ले ले।

❑

श्री...

आपने परसों के दिन फिर कुछ पत्र मुझे पढ़ने को दिये थे। अधिकांश उनमें उसी 'विज्ञान' कहानी के प्रकरण को लेकर थे। कुछ माचवे के प्रश्नोत्तर के सम्बन्ध में भी थे। इन दूसरे तरह के पत्रों पर कुछ इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे समर्थनात्मक थे।

'विज्ञान' कहानी की प्रतिक्रिया-स्वरूप जो पत्र थे, उनमें ढूँढने पर भी मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक हो। मैंने अपने उत्तर से शायद कुछ लोगों का, विशेषकर रमेश बक्षी का, दिल अजनाने दुखा दिया मालूम होता है। वैसा मेरा भाव नहीं था और उनमें यदि क्षोभ हो तो उससे उन्हें सहज छुटकारा पा लेना चाहिए। कारण, वह लेखक हैं, प्राध्यापक हैं, और मुझ पर वह चाहें तो क्षमाभाव रख सकते हैं।

उनके पत्र में आत्मभोग पर कुछ काम की चर्चा थी। भोग जब आत्म के साथ लग जाता है तो उसकी अनिष्टता समाप्त हो जाती है। तब वह रस मैला नहीं रहता, ब्रह्मानन्द-सहोदर जैसा हो जाता है। आत्मभोग की स्वरति के अर्थ में लेने की आवश्यकता नहीं है। स्व में और आत्म में अन्तर यह है कि स्व मुझ तक सिमटा है, आत्म समष्टि तक व्याप्त है।

मेरे पहले पत्र में पढ़ने पर मुझे प्रतीत हुआ कि उत्तर ही उत्तर रह गया

था। अवश्य बहुत पाठक ऐसे होंगे जिनमें 'विज्ञान' कहानी के सम्बन्ध में जिज्ञासा उभरी रह गयी हो और शान्त न हो पायी हो। देखने में कहानी नंगी और उघड़ी थी। संशय हो सकता था कि क्या उस कहानी का आशय वही और उतना ही था? केवल उघड़ेपन मेंभी रस लिया जा सकता है। तब क्या उसी रस की प्रेरणा थी कि जिसको लेकर, और जिसे देने के लिए, वह रचना रची गयी? संशय यह स्वाभाविक था और उसके शमन के लिए मैंने अपने पत्र में कुछ नहीं कहा था। स्वयं मुझे उस पत्र के पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह त्रुटि रह गयी; तब भी मैंने सोचा था कि अच्छा होता कि उस लम्बे पत्र में उत्तर के अतिरिक्त कुछ कैफियत भी दी होती और कहानी का आशय तनिक खोल दिया गया होता।

यों कहानी का व्याख्या देना धृष्टता है। पाठक की कल्पना पर वह आरोपण जैसा हो सकता है। फिर भी 'विज्ञान' कहानी के सम्बन्ध में इतना बुद्धिभेद उत्पन्न हो गया है कि उस पर व्याख्यात्मक कुछ शब्द कहने की छूट ली जा सकती है।

'विज्ञान' शब्द का आजकल बहुत चलन है। मानो वही एक सम्यक् दृष्टि और वृत्ति हो। धार्मिक-नैतिक जैसे शब्द आज कुछ खोखले बन गये हैं और समीचीन जैसे सारी इस 'वैज्ञानिक' शब्द में डाल दी गयी है। विज्ञान की दुहाई का आज के दिन बोलबाला है और सचमुच उसका चमत्कार भी आँखों को और मन-बुद्धि को चमत्कृत कर रहा है। विज्ञान की महिमा से आँख मोड़ी नहीं जा सकती।

लेकिन उस महिमा का ही यह पहलू भी है कि बेचैनी व्याप्त है। मानसिक और स्नायविक रोग बढ़ रहे हैं। जीवन में तनाव इतना आ गया है कि जाने कब फटकर न बिखर जाए। व्यक्ति-जीवन का ही यह हाल नहीं है, सामुदायिक और राजकीय जीवन में तो तनाव और भी उग्रतर दीखता है। अणु-बम बनते ही जा रहे हैं। यद्यपि हर चर्चा में उत्तरोत्तर प्रकट होता जाता है कि उनकी भयंकर इतनी है कि उशी के कारण निर्णीत मान लिया जाना चाहिए कि उनका उफ्योग कभी नहीं होगा। सब इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि अणु-बम उपयोगी नहीं है और केवल मात्र संहारक है। वे काम में नहीं लाये जाएँगे। फिर भी, यदि इस तेज़ी से वे दोनों ओर बनाये ही जा रहे हैं तो केवल इसलिए कि उनसे उत्पन्न होनेवाले भय का अवश्य बड़ा उपयोग है। उस भय के नाते ही युद्ध रुका हुआ है, अन्यथा अब तक वह कभी फूट पड़ता। 'डेटेरेण्ट' उपयोग यही माना जाता है।

लोग विज्ञान को सही मान रहे हैं, दोष सब राजनीति का मानते हैं। अर्थात् उस नीति का जो विज्ञान का उपयोग करती है। विज्ञान तो विशुद्ध ज्ञान और उसमें से बल प्राप्त होता है। उस बल का यदि संहार के लिए उपयोग किया जाता है तो यह दोष वैज्ञानिक का नहीं है, नेता का है। ऐसा मानकर विज्ञान को

अधिकाधिक महिमान्वित ही किया जा रहा है।

मेरा यह मानना है कि पदार्थ-वैज्ञानिक ही वैज्ञानिक नहीं है, बल्कि राजनेता भी है जो 'विज्ञान' की दृष्टि रखकर चलने का प्रयत्न करता है। आज का समाजनेता और राजनेता श्रद्धा का पुरुष बनने की अपने लिए उतनी आवश्यकता नहीं देखता जितना वह समाज का वैज्ञानिक बनना चाहता है। इस तरह यह समूची सभ्यता वैज्ञानिक बनने के प्रयास में विभीषिका बन आयी है। अत: स्वयं विज्ञान के आशय अथवा मूल के निवेचन की आवश्यकता हो सकती है।

विज्ञान में हम ज्ञाता होते हैं, वस्तु को ज्ञेय के रूप में लेते हैं। इस तरह वस्तु की लिप्सा से, उसके अनुराग से, हम उत्तीर्ण बन जाते हैं। उस निर्विकार और वीतराग वृत्ति से तर्कपूर्वक वस्तु की यथार्थता में उतरकर मानो वैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि करते चले जाते हैं। इसी में से विज्ञान की उन्नति हुई है और नये से नये आविष्कार हो पाये हैं। मनुष्य की क्षमता और विभुता बढ़ी है और वह प्रकृति का आज मानो दास नहीं है, बल्कि स्वामी बन सका है।

मुझे लगता है कि यह तमाम उन्नति और सिद्धि अपने आप में बड़ी समुपलब्धि नहीं है। सत्यता एवं वास्तविकता के साथ मनुष्य का यह विभुता का सम्बन्ध सर्वथा इष्ट ही नहीं है, कदाचित् अनिष्ट भी है। विज्ञान का खोजी तो जितने गहरे उतरता है उतना ही अपने आगे के ज्ञेय अर्थात् अज्ञात तत्व की अपारता के समक्ष विनीत और जिज्ञासु बनता है। किन्तु वैसे विरलल खोजी को छोड़कर उस वैज्ञानिक खोज के फल से लाभ उठानेवाले शेष जन उद्भ्रान्त और प्रमत्त बनते हैं, भगवान से वे शून्य हो जाते हैं और प्रकृति का विस्मय उनके लिए समाप्त हो जाता है। इस तरह मानव-स्वभाव में से उसकी एक सम्पदा ही लुट जाती है। आस्तिकता और ऋजुता नष्टप्राय होने लग जाती है।

पदार्थ के क्षेत्र में वैज्ञानिक वृत्ति की यह त्रुटि एकाएक नज़र नहीं आती। किन्तु मैंने हठात् मानव-सम्बन्धों के बीच में इसी वैज्ञानिक वृत्ति को उतारकर अपनी 'विज्ञान' कहानी में देखना और दिखाना चाहा है। परिणाम जो हुआ उसीने कहानी के रूप में गठन और व्यंज्जन पाया है। परिणाम बीभत्स और विडम्बनाजनक के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता था। वही वीभत्स घोरता पाठक के पास यदि पहुँचती है तो कथा का अभीप्स्य ही उससे अनायास पूरा हो जाता है। सचमुच ही उस भीषण सम्भावना को पाठ की चेतना तक मैं पहुंचाना चाहता हूँ, जो वैज्ञानिकता को मानव-सम्बन्धों के बीच में ज्यों-का-त्यों उतारने के लिए कारण छा जा सकती है।

'विज्ञान' कहानी के श्री एक्स किसी अपनी महान् आदर्शवादी विश्व-योजना में नारी-सामर्थ्य का पुरा उपयोग कर लेना चाहते हैं। इस हेतु में ऊपरी तौर पर

कोई दोष नहीं देखा जा सकता है। कहानी में वे नितान्त उत्तीर्ण प्रतीत होते हैं। नारी का नग्न शरीर जहाँ नापा-तोला जा रहा है; उधर वे आँख फेरने को भी तैयार नहीं हैं। उनको प्रकट में उस शरीर में तनिक आकर्षण नहीं है और वे सेकेट्री के द्वारा ही उस नाप-तोल के आकिंक व्यापार को पूरा करा लेते हैं। उनकी अपनी निगाह यदि है तो उस शरीर की यथार्थता और आकर्षकता पर नहीं है, बल्कि उसके पार उस तत्त्व के गहरे उपयोग पर है। कारण, श्री एक्स मनुष्य नहीं है, वैज्ञानिक हैं। सामान्य मनुष्य को जो या तो अरुचिपूर्ण घृणा से या लोभपूर्ण लालसा से भर दे सकता है, वह वसन-प्रलोभनीय उनके लिए अविचारणीय है। उनका विचार ऊँचाई पर है, मानो वे किसी आदर्श स्वप्न में अवस्थित हैं। इसलिए न उन्हें जुगुप्सा है, न घृणा है। न लोभ है, न लिप्सा है। अपने आदर्श-हेतु के प्रति मानो वे सम्पूर्ण समर्पित हैं, निजत्व से सर्वथा उत्तीर्ण और अभिसिद्ध। उस दृश्य से, जो पाठकों को जुगुप्साजनक लगा है, यदि हम श्री एक्स के व्यक्तित्व को अलग करके देख सकें तो शायद वह चरित्र महान् और उदात्त और जितेन्द्रिय योगी के रूप में देखा जा सकता हो।

कथा की अन्तिम दो-तीन पंक्तियाँ यह दिखाने के लिए हैं कि यह वैज्ञानिक व्यक्ति यदि इतना उत्तीर्ण और सिद्ध-संयत दिखायी देता है तो केवल इसलिए कि उसने अपने भीतर के किसी गूढ़ सत्त्व को अस्वीकार किया है। मानो अन्तर्भावना को कुचलकर शून्यप्राय बना लिया है। उस सत्व को रोमांस कहिये या कुछ कहिये। कहानी के द्वारा, कहानी में, और कहानी से बाहर भी मेरा आग्रह है कि विज्ञान के जोर से उस स्वप्न, सत्त्व अथवा सत्य को छूना या छोड़ना नहीं होगा, बल्कि उसको अविकल स्वीकार करना होगा। अन्यथा मानव विभु के बजाय दस्यु और देवता के बजाय दानव ही बन सकेगा, दूसरा कोई परिणाम नहीं आयेगा। दूसरे शब्दों में, आस्तिक श्रद्धा के अभाव में विज्ञान अ-श्रेयस्कर परिणाम ही ला सकता है।

इसलिए कहानी ने जितनी जुगुप्सा और घृणा पैदा की है, उतना ही एक तरह से मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। क्योंकि उससे जाने-अनजाने मेरे अभिप्राय की अभीष्ट-सिद्धि ही हुई है।

मुझे दुःख है कि कहानी के अपने अन्तरंग मन्तव्य के बारे में मुझे ये शब्द कहने पड़े हैं। वह सब पाठक की ओर से आविष्करणीय रहने देना चाहिए था, मेरे द्वारा वह आरोपित नहीं होना चाहिए था। फिर भी यह करना पड़ा है इसके लिए मैं आपका और आपके पाठकों की क्षमा का प्राथी हूँ।

—जैनेन्द्रकुमार

□

इतस्ततः

शब्द और संस्कृति

बीच में नौ सप्ताह यह स्तम्भ बन्द रहा। उसकी एक कहानी है। सम्पादक ने लिखा—

'इतस्ततः' के कुछ खण्डों में आपने इतने विद्रोही (सामाजिक मान्यताओं के) भावों का प्रतिपादन कर दिया है कि सब मान्यताओं के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों के मन में तीव्र घृणा जाग गई धर्मयुग के लिए। धर्मयुग के पाठकों में अधिकांश व्यक्ति परम्परा प्रेमी है। उन्हें आपकी सर्वथा मौलिक स्थापनाएँ अच्छी नहीं लगीं। अतः...यही है कि 'इतस्ततः' को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें। इन कालमों में जो भी जाएगा हमारे परम्परा प्रिय पाठकों की संशयात्मक दृष्टि का शिकार हो जायगा।

पत्र मिला और धर्मयुग के अगले अंग में इतस्ततः गायब दिखाई दिया।

मुझे अपने लिखे का समर्थन नहीं करना है। उसमें दोष रहा होगा। निर्दोषता का दावा यहाँ कौन कर सकता है। पर दोष-निवारण का उपाय सीधा और सही यही है कि दोष को पहचानने का मौका दिया जाए। जिन बन्धुओं को आपत्ति हुई, जिनमें तीव्र घृणा जाग गई, उनको हक आता था कि मुझे गलती बतलाएँ। उनकी ओर से यह कर्तव्य सम्पादक का भी हो जाता था। यह समझना कि मैं अपनी भूल देख नहीं सकूँगा या देखकर उसे सुधारूँगा नहीं अन्याय ही कहा जाएगा। यह तो मालूम हुआ कि कुछ परम्पराप्रिय पाठकों में तीव्र घृणा पैदा हुई, लेकिन अकारण घृणा ही उनके पास थी ऐसा मैं नहीं मान सकता। अवश्य उसके समर्थन में उनके पास आवश्यक वक्तव्य भी होगा। सम्पादक को चाहिए था कि उनसे वह वक्तव्य होगा। सम्पादक को चाहिए था कि उनसे वह वक्तव्य प्राप्त करते और अगर उसे छापते नहीं तो मुझे भेज देते। अव्वल तो वह छपना चाहिए था। निश्चय ही वह वक्तव्य मेरे लेख से सौम्यतर और सत्यतर होता। ऊँचे भाव और ऊँचे विचार होने के कारण ही तो उनमें मेरे हल्के भावों के प्रति जुगुप्सा पैदा हुई होगी। मुझे अब तक आश्र्य है कि उन बन्धुओं के पास से सम्पादक

ने क्यों वह सात्त्विक वक्तव्य पाने की कोशिश नहीं की। अब भी चाहिए कि उन महानुभावों की भावनाओं को लिपिबद्ध रूप से माँगा जाय और आदर के साथ उसे प्रकाशित किया जाए। मुझे उससे सीखने और सुधरने का अवसर होगा।

मैंने अपने उन खण्डों को फिर से पढ़ लिया है। संदिग्ध जो समझे जा सकते थे उन्हें एक से अधिक बार। दया का पात्र हूँ कि मुझे अपनी ओर से कोई भूल पकड़ नहीं मिली है। भूल वहाँ अवश्य रही होगी और वह गहरी और मार्मिक होगी। नहीं तो 'तीव्र घृणा' का भाव कैसे पैदा होता। मेरी विनय है कि मुझे वह बताई जाए।

परम्परा से मैं प्रगति का विरोध नहीं देखता हूँ। इससे प्रगति का प्रेम रखते हुए परम्परा के प्रति भी मैं अपने में आधर पाता हूँ। मुझे विस्मय है उन लोगों पर जो परम्परा के उच्छेद से प्रगति का आरम्भ चाहते हैं। अभी एक जमाना बीता है जब प्रगति की बड़ी धूम थी। उस प्रगति में यही घोष था कि परम्परा को पहले उच्छिन्न करना होगा और तब प्रगति का सूत्रारम्भ होगा। उस खयाली प्रगति का क्या भाग्य हुआ, सब जानते हैं। उस समय भी मैंने चेतावनी दी थी कि परम्परा में से ही जो पुष्पित और फलित नहीं होती, वह प्रगति नहीं है। मन का चाव उसमें हो सकता है, या चकराव और भरमाव भी, टिकाव वहाँ नहीं होता। उठना उसमें नहीं होता, बिखरना होता है।

ऐसी निष्ठा रखते हुए मैं स्वयं चकित हूँ कि परम्परा-प्रियता को मैं चोट कैसे दे गया। मेरे मन में चोट थी नहीं, है नहीं, कबी होगी भी नहीं। लेकिन इतना अवश्य है कि वह परम्परा का प्रेम नहीं मोह है जो यहाँ और इस क्षण उस अनुक्रम की कड़ी को बन्द और समाप्त देखना चाहता है। अतीत से आज तक जो कड़ी हमें थामे रही है, उसकी सार्थकता इसमें है कि भविष्य को भी थामती हुई वह आगे बढ़े। परम्परा को वह नहीं जानता, नहीं मानता, जो उसे अतीत से जड़ित और भावी से विहीन रकता है। धर्म इसी से कालातीत है। वह नित्य है। विगत, आगत और अनागत को जो एक लड़ी में थामता है वह धर्म है। धर्म इस तरह सदा हरा है। कभी वह सूखता नहीं है। संजीवन का तत्त्व उसमें सदा लोच और लचक रखता है। जीवित में और शव में क्या अन्तर है— बस यही कि शव में से सम्भावनाएँ मिट जाती हैं। सम्भावनाएँ जिसमें से खत्म हुई, कहना चाहिए आत्मा ही वहाँ से उड़ गया। जीवन्त परम्परा आत्महीन नहीं होती। वह समाप्त नहीं होती। उसमें नाना रूप और प्ररूपों में खिलते जाने की शक्ति प्रवाहित रहती है।

परम्परा का वह प्रेम जो उस प्रवाह को रोकता और बाँधता है, गति में अनर्गलता का हठ पैदा करता है। वह गति निरंकुश और भोगवादी होती है। आज

की धर्महीन, मर्याहीन उच्छृंखल उन्नति परम्परा के उसी जड़-राग के कारण है।

स्रोत से धारा निकलकर बहते-बहते रुक जाती है तो क्या होता है। दलदल बनती है, जोहड़ बन जाता है। धारा यदि बहती ही जाती है, वहाँ तक कि जहाँ वह स्वयं सागर ही न हो जाय, तो ऐसी गंगा के किनारे-किनारे अनेक धाम और तीर्थ बनते हैं। उसी अस्खलित और अनवरत जीवन-प्रवाह के मर्म-मूत्र का नाम धर्म है। अन्यथा जब धर्म कुछ से घिरा सम्प्रदाय बना दीखता है, तब ठीक यही घटित हुआ होता है। धर्म पर जब हम बलि जाते और निछावर होते हैं, तब हमारे रक्त का अर्घ्य लेकर वह चरितार्थ और सम्पन्न होता है। अपने ही मोह में जब हम उसे घेर लेना चाहते हैं तो उसी में न्यस्त स्वार्थ की सड़ाँध आने लगती है।

किन्तु यहाँ बात और कहानी थी। वह शब्द-शक्ति की बात। शब्द की शक्ति के उद्धार के साथ ही मानव संस्कृति का उत्थान है। शब्द यदि तलवार से कुण्ठित होता है, सत्ता से, संख्या से, आवेश से, दबाव से खण्डित और अवरुद्ध किया जाता है, तो उतना ही संस्कृति की पराजय और बर्बरता की जय होती है। शब्द में प्रभाव कहाँ से आता है? उस प्रभाव का स्रोत हृदय और आत्मा है। जितने गहरे में से वह शब्द आयेगा उतना ही प्रभावशाली होगा। गहराई स्नेह की अनुभूति की। शब्द के प्रभाव से बचने या डरने की आवश्यकता नहीं है। वह आवश्यकता उसी को हो सकती है जो अन्त:करण से विपरीत चलना चाहता है; जो उत्कृष्ट से बचना, अपकृष्ट में खिंचना चाहता है। शब्द के असर को जीतना बहुत आसान भी है; मधुरतर और गंभीरतर शब्द से पहले का हल्का असर सहज ही धुल जाता है। अर्थात् शब्द की काट के लिए उपाय भी शब्द ही है।

उन सब लोगों को जिनकी भावनाएँ उत्कृष्ट हैं, जिनके विचार महान् और सात्त्विक हैं, चाहिए कि दूसरे और सब उपायों का अवलम्बन छोड़ दें। घृणा, क्रोध या आवेश का दबाव डालने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं है। केवल शब्द का आयुध उन्हें बहुत होगा। स्निग्धतर, सौम्यतर, सत्यतर शब्द। शब्दों में अपना वक्तव्य समक्ष न लाकर यदि वे दूसरी तिकड़म से काम करते हैं तो कैसे माना जाएगा कि भाव और विचार उनके उच्च और निर्मल हैं।

आज का संकट यही है। शब्द शक्ति क्षीण हो रही है। आत्म-विज्ञापन के भाव से और अहंवाद के शब्दों से जो वातावरण व्याप्त है, उससे शब्दनिष्ठा ही टूटी जा रही है। मंचों की, घोषो-विज्ञप्तियों की, अखबारों की भरमार है। उस कोलाहल में आवेश से हीन और प्रीति से युक्त शब्द आसानी से खो सकता है। फिर भी मानव का उद्धार शब्द के साथ और श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिए कि वे शब्द चाहें कम कहें पर वे कहें जिनमें सत्, स्नेह और संकल्प का बल हो।

जीवन में धर्म पर श्रद्धा होना तो कठिन नहीं जान पड़ता। पर आदमी में जो काम और कामना है, कठिनता उसको लेकर होती है। पर काम और अर्थ, ये ही असल पुरुषार्थ भी हैं। धर्मपूर्वक इन दो पुरुषार्थों को साधा जाए तो मोक्ष फलित होता कहा गया है। जान पड़ता है कि इन काम और अर्थ को लेकर ही कुछ लिख गया होगा, जिन पर सदाशय बन्धुओं को आपत्ति हुई। मेरा मानना है कि मूल भागव्शक्ति प्रेम है। वह कट-बँट जाती है तो समस्या पैदा होती है। अर्थात् प्रेम यदि मानव में समग्र और संयुक्त हो सके तो उससे समाधान मिलना चाहिए। इसी को फिर चाहे योग कह दिया जाए। यानी अखण्ड प्रेम, आत्मैक्य। अर्थ एवं काम का समाहार प्रेम से अन्यत्र कहीं नहीं है। इस समग्र अतीन्द्रिय प्रेम का नाम ही है अहिंसा। अहिंसा 'से' मोक्ष के बजाय अहिंसा 'में' मोक्ष है, यह कहना मुझे अधिक सार्थक लगता है। सत्य बिना अहिंसा के अलभ्य ही रहेगा। यदि कुछ विहित के आगे भी इन लेखों में कदम बढ़ा है तो उसे सह्य इसीलिए मान लेना चाहिए कि प्रयास उस दिशा का है।

जनवरी, 1960

क्षमा याचना

यह पुस्तक कतिपय उन स्फुट लेखों का संकलन है जो 'इतस्ततः' स्तम्भ के अन्तर्गत एक साप्ताहिक में प्रकाशित होने के लिए लिखे गये थे। पीछे कुछ उनमें यत्र-तत्र भी छापे। स्तम्भ के आरम्भ के कुछ ही अनन्तर पत्र के सम्पादक को असहमति हुई, आपत्ति हुई कि वे असह्य रूप में तीखे हैं। इस नाते स्तम्भ को स्थगित कर दिया गया। 'शब्द और संस्कृति' शीर्षक वक्तव्य उसी स्थिति के उत्तर में लिखा गया था। उचित हुआ कि संग्राहक और प्रकाशक ने उसे पुस्तक के आरम्भ में रखा है। कारण, वह एक गम्भीर प्रश्न को सामने लाता है। एक प्रकार से आवेशाविष्ट नाना अहम्वादों के तुमुल के बीच साहित्यिक गतिरोध और प्रभावरोध की ही समस्या को उपस्थित करता है।

यह संक्रमण का हाल है। निर्धारण और निर्णय के अन्तिम उपाय के रूप में पाशव शक्ति का स्वीकार और प्रयोग करती हुई मानव सभ्यता आज तक बढ़ती चली आई है। अब लगता है कि उस सभ्यता का छोर आ गया है, आगे राह बन्द है। हिंसक अस्त्र के उपाय से ही यदि अन्तिम निपटारा मान्य और अन्तिम बन पाता हो तो विज्ञान ने दिखा दिया है कि सम्पूर्ण नाश के परिणाम के लिए मानव जाति को तैयार हो जाना होगा। अन्यथा मार्ग बदलना, नए दर्शन को खोजना और नई व्यवस्था को अपनाना होगा। प्रचलित मूल्यों की अपर्याप्तता और मौलिक मूल्यों की आवश्यकता आज अनिवार्य होकर प्रकट हो आई है। इन रचनाओं में रंजन की जगह उस दिशा के प्रयास की झलक दीखे तो दोष के लिए मुझे क्षमा किया जाए।

—जैनेन्द्र कुमार

21.5.62

जीवन से जो सीखा

मैंने जीवन से क्या पाया? यह अपने से पूछता हूँ तो कुछ सूत्रभर हाथ लगते हैं। मानो सब प्रकार के सुख-दुख का भोग अन्त में बस सूत्र दे जाता हो। यों तो स्मृतियाँ भी शेष रहती हैं और मृत्यु तक जीवन के साथ चला करती हैं। लेकिन स्मृतियाँ को उपलब्धि कहना कठिन है। उपलब्धि तो इन सूत्रों को ही मानिये।

मैं जो आज हूँ सो होने की कभी कल्पना न की थी। कुछ किताबें मेरे नाम से छपी हैं और लेखक समझा जाता हूँ। यह लेखक बनने तक मेरा सपना भी नहीं पहुँच सकता था। छुटपन में लिखने का मैं बड़ा चोर था। वह सवाल आते ही सुधबुध सब गायब हो जाती थी। दिमाग काम करना छोड़ देता था। परीक्षा में लिखना पडा हो सो बात दूसरी। उस वक्त तो सोच-विचार के लिए मौका न रहता था। डर के मारे आँख मूँदकर कोई नाक की सीध सीधा भागता चला जाय, ठीक वैसी दशा होती थी। लेकिन जब सिर पर वैसा कोई भूत न हो तब लिखना क्यों और कैसे हो? एक बार कहा गया कि देश-प्रेम पर निबन्ध लिखो। मानो सुनते ही देश और प्रेम दोनों एक साथ मुझ में खत्म हो गये, सारा होश ही फाख़्ता हो गया।...किताबों में जिनके नाम देखता और कभी तस्वीरें भी देख पाता था। तो मालूम होता था कि ये सब किसी अपर लोक के देव-पुरुष हैं और यह ज्ञान सामग्री लिख जाने का काम उस अपर लोक में ही सम्पन्न होनेवाला कोई अलौकिक कर्म है। ऐसी मेरी हालत थी। वही मैं आज लेखक बना दीखता हूँ! जिंदगी भर उसके अतिरिक्त कुछ भी और बनने की सुविधा और योग्यता नहीं पा सका हूँ। इससे मैंने मान लिया है कि मुझसे कहीं बड़ा सत्य है भाग्य।

मैंने नहीं सोचा और नहीं चाहा था लेखक बनना। चाहें अनेक उठती थीं पर उनमें एक भी इस दिशा में न जाती थी। दुनिया में अलाय-बलाय और सबकुछ बनने की तरफ वे इच्छाएँ दौड़ती थीं। पर हाय कि कुछ भी और न हुआ, एक लेखक बनना ही मेरे लिए रह गया। मेरी इच्छाएँ, मेरे प्रयत्न कहाँ गये पता नहीं।

इस पर से इतना ही नहीं कि मैं भाग्य को मानता हूँ, बल्कि यह भी मानना पड़ता है कि उसके आगे मैं नहीं हूँ।

सबसे गंभीर और अनिवार्य सूत्र जो इतने बरस रहे चले जाकर मुझे हाथ लगा मालूम होता है यही है। अब हर दिन के बीतने के साथ वह पुष्ट ही होता जाता है। याने कि मैं नहीं हूँ, वह है।

यहाँ शायद कुछ व्याख्या की आवश्यकता हो। मेरा यह पचपनवाँ वर्ष है। हाथ की रेखाएं देखकर लोगों ने बताया है कि कोई पिचहत्तर वर्ष की आयु तक जीना होगा। मेरी आशा उतनी नहीं है। बल्कि आशा है छुटकारा जल्दी हो सकेगा। भारतवासी की औसत आयु से ज्यादा पाना मुझजैसे के लिए अनुचित होना चाहिए। यह सोचता हूँ और भगवान पर अपने भरोसे को ध्यान में लाता हूँ तो लगता है आशा पूरी हो सकेगी। उठना जल्दी मिल जायेगा। पर जल्दी हो कि कुछ देर से हो, मेरे होने की अवधि की सीमा पर अन्त में एक 'नहीं' ही सदा के लिए आ बैठनेवाला है। कितना भी परलोक कहूँ, पुनर्जन्म कह लूँ, पर यह 'मैं' तो एकदम मिट जाने ही वाला है। होगा ही तो वह कोई दूसरा मैं; होगा और उसकी बात वह करेगा। मेरी बात तो यहीं तक है कि आज 'हूँ' कल 'नहीं' बन जाऊँगा। मेरे होने के आरम्भ का एक दिन था, बीच के यह साठ सत्तर साल पारकर फिर एक दिन होगा कि वह होना बन्द हो जायेगा। उस पहले के दिन से पहले और अन्त के दिन के अन्त में अनादि और अनन्तकाल है। उसमें मेरा होना झूठ और न-होना ही सच रह जाता है। होना तो आभास मात्र है, माया की लीला जैसा है। यह लीला उसकी है जो सर्वथा और सर्वदा है।

यह ऊपर की बात पढ़नेवाले को कैसी लगती होगी कुछ कहा नहीं जा सकता है। भारी-भारी और उदास-सी वह बात मालूम होती होगी। जीने से वह बेमेल है और प्राणों के उत्साह को एकदम पीला ले सकती है। कर्तृत्व और दायित्व, जिनके बल से आदमी इतना कुछ कर गुजर जाता है, उस बात की दलदल में धँसकर खो जाते हैं। मैं उधर से हटा लेना चाहता हूँ। क्योंकि वहाँ इन्द्रिय का कोई भी तो व्यापार नहीं बनता। सोच विचार शून्य हो जाता है। हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं। काम-धाम सब व्यर्थ बन जाता है। मानो जीने में से सारा अर्थ ही खिंच रहता है। मृत्यु की बात स्वयं मानो मृत्यु ही बनकर प्राणों को डस लेती है।

फिर भी क्या किया जाय? कितना ही डरो, बचो, यह सत्य साथ नहीं छोड़ता कि तुम नहीं रहोगे। गहरा विषाद उसमें मिलता है, कभी मीठा-मीठा भी वह जान पड़ता है। पर मिठास वह भयंकर होती है। कुल की कुल चेतना को चूस जा सकती है।

तो उस अनिवार्य और गम्भीर सूत्र से पहले पहल यह विषाद ही प्राप्त हुआ था। स्वाभाविक भी है। अपने से प्यार करने के आधार पर हम जीते हैं। वही नीच से ग़ायब हो जाये तो आदमी अपने को डूबा-सा अनुभव कैसे न करें। लेकिन उसके साथ ही तत्काल याद आया कि इन पचास-पचपन सालों में जो मेरा बना बनाया है सो सब कैसे हो गया? अपने बल पर तो कुछ हो नहीं पाया। इसलिए जिसकी अमोघ शक्ति से वह सब होता चला गया, उसमें अपने सम्पूर्ण 'होने' को झोंकर 'न-हो' जाना डूबना नहीं है, तिर आना है। 'जासु कृपा पंगु गिरि लंघे, बहिरो सुने, मूक पुनि बोले, अन्धे को सब कुछ दरसाई'—वह कृपा स्वयं न-होने से ही संभव बनती है। और सचमुच देखा गया है कि उस कृपा के भरोसे सब प्रकार की अक्षमताएँ, अयोग्यताएँ समाप्त हो गई हैं। असम्भव सम्भव बन आया है। जैनेन्द्र लेखक बन सकता है, तो उस कृपा से पंगु गिरि क्यों नहीं लांघ सकता और अन्धा सब कुछ क्यों नहीं देख ले सकता है?

पुरुष का अर्थ प्रयत्न करना है। जैनेन्द्र ने भी प्रयत्न किया था। दिल्ली तब छोटी थी और वह कलकत्ता भाग गया था। कलकत्ते में सुभीता यह था कि माँ की नज़र से दूर हो सकता था। माँ का इकलौता बेटा था और लगभग उसके जन्म के साथ मां विधवा हो गई थी। वह अब उमर पा गया था, पर निकम्मा और निठल्ला था। माँ को सहारा होना तो दूर, उन पर दूभर था। इसी से ज़रूरी हुआ कि उनके प्यार से वह अपने को बचाये। कारण, वह प्यार उसे अन्दर तक काटता चला जाता था। तो लम्बे-चौड़े उस कलकत्ते में उसने प्रयत्न किया, सात रोज़ तक लगातार प्रयत्न किया। पर नौकरी बीस रुपये की भी हाथ नहीं आई। इसमें से प्रयत्न की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती, भाग्य की बलवत्ता ही सिद्ध होती है। भाग्य शायद पुरुष के अर्थ को ज्यादा जानता है। प्रयत्न पुरुष का उतना अर्थ है जितना पुरुष जान सकता है। बीस की नौकरी अपने प्रयत्न में से जैनेन्द्र पा भी जाता तो सम्भव था दफ्तर की झाड़ू बुहारी का काम उससे उतनी अच्छी तरह न हो पाता। शायद था कि इस त्रुटि के कारण लगी लगाई नौकरी उसकी छूट जाती। तो क्या यह सब उसका भाग्य पहले ही देख रहा था!

प्रयत्न शायद तत्काल को देखता है। इच्छा में से रंगकर भी देख सकता है। भाग्य समूचे को देख पाता होगा। इच्छाओं से ऊपर होकर जो भाग्य रहा करता है सो अगला-पिछला अनायास उसे स्पष्ट ही रहता होगा। इस पर से मैंने यह मान लिया है कि भाग्य के साथ लड़ाई ग़लत है। प्रयत्न वही सद्प्रयत्न है जिसमें कामना का काँटा नहीं है। भाग्य की स्वीकृति के कारण वह प्रयत्न अपनी जगह पर विनम्र बनता है। उसी का आशय कि हर दूसरे के प्रति उदार और आदरशील बनता है। इस पद्धति से मेरा मानना है कि फल प्रयत्न का कुछ अधिक ही आना

चाहिए, और यदि नहीं आता है तो वह भी भूल के लिए ही नहीं आता है।

ऊपर का सूत्र शायद नैतिक क्षेत्र का मालूम हो सकता है। नीति शायद मानसिकता से अधिक सम्बन्ध रखती है। पर आदमी के साथ शारीरिकता भी लगी है। उसके कारण गुजर-बसर का सवाल मनुष्य के लिए अनिवार्य होता है। मानसिकता उसे नीति की तरफ खींचती है, जिसे पारमार्थिक खिंचाव कह सकते हैं। शारीरिकता का खिंचाव आर्थिक होता है। गुजर-बसर का सवाल पारमार्थिक कम किंतु आर्थिक अधिक है। वहाँ नियम स्वार्थ का ज़्यादा चलता है। परमार्थ में अगर लोग मिलते हैं तो अर्थ और स्वार्थ पर आकर वे फूट आते हैं।

यह शरीर पक्ष जीवन का कम प्रधान अंग नहीं है। लेखक प्राणी के साथ भी कम प्रधान नहीं हो सकता। पर लेखन में मानसिकता को प्रमुखता मिलती है। इस व्यापार में पैसे पर प्रेम को महत्त्व मिल आता है। अब प्रसिद्ध है कि सरस्वती से लक्ष्मी की बनती नहीं है। सरस्वती जो स्वार्थ को लाँघकर देखती है सो अर्थ उसमें अतृप्त छूट जाता है। लक्ष्मी से यह भूल होती नहीं है। हाथ के सौदे के बारे में असावधान वह नहीं रहती। जन्मांतर को किसने देखा है, सरस्वती उस बारे में निमग्न हो तो हो, और संसार के सम्बन्ध में कुछ विमुख भी चाहे तो रह जाए। लक्ष्मी को तो इसी संसार से मतलब है। वह यहाँ और अब के सम्बन्ध में जगी न रहे तो कौन जगा रहे। इसलिए सरस्वती के फेर में लेखक निर्धन रहे तो तर्क से असंगत बात नहीं है। यह निर्धनता उसकी संवेदना को और पैना बनाती है।

इस तरह शारीरिकता का प्रश्न झमेला खड़ा करता है। पहले का जमाना बदल रहा है। ग्राम-रचना टूट रही है। उद्योगों के सहारे नगर बड़े से और और बड़े बन रहे हैं। इसमें पैसे का चलन तेज़ पर तेज़ होता जाता है। पहले हो सकता था कि गुरू शाला में शिक्षा दे या व्यास आसन से उपदेश दे और फीस या वेतन की बात ध्यान में न लाए। तब सम्भव था कि अनायास लोग उसे ऊँचा उठाये रखें। उसके भरण-पोषम की समुचित व्यवस्था होती रहे और पैसा कहीं बीच में न आए। अब पैसा उस तरह किनारे नहीं हो सकता। मानव सम्बन्ध अब पैसे पर टिकते हैं। इसलिए लेखक जीव की स्थिति बेढब हो गई है। उसका मूल्य प्रेम है, समाज का मूल्य पैसा है। इस कारण प्रश्न बना ही रहता है। अब कुछ प्राणी हैं जो थल-चर हैं कुछ जलचर हैं। बहुत कम हैं जो थल-जल दोनों में एक समान चलते हैं। लगता है लेखक को वैसा ही वाणी बनने की चुनौती है। लेखक के आत्मदान में तो प्रतिदान का विचार नहीं है, व्यापार में एवज़ का ध्यान ही प्रमुख है। इसलिए मालूम हुआ कि व्यवसाय जगत् में आकर लेखक को प्रतिदान के विचार के अनावश्यक नहीं मानना होगा।

मेरे साथ यह समस्या सदा वर्तमान ही है। शुरू में तो किसी ज़िम्मेदारी के ख़याल को मैंने अपने मन पर आने नहीं दिया। लापरवाह बना रहा और विवाह के बाद भी घर-गिरिस्ती के बारे में व्यावहारिक ढंग पर नहीं सोचा। लेकिन आगे जाकर लापरवाही का भाव टिकना मुश्किल होता चला गया। तब विनिमय औरएवज के सिद्धान्त पर विचार गये बिना नहीं रहा। विचार गया, पर बिगड़ी आदत सँभली नहीं। अर्थात् सामाजिक और तात्त्विक प्रश्न के रूपमें उस पर कितना भी सोचा हो, निजी प्रश्न के रूप में उस सम्बन्ध में मैं असावधान और असफल ही रहता गया हूँ।

यह अर्थक्षेत्र का प्रश्न है। पर वहाँ भी मैंने अपने लिए सीखकर कुछ अन्तिम मान लिया है और वह यह कि अर्थ को परमार्थ से अलग न देखो। अर्थ इसमें मिटता दीखे तो मिटने दो। परमार्थ जिस अंश में सिद्ध होगा उस अंश में अन्त में अर्थ भी स्वयं सिद्ध होता चला जाएगा।

आइए, आर्थिक विनिमय पर विचार करें। लेखक लिखता है और कानून उस लिखे हुए को स्वत्व और सम्पत्ति करार दे देता है। लेखक को शुरू में इसका पता नहीं रहता। लिखने का यह लाभ उसे अपने लिए भरपूर जान पड़ता है कि वह पाठक वर्ग तक फैल रहा है। इस पद्धति से अपने स्वयं में वह विस्तार पातदा है और इसमें परम तृप्ति का लाभ अनुभव करता है। बल्कि इसके लिए सम्पादक और प्रकाशक का वह कृतज्ञ होने को तैयार होता है। किन्तु प्रकाशक व्यापार में रहनेवाला प्राणी है। कानून का वह पूरा पता रखता है। इन दो भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समागम से साहित्य की दुनिया चलती है। एक श्रमी है, दूसरा व्यवसायी है।

श्रम और व्यापार के सम्बन्धों के बारे में बेहद सोचा विचारा गया है। समाजवाद-साम्यवाद जैसे पन्थ चले हैं। उस विचार के समय जान पड़ा है कि हिसाबी के हाथों बे-हिसाब यानी भावुक को घाटे में रहना पड़ेगा ही। पैसे के चलन ने तेज़ी पकड़ी तो मालूम हुआ कि यह बे-पैसा आदमी, जो फिर भी ऊँचा था, पैसे में कीमत पड़ने के हिसाब से ही नीचे आता जा रहा है। भारत की परिस्थिति इसी संक्रान्तिकाल में से गुज़र रही है। यहाँ धर्म और नीति प्रधान थे। पर विज्ञान ने मशीन दी और मशीन से जीव को तेजी दी। एक नई और औद्योगिक जीवन पद्धति का उदय हुआ। भारत का ब्रह्मणअय वर्ग नीति-मूल्यों में रहनेवाला था। संक्रान्ति का समय उसी के लिए सबसे कठिन बना है। उसके और उन जैसे दूसरों के लिए जो धर्मनीति को साधना में रहते थे।

यहाँ विशेष आपबीती में जाने की आवश्यकता नहीं है। जीवन जैसे तैसे कट ही गया है। इसलिए अपने निज को लेकर मैं विचार नहीं कर सकता।...लेखक

के पास पैसा किस पद्धति से पहुँचता है। वह पहले पाठक के पास से आता है, कुछ भाग उसका विक्रेता के पास छूट जाता है, शेष वह प्रकाशक के पास पहुँचता है। फिर प्रकाशक अपने लाभ का अमुक अंश लेखक के पास पहुँचाता है। पर प्रकाशक और लेखक के बीच बनी हुई कोई व्यापारिक प्रणाली नहीं है। लेखक निर्भर है प्रकाश के स्वभाव और सुविधा पर। इसमें लेखकों के अपने-अपने अनुभव हैं। लेकिन यह साफ है कि प्रकाशन के काम में जिन जिन का सम्बन्ध आता है उनमें पैसे के मामले में लेखक का विचार सबसे पीछे होता है। उस कोटि का श्रमिक वह हो नहीं सकता जो यूनियन में बँधकर दबाव से अपना हक निकलवाते हैं। न वह व्यवसायी हो पाता है जो हिसाब किताब में चौकस हो।

यह आर्थिक प्रणालियों की समस्या सर्व सामान्य है। लेकिन लेखक के लिए विकट है। उन सब लोगों के लिए विकट है जो स्वार्थ को लेकर विशेष साग्रह और सचेष्ट नहीं हो सकते। पर सतत इस आर्थिक समस्या में रहते और बीतते हुए जो सीखा है वह यह कि प्रतिदान की बात दूसरे पर छोड़ो, आत्मदान पर ही ध्यान रखो। विनिमय के सिद्धान्त पर चलनेवाली इस दुनिया में शायद यह सूत्र सही न लगे। पर मैंने उससे खोया नहीं है। हो सकता है कि प्रकाशक मुझे विशेष भले मिले। पर कभी मैंने उनके रायल्टी के हिसाब के कागज पर निगाह नहीं डाली। आते ही मैं उसे उलटकर रख देता था। इस व्यवहार से आज भी मानता हूँ कि मैंने कुछ गँवाया नहीं है, कमाया हो भी सकता है।

अँग्रेजी में कहते हैं 'फर्स्ट डिज़र्व, देन डिज़ायर'। मुझे प्रतीत होता है कि अच्छा न करने से योग्यता का आरम्भ है। योग्य बनने का मतलब अपनी जगह अपना काम करत जाना है। उसके बाद फल स्वयं विवश होता है कि आये।

अर्थ का प्रश्न मानव सम्बन्ध के प्रश्न से जुड़ा है। यही सम्बन्ध साधने की कला सबसे कठिन है। आदमी सभी अपनी-अपनी जगह अहंमन्य हैं। उनको साधना खेल नहीं है। उससे बड़ी साधना शायद दूसरी हो भी नहीं सकती। इस क्षेत्र में जो कर्तव्य को लेता और अधिकार को छोड़ देता है, अन्त में वही जीत में रहता है। उसके अधिकार का क्षेत्र फिर आप ही आप विस्तृत होता जाता है। अधिकार उसके सिर पर सवार नहीं होता। उसे मिला अधिकार देते और वह उसे केवल कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करता है।

व्यापार के क्षेत्र में स्वार्थ का नियम चलता है। राजकरण में वह और भी बल बनता है। कारण, वहाँ स्वार्थ परिवार से आगे दल में संगठित हो जाता है। इसलिए राजनीति से अधिकांश संस्कृति की हानि होती है। दल-बल के नाम पर अहंबल को ही उद्दीपन मिलता है। उस दृष्टि के अधीन व्यक्ति का उपयोग किया जाता है, शेष को छूछा छोड़ दिया जाना है। गहरी भाषा में कहें तो ऐसे

हम पूर्ण मनुष्य के लाभ से वंचित रह जाते हैं। यहाँ से शोषण भी फलित होता है। क्योंकि व्यक्ति से हम योग नहीं प्राप्त करते कि जब केवल उपयोग ही लेने की इच्छा रखते हैं।

शक्ति से आतंकित न होना, न शक्ति से आतंकित करना, यह शिक्षा आप ही यहाँ से फलित हो आती है। धन अथवा दूसरी क्षमता को शक्ति के रूप में हम अनुभव करते हैं और तो उससे मद चढ़ता है। प्रार्थना उसकी अक्सीर दवा है। उसके योग से अहं-शक्ति समाज-शक्ति बनती है, और समाज-शक्ति विभु-शक्ति हो आती है। तब उससे अनिष्ट नहीं हो पाता, जन-मंगल ही होता है। उससे शक्तिमान सेवक बनता है।

अभी कुछ ही वर्ष पहले भारत ने एक युग का भोग पाया था। तब गाँधी जीवित थे और एकाएक ऐसा मालूम होने लगा था कि पवित्रता और सेवा में शक्ति है। अन्यत्र शक्ति का अधिष्ठान झूठा प्रतीत होने आया था। कानून के डंडे का जोर मन में भय पैदा नहीं करता था, बल्कि उपहास जगाने लग गया था। तब धमनियों में स्फूर्ति अनुभव होती थी और व्यक्ति स्वार्थ-संग्रह छोड़ आत्मविसर्जन की और बढ़ता दीखता था। वह हालत अब बदल गयी है। इसी से संकट का अनुभव बढ़ता जा रहा है। अनुभव से मैंने सीखा है कि जो मिल-जुलकर प्राप्त किया जाता और मिल-जुलकर भोगा जाता है, वह भारी नहीं पड़ता। इसके विरोध में किसी के अपमान के आधार पर बननेवाला हमारा सम्मान अमुक को निम्न रखकर अपनी बनने वाली उच्चता, निर्धनता के बीच की धनिकता, सबकी भूख केबीच कुछ का भोग आप ही भारी हो जाता है और खुद को खेलने लगता है। राजनीतिक नेता इसी कारण आगे पीछे स्वयं परेशान हो आता है और शांति के लिए उसको एकान्त की आवश्यकता होती है। कुछ ऐसा लगता है कि महत्त्वाकांक्षा ज्वलन-शील वस्तु है और उसमें भीतर का रस सुखाकर बाहर रेत में भागते जाना बड़ी उपहासात्मक प्रक्रिया है।

मई, 1960

भाग : एक

प्रेम विवाह और व्यक्तित्व

विवाह का अभिनन्दन

प्रेम और विवाह—आधुनिक समाज के दो जलते प्रश्न हैं। हमारी मर्यादा का तकाजा है कि प्रेम और विवाह दो समानान्तर रेखा में चले। इससे वे कभी मिलेंगे नहीं और एक-दूसरे को काटेंगे भी नहीं। लेकिन क्या इन दोनों के स्वर समानान्तर होकर रह जानेवाले दीखते हैं।

उस रोज घर पर मण्डली जुड़ी और विवाह पर बात हो निकली। उसमें अगले दिन हम सबको शामिल होना था। पहले तो बात निजी और व्यक्तिगत रही। फिर पूरी संस्था का ही विवेचन हो निकला। एक ने कहा—भई, विवाह महँगा सौदा है। फिर से जीना मिले तो मैं इस पचड़े में न पड़ूँ।

दूसरे ने कहा—तुम तो जख्म खाये हो। एक जूए से बन्धे रहे हो। मैं काफी आजाद रहा हूँ। विदेशों में बीसों बरस गये हैं। कह सकता हूँ कि वे मेरे कोरे नहीं गये। लेकिन देखता हूँ कि उस सबमें कुछ नहीं है। अन्त में सम्बन्ध विवाह का है जहाँ स्थिरता मिलती है। जवानी के लिए नहीं, विवाह बुढ़ापे के लिए है।

तीसरे ने कहा—अपनी-अपनी बात अलग है। प्रश्न को समाज की ओर से देखना चाहिए। आप नाराज हो सकते हैं, सन्तुष्ट हो सकते हैं। हो सकता है पत्नी की वाणी मीठी हो, चेहरा फीका हो। या विपरीत यह हो सकता है कि चेहरा चन्द्र के समान हो और चरित्र—। पर बात निज की नहीं समाज की है। समाज के पास विवाह के सिवा दूसरी संस्था क्या है जो टिकाव दे?

''ठीक है, ठीक है।'' चौथे ने कहा—''व्यवस्था सम्पत्तिमूलक हुआ करती है। यानी मेरी स्त्री, मेरा पति, मेरा घर, मेरे बच्चे। लेकिन ऐसे क्या स्वार्थ के चक्र का ही निर्माण नहीं होता? अपने को और अपनों को आदमी सबकुछ मानता है और इनके पोषण के लिए शेष को शोषण का शिकार बनाता है। ऐसे समाज

स्थित और स्थापित स्वार्थों का जंजाल बन जाता है। और इस 'अपने-अपने' के चक्र के मूल में है यह आपका विवाह। मैं याद कर सकता हूँ कि मैं विज्ञान में प्रथम आया था। तब क्या-क्या मनसूबे थे। सब वे अब धूल में मिले पड़े हैं। क्यों? क्योंकि विवाह हुआ और परिवार हुआ और उस कोल्हू में जुतकर मैं ऐसा बैल बना कि इधर-उधर तक न देख सका। अब दुहरे बदन का प्रोफेसर ही तो हूँ जो आमदनी के रास्ते बढ़ाने की सोचता रहता है। संसार में इसके अतिरिक्त और कुछ सोचने को रह ही नहीं गया है। विज्ञान का उपयोग मेरे पास बस इतना है कि उस पर टैक्स्ट बुक लिख दी जाए।

दूसरे ने बीच में टोककर कहा—आइन्स्टइान, मैं समझता हूँ, विवाहित थे।

उत्तर मिला, खाक विवाहित थे। पूछा जाए पत्नी से कि विवाह का क्या हाल रहा। निश्चय विवाह हुआ न हुआ जैसा रहा होगा।

''तो इसमें क्या मुश्किल है। आप भी विवाह को वैसा ही बना लीजिए। कोल्हू क्यों बनने देते हैं।''

प्रोफेसर ने सौम्य भाव से कहा—मानता हूँ आपकी बात। लेकिन यह भारतवर्ष है। विवाह यहाँ सुविधा नहीं है, मर्यादा है। विलायतों में वह कुछ आरजी चीज है, आपको चारों तरफ से घेरती नहीं। यहाँ वह होल टाइम काम है। आदमी आदमी पीछे होता है, गृहस्थी पहले रहता है। बस कुछ पूछिए नहीं। आप तो जानते हैं—

''तो महाशय, आप क्या सोचते हैं, क्या ऐसा हो सकता है कि माँ बच्चे को जन्म दे और अपना न कहे। प्रकृति में ही मैं और मेरे को अवकाश है। इसमें से तुम और तुम्हारे की सृष्टि आप ही हो जाती है। क्या इसके बिना काम चल सकता है। इससे उत्तीर्ण समाजवाद कैसा क्या होगा, मैं समझ नहीं सकता।

प्रोफेसर ने कहा—प्रकृति पर हम रुक नहीं सकते। इसी से पुरुषार्थ का अर्थ है, संस्कृति का निर्माण। मैं और मेरा वहाँ रहेगा; लेकिन ये संज्ञाएँ अधिकार के लिए नहीं, कर्त्तव्य के लिए होंगी। मेरी चीज का जो मतलब है वही मेरी स्त्री का भी मतलब हुआ करता है। लेकिन संस्कृति ने बताया कि स्त्री उस अर्थ में मेरी या किसी की नहीं हो सकती। इसी भाव का और भी विकास होता जाएगा। मैं नहीं कहता कि तब विवाह मिट जाएगा। लेकिन यह निश्चित है कि आज के जैसा उसका मतलब न रहेगा।

पहले सज्जन ने उत्सुक भाव से बीच में ही कहा—खुलासा कहिए कि क्या होगा? मेरी स्त्री मेरी होगी और नहीं भी होगी?

''जी हाँ, वह स्त्री होगी और अन्त तक अपनी रहेगी। आपकी होगी तो अपनी और स्वयं रहकर। यदि इसमें उसके स्वतः को सुविधा नहीं मालूम होगी तो वह आपकी न रहेगी। विवाह जो स्वयं से स्वतः को छीनता है आगे नहीं

टिकनेवाला है।''

''ऐसे क्या अव्यवस्था न फैलेगी?''

''अव्यवस्था की अवस्था आज नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। सिर्फ व्यवस्था का ढकना ऊपर है। सतह के नीचे भी वह है, ऐसा मान लेना भ्रम होगा। फिर यहाँ तलाक नहीं है, या प्रचलित नहीं है। दूसरे देशों की बात इससे भिन्न है। तो क्या यह मानें कि वहाँ की व्यवस्था ही खराब है? असल में हर युग, हर देश, अपनी प्रवर्तमान संस्थाओं से चिपटा रहता है। उससे दूसरी स्थिति उसे सम्भवनीय नहीं जान पड़ती। लेकिन मैं कहता हूँ कि प्रेम पर बन्धन बनकर आनेवाला विवाह अधिक काल टिक नहीं सकेगा। स्थायी भाव प्रेम है।

पहले सज्जन ने कहा—मैं प्रेम का कायल हूँ। मेरा वोट उस युग के लिए है जहाँ प्रेम से अलग विवाह है नहीं। लेकिन एक बात है, प्रेम मुक्त है। उस पर जिम्मेदारी कोई नहीं आनी चाहिए। वह जमाना आये तो लुत्फ़ है जिन्दगी का। नहीं तो जिन्दगी एक बार और मुसीबत है।

तीसरे सज्जन ने कहा—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तब पिता का क्या होगा। क्या वह पद कायम रहेगा? क्यों प्रोफेसर साहब?

प्रोफेसर ने हँसकर कहा—मैं भी आपके जमाने में रहनेवाला हूँ। जब बन्धन न होगा, प्रेम मुक्त होगा और आदमी मुक्त होगा, तब संस्थाओं को और संज्ञाओं को क्या स्वरूप मिलेगा, यह मैं पेशगी कह नहीं सकता। पर मुक्ति की ओर हम बढ़ रहे हैं, यह निश्चय है। मेरा अनुमान है कि मुक्ति वह नहीं है जो दायित्व से डरती है। मुक्ति उसी को कहेंगे जहाँ डर एकदम हो नहीं। आज तो उस अवस्था की कल्पना कठिन है, क्योंकि आदमी विवशता अनुभव करता है, इससे उसकी मुक्ति की धारणा उस बेबसी की अपेक्षा से बनती है। वह सही धारणा नहीं है। मुक्त अवस्था में पाप रह नहीं जाता। कारण कि द्वंद्व नहीं रहता। मुक्त गैर-जिम्मेदार हो कैसे सकता है। पर जिम्मेदार है वह अपने प्रति। हम जिम्मेदारी को बाहर से आया मानते हैं। तब वह सचमुच बन्धन है। प्रेम ऐसे बन्धन को ले नहीं सकता। आता है तो प्रेम वहाँ से उड़ जाता है। और फिर जो कर्त्तव्यपालन है वह सूखा आडम्बर है। आडम्बर गिरे और टूटे तो इसमें कोई व्यवस्था का नुकसान नहीं होता।

बात गम्भीर हुई जा रही थी और सच को सरस रहना चाहिए। मैंने कहा—छोड़िए, यह कहिए कि आप सबके सन्देश वर-वधू के लिए तैयार हैं कि नहीं? अभी पहुँचाने होंगे, फिर अंजलि रूप भेंट करने के निमित्त उन पर जिल्द वगैरह बन्धने में भी समय लगेगा।

मालूम हुआ कि पहले और चौथे सज्जन आशीर्वाद का पत्र साथ लाये हैं।

शेष लोग खाली हाथ हैं। मैं उन आशीर्वचनों को सरसरी निगाह से देख गया। मुझे विस्मय हुआ कि उनमें वर-वधू के लिए कोमल अभिनन्दन और अखण्ड सौभाग्य का आशीर्वाद है। वही दो बन्धु वाद-संवाद में विवाह संस्था के प्रति अश्रद्धालु दीखते थे। लेकिन यही थे जिन्होंने हार्दिकता के साथ विवाह के द्वार से आगे संसार-यात्रा में पग और मनोरथ रखनेवाले दम्पति के स्वागत में अपना हार्दिक योग और आश्वासन दिया था।

अपने इन चारों मित्रों का मैं परिचय नहीं देना चाहता। कारण, लोग पहचान जाएँगे। लेकिन पहले और चौथे सज्जनों के बारे में सब जानते हैं कि वे सफल पति और सफल गृहस्थ है। तो क्या सच यह है कि विचार का और वाणी का साहस मर्यादित व्यवहार में से ही अधिक प्राप्त होता है! एक की वाणी खुली है, दूसरे का विचार उन्मुक्त है। लेकिन दोनों ही अत्यन्त प्रामाणिक और विश्वसनीय नागरिक हैं!

मालूम होता है कि विवाह से उत्तीर्णतर यदि कोई अवस्था हो तो वह भी विवाह में से प्राप्त होगी। विवाह से निभाव जिनका नहीं है, वे उसकी आवश्यकता में बार-बार पड़ेंगे, बार-बार वहाँ टकराएँगे और कभी उत्तीर्ण न हो पाएँगे।

जुलाई, 1959.

स्त्री और पुरुष

लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं कि व्यभिचार एकतरफ़ा कैसे हो सकता है। स्त्री का सहयोग आवश्यक है। लेकिन पुरुष ने कहा कि घर में तो हर हालत में सती-धर्म रहेगा। घर से बाहर की जो बात है, वहाँ क्यों न ऐसी स्त्रियाँ हों जो पत्नी न हों, अतः जिनका प्रश्न न हो। अवश्य ऐसी स्त्रियों को होना चाहिए।...एकदम आवश्यक है, नहीं तो नेता पुरुष का स्वास्थ्य और चित्त चलित रहेगा!

स्त्री और पुरुष के बारे में एक पत्र-लेखक पूछते हैं। जानना चाहते हैं कि मुझे उस सम्बन्ध में क्या कहना है।

मैं जानना चाहता हूँ कि वह क्या चाहते हैं। स्त्री है, पुरुष है, और बस वे हैं। उसमें कहने-सुनने को क्या है!

पत्र में संकेत उन्होंने नहीं दिया है। इसलिए बात चारों तरफ इतनी खुल आती है कि कहीं पकड़ नहीं बैठ पाती। उस अनंतता में कुछ कहा नहीं जा सकता।

लेकिन शायद वह उस झगड़े-झमेले के बारे में सोचते हैं जो ये मिलते-जुलते से दोनों प्राणी आपस में पैदा कर लिया करते हैं। ठीक है, स्त्री पुरुष से कुछ भिन्न है। पर भिन्न वे इतने कम हैं कि अभिन्न ही कहना होगा। किन्तु इस अधिक अभिन्नता और जरा-सी भिन्नता के कारण ही बखेड़ा बेढब बन जाता है।

अजब तो यह है कि दोनों के मेल से बीच में तीसरा पैदा हो आता है। शायद दोनों दो हैं ही इसलिए कि तीसरे को जन्म देते चले जाएँ। ऐसे संस्कृति चली चले और रुके नहीं।

पहले प्रकृति को हमने ज्यों-का-त्यों ले लिया। देखा कि स्त्री माता बनती है और मान लिया कि स्त्री का काम माता बनने में पूरा होता है। पुरुष इस सारे मामले से बचा रहता है, और छड़ीदा ही बना रहता है। तब मान लिया गया कि

बच्चा जो माता में से आता है सो घर-गृहस्थी का काम भी उसी का है, पुरुष का वह नहीं है।

पुरुष का काम फिर क्या है? बस वह पुरुष का काम है जो परिभाषा में नहीं आता।

इसी से शुरू में पुरुष कोई बहुत आवश्यकता का और दायित्व का प्राणी नहीं समझा गया था। केन्द्र में थी स्त्री। परिधि पर पुरुष रहे तो भले रहे। अनुत्तरदायित्व उसका गुण था। जिस्म उसे अधिक मिला था और जिम्मा कम मिला था। इससे वह उन सब कामों में आगे था जो बसाते नहीं उजाड़ते हैं।

स्त्री समझदार हो तो देखेगी कि पुरुष की आजादी समर्थनीय वस्तु नहीं है। पर फिर भी स्त्री पुरुष की उस आजादी को सहायता ही नहीं देती, पसन्द भी करती है। वह आजादी अन्ततः हिंसा की आजादी है और स्त्री उसमें रस लेती है।

स्त्री ने खेल-खेल में बच्चा पा लिया। अब तक खेल था, अब समस्या बन गयी। पशुलोक में तो चलो समस्या उतनी होती नहीं, कारण बच्चा हुआ नहीं कि दौड़-भाग करने लग गया। पर यह दो टाँगों पर सीधा होकर चलनेवाला आदमी जो बना सो उसका शिशु बड़ा असहाय जनमा। यहाँ से मालूम हुआ कि खेल तो है, पर जिन्दगी आगे भी कुछ है, वह जिम्मेदारी है।

सच यह है कि जिम्मेदारी ओढ़ी-सी भावना है। पुरुष पर तो तभी आती है जब वह लेता है, और स्त्री ममता से अपना लेती है। वह जिम्मेदारी को किसी विचार और विवेक की ओर से पाने से पहले, और बजाय, ममता-मोह में से अपना रहती है। इस ममता में से वह पुरुष की आजाद और हिंसावृत्ति की उपासिका तक बन जाती है। चले नर साहब और इसे मारा, उसे तोड़ा, तीसरे को लूटा और स्त्री के पास आये। शिकार को देखकर वह मग्न हुई, माल और लूट को देखकर मुग्ध हुई। नर को मालूम हुआ कि यह उसका पौरुष है। स्त्री ने सेवा की और सराहना और कृतज्ञता की निगाह से उसे देखा। बस उसमें जोर चढ़ा कि फिर दुनिया में निकलेगा, बाहुबल आजमाएगा, और यह वह कर दिखाएगा। स्त्री इस तरह ठगी जाती है। पुरुष लाता और पटक देता है। कपड़े इतने चाहिए, पुरुष पचास गुना ला जुटाता है तो स्त्री मग्न होती है। आभूषण आवश्यक नहीं है, पर पुरुष गढ़ता और पहनता है तो स्त्री गर्व गौरव मानती है, स्त्री के खातिर वह अपनी आजादी और अपनी हिंसा का प्रदर्शन और प्रयोग करता है और फल सामने पाकर स्त्री कृतार्थ होती है। स्त्री अनजाने ऐसे दास बनती है और पुरुष को स्वच्छन्द और स्वामी बनने में बढ़ावा देती है। पुरुष पदार्थ जीतता और जुटाता है तो स्त्री उसे बदन पर और घर में सहेजती है। समझती है कि यह उचित है और उसका

हक है। उसके पास बच्चा है और वह सेवा की मुस्तहक़ है। इसलिए मुनासिब है कि पुरुष जाए, जीते, और उसके लिए सुभीते करे। आखिर उसको यह लम्बा-चौड़ा शरीर किस लिए मिला है, यह मर्दानगी का स्वभाव किसलिए मिला है। वह आदमी क्या जो आगे बढ़कर ललकारे नहीं, लड़े नहीं और मरे-मारे नहीं। इस प्रकार स्त्री ने पुरुषोचित गुण के नाम पर अपने स्त्री-सुलभ स्वभाव के कारण पुरुष में उन वृत्तियों को प्रोत्साहन दिया कि जिनसे पुरुष का दर्प बढ़ता गया, धर्म घटता गया। स्त्री नाजुक बनती है और नजाकत को अपनी शोभा और भूषा मानती है। अबला कहे जाने में मानती है कि बोझ उसका पुरुष के कन्धे पर जा पड़ता है कि वह करे और लाये। लाये हुए को पाने का अधिकार उसके पास रह जाता है। ऐसे पुरुष हठात् दाता और बलशाली बनता है।

बात यह कि स्त्री-पुरुष दोनों अपने में अधूरे हैं। पूर्ण अर्द्धनारीश्वर है। इससे पुरुष स्त्री में न खिंचे यह सम्भव नहीं है। स्त्री तो साफ ही पुरुष के अभाव में माता हो नहीं सकती। लेकिन इतना है कि पुत्र में स्त्री किंचित् पुरुष को पा जाती है। फिर अपने मानसिक और भावनात्मक जीवन के लिए वह पुरुष की इतनी प्रार्थिनी नहीं रहती। उधर पुरुष को यह सुविधा नहीं है। सन्तान में वह स्त्री की पूर्ति नहीं पा सकता। उसके पास अपना अहंकार ही है कि उसमें से रस खींचा करे। पर वहीं से ऊबकर-अघाकर तो लौट-लौटकर वह स्त्री की गोद में जाता है। इस भाँति पुरुष स्त्री से कभी उत्तीर्ण नहीं हो सकता है। उत्तीर्ण तभी हो सकता है जब वह किसी-न-किसी प्रकार कुछ स्वयं भी किंचित माता बने। स्त्री जिस रूप में पुरुष को लेती आई है, उससे पुरुष को इसमें सहायता नहीं मिली। पुरुष माता बनना सीखने की जरूरत में नहीं आया। वह योद्धा और विजेता बनने की धुन में रहता और रखा जाता रहा है। परिणाम यह होता है कि वह स्त्री से दायित्वशीलता की अपेक्षा रखता है, स्वयं अपने लिए कोई दायित्व नहीं मानता।

पुरुष विवाह करेगा, लेकिन वहाँ घिरा नहीं रहेगा। विवाह पहले तो अनेकानेक करते जाने में वह गलती नहीं देखता था। अब अगर एक से होता है तो विवाह ही तो होता है। ठीक है, विवाह से घर बनता है। लेकिन बाहर इतनी जो दुनिया है,—यह बाहर उसके आखेट का क्षेत्र है। वहाँ एक या दो या दस आदि गिनती की शर्त ही नहीं है।

लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं कि व्यभिचार एकतरफा कैसे हो सकता है। स्त्री का सहयोग आवश्यक है। लेकिन पुरुष ने कहा कि घर में तो हर हालत में सतीधर्म रहेगा। घर से बाहर की जो बात है वहाँ क्यों न ऐसी स्त्रियाँ हों जो पत्नी न हों, अत: जिनका प्रश्न न हो। अवश्य ऐसी स्त्रियों को होना चाहिए। कारण, पुरुषों का काम दुर्घर्ष है। लड़ना पड़ता है, जी-जान पर खेलना होता है। इधर-

उधर घूमते रहना पड़ता है। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी है कि इस सब अवस्था में उसे स्त्री की सुविधा मिलती रहे। एकदम आवश्यक है, नहीं तो नेता पुरुष का स्वास्थ्य और चित्त चलित न रहेगा! अतः शूर और सामन्तजनों के लिए जितना यह अनिवार्य हुआ कि उनके अन्तःपुर असूर्य पश्य हों उतना ही अनिवार्य यह भी हुआ कि उनके चित्त पर दबाव न आये और केलि-क्रीड़ा की हर व्यवस्था उनके लिए सदा प्रस्तुत रहे।

हमारे समाज का रूप जब तक ऐसा रहेगा कि सुरक्षा और युद्ध जीवन के प्रमुख और प्रधान कर्म रहें तब तक रसों में श्रृंगार रस प्रधान रहेगा। वहाँ सब परकीया की महिमा रहेगी। सतीत्व पर बल कितना भी दीजिए, और वह बल व्यवस्था विचारक देते ही रहते हैं परकीया और अभिसारिका का श्रृंगार सती नारी से बढ़-चढ़कर ही होता रहेगा।

वीरोचित कारनामों की जिनसे हमें अपेक्षा रहती है, माँग रहती है कि वे दुश्मन से मोर्चा लें और समय पर अपनी जान पर खेल तक जाएँ, उनके लिए आवश्यक है कि सुरा-सुन्दरी की व्यवस्था समीप रहे। इस व्यवस्था के बिना शूरवीरता का वह नमूना नहीं तो तैयार हालत में हरदम मिलेगा कैसे?

फ्यूडल और सामन्ती युग कहकर हम यह न मान लें कि बातें यह पुरानी हुईं। शब्द से नया-पुराना नहीं बनता। आज भी यदि हमारे रहन-सहन का ढंग ऐसा है कि सैनिक श्रमिक से प्रधान है, व्यावसायिक उत्पादक से प्रमुख है, राजनीतिक सांस्कृतिक से महत्त्वपूर्ण है तो यह न मान लेना चाहिए कि मूल्य बदल गये हैं। लोकतन्त्र, चुनाव, विधान, सदन जैसे शब्दों के प्रचलन से एकाएक हम न मान बैठें कि यथार्थता बदल गयी है। बदलेगी वह तब जब रहन-सहन के मूल्य बदलेंगे। अर्थात् घर की माता का मूल्य शूरवीर को प्रसन्न रखनेवाली रमणी से सार्वजनिक रूप से अधिक होगा। आज वह अधिक है इसमें सन्देह है। इस समय जिस ओर जीवन की गति है, जान पड़ता है कि सार्वजनिक अनुरंजन संतति पालन से अधिक अभ्यर्थनीय व्यापार है। माता घर में है और सीमित है, जो मंच पर है और सार्वजनिक है उसकी उपयोगिता उतनी ही विस्तृत है। ऐसे मूल्यों में रहनेवाले समाज में स्त्री की कीमत मनोरंजन के माप से हो तो अनहोनी बात नहीं है।

पश्चिम में भी मुझे यह अनुभव हुआ था कि स्त्री का मान कम है, कम होता जा रहा है। इसमें मैं संस्कारिता की हानि देखता हूँ। संस्कृति के केन्द्र में निश्चय ही माता है, पत्नी है। ये दोनों दायित्व के पद हैं, पर दायित्व की गुरुता से नहीं मनोरंजन के मान से यदि स्त्री की कीमत स्थिर होगी तो उस समाज में पुरुष के बराबर आकर स्त्री सहयोगी कभी बन नहीं सकेगी, अनुवर्ती ही रहेगी।

आज क्या है? पैसा व्यक्ति के स्तर का परिचायक है। विवाह उससे बचा कैसे रह सकता है। अर्थात् वर कन्या को इतनी मोटी रकम के साथ ही स्वीकार करेगा, अन्यथा *नहीं। विवाह का बाजार ऊँचा है और कन्याएँ माता-पिता के लिए चिन्ता का कारण बनी हैं। उधर शिक्षा बढ़ रही है; शिक्षा के साथ कन्या की माँग ऊँची चढ़ती है, उसी हिसाब से वर की माँग ऊँची चढ़ जाती है। इस चक्र में विवाह पचास फीसदी के करीब तो समय पर हो पाता नहीं है;* फिर वे युवती और युवक पढ़े-लिखे होते और सधी-बँधी लीक के प्रति अश्रद्धा सीख चलते हैं। विवाह की प्रतीक्षा और विवाह का आदर उनके मन में से शनैः-शनैः उठता जाता है। परिणामतः घर-गृहस्थी की संस्था शिथिल और दुर्बल होती है।

स्त्री पुरुष का प्रश्न यहीं भँवर में घूम रहा है। उनके बीच आकर्षण तो प्रकृति ने ही सिरजा है। विवाह की सुविधा समाज की ओर से सहज और सुलभ है नहीं। उधर पारिवारिक कुल-शील की मर्यादा-परम्परा है, यद्यपि अब शिथिल है। खुला क्षेत्र नहीं है और खुले चुनाव की पद्धति नहीं है। न पहले जैसी अलग-थलग बिरादरियाँ हैं। सो खासी उलझन है और जान पड़ता है कि परमेश्वर की ओर से जो यह प्रेम की शक्ति सिरजी गयी है, सो आदमी के हाथ आकर गड़बड़ी ही कर रही है, रचना नहीं कर पा रही है।

लोग अर्थ की भाषा में इकोनॉमी का विचार करते हैं। सच में काम की इकोनोमी और भी मौलिक है। प्रेम का यह अपरम्पार धन हमें सहज प्राप्त हुआ है। मुद्रा धन तो इतना व्यापक कभी बन नहीं सकता। प्रेम तो हर एक के पास है। महान विचारक और नेता वह होगा जो इस घट-घट व्यापी प्रेम की शक्ति को मन के कैदखाने में से मुक्त करेगा और उसे ऐसे नियोजित करेगा कि परस्परता व्यापक और सम्पन्न होती जाए और सामाजिक संस्कृति उत्ततरोत्तर पुष्ट और उन्नत हो। अन्यथा प्रेम की यह दैवी शक्ति ही दानवी बन जाएगी और अवरुद्ध प्रेम घृणा और द्वेष में परिणत होकर संहार कर निकलेगा।

अप्रैल, 0'1960

विवाह और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व का पंथ भारत की पारिवारिक संस्कृति के लिए इस समय भारी पड़ रहा है। इन दोनों के बीच विवाह विचारे की छीछालेदर हो रही है। नये विवाहों की विफलता की कहानियाँ इतनी ज्यादा कानों पर आती हैं कि सोचता रह जाता हूँ कि इस विवाह संस्था का आगे भविष्यत् क्या है?

बात पिता पुत्र में हो रही है। पिता चौवन वर्ष, पुत्र तीस वर्ष।

पिता—हाँ तो क्या बात है, बताओ ना।

पुत्र—अभी मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ।

पिता—करोगे किसके लिए? वह है नहीं, इसलिए करना भी तुम्हारे लिए जरूरी नहीं हो पाया है।

पुत्र—मैं क्या कमा रहा हूँ? आप पर बोझ हूँ। बोझ और बढ़ाऊँ, यह कैसे हो सकता है।

पिता—आदमी बोझ होता है, यह कैसे तुमने मान लिया। प्रेम रहते तो बोझ होता नहीं है। तुम बोझ अपने को मानते रहो तो तुममें से स्फूर्ति निकलेगी ही नहीं। तुम अपने आप से दबे रहोगे ''सुनो, जो आएगी वह तुम्हारी विवाहिता होगी, यह तो ठीक, पर क्या घर की कुछ न होगी, तुम पत्नी को मान लो पाल सँभाल नहीं सकते। पर घर को भी तो बहू चाहिए। तुम्हारी माँ कब तक गृहस्थी का भार उठाएँगी। उन्हें क्या अब सहारा नहीं मिलना चाहिए?

पुत्र—मैं कुछ काम नहीं करने लगूँगा तब तक विवाह कैसे कर सकता हूँ। पाँच सौ रुपये मासिक से आय जब ऊपर जाएगी, उससे पहले मैं यह सम्भव नहीं देखता हूँ।

यह दोनों दो दृष्टियाँ हैं। इतना ही नहीं कि पिता चौवन वर्ष से पीछे की ओर देखते हैं, पुत्र अपनी जगह से सामने दायित्व को देखते हैं। यह भी नहीं

कि पिता को लाड़ के लिए बहू चाहिए, जिसमें पुत्र जिम्मेदारी नहीं मानते हैं। नहीं, दृष्टि दो हैं मूल से ही। एक दृष्टि आर्थिक है और दुविधा उत्पन्न करती है। दूसरी दृष्टि हार्दिक है और वह अर्थ को ध्यान में नहीं लेती है। यह भी हो सकता है कि पिता की दृष्टि आर्थिक होती, पुत्र की भावुक। अक्सर ऐसा होता भी है। बहुत-सी गिरस्तियों में पुरुष पैसे से पिस-पिसकर उसके महत्त्व को अपने मन में काफी से ज्यादा जगह दे लेता है। तब आवश्यक होता है कि गृहस्थी में एक सदस्य बढ़ाने से पहले, वह सौ बार सोचे।

विवाह में कन्या वर के यहाँ आती है। अब समाज में वर्ग कई हैं। निम्न माने जानेवाले वर्गों में कन्या बहू बनकर जाती है तो आते ही बहुत काम उठा लेती है। वह बड़ी सहायक होती है। निम्न श्रेणियों में रहन-सहन का आधार श्रम है। इसलिए एक सदस्य बढ़ने पर परिवार की श्रमशक्ति बढ़ती जान पड़ती है। यह लोग छोटी उम्र में भी बड़े उछाह से ब्याह करते हैं और ब्याह कर घर में बहू लाने के लिए उलटे पैसा देने को तैयार रहते हैं।

बीच के वर्गों में आधार श्रम नहीं है। वहाँ बुनियाद में पूँजी हुआ करती है, या वेतन। कन्या आकर यदि उसको बढ़ाती नहीं है तो जान पड़ता है उससे खानेवाले सदस्यों में एक की वृद्धि हो जाती है। खर्च इस तरह कुछ बढ़ जाता ही है, आमदनी में बढ़वारी होती नहीं। इसलिए इन वर्गों में दहेज की प्रथा है। लड़की ली जाएगी तो तब जब उससे आगे गृहस्थी में कुछ सहारा भी हो। कामकाज का सहारा नहीं, पैसा-पूँजी का सहारा।

सबसे ऊपर के वर्गों में फिर वह बात नहीं है। वहाँ सामाजिक महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा काम करती है। वहाँ श्रम का प्रश्न है, न धन का। वहाँ इसलिए महत्त्व के सम्बन्धों में खानदान और रूप की प्रधानता काम करती है।

इस सब परिस्थिति को लेकर विवाह का प्रश्न बड़ा पेचीदा हो गया है। कल ही एक अमरीकन बन्धु पूछने लगे—

बात यह हुई कि हमारे बीच कहीं से बुजुर्ग शब्द आ गया। सवेरे सब बैक फास्ट पर थे। तीन हम हिन्दुस्तानी, चौथे अमरीकन। बुजुर्ग शब्द हिन्दुस्तानी था, वाक्य अँग्रेजी। मैंने समझाते हुए कहा, बुजुर्ग यानी एल्डर। अमरीकन बन्धु एकदम पूछ बैठे, बुजुर्ग द्वारा शासित परिवार और समाज अभी चल रहा है भारत में, या समाप्ति पर है?

मैंने कहा—ह्रास पर है, पर समाप्त होना नहीं चाहता...। सच यह कि मैं स्वयं उसकी समाप्ति नहीं चाहता। परिवार का नया रूप जो बस पति-पत्नी पर शुरू और समाप्त हो जाता है, माता-पिता से कट रहता है, मुझे कुछ बढ़कर नहीं मालूम होता।

वही बात है। समाज में परिवर्तन आ रहा है। कह सकते हैं कि भारत में शहर एक तरफ बढ़ रहा है, गाँव परम्परानुगत है। समाज व्यवस्था में परिवर्तन आ रहा है का आशय कि उसमें फटाव आ रहा है। इकोनॉमी ही बदल रही है। पहले जमीन से हम लगे थे, हमारी संस्कृति, पारिवारिक और सामाजिक, उसी के आसपास गुँथी थी। ग्राम केन्द्र था। अब प्रधानता उद्योग की है, कृषि गौण हो पड़ी है और उसके हिसाब से समाज और परिवार पर असर पड़ रहा है। हलन-चलन, आवागमन बहुत बढ़ गया है। इतना कि होटल का व्यवसाय आज बड़े व्यवसायों में से है। धर्मशालाओं की व्यवस्था खो गयी है। आदमी इतना आता-जाता है कि परदेस में उसको सुभीता देना एक लाभ का धन्धा बन गया है। इसी तरह क्लब हैं, सोसाइटियाँ हैं। इनका खिंचाव रहन-सहन के तरीकों पर पड़ता है और सोच-विचार को अमुक दिशा देता रहता है।

भारत में इस तरह एक संक्रान्ति की अवस्था है। बड़ा तनाव अनुभव होता है। ठेठ गाँव का आदमी शहर में आकर पागल-सा हो जाता है। इधर शहर वाले को अगर गाँव में बिठा दो तो उसके भी पागल होने में देर न लगेगी। इतना फर्क है दो दिशाओं में।

जीवन-प्रवाह इनमें से किसी ओर भी मन्द नहीं है। उस रोज सिनेमा पर वह भीड़ थी कि क्या कहिए। कइयों को चोटें तक आयीं। पुलिस ने आकर लाठी के जोर से स्थिति की रक्षा की। कारण, पता फैल गया था कि सिनेमा में सचमुच कोई सिने-तारिका पधारी हुई हैं!

और रामनवमी के रोज जमना स्नान के लिए आये हुए देहातियों की भीड़ भी दिल्ली में उससे किसी तरह कम न थी। कुम्भ में देखिए, अधकुम्भी में देखिए, किसी धार्मिक मेले पर देखिए। अपार जन एकत्रित हैं।

भारत में यह शीत महाभारत का युग है। एक महाभारत वह था जिसमें से लोगों को परम धर्मग्रन्थ मिला, गीता मिली, कृष्ण मिले और संस्कृति को एक स्थिर आधार मिला। वह महाभारत का युद्ध दो तरफ सजी-बजी कौरव और पाण्डव सेनाओं में हुआ था। साफ था सब कि कौन किधर है, कौन किधर है। एक कृष्ण बीच में थे जिनको अर्जुन और दुर्योधन ने इस तरह बाँट लिया कि अकेले कृष्ण पाण्डवों को मिले, सेना आदि कौरवों को। कौरव-पाण्डव एक परिवार के थे, पर लड़ना भी जरूरी था। कुरुक्षेत्र यानी करने का क्षेत्र, असल में युद्ध का क्षेत्र ही है। वही फिर धर्मक्षेत्र भी है। परिणाम, जो सचमुच के युद्ध में से प्राप्त हुआ था, एक घोर अवसाद और क्लान्ति। कौरव मरे, पाण्डव एक-एक कर मर गये, जो भारत हरा-भरा था उजाड़ वीरान हो रहा। लेकिन उस युद्ध की घटना के मन्थन में से महाभारत नामक अमर धर्म ग्रन्थ मानव-जाति को प्राप्त हुआ, उससे गम्भीर

मानस-मन्थन का चित्र दूसरा नहीं है।

वह महाभारत हिंसा के अस्त्र-शस्त्रों से उत्कट रूप से लड़ा जाकर अठारह दिनों में अपना परिणाम दे रहा। कौरव हारे पाण्डव जीते। यद्यपि जीत-हार से भी कड़वी और थोथी दीख आयी, पर जैसे उसमें से इतना निष्पन्न हुआ कि धर्मपक्ष क्या था, अधर्म क्या था।

आज जो महाभारत भारत के प्राणों में मचा हुआ है, वह उतना प्रकट नहीं है। दल एक लकीर के दोनों तरफ निश्चित होकर कट-बट नहीं गये हैं। कारण, युद्ध मानस में है, अभी कर्म के क्षेत्र में नहीं है। यों कौरव-पाण्डवों के महाभारत की भूमिका भी भीतर-ही-भीतर वर्षों से तैयार हो रही थी। अठारह दिन तो लपटें देकर वह सब जलता रहा जो कण-कण उन बरसों में सामग्री की भाँति जुटाया जाता रहा था, अतः हो सकता है कि वातावरण में व्याप्त आज का मानस-युद्ध कभी घटना में यहाँ कर्म-युद्ध बनकर फट आये। सम्भव है कि प्रकट और प्रत्यक्ष होकर वह कुछ स्वस्थ भी बने। आज तो बहुत अस्वस्थ रूप में घुन की तरह वह भारत के प्राणों को खा रहा है।

राजनीति में कई दल हैं। नयी स्वतन्त्र पार्टी है। दल के रूप में सब एक जैसे हो जाते हैं। उनकी भेरियों और भाषाओं को अलग-अलग पहचानना मुश्किल होता है। पर उनके तुमुल के नीचे यह द्वि-दलगत महाभारत काम कर रहा है। वह कि जिसे सभ्यता और संस्कृति का ही द्वन्द्व कह सकते हैं।

एक नयी प्राप्ति हुई है। वह उपलब्धि है आधुनिक आर्थिक दृष्टि, आर्थिक सभ्यता। व्यवहार में ही नहीं, हेतु तक में वह आर्थिक है...किसको ब्याहा जाए? उसको कि जो ज्यादा-से-ज्यादा धन लाये। लड़की किसको दी जाए, उसको जो ज्यादा-से-ज्यादा कमाये। खेत में क्या बोया जाए, वह जो बिककर ज्यादा पैसा लाये। तम्बाकू? हाँ तम्बाकू...नहीं अफीम, वह ज्यादा पैसा लाती है...। अफीम? राम राम, क्या बुरा नाम लेते हो...पागल हुए हैं बुढ़ऊ तो, अफीम का अच्छा दिसावर है आजकल...गेहूँ! अरे, पैसा पास होगा तो गेहूँ खरीदकर के डालने में देर क्या लगती है! पर अफीम के सामने इस वक्त गेहूँ क्या...क्या लिख रहे हो? वही जो पैसा लाये...ओह आप! आप तो कॉलेज में थे, फिलॉसफी के लेक्चरार। यह शराब का ठेका ...मियाँ, छोड़ो। क्या रखा था पढ़ाने में। अब देखो यह—

तो इसी में बरखुरदार अगर माने कि शादी उन्हें अभी नहीं चाहिए, पहले पैसा चाहिए, और उसके बाद जो बीवी होगी उनकी होगी, घर की बहू वगैरह नहीं होगी कि काम-धन्धा पीटे और सास-ससुर की सेवा में दुबली हुआ करे, तो इसमें ऐसा अनहोना क्या है? इस सभ्यता में शख्सियत की माँग है। तुम हो सकते हो विनम्र और आज्ञाकारी, घर के लिए उपयोगी हो सकते हो और अच्छे

और भले। लेकिन व्यक्तित्व चीज और है, वह अपने आपे को चमकाने से प्राप्त होती है!

और वह व्यक्तित्व सबका इष्ट है, पुरुष का, स्त्री का। तीस वर्ष तक तो व्यक्तित्व बनता नहीं। इसलिए विवाह उससे पहले हो, इसका अर्थ ही क्या! सामान्यत: तीस वर्ष की अवस्था तक तो जीवन प्रयोगों में चला करता है। बाद में कहीं वह अवस्था आती है जब आप अपने पर खड़े होते हैं। उस पकी मनोदशा में आप जिम्मेदारी लें तो ले भी सकते हैं।

यह मनोभाव हवा में भरा हुआ है। लड़के-लड़कियाँ इस कसरत से पढ़ रहे हैं कि किसी स्कूल-कॉलिज से दाखिला पाना मुहाल है। पढ़ते जाते हैं और पढ़ते जाते हैं। पढ़ाई के बीच उन मनोभावों में क्या घटनाएँ घटित होती हैं, उसकी बात यहाँ नहीं कहनी है। अन्दर क्या होता है, वही संगत है। प्रश्न पढ़े-लिखे लड़के-लड़की के आगे फिर जमने का आता है। जमना शुद्ध आर्थिक प्रश्न है। इसलिए पढ़ना पूरा होते ही पैसे के बाजार में वे लोग उतरते हैं, लड़की और लड़के दोनों। भावनाओं और वासनाओं का आदान-प्रदान भी उसी बाजार में होता है। बाजार का नियम अपना है। इसलिए पढ़े-लिखे युवक-युवतियों के मध्य जो स्थितियाँ और परिस्थितियाँ पैदा हुआ करती हैं, उनके गोरख-धन्धे का पार नहीं है। व्यक्तित्व अर्थात् अहंमान, और बाजार अर्थात् द्रव्यमान। इन दोनों मूल्यों और खिंचावों को लेकर तरह-तरह के गुल खिलते हैं और ग्रन्थियाँ बनती हैं।

विवाह इन हालतों में ऐसा बन्धन हो आता है जो सुभीते का नहीं रह जाता। वह एक नियुक्त कार्यक्रम में डाल देता है। जिन्दगी का स्वाद कुछ और ही चीज है! जिम्मेदारियाँ उस स्वाद को खा जाती हैं। जिन्दगी व्यक्ति अपनी अपने हाथ में रखे तो उन्नति भी हो सकती है। कुछ इसी तरह की मनोदशा में दिल्ली में लाखेक आयु प्राप्त नवयुवतियाँ काम करती हैं, या खाली रहती हैं। नवयुवक उसी तरह उससे भी बड़ी तादाद में लगे रहते हैं, या भटकते रहते हैं। और वे दोनों परिवार के सन्दर्भ में अपना कहीं कोई निस्तार नहीं देखते हैं।

व्यक्तित्व का पंथ भारत की पारिवारिक संस्कृति के लिए इस समय भारी पड़ रहा है। इन दोनों के बीच विवाह बेचारे की छीछालेदर हो रही है। नये विवाहों की विफलता की कहानियाँ इतनी ज्यादा कानों पर आती हैं कि सोचता रह जाता हूँ कि इस विवाह संस्था का आगे भविष्यत् क्या है।

अप्रैल, 1960.

ब्रह्मचर्य का प्रश्न

स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण तो है। वह वैज्ञानिक तथ्य है। आप उससे नाराज हों और लड़ें, या प्रसन्न हों और सराहें, यह आपके वश की बात नहीं है कि उसे मिटा दें (फिर) ब्रह्मत्व को साधने वाली ब्रह्म की वह चर्चा क्या है?

बीस बरस बाद कल एक सज्जन से मिलना हुआ। उन्हें सज्जन कहना कम है, सन्त ही कहना चाहिए। पर वेश उनका रँगा नहीं है। बरसों घुटमुण्ड रहे, अब अंग्रेजी तौर के कटे-अँटे केश हैं। उस समय की बात याद करता हूँ कि—

वह बोले—दिनों से मेरे मन में अँग्रेजी तरीके के बाल रखने की वासना है। तुम क्या कहते हो?

मुझे प्रश्न विलक्षण मालूम हुआ। कह दिया कि इसमें क्या बात है, रख लीजिए।

"कहते हो रख लूँ?"

असल में मैं गृहस्थी था, उनकी उलझन पूरी तरह समझ नहीं सकता था। सज्जन आचार्य थे, माननीय, और लोगों की उनके प्रति पूज्य भावना थी। उनका रहन-सहन तदनुसारी था। इसलिए उनके एकाएक फेशनेबल समझे जानेवाले बाल रखने की बात सामान्य नहीं रह जाती थी, वह जैसे महा-प्रश्न बन आती थी। जोर पड़ना उसमें आवश्यक होता था। जैसे निश्चय पर आने में बड़े नैतिक साहस की आवश्यकता हो।

मैंने कहा—उसमें है क्या? दबाकर उस इच्छा को वासना बनने ही क्यों देते हैं? बाल रखिए और छुट्टी पाइए।

उसके बाद शायद है कि उन्होंने असमंजस में कुछ समय और भी भुगता हो। लेकिन बाल रख लिये, जो अब तक हैं। इससे पता चलेगा कि वह किस धातु के बने हैं। एकदम खरे हैं और 'धुर के खोजी'। शान्त और सौम्य। एक

चीज उनमें बिलकुल नहीं है और वह जल्दी। बोलेंगे तो धीरे, उठे-बैठे-चलेंगे तो धीरे। यहाँ तक कि जल्दी करेंगे तो भी धीरे। बाल ब्रह्मचारी और शरीर में संक्षिप्त। जीवनभर कभी उनके शरीर को यह साहस हो सका हो कि वह एक मन भार से बढ़े, इसकी आशा नहीं है। जवानी में भी अपने शरीर के पास उन्होंने यह शक्ति नहीं होने दी होगी। काया उन्हें इतनी वशीभूत है। लेकिन अब अवस्था उनकी चौंसठ है।

मैं मिला तो कुछ देर बाद बोले—मेरा मालिश का समय होता है। बात कीजिए तो आइए।

घड़ी में समय देखकर उन्होंने यह कहा था। मैं उनके साथ उठकर दूसरे कमरे में आया। वहाँ उन्होंने कोपीन धारण की और शरीर को तेल से नहलाना शुरू किया। काम सब उनका धीरे होता है और मननपूर्वक। जैसे प्राण को कहीं अनुमति न हो, उसकी लगाम सदा अपने हाथ में हो। बोले—यही समय मेरा बातचीत का भी होता है।

इधर-उधर की कुछ जानकारी पाने के बाद पूछा—कहिए, इधर कुछ लिखना हुआ? वह—आपकी उस पुस्तक की तो मुझे याद है। उसके बाद?

सबकुछ उनके साथ मननपूर्वक होता है। कुछ चुप रहे, फिर हँसे, फिर बोले—तब के बाद तो यह निकला और तीन ग्रन्थ वे भी निकले। तुमने शायद देखे नहीं। लेकिन अब—वह ठहरे, जैसे कुछ सोचा, और कहा—अब तो-तीन घण्टे यह मालिश का काम करता हूँ। यह ईश्वर का काम है। उसी तरह से करता हूँ। कहकर मुझे उसका सार समझने को स्वतन्त्र छोड़ फिर हँसे।

हँसी उनकी बड़ी अकृत्रिम और निश्छल है। मेरे मन में उनकी बात तनिक भी व्यग्य नहीं उपजा सकी। पर सुनकर सचमुच सुख नहीं हुआ।

शरीर भगवान का मन्दिर है, इसमें शक ही क्या है। पर मन्दिर की सफाई, धुलाई और मँजाई पर इतना उद्यम और ध्यान व्यय होते देखकर सीधे ऐसा नहीं लगा कि भगवान की महिमा बढ़ रही है। लगा ऐसा कि इस शरीर रूपी मन्दिर की ओर ध्यान शायद देर इसीलिए अतिरेक की आवश्यकता हुई है। मैं उस अनावृत्त संक्षिप्त काया को देखता बैठा रहा। मानना होगा कि बल उसमें भरपूर नहीं था। पर चौंसठ वर्ष के लिहाज से उस काया की त्वचा काफी कसी हुई थी, सिमटी-सिकुड़ी नहीं थी। तेल, सुनते हैं, काया के लिए अच्छी खुराक है। पश्चिम के लोग तेल के स्पर्श के शौकीन नहीं हैं, उनके पास कुछ अपना नुस्खा होगा। क्योंकि काया के मामले में वे पीछे हैं, ऐसा इसी या किसी तरह नहीं माना जा सकता। हमारे पहलवान लोग बदन को खूब तेल पिलाते हैं। ऐसे बदन मस्त रहता है। इन बाल-ब्रह्मचारी ने अपनी नीतिदीर्घ काया को अब चौंसठवें वर्ष में आकर तेल

पिलाने, और खूब तेल पिलाने की आवश्यकता भगवद्-भक्ति के नाम पर अनुभव की हो तो इसमें कुछ अनुचित और अन्यथा नहीं है। केवल विचार यह होता है कि अपने समय पर उस काया के प्रति उदासीनता फिर क्यों बरती गयी? क्या तब शरीर को व्यायाम दिया गया था? तेल-मर्दन किया गया था? साज-सँभार किसी ओर से उस शरीर को प्राप्त हुई थी?

यहाँ मेरे मन में ब्रह्मचर्य का प्रश्न उठता है। काया को सुखाने का भी एक सिद्धान्त है। यानी कि आत्मा और शरीर में विरोध है, आत्मा को बढ़ाने के लिए शरीर को घटाना होगा। शरीर को क्षीण करने की शर्त के बिना आत्मा को पुष्ट ही कैसे किया जा सकता है? इस सिद्धान्त से जो तर्क-विचार प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। साधक हैं जो उस दिशा की साधना करते हैं, पूरी निष्ठा और पूरे हठ के साथ करते हैं। दूसरे इसे कृच्छ्र साधना कहें तो कहें। इसमें से जो मिलता होगा वह वही जानते हैं।

लेकिन शरीर जिन्हें मन्दिर है, और शरीर की सेवा जिनके लिए ईश्वर की उपासना है, जाने क्यों उन्हें मैं कृषकाय नहीं देखना चाहता। ऐसे लोगों में वर्जन-त्यजन भी विशेष दीखता हो तो संगत नहीं लगता।

कृच्छ साधना के ब्रह्मचर्य का एक रूप होगा। शरीर और आत्मा में यदि बैर प्रतीत होता हो तो पुरुष और स्त्री में भी बैर डालकर चलना सही मालूम होगा। बैर मानसिक नहीं, केवल शारीरिक और सैद्धान्तिक। वहाँ पुरुष के लिए स्त्री-दर्शन अवैध हो जाता है, और स्त्री के लिए पुरुष की उपस्थिति उसी प्रकार अविवाहित बन जाती है।

आप कहेंगे, संसार कैसे चलेगा?

वह कहेंगे, धर्म ऐसे ही चल सकता है। संसार का चलना कौन बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि उसके चलाने की चिन्ता की जाए, सार तो यहाँ धर्म है। उस साधना में ही जीवन की सिद्धि है।

लगता है, हमारे सज्जन सन्त का यौवन कुछ इसी धारणा में बीता। बीता हुआ फिर तो हाथ आता नहीं। पर सद्ज्ञान जब हो तभी अच्छा। युवावस्था बीत जाने पर हो, तो उस कारण कोई बुराई तो उसमें हो नहीं जाती। प्रतीत होता है कि शरीर ढलने की वय में उन्हें सम्यक् दर्शन प्राप्त हुआ कि ओह, वह तो भगवान का मन्दिर है। उसका ध्यान सबसे पहला कर्त्तव्य है। स्वस्थ शरीर में आत्मा स्वस्थ रहेगी। रुग्ण और दुर्बल काया में आत्मा को भी विकल और अशान्त रहना पड़ेगा।

मुझे साधना के इन दोनों रूपों के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। प्रश्न केवल इतना मन में उठता है कि स्त्री और पुरुष के भेद के प्रति क्या वृत्ति रखी जाए ब्रह्मचर्य है, तो क्या है?

स्त्री पुरुष के बीच का आकर्षण तो वैज्ञानिक तथ्य है। आप उससे नाराज हों और लड़ें, या प्रसन्न हों और उसे चाहें यह अवश्य आपके वश की बात है।

कल्पना की गयी है ऐसी दुनिया की कि जहाँ पुरुष ही पुरुष हो, स्त्री हो नहीं। या स्त्री ही हो, पुरुष नदारद हो। ये कल्पनाएँ मनोरंजन के लिए की गयी हैं। उनसे तर्क को कुछ व्यायाम भी मिलता है। लेकिन जान पड़ता है कि सृष्टि के मूल में यह जो भेद डाला गया है, और फिर उनके क्षणिक अभेद में सृष्टि के मन्त्र को भर दिया गया है, तो इसमें गूढ़ क्या आशय है? हमारा अणु-विज्ञान अणु-विघटन तक पहुँचकर भी जैसे इस प्राथमिक भेदाभेद का पार नहीं पा सका है। मनुष्य जाति में ही स्त्री-पुरुष नहीं है, सारी समष्टि में यह भेद व्यापा हुआ है और इसी की क्रिया-प्रतिक्रिया में से समूचा जगत्-व्यापार सम्भव और सम्पन्न हो रहा है।

ब्रह्मचर्य क्या इस समष्टि व्यापार से तत्सम होना ही है? मैं कल मिले सन्त ब्रह्मचारी के तीन घण्टे तक तेल में नहाते हुए शरीर की याद करता हूँ और शून्य में पूछता रह जाता हूँ कि ब्रह्मत्व को प्राप्त कराने वाली ब्रह्म की वह चर्या क्या है?

जुलाई, '1959.

विवाह और प्रेम-1

सूरज के प्रति धरती को और धरती के प्रति मानव को जो थामे रखता है, वह तत्त्व अखण्ड है। इन असंख्य तारा नक्षत्रों को ब्रह्माण्ड के बीच वही अपनी-अपनी कक्षा में धारण रखता है। उस महत्त्व को जैनेन्द्र, चर्चा में न लाओ। वह प्रेम है। प्रेम ईश्वर है। ईश्वर के साथ विवाह को चर्चा में लाने की विडम्बना में क्यों पड़ते हो?

विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। मित्र सब सम्मिलित हुए। विशेषकर प्रोफेसर मित्र। उनकी भावनाएँ सच्ची थीं। उन्होंने गद्‌गद भाव से आशीर्वाद दिया कि दुलहिन सीता-सावित्री जैसी सती भार्या हो और दम्पति का जीवन आर्य-धर्म पालन करता हुआ प्रशस्त से प्रशस्ततर होता जाए।

यह तो ठीक है। लेकिन अगली बार हमारे बीच प्रश्न उठा—और प्रेम?

सब जानते हैं कि समस्या कैसी विकट है। हत्याएँ होती हैं। आत्महत्याएँ, भ्रूण हत्याएँ होती हैं। उन हत्याओं में मृत्यु के क्षण से पहले जीते-जी जो होता होगा, उसका अनुमान भी कठिन है। अमित क्लेष, कलह, अनाचार, अत्याचार, छद्‌म, कपट, झूठ, चोरी इत्यादि। सबके मूल में यह चीज कि विवाह एक है, प्रेम दूसरा। दोनों अनिवार्य हैं और दोनों अनमिल। जहाँ उन्हें अनायास या आयासपूर्वक मिला दिया जाता है, वहाँ भी विपत्ति टलती बिलकुल नहीं दीखती। बल्कि वहाँ संकट और भी घोर दिखाई देता है। क्योंकि प्रेम के विवाह में आगे प्रेम नहीं रहता, इतना ही नहीं, बल्कि प्रेम को घृणा बनना पड़ता है। अप्रेम में तो भी ज्यों-त्यों साथ रह लिया जा सकता है, पर घृणा तो हर घड़ी काटती है और दूसरे को पास भी सहना असम्भव बना देती है।

हमारे बीच यही प्रश्न आया कि क्या हो? प्रोफेसर ने कहा—कि प्रेम को हिसाब से बाहर रखना चाहिए। व्यवस्था की मर्यादा पर दृढ़ रहना चाहिए। ऐसे

प्रेम और विवाह दो समानान्तर रेखा में रहेंगे। और क्योंकि कभी न मिलेंगे, इससे एक दूसरे को काटेंगे भी नहीं।

मैंने कहा—समानान्तर रहना चाहिए, यही न? पर रहते हैं? रह सकते हैं? और यह कि विवाह व्यवस्था का अंग है, हिसाब की जमीन पर रहना चाहिए, सो तो यहाँ हो ही रहा है। भारत की परम्परागत पद्धति है कि विवाह जिनका होता है वे नहीं करते, माता-पिता करते हैं। अब विवाह कच्ची उम्र में नहीं हो सकता, क्योंकि कानून बन गया है। उम्र पकने पर जो विवाह होता है उसमें कठिनाई बढ़ गयी है। तर्क आने लगा है कि विवाह माता-पिता का थोड़े ही है कि निर्णय वे करें। हम देखें भालेंगे, हम करेंगे। यहाँ फिर दृष्टि-भेद हो जाता है। अधपकी आँखें और तबीयतें रूप और तन को महत्त्व देती हैं। बुजुर्ग धन और कुल को पहले देखते हैं। उम्र जरा और उठे और बुद्धि और पके तो वहाँ कैरियर का ध्यान विशेष हो जाता है। इस तरह आर्य पद्धति पर जोर पड़ रहा है, लकीरों की समानान्तरता टिक नहीं पाती। तब तो ठीक था जब प्रेम उपजने की आयु से पहले ब्याह हो जाता था। तब प्रेम विवाहान्तर और अनुकूल होता था, यों बाद में कुछ जरूरत पड़ गयी तो एक-आध उपपत्नी हो जाती थी। लेकिन धर्मपत्नी के पद पर आँच नहीं आती थी। उस पुरातन का अवशेष अब भी भारत में है। लेकिन समझा जाता है कि इसी कारण वह युग की दौड़ में पीछे हैं। गृहस्थ धर्म भारत में इतना प्रधान रहा है कि राष्ट्रधर्म ठीक तरह पनप नहीं पाया है। पारिवारिकता यहाँ इतनी मजबूत है कि नागरिकता और सामाजिकता उसी कारण कमजोर है। तुम्हारे चाहिए को मानकर विवाह और प्रेम के स्तर समानान्तर होकर रह जानेवाले नहीं दीखते हैं। तब फिर बताओ क्या हो?

'अन्त में क्या होगा,' प्रोफेसर ने कहा—"यह तो मैं बता सकता हूँ। क्योंकि कोई भी बता सकता है। होगा यह कि प्रेम ही रहेगा। शेष की आवश्यकता न रहेगी। किसी के स्वर्ग को परख लो। स्वर्ग अपने-अपने सबने रचे हैं। सबमें कितनी भी भिन्नता हो, इस बात में समानता है कि प्रेम वहाँ मुक्त है। और वहाँ मर्यादा नहीं है, अभाव नहीं है। यह अन्त की बात है; बीच में दूसरा कोई मार्ग नहीं दिखाई देता सिवा इसके कि मर्यादा कि मजबूती से रक्षा की जाए। इसमें जानें जाती हैं तो जाएँ। लेकिन और क्या उपाय है? मैं देखता हूँ कि इसमें खीस्त को सूली चढ़ना पड़ा, गाँधी को छाती में गोली खाकर मरना पड़ा। क्यों, क्योंकि वह प्रेम का राज चाहते थे। राज प्रेम का स्वर्ग से पहले कैसे हो सकता है? इसलिए राज जिनका था, या जो चाहते थे, उन्हें इन लोगों को मौत के घाट उतारना पड़ गया। मैं समझता हूँ, इसके सिवा कुछ नहीं किया जा सकता कि व्यवस्था की हर कीमत पर रक्षा की जाए। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए तो क्यों? क्योंकि उन्होंने

इस तथ्य को पहचाना। सीता उनकी सती थी तो क्या, उसे देश-निकाला देने से वह बचे नहीं। इसमें जो पीड़ा मिली, वह पीते गये। अन्त तक पीते गये, और मर्यादा को अक्षुण्ण रखा। कुछ भी हो पुरुषोत्तमता की माँग में हम किसी को बचा नहीं सकते।''

धीमे से मैंने कहा—और कृष्ण?

कृष्ण! दोहराकर वह हँसे। कृष्ण को बात के बीच में लाना खतरनाक है। राम उत्तमोत्तम हों, पुरुष तो हैं। कृष्ण साक्षात् लीलामय हैं। भगवद्गीता में व्यास ने उन्हें भगवान बना दिया सो नहीं। हजरत स्वयं थे ही वह। वह लीला के आदमी थे। व्यवस्था नहीं, इतिहास, इतिहास उनका क्षेत्र था। कौन उनके लिए सिंहासन रखा था? और कौन रावण जो उनकी सीता को हर ले गया था? कृष्ण के आगे वैयक्तिक प्रश्न आया ही नहीं। व्यवस्था सदा वर्तमान का प्रश्न है। कृष्ण मानो इतिहास के काल की भूमिका पर रहे। इसी से ऐसा लगता है कि कृष्ण को विवाह छूता ही नहीं। छियानबें हजार तक रानियाँ लोक-कल्पना ने उन्हें दे दी हैं। उनसे सामाजिक प्रश्न और उलझ जाएंगे। गीता उन प्रश्नों के लिए नहीं है। जो मेरू प्रश्न वहाँ हैं, वह आध्यात्मिक है। इससे कृष्ण को बीच में लाना संकट को लाना है।

मैंने कहा—इसी से कृष्ण क्या और अनिवार्य नहीं है? अधिक संगत और उपयुक्त नहीं है? समानान्तर की बात कहकर आपका प्रश्न टलता है। ख्रीस्त सूली चढ़े, गाँधी गोली से मरे। तो यह करके उस समय का वर्तमान छुट्टी पा गया हो लेकिन हम जानते हैं कि भविष्य उनसे छाया रहा। हम जो उस वर्तमान में बन्द नहीं हैं, उसके बाद के इतिहास को भी देखने के लिए खुले हैं, सो हम कैसे उनको और उनके प्रेम के आग्रह को विचार से परे कर सकते हैं!

''—तो तुम प्रेम को चाहते हो?''

''आप नहीं चाहते?''

''यही कहता हूँ कि यह चाहने की चीज है। यानी बस मन की, आगे उसको नहीं ले जाना चाहिए।''

फिर वही चाहिए! मैंने कहा—आप 'चाह' का निषेध करेंगे, 'चाहिए' पर जोर देंगे। सुनिए, यह होनेवाला नहीं है। अगर प्रेम को आप चाहते हैं तो सारा 'चाहिए' भी उसमें आ जाता है। 'चाह' से आपका 'चाहिए' अलग क्यों जाता है। 'चाह' प्रेम में है, 'चाहिए' आपका विवाह में। तो बताइए कैसे चलेगा?

प्रोफेसर और सौम्य हुए। उनकी वाणी में स्निग्धता आयी। स्वर धीमा हुआ। बोले—तुम ठीक कहते हो। चाह एक है, चाहिए दूसरा। चाह अपनी ओर से है, चाहिए को समाज की ओर से लेना होगा। जानता हूँ, व्यवस्था कोई स्थिर नहीं

है। वह वर्तमान की चीज है और भविष्य क्षण-क्षण वर्तमान को बदल रहा है। इस तरह तुम चाहो तो मैं मान लूँगा कि समाज का प्रश्न ऐतिहासिक प्रश्न नहीं है, तात्कालिक है। वह मौलिक प्रश्न नहीं, कुछ सीमित है। लेकिन क्या हम वहाँ जाकर बात करना चाहते हैं जहाँ न माता है, न पिता है, न पति है, न पत्नी है; केवल नर और मादा है, स्त्री और पुरुष है? उस तल की बात तो अपनी नहीं है। कारण, न वहाँ विवाह है, न प्रेम।

मुझे बुरा मालूम हुआ। मैंने कहा, उस तल पर समस्या ही नहीं है। लेकिन जहाँ काम से आगे प्रेम की भी सृष्टि हुई है, उस मनुष्य में और उस मनुष्य के समाज में तो प्रश्न होता ही है। विवाह उस प्रश्न के उत्तर के लिए आदमी ने पैदा किया है। मैं पूछता हूँ कि क्या विवाह के अनेक रूप नहीं रहे? सामूहिक, सामुदायिक विवाह क्या इतिहास में नहीं मिलते! फिर विवाह के किसी एक रूप पर रुक कर इतिहास कैसे चल सकता है। उत्तरोत्तर क्या हमें अपनी व्यवस्था में उसी नियम को नहीं पहचानते और उतारते जाना है, जो इतिहास और विकास में से अपनी चरितार्थता का विस्तार करता आया है। और वह क्या प्रेम ही नहीं है।

देखो, देखो, प्रोफेसर ने कहा—मुझे घेरो नहीं। प्रेम के पास मैं जाना नहीं चाहता हूँ। सूरज के पास जाए तो आदमी का क्या होगा? वह राख हो जाएगा कि नहीं? सूरज से पृथ्वी जीती है, पृथ्वी पर हम जीते हैं। पृथ्वी वह इसलिए जी रही है कि उसके गर्भ में अब तक सूरज मौजूद है। जिस दिन भीतर वह ठण्डा हो जाएगा, पृथ्वी का नाम-निशान मिट जाएगा। इसलिए उसकी बात मुझसे क्या करते हो जो सबका आधार है! और सूरज ईश्वर नहीं है। पर सूरज के प्रति धरती को और धरती के प्रति मानव को जो थामे रखता है, वह तत्त्व अखण्ड है। इन असंख्य तारा नक्षत्रों को ब्रह्माण्ड के प्रति नहीं तो क्या अपनी-अपनी कक्षा में धारण रखता है। उस महत्त्व को जैनेन्द्र, चर्चा में न लाओ। वह प्रेम है। प्रेम ईश्वर है। ईश्वर के साथ विवाह को चर्चा में लाने की विडम्बना में क्यों पड़ते हो?

आगे बात कोई क्या ले जा सकता था। और कहकर प्रोफेसर कातर दिखाई दे आया। मैं चुप रह गया।

जुलाई, 1959.

विवाह और प्रेम-2

जान पड़ता है कि सृष्टि के मूल में यह जो भेद डाला गया है और फिर उनके क्षणिक अभेद में सृष्टि के मन्त्र को भर दिया गया है तो इसमें गूढ़ क्या आशय है? हमारा अणु-विज्ञान-अणु विघटन तक पहुँचकर भी जैसे इस प्राथमिक भेदाभेद से पार नहीं पा सका है। मनुष्य-जाति में ही स्त्री-पुरुष नहीं हैं, सारी समष्टि में यह भेद व्यापा हुआ है, और इसी की क्रिया-प्रतिक्रिया में से समूचा जगत्-व्यापार सम्भव और सम्पन्न हो रहा है।

एक पाठक लिखते हैं-

गतांक में विवाह और प्रेम पर आपका लेख पढ़ा। मुझे आपसे शिकायत है। आप यहाँ के प्रश्न को वहाँ आसमान में ले जाकर उड़ा-सा देते हैं। उपन्यासों में भी आपकी यही आदत है। ऐसे पढ़नेवाले चक्कर में रह जाते हैं और उन्हें प्रकाश नहीं मिलता...आप दिल्ली रहते हैं। दिल्ली में कुछ दिन पहले हुई घटना की क्या मैं आपको याद दिलाऊँ। एक प्रसिद्ध होटल में दो प्रेमी जहर ख़ाकर मर गये। काफी सनसनी का समाचार था। आये रोज ऐसी घटनाएँ होती हैं। तत्त्वज्ञान में उड़ने से क्या होगा। उससे जानें बचती हुई नहीं दिखाई देतीं। व्यावहारिक कुछ कहिए जिसका परिणाम हो। आशा है आप इस पर ध्यान देंगे।

जिस घटना का पाठक ने उल्लेख किया है, वाकई चौंकानेवाली है। पत्र में पहले छपा था कि वे पति-पत्नी थे। निकला कि पति-पत्नी थे, पर परस्पर नहीं। पति दूसरे के थे, पत्नी भी दूसरे की थी। दो परिवारों में दो पीढ़ियों से परिचय चला आता था। होते-होते घनिष्टता हो गयी। परिवार चुस्त आर्यसमाजी थे। मध्यवित्त श्रेणी के और अच्छे पढ़े-लिखे। प्रेमी लोग बहाना देकर दिल्ली आये तो वहाँ किन्हीं सम्बन्धियों को खबर नहीं दी। रात को साथ जहर पिया और

लिपटकर जो सोये तो सबेरे लाश मिली?

इस घटना ने मुझे दहला दिया था। मैं उनके ब्यौरों में भी गया था। एक घनिष्ठ मित्र के निकट सम्बन्धी वे निकले! इससे घटना के अन्तरंग का भी कुछ पता चला। मैं उसपर कई दिनों तक चिन्ता में रहा कि दो जानों का जाना जरूरी किस कारण हुआ। अभी दोनों की खुलती वय थी। सम्भावनाओं से भरे जीवन थे। वह भीतर क्या चीज थी जिसने उनके लिए जीवन को भारी कर दिया और मौत को हल्का बना दिया। कोई बहुत बलशाली वह चीज होनी चाहिए कि जिसके मुक़ाबले में यह जवान लोग असहाय निकले। इतने कि मौत का सहारा लेकर बवाल से छूटने की ही एक राह उन्हें रह गयी।

कोई न होगा जो दोष उन मरनेवालों का न माने। उनकी भरपूर भर्त्सना की जा सकती है। लेकिन मरकर वे प्रश्न के दायरे से बाहर हो जाते हैं और सोचने की बात यह रह जाती है कि समाज इस अपनी हानि से कैसे बचे। दो कीमती जानें गयीं। उनकी अब सम्भावनाओं के लाभ से समाज का वंचित होना बुरा है। क्या हो कि ऐसी क्षति से समाज आगे बचे।

यह कि दोनों पापी थे, पाप भी उनके साथ गया और यह अच्छा हुआ। यह कहनेवाले लोग आशा है अधिक नहीं हैं। कर्म का फल मिलता है, इस सिद्धान्त पर हम उन प्राणियों के प्रति करुणा की आवश्यकता से बच सकते हैं। पर करुणा का प्रश्न नहीं है। सीधे हिसाब का प्रश्न है। समाज को जो घाटा सहना पड़ा है, उसका क्या हो? या कि वह माना जाए कि समाज का कुछ अलाभ हुआ ही नहीं, बल्कि लाभ हुआ। यानी लोगों की आँखें खुलीं कि अवैध प्रेम का ले-देकर यह अन्त हुआ करता है!

याद रखना चाहिए कि यह समाज की ओर से डाला गया दण्ड न था। तब शायद कहा भी जा सकता कि समाज के हित में सोच-विचार कर ऐसी दो जानों को खत्म करना उचित समझा गया। बात वैसी नहीं है। समाज से मुँह चुराकर यह लोग समाज को दगा दे गये हैं। मेरा मानना है कि वह समाज जड़ है जो ऐसी बातों से चौंकता नहीं है और अपना लेखा-जोखा लेने को ही तैयार नहीं होता है।

मरने की घटना से हम चौंकते हैं। लेकिन प्रश्न असल में उतना अनोखा नहीं है। वह सवाल उठता ही रहता है। मानव सम्बन्धों के लिए समाज की ओर से कुछ विहित नियम होते हैं। लेकिन मानव मन सदा उनकी दीवारों से टकराया करता है। नियम चलते हैं, पर मन पर नहीं चलते। बल्कि नियमों की ताकीद होती है, इसलिए मन और भी स्वच्छन्द होना चाहता है। ऐसे वह पैदा होता है जिसे पाप कहते हैं। सब जानते हैं पाप में एक अपना स्वाद रहता है। पापपन

हटने से स्वाद कम हो जाता है। इस तरह जीवन में तनाव पैदा होता है। प्रतिष्ठा का स्वाद और पाप का स्वाद। ये उलटे स्वाद जीवन को खींचते रहते हैं। कभी तो ऐसा होता है कि पाप अपनी प्रतिष्ठा का अलग निर्माण करता है। अन्डर-वर्ल्ड जिसे कहते हैं, उसका यही हाल है। वहाँ पाप लज्जा की नहीं गर्व की वस्तु बनता है। लोग उसका वहाँ गौरव करते हैं, उद्दण्डता और दुस्साहस वहाँ गुण होते हैं।

यह अण्डर-वर्ल्ड मामूली तौर पर ढँका रहता है। भद्र लोग उससे अनजान रहने में कुशल देखते हैं। पर समाज का वह कम अंग नहीं है। कानून और अपराध लगभग समतोल हैं। मानो दोनों पलड़े एक-दूसरे को सँभालते और सन्तुलन देते हैं।

यह ऊपर की बात इसलिए कही जा रही है कि भद्र श्रेणी, जो अधिकांश मध्यवित्त है, पाप के प्रति कुछ वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये। ऊपर की घटना भावुक दृष्टिकोण का परिणाम है। यदि हम तनिक तटस्थ, अनासक्त और वैज्ञानिकवृत्ति रखें तो मुझे लगता है कि परस्पर सद्यता बढ़े और दुर्घटनाएँ कम हों।

कौन है जिसका मन पूरी तरह काबू में है। वे लोग जो समाज के व्यवस्थापक और न्यायकर्ता हैं, अपने को टटोलकर देखें। क्या पाप उनमें अविद्यमान है? विवेक में और वासना में क्या उनके भीतर भी युद्ध मचा नहीं रहता है? विवेक को वह प्रतिष्ठा देते हैं, यह ठीक है। लेकिन वासना का क्या करते हैं? यह अपने सम्बन्ध में वह खुलकर पहचानेंगे, तो मालूम होगा कि पाप के प्रति उनका दृष्टिकोण बदल रहा है। पापी के प्रति सहानुभूति बढ़ रही है। साथ ही पाप के प्रति असहिष्णुता भी घट नहीं रही है। पापी के प्रति सहानुभूति पाप से लड़ने में हमें बल दे रही है। यदि पापी को हम सहानुभूति नहीं दे पाते हैं तो इसी कारण कि कहीं हम अपने भीतर पाप को अवकाश दे रहे होते हैं। इसी कारण देखते हैं कि बाहरी दण्ड से पाप का उपचार नहीं हो पाता।

वे युवा लोग क्यों मरे? क्योंकि सामना वे नहीं कर सके। उन्हें इतना डर था अपने बुजुर्गों का। उनमें निश्चय था कि वे सभी उनको समझने को तैयार न होंगे। यहाँ से उनमें, अर्थात् बुजुर्गों और जवानों में, दूरी पैदा हो गयी। विवाह के अपने साथी के प्रति भी पति-पत्नी यह साहस नहीं पा सके कि अपने को खोल दें। यहाँ से चोरी और झूठ की आवश्यकता उपजी। इस कारण उस आकर्षण में पाप का रस पड़ने लग गया और आकर्षण उत्कट और अनिवार्य बनता चला गया। झूठ और चोरी के सहारे ने उस आकर्षण को धार दी। किसी तरफ से भी सच्चाई की धूप उसे नहीं लगने दी गयी। पति ने अपनी पत्नी से छिपाया, उधर पत्नी ने अपने पति से रहस्य रखा। इसमें से उस वासना को तीखी धार मिलती

चली गयी। कहीं किसी के प्रति यदि विश्वासपूर्वक यह सच्चाई खोल दी जाती तो निश्चय है कि धार उसकी इतनी तीखी न रह जाती। पर ऐसा नहीं हो पाया। नहीं हो पाया इसमें मैं दोष का बँटवारा नहीं कर सकता। वह काम अवैज्ञानिक है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि उन जवान लोगों के आसपास वह स्निग्ध, उदात्त और मुक्त वातावरण न था कि जहाँ पाप को स्वीकार करना सम्भव हो सकता। मानो लौट-लौटकर पाप अपने पर ही आता। और फिर कसकर अपने को बन्द कर लेने को विवश पाता था।

मान लीजिए कि जिनमें प्रेम था, उनका ही परस्पर विवाह हुआ होता। यानी एक-दूसरे को पाने और भोगने की उत्कट लालसा जिनमें हुई वे समाज की स्वीकृति के साथ पहले ही एक-दूसरे को सहज मिले हुए होते। भोग उन्हें दुष्प्राप्य न होता बल्कि नित्य प्राप्त जैसा हो जाता, तो क्या होता? तो मुझे निश्चय है कि वहाँ विरक्ति पैदा हो गयी होती। तब सम्भव हो सकता कि अपनी विवाहित पत्नी, जो कि कदाचित् तब मित्र की पत्नी होती, उनके लिए वासना का कारण बन जाती। प्रेमिका के लिए प्रेम इसलिए होता है कि वह पत्नी जो नहीं है। यानी मन प्राप्त के प्रति आकर्षण अनुभव नहीं करता, अप्राप्य पर जाता है। बिलकुल आवश्यक नहीं है कि प्रेयसी पत्नी से अधिक सुन्दरी हो, आवश्यक यह है कि उधर दुष्प्राप्यता का बोध हो।

मेरे मन में तनिक सन्देह नहीं है कि यह रोमांस कुछ दूर जाकर अपना रस खो देता। तब दोनों अपने-अपने घर की ओर मुँह करते। तब वे जान जाते कि रूप की रंगीनी जो दीखती है सो अपनी तृष्णा के कारण है। तब आगे द्वन्द्व उनमें तीव्र न होता और गृहस्थी में संकट उपस्थित न होता।

पर वह नहीं हो सका। परिवार चुस्त आर्यसमाजी थे। इसका आशय क्या मैं यह ले सकता हूँ कि नैतिकता के सम्बन्ध में अतिरिक्त कड़ी निगाह थी। यदि ऐसा हो तो मैं मानूँगा कि दुर्घटना में उसने भी कुछ सहारा दिया। मध्यवित्त श्रेणी में अक्सर यह होता है। नीति का दबाव अपराध की ओर वृत्ति को विचलित करता है। मानव स्वभाव तो सब जगह एक है। लेकिन जहाँ दमन उतना आवश्यक नहीं, जहाँ मन और भाषा के लिए तनिक खुले रहने का अवकाश है, यहाँ गाँठ इतनी कसती नहीं है। और भँवर बीच में पड़ते भी हैं तो भी नाव टूटती नहीं है और जीवन आगे बढ़ जाता है। समय बीतने पर यह अनुभव व्यक्तित्व को एक सामर्थ्य और समृद्धि दे जाता है। देखा गया है कि अपनी-अपनी जवानी में दोनों साथी ऐसे भँवरों में पड़े हैं। लेकिन धीरज खोया नहीं है। और आगे जाकर उनका सम्मिलित दाम्पत्य उस कारण और प्रगाढ़ बना है। वासना का झोंका आता है लेकिन निकलकर चला जाता है। बुजुर्ग लोगों के लिए अवसर है कि वे यह पहचानें।

उनके व्यवहार में यदि यह समझ प्रकट होती हुई दीखेगी तो मेरा खयाल है कि जवान लोगों को इससे बड़ा लाभ होगा। वे हारेंगे नहीं, टूटेंगे नहीं और यह खट्टे-मीठे अनुभव अन्त में उनको जीवन की पहचान देंगे और स्थिरता भी देंगे।

यह कहना बहुत आवश्यक है कि नैतिक वह नहीं है, जो प्रेमहीन है। नीति का उद्‌गम स्वयं निछावर प्रेम है।

अगस्त, 1959.

प्रेम और विवाह-1

कौन है जिनका मन पूरी तरह काबू में है। वे लोग जो समाज के व्यवस्थापक और न्यायकर्ता हैं, अपने को टटोलकर देखें। क्या पाप उनमें अविद्यमान है? विवेक में और वासना में क्या उनके भीतर भी युद्ध मचा नहीं रहता है? विवेक को वह प्रतिष्ठा देते हैं। यह ठीक है। लेकिन वासना का क्या करते हैं?

देहरादून से एक सज्जन लिखते हैं-

30 अगस्त के धर्मयुग में आपके प्रेम और विवाह पर विचार पढ़े। पश्चिम का मजाक उड़ाने में हम कहीं भी पीछे नहीं हटते—और फिर पेरिस के तो कहने ही क्या। जहाँ तक मुझे विदित है, पेरिस में हर पुरुष की प्रेमिका होती है और हर स्त्री का प्रेमी। इनमें विवाहित स्त्रियाँ और पुरुष भी शामिल हैं। मेरे विचार में अगर यह सच न भी हो तो भी यही सबसे उत्तम सुझाव हो सकता है, जिसमें समाज की मर्यादा भी रहे और व्यक्ति का विकास हो। न पति अपने परिवार के उत्तरदायित्वों की ओर से उदासीन रहे, न ही पत्नी और दोनों अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व निभायें। यह आरम्भ में अटपटा लगे परन्तु मान्यता बन जाने पर न बच्चों को अटपटा लगेगा न बूढ़ों को। इस विचार को पचा और समा लेने में युग भी लग सकते हैं। पर अन्तिम रूप यही होगा। कम-से-कम सबसे अधिक तर्क संगत!

मैंने इन बन्धु को लिख दिया है कि मैं सर्वथा असहमत नहीं हूँ।

पश्चिम की रीति-नीति भिन्न हो सकती है। पर इसी कारण उसको नीचा देखना गलत है। नीचा वह है भी नहीं बल्कि ऊँचा माना भी जा सकता है। ऊँचा इसलिए कि औसतन सामान्य व्यवहार में विलायती पुरुष को हिन्दुस्तानी समक्ष में अपने से ऊँचा अनुभव करता है।

मानना होगा कि वहाँ समाज में अस्थिरता अधिक है। लेकिन इसी में से उन्होंने गति और उन्नति की है। उसको भौतिक कह देकर हम अक्सर अपना बचाव किया करते हैं। पर इस भौतिक शब्द का आवश्यकता से अधिक सहारा और उपयोग लेना छोड़ देना होगा। अहमान की उसमें झलक है तो अनिष्ट है। विवेक की बात दूसरी है।

हम मानते हैं कि विवाह होने पर प्रेमी और प्रेमिका अनावश्यक हैं। इसलिए पति और प्रेमी, पत्नी और प्रेयसी, इन दोनों के बीच बैर और विग्रह को स्वाभाविक और उचित मान लिया गया है। इसी धारणा पर समाज का नियम बनता और निभता आया है। लेकिन धारणा में विकास होगा। बराबर प्रकट होता जा रहा है कि पति और पत्नी में प्रेमी और प्रेमिका समाप्त नहीं हो पाते; अलग से उन्हें होना ही पड़ता है। वह विधान जो विवाह में अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका के लिए कहीं अवकाश नहीं रहने देता है, बार-बार टूटता है। हर कोशिश रक्षा करने की, की जाती है, पर बेकार रहती है। उस विधान की सीमा-रेखा पर सदा ही प्रश्न खड़ा दीखता है। अनेक आहुति और बलिदान—उस मर्यादा की वेदी ने प्राप्त किये हैं। लेकिन बलिदानियों की कमी किसी समय और किसी देश में नहीं देखी गयी है।

प्रेमी और प्रेमिका का होना बन्द नहीं होनेवाला है। इन दोनों को अनिवार्य मानना पड़ता है। साथ ही पति-पत्नी के बिना समाज और व्यवस्था की कल्पना नहीं हो पाती। यदि अब ये चारों अनिवार्य हैं तो वह समाज-दर्शन और समाज-नीति जो इससे आँख मीचती है संकट में ही रहनेवाली है और वह सरहद जिस पर चौकी पहरा बिठाये रखना पड़ता है, असुरक्षित है—यही मानना होगा।

ऊपर पश्चिम और पेरिस की बात आई है। कुछ पहले तक वहाँ ड्युअल की प्रथा कुलीनोचित बनी हुई थी। कानून वहाँ अब भी प्रेमी और प्रेमिका को नामंजूर करता है। यह तो समाज का चलन है, समाज का विधान नहीं, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका को यथार्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है। अर्थात् विधि का वैधता का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ भी विकास की आवश्यकता है।

समाज को एक स्थिति और व्यवस्था चाहिए। प्रेमी को और प्रेमिका को स्वीकारता देने पर क्या स्थिति का भंग न होगा? व्यवस्था क्या टूटेगी नहीं? ऐसा सोचकर नीति-दाता लोग उदारतावश तथ्य के रूप में प्रेमी और प्रेमिका की घटना को चाहे अवकाश देते रहे हों, पर विधि में उन्हें अस्वीकार करते जाने में ही उन्होंने कुशल देखी है। मैं मानता हूँ कि यहाँ उन्होंने सत्य से ऊपर शिव को रखा है और यह सही नहीं किया है।

परिणाम यह कि, जैसा बन्धु ने लिखा है, पेरिस में हर पुरुष की प्रेमिका

और हर स्त्री का प्रेमी होता है। तो भी वह अवैध होता है। उस तरह वहाँ के आचार में खुला व्यभिचार देखने में आता है। व्यभिचार शब्द मैं अपनी ओर से नहीं कहता, स्वयं उनका विधान कहता है। उसी का नतीजा है कि प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध जो उदात्त, उद्‌भावक और प्रेरक होने के लिए है एक-दूसरे को पाप में और गिरावट में घसीटने का कारण बनता है।

उस दृष्टि से भारतीय शास्त्रकारों का मैं प्रशंसक हूँ। शिव दृष्टि के साथ उनमें सत्य दृष्टि थी। यही सम्यक् दृष्टि है। हमारे पास प्रात: स्मरण के लिए पवित्र दो नामोच्चार हैं। एक सीताराम, दूसरा राधेश्याम। पहले पति-पत्नी हैं, दूसरे प्रेमी-प्रेमिका। कोई उनमें कम पवित्र नहीं है। और मैं यह मानता हूँ कि आप्त और अवतार-पुरुषों की यह दोनों जोड़ियाँ परस्पर विरोधक नहीं पूरक हैं। उलटी आपस में उतनी दीख सकती हैं जैसे उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुव। लेकिन धरती उन दो ध्रुवों के बीच ही टिकी है। किसी एक के अभाव में दूसरे की स्थिति भी नहीं रहती।

भारत के ऋषियों ने क्रान्त-दर्शन का प्रमाण दिया है कि जब एक ही साथ राम और कृष्ण जैसी दो पुरुषोत्तमताओं का हमें आदर्श दिया है। भारतीय संस्कृति उसी धुरी पर सन्तुलित रही, उसी से अविच्छेद्य रही है। आप उसे राम की ओर अधिक खींच ले जाएँगे तो भूल होगी। तब विवेक चिद्‌विहीन और आवश्यकता से अधिक कड़ा होगा। कृष्ण की ओर अति होगी तो भी ऐसा ही कुछ अनिष्ट होगा। व्यक्ति तब जगत्‌छन्दे से विच्छिन्न होकर निरा स्वच्छन्द होने लग जाएगा।

एक और भी बात सुनता हूँ। श्रीराम बारह कला के अवतार थे, सोलह कलाओं के पूरे अवतार तो श्रीकृष्ण थे। इस पर, इसके आशय और मर्म तक, विचार मीमांसा में जाए और उतरे तो हितकर होगा। पाठक यह कह सकते हैं। मैं अभी उसमें जाना नहीं चाहता हूँ।

लेकिन यह आवश्यक है कि पति के मन में प्रेमी का मान हो। ईर्ष्या और विग्रह को उचित माना जाना समाप्त हो जाए। उसी तरह पत्नी में पति की प्रेयसी के लिए आदर हो चलना चाहिए। सौतिया डाह की यदि परम्परा है, तो मानना चाहिए कि वह बर्बर युग की है। उसमें मनुष्यता नहीं, पशुता है।

मेरे मन में इसमें भी तनिक सन्देह नहीं है कि जिस मात्रा और जिस घर में ऐसा हो सकेगा, प्रेमी और प्रेयसी का स्वागत और समादर होगा, वह गृहस्थ उतना ही फले-फूलेगा। नरक की रचना उसमें कभी न हो पाएगी। मानो स्वर्ग लहलहाता रहेगा। यह इस कारण कि मर्यादित नियम का और मुक्त प्रेम का संघर्ष न होगा, दोनों एक-दूसरे को अपना नियमन व बल दे सकेंगे।

ऊपर किसी सिद्धान्त-लोक या अपर-लोक की बात नहीं की गयी है।

असम्भव जैसा उसमें कहीं कुछ नहीं है। अपने नित्य-प्रति के जीवन में झाँककर देखेंगे तो उसकी सम्भवनीयता और सक्रियता हमें अपने भीतर ही मिल जाएगी। परस्पर उदार भाव से वर्त्तन करते हुए पति-पत्नियों को कहीं अभाव नहीं है। संस्कारिता के माप में जो जितना ऊँचा है वह उतना ही स्नेहशील और उदात्त है। पौरुष और तेजस्विता की कल्पना वह गलत है जो हिंस्र-भावों में अपना गौरव देखती है। मुझे इसमें भी सन्देह नहीं है कि संयम और प्रेम की उस परस्पर पूरक स्थिति को समझकर जो व्यवहार साधा जाएगा उमसें प्रेम सहज भाव से अपार्थिव होता जाएगा। इस प्रकार उसी में से पार्थिव के उचित नियन्त्रण का उपाय और मार्ग प्राप्त और प्रशस्त होगा।

सितम्बर, 1959.

प्रेम और विवाह-2

"—उसके बिना हर इकाई घुट जाएगी। वह प्राणतत्व है, आत्मा के लिए ऑक्सीजन है। वह प्राणवायु वातावरण में न रहेगी तो हर साँस के साथ हम क्या लेंगे जो पहुँचकर भीतर क्षण-क्षण संजीवन दे। विवाह पर उसको बन्द कर दो, विवाह मर जाएगा। द्वार-गवाक्ष से उसे आने दोगे तो विवाह का स्वास्थ्य खिला रहेगा।"

प्रेम और विवाह की बात फिर उठ आयी है। भरसक मैं उठने देना नहीं चाहता। जिन्दगी में उठे तो उठे, 'इतस्ततः' में क्यों उठायी जाए। सुनता हूँ, उठाई गयी तो उससे खलबली मची थी। खलबली पसन्द की जाने योग्य चीज नहीं है। लिखने-बोलने का फल यह होना चाहिए कि सामंजस्य बढ़े। ताप हो कहीं तो वह शान्त हो। विग्रह का शमन हो और गृहस्थियाँ टूटे नहीं, सँभलें।

पर क्या करूँ? कल वह आई तो सवाल उठा गयी। असल में सीधे नहीं उठा। बात शालीन रही। पर भीतर जो था उसे क्या कहूँ?

सात-आठ बरस पहले उन्हें मैं जाना करता था। इस बीच वे खोये रहे। मैंने कहा—"अरे, तुम कब आयी?"

"पाँच रोज से हूँ। आप मिले ही नहीं।"

'क्यों, कहाँ गया था?"

"कितनी बार फोन किया पर हर बार—"

"···बड़ी स्वीट बेबी है। क्यों मुन्ना, क्या नाम है?"

"नाम अभी नहीं है, बेबी कहते हैं। बोलो बेटा, कहो—बेबी··· आपने एकनौलेज नहीं किया हमारा न्यू इयर कार्ड। मिला था न?"

"मिला था···यों ही रह गया।"

"बड़ी साध से भेजा था। हम लोग खूब खुश थे। मैं बड़ी भागवान हूँ।

पति ऐसे हैं-कि बहुत ही अच्छे। बड़ा पुन्न किया होगा कि वह मिले। मैं ही नादान हूँ कि योग्य बन नहीं पाती।''

''जरूर खुश हो। देखता हूँ, मोटी हो गयी हो। वह कहाँ है?''

''बिजनेस में दौरे पर हैं। बड़ा काम रहता है। बड़ा भी साथ है, बाप की मदद करता है। आपने छोटा देखा था, खूब होशियार हो गया है। बाप से होशियार है।''

''कद बताओ। उतना ही है कि कुछ ऊँचा हुआ?''

''आप जो जानते हैं पाँच से एकाध इंच हो तो हो...''

''और सुनाओ—''

''आप सुनाइए।''

''सब ठीक है...पर तुम यहाँ हो कैसे पाँच दिन से?''

''मैं ...बात ये कि ...मैं हूँ न जहाँ, वह साझी हैं। उनके कई काम हैं। असल में फिनांस उनका है, बड़े भले हैं, देवता हैं ...लेकिन छोड़िए। बिजनेस के झमेले हैं। मैं खुद नहीं जानती। ...सुनिए, कोई मुझे जगह दिला सकते हैं?''

मैं उसको पहले भी यही जानता था। बात सीधी न होती थी और उसका सन्दर्भ न मिलता था। मैंने कहा—क्या? क्यों?

''जगह कोई सौ की भी चाहे हो। और रहने को ठौर भी चाहिएगा।''

''क्यों, बिजनेस में घाटा है क्या? घाटा हुआ तो भी क्या। एक दिन नफा भी होगा।''

''नहीं, नहीं। नहीं, वह सब ठीक है। जरा है भी तो यही कि स्टॉक्स में पैसा फँस गया है। लेकिन उससे क्या। घर-गृहस्थी के खर्च का तो सवाल ही कुछ नहीं है।''

''फिर फिजूल यह क्या है, सौ की जगह वगैरह। कैसी सुन्दर बेबी है, बड़ी तुम कहती हो बी.ए. फाइनल कर रही है। यह स्वर्ग तो है तुम्हारे पास। आमदनी भी है। फिर क्या चाहिए।''

''कैसे बताऊँ, बता नहीं सकती, असल में मैं खुद ही नहीं जानती। पर, पर स्वर्ग में रह कैसे सकती हूँ। क्या उसके काबिल हूँ? पति के काबिल हूँ?''

''वह तो मैंने देखा है कितना तुम्हें चाहते हैं। क्या अब बदल गये हैं?''

''देखिए, हँसी न कीजिए। ...चाहना एक बात है। उनसे ज्यादा क्या कोई चाहेगा। एकदम वह मुझपर है। इतने निर्भर कि क्या कहूँ। और ऊपर इज़्जत करते हैं। मेरे बिना एक दिन उन्हें भारी पड़ता है। पर कैसे बताऊँ...कहीं कोई जगह तलाश कर दीजिए। इतना बस है कि रोटी-दाल मिल जाए। तन मेरा और बच्चों

का ढक जाए। बस और नहीं चाहिए। ढूँढ़ सकेंगे?''

सात बरस पहले कभी-कभी इन लोगों से मिलना हो जाया करता था। तीन बरस तक यह जान-पहचान चली होगी। मैं कभी जान न सका कि समस्या क्या है। समस्या अवश्य कुछ बेढब मालूम होती थी। परिस्थिति के साथ कहीं मैं उसे जोड़ नहीं पाता था। अक्सर गृहस्थ की समस्या पैसे की भाषा में निदान और समाधान पा जाती है। परिवार में कई सदस्य होते हैं और अपने आसपास सभी कुछ अवकाश चाहते हैं। अवकाश कुछ निजी इच्छाएँ रखने का और उन्हें पूर्ण करने का। यह पैसे के सुभीते से हो जाता है। नहीं तो सदस्यों के व्यक्तित्व एक-दूसरे में रगड़ने लग जाते हैं, एक-दूसरे को नोंचने-खरोंचने लगते हैं। गृहस्थी में इसलिए सबसे बड़ा भय अभाव का है और सबसे बड़ा अभय धन का है। तभी घर में पत्नी को आप खर्च के बारे में व्यस्त पाएँगे और पति को कमाने के बारे में। आय-व्यय का यह पट बहुत कम ही गृहस्थियों में आय के और पुरुष के पक्ष में होता है। अधिकाँश पलड़ा स्त्री का और व्यय का भारी रहता है। और बातें इस अर्थ-सन्तुलन से जैसे ओछी पड़ जाती हैं। उस अर्थ की बात के जोड़ में मैं उस दम्पती की समस्या को बिठा नहीं पाता था।

इधर कई वर्ष वे गायब रहे। अब यह महिला फिर समक्ष हुई हैं तो फिर वही कुछ देखता हूँ। मैंने नाराज होकर कहा—देखो, मुझे यह सब पसन्द नहीं है। जानता हूँ, तुम नौकरी नहीं चाहती और नहीं करोगी। तुम्हारे उनसे पूछे बिना मैं कुछ नहीं करूँगा, तुम कुछ नहीं कर सकोगी। तुम यह जानती हो। फिर इतने दिनों बाद आई जरा देर के लिए और वही किस्सा ले बैठीं। दस बरस से वही गिरस्ती है, वह झगड़ा है। जानता हूँ, जिन्दगी के आखिर तक चलेगा और यह सब बातें बेकार की हैं।

उसकी आँखों में जाने क्या हो आया। रोष भी था, उदासी भी थी।

''आप समझते क्यों नहीं हैं। बताइए क्या करूँ? साथ रहूँ तो शान्ति रही। दूर रहती हूँ तो शान्ति नहीं। यह बच्चे हैं, नहीं तो सदा को छुट्टी ले जाती।''

···वह कमाते हैं इसके लिए कि मैं जो सुन्दर हूँ, सजकर रहूँ। ऊँची चलूँ और ऊँचाइयों की तरफ़ उनकी राह खोलूँ। चाहते हैं, पर उसी सुन्दरता को सजा-बजा देखते हैं तो संशय करने लग जाते हैं। समाज में स्थान पाती हूँ, आकर्षण का केन्द्र बनी दीखती हूँ, तो वही इसके लिए उकसाते हैं और फिर वही व्यंग्य करने लग जाते हैं···जी होता है नाखूनों से इस अपने चेहरे को नोंच-खरोंच डालूँ। बेहाल कर दूँ, तेजाब डाल लूँ···लेकिन इन्हें लाभ होता है, रुसाई बढ़ती है और उन सम्पर्कों से फिर अवसर निकलते हैं। लोग ढुलककर आते हैं और व्यवसाय

के नये-नये योग मिलते हैं··· मुझे इनके साथ रहना है, इनके बच्चों की माँ हूँ। इनकी उन्नति में बाधक कैसे हो सकती हूँ? लेकिन बाधक होती हूँ जब साधक होना चाहती हूँ। हर सफलता पर इनका मन उठता है, पर नीचे से कटता भी है। माने बिना यह नहीं रहते कि उसकी जड़ में मैं हूँ। बहुतेरा जतलाती हूँ कि तुम्हारी अपनी बुद्धि है, तुम्हारी कुशलता है। पर दुनिया को वह जानते हैं। जानते हैं कि कैसे वह चलती है और अपने पर विश्वास नहीं ला पाते। इधर सफलता पर वह बढ़ते हैं, उधर उसी पर अन्दर से अपने को लहूलुहान बनाते जाते हैं···। आपको शुरू का पता नहीं है। मैंने बताया नहीं है। एक इम्पोर्ट लायसेंस मैंने प्राप्त किया था। उसमें भारी गुंजाइश थी। रिफ्यूजी थे और हकदार भी थे, लेकिन मानती हूँ कि उसके मिलने में कारण मैं भी थी। वह खुश हो आये थे। लेकिन उसको पाने में जो सम्पर्क बने वे इन्हें ऐसे चुभते थे जैसे काँटे। उन पर मन-ही-मन वह आह कर आते हों, लेकिन ऊपर से मुस्कराते और उन सम्पर्कों को सहलाते भी थे। तब उमर कम थी और बच्चा वह जो बड़ा है गोदी में था। घर की जिम्मेदारियाँ उतनी मन पर न थीं। क्लब और पार्टियाँ रस देती थीं। यह चाहते थे मैं घर में रहूँ और चौबीसों घण्टे वह पास रहें। उनकी ही आँखें देखें और हरदम देखती रहें, किसी भी दूसरे की निगाह मुझ पर न पड़ पाए। इसमें अक्सर ये दफ्तर भूल जाते थे। मगर शाम को क्लब मुझे ले जाकर घाटे से ज्यादा नफ़ा कर लेते। मुझे जाना पड़ता था और मैं देखती थी कि दफ्तर की कमी कहीं ज्यादा वहाँ मुझसे पूरी हो जाती थी। घर आते और बात करते उन लोगों की जो वहाँ मिले थे। मैं नयी थी और सब मेरी तरफ अच्छे थे और मुझे अच्छे लगते थे और मैं खुशी जतलाती थी और एक-एक की तारीफ करती थी और वह उस तारीफ पर अपनी तरफ से हाशिया चढ़ाते जाते थे। तब मैं पहचानती थी कि वह इस तरह अपने पर धीरे-धीरे रेती फेरकर अपने को काटते ही हैं। काटते हैं और उसी में रस की चुस्की लेते हैं। गहरी ईर्ष्या तब उनमें काम कर रही होती थी और मुझे उकसा-उकसाकर मुझसे क्लब के एक-एक युवक की तारीफ के शब्द निकलवाया करते थे···। मानती हूँ कि क्लब में आदमी हिसाब से ऊपर चलता है। इसलिए उसका कृपण पक्ष सामने नहीं आता, उदार और उज्ज्वल पक्ष ही आता है। गिरस्ती में जो प्यार हिसाब के आँकड़ों में रुँध और बुझ जाता है, क्लब में वही खिल आता है। आप जानते हैं कर्त्तव्य में प्यार नहीं रहता, वह सदा आनन्द में रहता है···। तो मैं क्या करती? मन में लहरें उठती थीं और जिस-तिस का स्पर्श भी पाती थी···। लेकिन सच कहती हूँ, गृहस्थी में मैंने अपना तिल-तिल गलाया। कोई उसमें प्रमाद किया हो तो बुलाइए उनको, वह कह दें। लेकिन उनका

प्यार अपनी ही शंका में कटता और झुलसता रहता। पत्नी थी, इतना काफी नहीं था। प्रेमिका बनकर उन्हीं की होऊँ, यह तृप्ति वह चाहते थे। पति भला प्रेमी हो सकता है? प्रेमी तो एक रंगीन ख़्वाब है जो आँखों की वजह से बाहर छा आता है। यों वह कहीं है नहीं। आज इसमें है, कल उसमें है। पति वास्तविकता है। वही टिकता है, वह सपना नहीं है कि उड़ जाए। यह जानती हूँ, और उन्हें बताती रहती हूँ। पर मेरे साथ गृहस्थी रखकर जब वह उस पति देवता के आसन को लात मारकर प्रेमी बनना चाहते हैं, तो मैं कराह उठती हूँ··· जेवर देते हैं, भेंट देते हैं, बेतहाशा कपड़े बनवाते हैं, यहाँ-वहाँ ले जाना चाहते हैं। और मैं देखती हूँ अपनी लड़की नीना को जिसका अब ब्याह होना चाहिए, इस छोटी बेबी को जिसको घर में बैठकर मुझे शिक्षा देनी चाहिए। लड़का है जिसके भविष्य का मुझे विचार करना चाहिए। पर प्रेमिका की जिसे आवश्यकता हो और अपने को प्रेमी के रूप में जो अनुभव कर आना चाहता हो उसका मन कैसे फिरे? ··मैं कहती हूँ—पत्नी मुझे रखो और जाकर क्लब में प्रेमिका कोई ढूँढ़ लो। तो दोनों मन तुम्हारे पूरे होंगे। लेकिन वह उनसे होता नहीं है। मुड़-मुड़कर मुझ पर आते हैं और मुझमें प्रेमिका देखना चाहते हैं। बताइए वह कैसे हो? क्लब का रूप मेरा कुछ चन्द मिनटों का है। वह दूसरों को लुभा सकता है और उनके साथ वह रूप निभ भी सकता है। पर पत्नी तो मेरा स्थायी भाव है। क्लब के एक घण्टे को छोड़कर चौबीस में तेईस घण्टे तो मैं वही हूँ···। लेकिन उनको कुछ रंगीन चाहिए जो एक घण्टे के लिए मैं भले बन सकती हूँ। अर्थात् निर्द्वन्द्व, प्रसन्न, मुक्त। जिस पर दायित्व नहीं, चिन्ता नहीं, जो अगणित है, अविचारित है। जिस पर हास और विलास है, जो सर्वथा प्रकृत है और आवरण जिस पर केवल मात्र उपचार है, जो नर के लिए बस नारी है उससे अधिक और कुछ नहीं है। मेरा वह रूप अवश्य मनोरम होगा। तरंगमय होगा, कमनीय होगा। पर वह और सब दूसरों के लिए हो सकता है, इनके लिए कैसे हो सकता है जो बालकों के पिता हैं और मेरे लिए हरदम खटते रहते हैं। उन्हें शरीर दे सकती हूँ, पर आनन्द कैसे पा सकती हूँ। उनमें उनको कैसे भूलूँ? अपने को कैसे भूलूँ मैं? आनन्द एक भूलना है। गृहस्थी में वह कैसे हो?···

उसके उद्गार यहाँ इस लिखने में समा गये हैं, यह मानने की भूल न कीजिएगा। वह कहती गयी और कहती गयी थी।

जानता हूँ उसकी समस्या का हल मेरे पास नहीं है। उसका पार कहीं नहीं है। इसलिए नहीं कि विवाह विवाह है, प्रेम प्रेम है। विवाह पर गृहस्थ टिकता है, समाज टिकता है। लेकिन हर इकाई के आसपास जो चाहिए, वह जो हरेक

को एक-दूसरे के बीच से प्राप्त करते रहना चाहिए; एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति , एक वर्ग को दूसरे वर्ग और एक अस्तित्त्व को दूसरे अस्तित्त्व के बीच से, वह तत्त्व और भी अनिवार्य है। उसके बिना हर इकाई घुट जाएगी। वह प्राणतत्व है, आत्मा के लिए ऑक्सीजन है। वह प्राणवायु वाताकाश में न रहेगा तो हर साँस के साथ हम क्या लेंगे जो पहुँचकर भीतर क्षण-क्षण संजीवन दे। विवाह पर उसको बन्द कर दो, विवाह मर जाएगा। द्वार-गवाक्ष से आने दोगे तो विवाह का स्वास्थ्य खिला रहेगा।

अप्रैल, 1960.

भाग : दो
नग्नता और सभ्यता

दुराचार-1

इस सभ्यता की उपज वे दसियों मंजिलों के मकान हैं, तो गिजबिजाती चालें भी हैं। दृष्टि का छल है वह जो इन्हें दो दिखाता और बताता है। ये दोनों सिरे परस्पर को थामते और एक हैं। अपने को सभ्य मानने वाले उनसे अलग नहीं हैं जिनको वे गन्दे और कमीने कहकर आँख से बचाते और देखकर अनदेखा कर देना चाहते हैं।

उस रोज जोनल कमिटी की रिपोर्ट में शिकायत थी कि जमुना किनारे बदकारी के अड्डे हैं। घाट पर पड़ी झोपड़ियाँ इस काम में आती हैं। कुछ इन्तजाम होना चाहिए।

इस पर विचार हुआ, बहसें हुई, सुझाव आये। अन्त में मालूम हुआ कि प्रश्न 'ला एण्ड ऑर्डर' का है। हल इसके सिवा दूसरा नहीं कि पुलिस गश्त दे और जब घाट ठहरने के लिए है नहीं तो वहाँ रात में जिसे भी पाये, निकाल बाहर करे।

''फिर वह लोग कहाँ जाएँ?''

''कहीं जाएं। यह सरकार का जिम्मा नहीं है।''

''समाज सेवक कार्यकर्त्ता इसमें कुछ नहीं कर सकते?''

''क्या कर सकते हैं? कर सकते हैं तो पुलिस की मदद से।''

एक महिला नेता ने कहा ''पुलिस का मुझे तो भरोसा नहीं। उसका सब अपराधों में साथ पाया जाता है। केस जो ऊपर आ जाते हैं पकड़ जाते हैं। बाकी बस। पुरुष समाज सेवकों से भी यह काम होनेवाला नहीं है। उनके बारे में शक पड़ जाता है। काम यह स्त्रियाँ कर सकती हैं।''

''अच्छी बात है। लेकिन कौन स्त्री रात के अँधेर में जाएगी?''

''पुलिस साथ हो सकती है।''

"फिर पुलिस!"—और लोग हँसे।

ऐसे बात इधर-उधर झूलती रही। अन्त में तय पाया कि एक रोज पुलिस दस्ते के साथ ऐन वक्त पर मौके पर जा धमका जाएगा।

अध्यक्ष ने इस बीच एक दिलचस्प बात सुनाई। कहा कि कुछ महिलाओं ने एक बार सुधार का काम शुरू किया। स्त्रियों को दस्तकारी सिखाई जाने लगी कि वे पेशा छोड़ें और मेहनत की कमाई का रास्त पकड़ें। डेढ़ से दो रुपये तक की आय का साधन इस प्रकार स्त्रियों के लिए तनिक यत्न से हो सकता है।

यह प्रस्ताव एक के सामने रखा गया। वह बोली—दो रुपया? दो रुपया रोज तो मेरा शराब का अपना खर्च है!

मतलब, सुधार की बात बेकार निकली।

मुझे भी एक अवसर की याद है। इस क्षेत्र में काम करनेवाली एक संस्था के विचार के लिए गोष्ठी की। श्रेष्ठ लोग थे, उनके सामने संस्था ने अपने काम का ब्यौरा रखा और सहयोग सहायता की माँग की। काफी संख्या में ऐसी स्त्रियों को शिल्प की शिक्षा दी गयी थी और बताया गया वे काम-धन्धे में लग गयी हैं। अब दो रुपये या इससे अधिक भी काम करके वे कमा लेतीं और इज्जत की जिन्दगी बिताती हैं।

संस्था स्त्रियों की थी। सदस्याएँ सब इज्जतदार थीं। मेरे पास कहने के लिए कुछ न था। विवश हुआ तो यही कहा कि डेढ़ रुपया रोज कमा सकने की हालत इज्जतदार है—क्या इस बारे में उनको या हमको सन्तोष है? यहाँ जो हैं डेढ़-दो हजार से कम अपने ऊपर खर्च करनेवाली आप लोग नहीं हैं। इज्जतदार होने के लिए अगर हमसे उदाहरण लेकर वे स्त्रियाँ चालीस-पचास पर सन्तुष्ट न हों तो इस पर क्या हमको विस्मय करने का हक होगा? इज्जत के लिए क्यों हरेक की यह कोशिश नहीं होगी कि उसकी आय कम-से-कम एक हजार तक तो बढ़े। उसे बढ़ाने के जो और जैसे साधन किसी को आसपास दीखेंगे उनसे बचने का बताइए कारण क्या रह जाता है? कारण बेइज्जती ही तो है। लेकिन इज्जत तो पैसे से बनती दीखती है!

इस तरह उलझन बन आती है। असल में जरूरत है समाज में जीवन के उस नमूने की जो भरपूर हो, जिसकी इज्जत हो, जिसमें क्षमता हो, फिर भी पैन्तालीस-पचास मासिक पर उसकी गुजर-बसर हो जाती हो। वह नमूना पहले था; गाँधी के वक्त फिर समाज में पैदा हुआ। लेकिन अब उठता जा रहा है। आदर्श के तौर पर वह उदाहरण अगर समाज में बिलकुल नहीं रह जाएगा तो ऊपर से किये जानेवाले सुधार के प्रयत्न कितना फल ला सकेंगे? कारण, तब नीति दोहरी हो जाएगी। सुधार सिखानेवाले हजारों मासिक खर्च के स्तर पर रहने को

एक नीति मानेंगे और प्रसन्न होंगे। सुधार जिन्हें सिखाया जाता है, उनसे प्रत्याशा होगी कि वे हाथ के काम से चालीस-पैंतालीस कमाकर सुख-सन्तोष में रहना सीखें। यह बात बननेवाली नहीं है।

यहाँ थोड़ी परिस्थिति के विश्लेषण में जाएँ। कुछ लोग रुपया देते हैं, यानी कुछ खरीदते हैं। दूसरे उसे लेते अर्थात् कुछ बेचते हैं। इन दोनों के योग और सम्पर्क के लिए बीच में दलाल है। ठेकेदार भी हैं। तो इस व्यापार में जो बात आपत्ति की रह जाती है, वह यह है कि बिकनेवाली वस्तु यहाँ और कुछ नहीं; शरीर है।

इस व्यापार विक्रय को यदि हम सिर्फ इस आधार पर रोकना चाहें कि छिः छिः, शरीर के उपयोग से पैसा कमाना कितना नीच काम है तो स्पष्ट है कि वह काफी नहीं होगा; काफी नहीं हो रहा है। भावुकता का बाँध क्रमशः कमजोर पड़ रहा है। बौद्धिकता बढ़ती जाती है और यह व्यापार अब ऊँचे स्तर पर चलता है। लिया और दिया जानेवाला रुपया हजारों तक जाता है, तो बौद्धिक विवेक को वह सहर्ष स्वीकार्य हो जाता है। तब वहाँ लज्जा का भी विषय कोई नहीं समझा जाता। भावुकता कुछ कहे, लेकिन समाज सम्मान देता है। लोकमत बनाने और प्रकट करनेवाला प्रेस इस विभूति और महिमा को सिर-आँखों लेता है।

तब प्रश्न का रूप बदल जाता है। मालूम होता है कि आदान-प्रदान की रकम जब थोड़ी है, स्थान फैशनेबिल नहीं मामूली है, शरीर के दान-आदान में एक लज्जा-संकोच का भाव है, तब जैसे वह सामाजिक कलंक है। यदि राशि अधिक है, लज्जा की जगह गर्व है, स्थान माननीय है तो वही व्यापार महिमा से मण्डित हो जाता है!

किन्तु उस पहलू को छोड़िए। यथार्थ को लीजिए। क्यों है कि देने को पैसा है, और पैसे की गए है—सिर्फ इतने के लिए कि स्त्री-पुरुष को परस्पर की प्राप्ति हो!

मेरा मानना है यह कि यह गहरा प्रश्न है और ऊपरी रोकथाम के वश में आनेवाला नहीं है। पत्तों-पत्तों का जो इलाज करते हैं, जड़ को छोड़ते हैं, उन्हें अपने उपदेश के धन्धे से रोका नहीं जा सकता। लेकिन जिनमें व्यथा है और जो अहंमन्यता के चक्कर में रहना नहीं चाहते, वे ऊपर से इस समस्या को नहीं लेंगे और जल्दी से सुधारक बनने की लालसा में नहीं पड़ेंगे। हमको सुभीता है, फुरसत है, सफेदपोश हैं, क्योंकि आमदनी अतिरिक्त है। हम क्लब जा सकते हैं और सभाएँ बना सकते हैं। प्रस्ताव और दौरा कर सकते हैं, फण्ड पा और उठा सकते हैं। इससे बड़ा आसान है कि हम सुधरे हुए रहें और दूसरों को सुधारने का शौक फरमाएँ। लेकिन मुझे इसमें सन्देह है कि इस वृत्ति से समस्या निपट सकती है।

ऊपर की सभा में निश्चय हुआ कि पुलिस लेकर धावा बोला जाए और उन्हें खदेड़ दिया जाए। यह आसान है। व्यवस्थापक के मन को अवश्य इससे कुछ चैन मिलेगा। शायद कुछ राहत होगी। पर समस्या निपटेगी, इस भ्रम के लिए अवकाश नहीं है।

समस्या के निपटारे के लिए गहरी व्यथा-वेदना का संचय पहले जरूरी है। क्या हम मानते हैं कि वे हमारी बहनें, माताएँ, बेटियाँ नहीं हैं? एक ऊपरी संयोग का सहारा हम न लें। सच मानिएगा कि अगर रिश्ते में वे हमारी सगी नहीं हैं तो भी हमसे विलग नहीं हैं। जरा सहानुभूति से देखें तो पहचाने बिना हम न रहेंगे कि हम खुद इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं!

क्या हम उस सभ्यता के अंश नहीं हैं जो गाँव से और घर से उठाकर आदमी को शहर में खींचे लिए जा रही है, जो आदमी को ऐसे चक्कर में डाले रखती है कि उसे अपने अस्तित्त्व के संघर्ष से साँस नहीं मिलने देती है। लाखों लाख आदमी शहर में इकट्ठा हुआ जा रहा है। अधिकांश उसमें हैं कि जिनके नाते-रिश्ते टूट गये हैं। घर-बार उनका है नहीं। जड़ से वे उखड़े हैं। कर्त्तव्य सिमटकर उनका अपने अस्तित्त्व तक रह गया है। पैसा एक अकेला साधन है उन्हें साँस लेने का। वह देखिए, एक मजूर है जिसके पास हाल कमाये दो रुपये हैं। पीछे और कुछ दीखेगा, पहले वह अपने को ठर्रे में भूलेगा। बाकी में चाहेगा कि और भी रहा-सहा अपने को चुका डाले। यह अपने पर खुद भारी पड़नेवाली बिरादरी शहर में कम नहीं है। उनके पास पैसा इतना कम होता है कि होते ही उड़ा डाले बिना उनसे नहीं रहा जाता। अतीत से वे टूटे हैं, भावी से वे डरते हैं। बस पैसे को लेकर वे वर्तमान की ठेठ तक चूस लेना चाहते हैं।

इस सभ्यता की उपज वे दसियों मंजिलों की हवेलियाँ हैं तो गिजबिजाती चालें भी हैं। दृष्टि का छल है वह जो इन्हें अलग दिखाता और बताता है। ये दोनों सिरे परस्पर को थामते हैं और एक हैं। अपने को सभ्य माननेवाले उनसे अलग नहीं हैं जिनको वे गन्दे और कमीने कहकर आँख से बचाते और देखकर अनदेखा कर देना चाहते हैं।

इस सभ्यता ने जो निर्माण किया है, उसमें पैसे की अतिशयता और पैसे का अभाव दोनों बराबर पैदा होते हैं। दोनों साथ चलने को बाध्य हैं। स्तर हैं जहाँ यह नहीं सूझ पाता कि पैसे का क्या करें। बखेरते हैं, फिर भी वह काफी नहीं बिखर पाता। साथ ही स्थान है जहाँ समझ नहीं आता कि एक पैसा पाने के लिए क्या किया जाए। भीख के लिए हाथ पसारा जाता है, पर पैसा नहीं आता। तन लुट जाता है पर पैसा भी बीच में से लुट जाता है। इस सभ्यता का मान यदि पैसा बन बैठा है तो तर्क की इसमें गलती नहीं है कि आदमी बिकने को तैयार

हो, फिर भी खरीदार में माँग न हो। बेतादाद बेरोजगार हैं जो बिक्री के लिए बाजार में हैं, पर कहीं अपने को बेच नहीं पाते। वेश्या का व्यवसाय सुनते हैं कानूनी नहीं रह गया है। पर जानकर जानते हैं कि बाजार में माल की कमी नहीं है। तोड़ पैसे की है, उसी की माँग है। इसलिए उसकी ही जीत है।

मनुष्य अपने को गिने और दूसरे मनुष्य को भी गिने इस नाते कि वह मनुष्य है, वह इज्जत दे और अपनी इज्जत माने। यह स्थिति आएगी तब जब पैसे का मूल्य मनुष्य से निरपेक्ष और स्वतन्त्र न रहेगा और सभ्यता के केन्द्र में तन्त्र की जगह स्वयं मानव व्यक्ति को स्वीकार किया जाएगा।

□

दुराचार-2

साधु यदि अलग है और गृहस्थ अलग, त्याग एक के लिए है और भोग दूसरे के लिए, इसके लिए अध्यात्म और दूसरे के लिए पदार्थ, तो संयम की वह तीखी रेखा जो ऐसी फाँक बीच में डालती है, जीवन की चौमुखी सम्पन्नता में बाधा भी बन सकती है।

एक विचारशील भाई ने नाराज होकर पत्र लिखा है।

"दुराचार पर आपका मन्तव्य देखा। और भी जहाँ-तहाँ आपकी बातें पढ़ता रहा हूँ। आप अस्पष्ट रहते हैं। मैं दो टूक जानना चाहता हूँ कि संयम के बारे में आपका क्या कहना है। 'संयमः खलु जीवनम्' इस नीति वाक्य को क्या आप अन्तिम नहीं मानते।"

नहीं, मैं अन्तिम नहीं मानता। संयम को मैं मूल्य नहीं मानता। साध्य का वह साधन है। इसलिए साध्य बुद्धि उसमें भी रखें, यह गलत नहीं है। लेकिन अन्त में याद रखना होगा कि वह स्वयंसिद्ध इष्ट नहीं है। परम इष्ट को हमारे यहाँ मोक्ष की संज्ञा दी गयी है। संयम से उलटे वहाँ मुक्ति का भाव है। सत्‌चिदानन्दता है। इस राह में संयम साधक है, यही उसकी उपयोगिता है। जिससे उधर बढ़ना नहीं होता वह संयम भार है। उससे उलटे अनिष्ट हो सकता है।

ऊपर का प्रश्न इसीलिए है कि अनाचार, दुराचार, अत्याचार, व्यभिचार देखा जाता है। अवस्था संकट की है। समाज हिल गया है। मूल्य भ्रष्ट हुए जा रहे हैं। आस्था नष्ट हो रही है। आदमी का आदमी पर से भरोसा उठ रहा है। भरोसा पैसे का रखा जा रहा है। यह स्थिति विचारकों और मनीषियों को परेशान किये हुए है। उनके लिए तो यह स्वर्ण अवसर है जिनके पास कुछ स्वार्थ साधने को है, वे स्थिति का पूरा लाभ ले रहे हैं। लेकिन जो अपने हित की उतना नहीं सोच पाते हैं जितना समाज-हित की बातें सोचा करते हैं, वे व्यग्र और परेशान हैं।

सामान्य भाषा में चलते हैं शब्द अध्यात्मवाद और भौतिकवाद। माना जाता है कि अध्यात्मवाद अपरिग्रह बढ़ाने को कहता है और भौतिकवाद परिग्रह बढ़ाने को। भौतिकवाद में जबकि लाख से करोड़ और करोड़ से अरब-खरब की तरफ दौड़ा जाता है। तब अध्यात्म यह है कि आदमी अपने पास चीजों को उत्तरोत्तर इतना कम करे कि अन्त में दिगम्बर बन जाए। दिशाएँ ही उसके लिए वस्त्र रहें और कुछ उसे चाह न हो।

ये दो प्रवृत्तियाँ सब काल और सब देश में रही हैं। साधु-सन्त, संन्यासी, कवि, कलाकार मानो पदार्थ से पार देखते रहे हैं और उस प्रकार का अभाव अपने आसपास पैदा कर लेते हैं। सरस्वती यहीं से अपना जनम पाती है।

दूसरी ओर लक्ष्मी के वरद पुत्र होते हैं। वे सम्पदा और सत्ता का अर्जन करते हैं, अर्चन और उपभोग करते हैं और उसको पुरुषार्थ मानते हैं।

पहले प्रकार के लोग नीति का दान करते हैं। वे दर्शन और ज्ञान का सम्पादन और वितरण करते हैं। वे प्रकाश देते माने जाते हैं और उनकी कृतियों का अध्ययन और मनन किया जाता है। पर अपने समय में वे संसार के काम के उतने नहीं समझे जाते और कुछ उनसे किनारा ही रखा जाता है।

व्यक्ति और वस्तु से भरपूर इस संसार के व्यवहार व्यापार को सँभालते वे दूसरे लोग हैं जो उनके प्रति कामना रखते और इसलिए परस्पर राग-द्वेष पूर्वक चलते हैं।

यों समस्याएँ पैदा होती हैं और संयम की माँग होती है। आदमी जंगल में नहीं रहता, समाज में रहता है। जानवर के लिए आदर्श मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह अभी मुक्त है। वह पूरी तरह स्वतन्त्र है। बस ताकत चाहिए, फिर कहीं उसके लिए विघ्न-बाधा नहीं है। समाज उस तरह का जंगल नहीं है। इसलिए यहाँ कोई स्वतन्त्र नहीं है। हर एक के लिए सीमा हर दूसरा है और प्रत्येक की एक स्थिति है जिसके चारों ओर परिस्थिति की परिधि है। परिस्थिति वह वेष्टन है, कवच है, छिलका है जिसके भीतर आदमी रहता है, पकता और बुझता है।

इस तरह समाज होते ही व्यवस्था का प्रश्न आता है। स्पष्ट है कि यह व्यवस्था का प्रश्न है और सदा रहनेवाला है। कारण, किसी को बिना सबकुछ पाये पूरा चैन नहीं मिल सकता और पाने की भाषा में किसी को सबकुछ मिले यह सम्भव नहीं है। इसलिए अन्दर की कामना और बाहर की विवशता इन दोनों का संघर्ष सर्वथा स्थायी और शाश्वत है।

अब मुक्ति के दो उपाय सूझते हैं। एक यह कि जो है और जो मिलता है उसमें अपनी कृतार्थता मानना और इच्छामात्र त्याग देना। ऐसा जीव जहाँ है, मगर रह सकता है। दुःख में से सुख पाया जा सकता है। यह एक प्रकार की

साधना है। उस मार्ग पर बहुतेरे चले हैं और अन्त में अलमस्त बनते देखे गये हैं। सम्राट उनके सामने खड़ा हुआ है और उन्होंने उससे माँगा तो यह माँगा कि तू सामने से हट जा, धूप आने दे।

पर मुक्ति की ही चाह यह भी थी कि अलेक्जण्डर, चंगेज खाँ और नैपोलियन जैसे लोग घर छोड़ इधर-उधर लड़ते फिरे। वे मारते गिराते गये कि अनुभव पा सकें कि वह हैं और कहीं कोई विघ्न नहीं है और बाधा नहीं है। वे हैं, और सब हैं।

इन दो राहों के पक्ष-विपक्ष में मुझे कुछ नहीं कहना है। अलेक्जण्डर डायोजनिस बने या डायोजनिस अलेक्जण्डर, इसमें किसी में दुनिया का बड़ा हित नहीं है। डायोजनिस टब में तुष्ट था। अलेक्जण्डर के लिए साम्राज्य भी छोटा था। पर इन दोनों को लेकर दुनिया वहीं की वहीं थी। ब्रह्माण्ड के बीच अनन्त-असंख्य पिण्डों में एक पिण्ड।

उसी जगत् में अपने-अपने स्वभावों को लेकर विचरण करते हुए हम लोगों में संयम का प्रश्न उपस्थित होता है। स्पष्ट है कि संयम अनिवार्य है। जीवन हम जिसको कहते हैं, यानी मेरा तुम्हारा जीवन, वह संयम के बिना टिक नहीं सकता। कहते हैं, चंगेज खाँ मरना नहीं चाहता था। आँख गयी और पाँव गये वहाँ तक वह सबकुछ जीतता गया। लेकिन अन्त की ओर उसे लगने लगा कि यह क्या? क्या मरना ही होगा? उसकी बिलकुल समझ में नहीं आया यह मरना। लाखों लाख को उसने मौत के घाट उतार दिया था। पर ठीक तरह समझ में न बैठा था उसके कि मौत का घाट क्या होता है। वह तो अबतक जैसे मानता आया था कि जिन्दगी के विस्तार में वह सिर्फ विघ्न-बाधाओं का ही नाश करता आया है। मौत यदि उसने दी है तो यह समझकर नहीं कि मौत क्या होती है, बल्कि यह समझकर कि उसकी जिन्दगी के आगे कोई मौत ठहर नहीं सकती। लेकिन यह क्या? क्या जिन्दगी मिटती और मौत आती ही है? उसको किसी तरह विश्वास न हो सका। दूर तिब्बत से उसने योगियों और सिद्धों को बुलाया। उसे विस्मय हुआ यह जानकर कि अमरता उनके पास भी नहीं है। अमरता कहीं है ही नहीं। वह मरते मर गया पर अन्त तक उसकी कुछ समझ न आया!

मरने में कोई क्या कर सकता है। क्या असंयम कर सकता है, क्या संयम यही हो सकता है कि बिलखते न कलपते हुए मरें। या यह कि स्वीकार करते हुए धीरज में मर जाएँ।

मुझे लगता है कि विवशता की स्वीकृति में संयम यदि है तो वह संयम नहीं है।

सच यह कि संयम में कहीं बाध्यता है। पूरी सहजता हो तो शायद संयम

शब्द वहाँ ओछा रह जाएगा।

संयम कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य धर्म से कुछ कम है। धर्म सहज होता और हो सकता है। वस्तु-स्वभाव को धर्म कहा है। स्वभाव की स्थिति में विभाव कोई विक्षेप नहीं है। इसलिए वहाँ संघर्ष भी नहीं है। संयम विभाव के प्रति होता है। यानी स्वभाव में विभाव अभी मिला हुआ है, इसलिए संयम दरकार है।

यहाँ स्पष्ट होना चाहिए कि संयम का दायित्व विभाव के प्रति है। यानी स्वभाव से उसका दखल हो तो यह बड़ा खतरा है।

संयम का जब पन्थ चलता है, उसकी रूढ़ि बँधती है, तो यह खतरा समाज के मानस में उपस्थित होता है। अर्थात् संयम से विभाव को ही नहीं बचाया जाता है, बल्कि स्वभाव को भी कुचला जाता है। कायक्लेष में सुख माना जाता है। आनन्दमात्र से भय लिया जाता है। त्याग में से हठात् आसक्ति की तृप्ति खोजी जाती है। वैराग्य में गर्व होता है। व्यक्ति इतना साधु बनता है कि सेवक रह नहीं जाता। प्रेम उसे सिद्धान्त होता है, संवेदन नहीं।

मुझे आशंका है कि यह आग्रह भोगपन्थ को उद्दीपन देता है और समग्रता की कुछ हानि करता है। मानो वह जीवन को विभक्त और कर ह्रस्व करता तो, उसे परिपूर्णता न देता हो।

साधु यदि अलग है और गृहस्थ अलग, त्याग एक के लिए है और भोग दूसरे के लिये, इसके लिए अध्यात्म और दूसरे के लिए पदार्थ, तो संयम की वह तीखी रेखा जो ऐसी फाँक बीच में डालती है, जीवन की चौमुखी सम्पन्नता में बाधा भी बन सकती है। क्योंकि तब उसके आगे साध्य कुछ नहीं रहता। मानो अवसर मिलता है कि वह अपने को ही परम साध्य मान ले।

अक्टूबर, 1959.

नग्नता और सभ्यता

कोई होता है जिसके प्रति हम अपने को ढकना चाहते नहीं; खुल आते हैं और प्राण-स्फूर्ति पाते रहते हैं। अभागा है वह कि जो कहीं खुल नहीं पाता। ढका-ढका ही जो रहता है, कहीं जिसे सुविधा नहीं है कि लज्जा और ग्लानि से मुक्त होकर अपने को सर्वथा खोल रहे, वही प्राणी है जो अपने को घोटकर मारता है; नहीं यह कर पाता तो अपने को विक्षिप्त कर लेता है।

प्रश्न पूछा गया, 'तुम नग्नता को मानते हो?'

'हाँ, और आप नहीं मानते?'

'नहीं।'

यह 'हाँ' और 'नहीं' वाले दोनों बात करते समय कपड़े पहने हुए हैं। दोनों नहाते समय कपड़े उतार देते हैं। इसमें उनकी हाँ और नहीं से अन्तर नहीं आता। कपड़े जहाँ उतारे रहना जरूरी होता है, वे उतारते ही हैं। जहाँ पहनने से चलता है, वहाँ पहने जाते हैं। फिर यह हाँ-नहीं क्या?

इस पर लड़ाई तक हो सकती है। जैनों में दो वर्ग हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। उनमें लड़ाई हो जाती है। अन्तर विशेष नहीं है, क्योंकि दोनों जैन हैं। एक तीर्थंकर, एक धर्म, एक तत्ववाद। फिर भी मानने की लड़ाई है। उसे दूसरे कैसे समझें!

असल में ज्यादातर मतभेद शब्द को लेकर होता है। व्यवहार के क्षेत्र में सुविधा यह है कि शब्द वहाँ एक अर्थ देते हैं। व्यवहार से उठाकर विचार के क्षेत्र में पहुँचा देने से शब्द वस्तु-बोध से छूट जाते हैं। वहाँ वे धारणात्मक बनने लग जाते हैं। इससे विचारक तो कभी नहीं मिल पाते; जबकि व्यवहारी अपने विविध और विरोधी स्वार्थ रखकर भी अनेकानेक आपस में मिला-जुला कारोबार चला ले जाते हैं।

हम सभ्यता में इतने रहते है कि नग्नता में हमारे लिए असभ्य ध्वनि हो आती है। सभ्यता प्रकटतः वस्त्र-निर्भर है। वस्त्र जैसे संयम के द्योतक हैं और बिना संयम और मर्यादा के सभ्यता की कल्पना नहीं हो सकती। मानो अन्तरंग संस्कारिता की वे मर्यादाएँ बाहर सभ्यता में आकर वस्त्र में मूर्त होती है। अन्दर जाने क्या-क्या है, वाणी में सबकुछ फूटकर बाहर आये तो उससे फूहड़पन प्रकट होगा। वही वाणी विवेकपूर्ण होकर प्रिय लग आती है और साहित्य बनती है। उसी तरह आवश्यक होता है कि शरीर का सबकुछ हठात् प्रकट न हो। शरीर, विवेक-अर्थात् शरीर पर आवरण धारण का विवेक।

वस्त्र की वह संस्था लगभग उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं पुरुष है। पशु को यह परिग्रह मिला नहीं। यह उसे बहुत कुछ अनावश्यक भी है। शरीर में उसके क्षमता है, ऋतुओं को अनुकूलता से वह सह सकता है। शरीर उसके पास बस है, न उसमें गर्व है न लज्जा है। क्षमता और उपयोगिता उसमें जितनी है, उसको लेकर पशु निश्चिन्त हैं।

आदमी का हाल दूसरा है। प्रकृति की ओर से शरीर उसको आवश्यकता से कम मिलता है। जैसे प्रकृति को अपेक्षा हो कि इस कमी को अपनी ओर से वह स्वयं पूरा करेगा। यह कमी उसमें बुद्धि उपजाती है, या कहो बुद्धि के कारण और साथ यह कमी होती है। जो कहो, वह शरीर को पाता ही नहीं है, अपनी ओर से उसे बनाने सँवारने की आवश्यकता भी पाता है। उसमें कुछ है कि शरीर पर वह गर्व अथवा ग्लानि मान सकता है। उस पर रीझ सकता है या खीझ सकता है। उसकी छिपाने क़ी और छिपाकर उघाड़ने की सोच सकता है। यह सब आदमी के साथ इसलिए सम्भव है कि उसके शरीर से कुछ अलग भी है। वह कह सकता है। मेरा शरीर, अर्थात् शरीर वह नहीं है; उसका है, उसके पास है। शरीर के प्रति यह जो भेद का सम्बन्ध उसके लिए सम्भव है, उसी में से सभ्यता और संस्कारिता की सम्भावना निकली है। उद्यम निकला है, संगठन निकला है, सहयोग निकला है। उसी में से यह चक्रव्यूह बन आया है, जिसे समाज और सभ्यता कहते हैं।

निश्चय ही यह प्रगति है। द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय की यह पृथकता प्रगति का सोपान ही है। पशु जो है, है। मनुष्य जानता है कि मैं यह हूँ, यह नहीं हूँ, वह होना चाहता हूँ। अपने होने को वह जानता है। यही उसके होने की मानवीय विशेषता है।

एक प्रसंग याद आता है। सन् '30 रहा होगा। हम जेल में थे। वहाँ एक सम्भ्रान्त बुजुर्ग सज्जन का भी आना हुआ। सारा जेल स्पेशल क्लास कैदियों का

था। लेकिन स्नानागार कोई नहीं था, बाहर खुले नल थे। माँग हुई कि स्नानागार भी कुछ होने चाहिए। उस माँग से बुजुर्ग सहमत थे। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ नग्न स्नान की सुविधा होती है, तो यह बात उन्हें और समझ नहीं आयी।

कहा गया, 'स्नानागार बन्द है तो नग्न स्नान में क्या कठिनाई है?'

'लेकिन स्नान नग्न हो कैसे सकता है!'

'क्यों नहीं हो सकता?'

'धोती उतारकर कैसे नहाया जा सकता है। नहीं, नहीं, यह नामुमकिन है।'

उनके साथ तर्क ने काम नहीं दिया। धोती के बिना वह अपने को या किसी को कल्पना तक में लाने से सहसा घबरा आते थे। यह कि चारों तरफ गुसलखाने की दीवारें होंगी, दरवाजा बन्द होगा, उनको ढाढस नहीं दे पाता था। 'अरे, तो होगा; पर धोती खोलना—यह कैसे हो सकता है।' '···अजी निगाह तो किसी की न होगी तब। क्यों, उसकी खुद आँखें न होंगी।'

इस भाँति नग्नता को स्वयं अपने प्रति स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई होती थी। निश्चय है कि बिना धोती के स्नान करना उनके लिए सम्भव न हो सकेगा। दूसरे के भी लिए वे सम्भव नहीं मान पाते थे।

तो अपने सम्बन्ध में हमें स्वयं आवरण की जरूरत रहती है। प्रकाश नहीं चाहते, ढकाव चाहते हैं। सामना नहीं चाहते, बचना चाहते हैं। यह ढकाव और बचाव सभ्यता के विकास के लिए बहुत उपयोगी हुए हैं। वे सर्वथा तर्जनीय और वर्जनीय नहीं हैं। बड़ा काम देते आये हैं, इतना कि जो नग्नता पशु के लिए सहज है, मनुष्य के लिए कष्टसाध्य हो आई है।

इसको कि नग्नता से हम बचते और बचाते हैं। मैं मनुष्य के लिए शोभा और उत्कर्ष की बात ही मानता हूँ। उससे प्रमाणित है कि हम होकर ही सन्तुष्ट नहीं हैं, उठना भी चाहते हैं। समय हमारे लिए वर्तमान क्षण ही नहीं है, वह एक निरन्तरता है, उसमें व्यतीत बीतता और अनागत आता भी है। तो यह जो अवर्तमान है, जो है से पहले है और आगे है, उसको हम शरीर से नहीं छू पाते हैं, मानसिकता से ग्रहण करते हैं। अर्थात् अपने में से कुछ को हम निन्दनीय ठहराते और कुछ और को वन्दनीय मानते हैं। ऐसे हम उन्नति और प्रगति करते हैं। हमारे इस शरीर रूपी यन्त्र में ही वह प्रक्रिया है जो हमारे अन्दर आवश्यक तनाव पैदा किये रहती है; वर्तन और वर्जन के भाव पैदा करती है। यह मानसिकता मनुष्य की थाती है। पशु स्वयं से भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य इधर देव तो उधर राक्षस बन सकता है। स्वयं अपने को लाँघ जाने की यह क्षमता उस मनुष्य की

मानसिकता को प्रकट करती है। 'मैं नग्न हूँ, अच्छा मैं वस्त्र का निर्माण करूँगा ···। मैं सभ्य हूँ, अच्छा तो मैं अब वस्त्र का परिहार करूँगा।' यह सब अतिक्रमण का भाव मनुष्य में ही सम्भव है। इस मानसिकता के व्यूह में से पार होकर ही मनुष्य सहज बनेगा। अन्यथा सहजता को स्वयं वह अशिष्ट और असभ्य ठहरा लेगा।

मनुष्य की यह भटकन नितान्त वृथा न मान ली जाए। शिशु से आरम्भ करके अन्त में जो सन्त फिर शिशु होता है, सो इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है और उतना ही है जितना भूखे की भूख और व्रती के उपवास में है। उपवास का पुण्य वह जान नहीं सकता जो भूखा है। भूखे के लिए खाने के रस से बड़ा कोई रस नहीं। उससे जो अघा गया है व्रत की महिमा. वही पहचानता है।

इस तरह नग्नता को मैं बहुत महत्त्व की स्थिति मानता हूँ। नग्न ही नहा पाता है। अन्यथा स्नान अधूरा है। सत्य के अमृत से सृष्टि यह लहलहा रही है; लेकिन वह हमें छूता नहीं, हमको पवित्र और अमर नहीं कर पाता। क्योंकि हम पर लिपटाव है और निर्वस्त्र हम हो नहीं पाते। आवरण रखते हैं कि सृष्टि से हम छिड़े-भिड़ें नहीं और सत्य में मिले नहीं। अपने इस झीने से आवरण की क्षमता पर हम गर्व मानते रहते हैं। इतना बड़ा सूरज, लाखों-करोड़ों योजनों से हम तक चला आनेवाला उसका प्रकाश, लेकिन जरा आँख मूंदने पर हम उस सबको समाप्त कर देते हैं। जब तक पलक ढकने को हमारे पास है तब तक सत्ता हमारी बड़ी हो रहती है, अपना सारा प्रकाश देकर सूरज छोटा ही रहता है। यही क्षमता हमारे वस्त्र में है। यों तो क्या उसकी हस्ती है। पर मोह डालकर हम उसे बीच में क्या लेते हैं कि सच से अपने को सुरक्षित कर लेते हैं। फिर क्या सत्य और क्या उसका प्रकाश—सब हमसे परे ही रहता है और हम अपने में आवृत्त और निभृत रहे चले आते हैं।

मनुष्य जगत् में मूर्धन्य है। वह श्रेष्ठ है, विभु है, प्रभु है, कारण, सवस्त्र है।

तमाम ब्रह्माण्ड में बताइए कहीं और भी वस्त्र है? चाँद पर, तारों पर, सूरज पर, वायु पर, व्योम पर है? कहीं पर्दा है, रोक है? कहीं भी और नहीं है, एक मनुष्य ने वस्त्र का आविष्कार किया है। किया है कि वह जगत् को देखेगा, सिर्फ अपने को नहीं देखेगा। कि अनिष्ट को, अप्रीतिकर को, अरुचिकर को ढक देगा और उसी को लेगा जो प्रिय है और इष्ट है।

पुरुष की यह प्रभुत्ता उससे छिन जाती है अगर वस्त्र उससे छूटे रहते हैं। इससे सबसे बड़ा डर रहता है उसे अपनी नग्नता का। सबसे बड़ी निर्लज्जता भी

उसके लिए यही है। लाख-लाख प्रयत्नों से वह अपने को ढकेगा और ढका रखेगा। वह नहीं पकड़ाई देगा अपनी ही यथार्थता को दूसरे किसी के हाथों। वह यों ही अपने स्वाभिमान को सुरक्षित और उद्ग्रीव रखेगा। क्या सच होता है और क्या झूठ। उसके स्वमान के आगे कुछ और है क्या। अत: वस्त्र की लपेट आवश्यक है, यह ड्राइंग रूम आवश्यक है, दुर्ग आवश्यक है, और भी बाहर प्राचीर आवश्यक है। फिर चारों ओर के लिए मिथ्या का सूक्ष्म पटल आवश्यक है। आवश्यक है कि इन सब तहों की लपेट चारों ओर से वलायित होकर उसे केन्द्रीय अभिमान में स्वप्रतिष्ठ रखे।

यह मनुष्य का स्वमान सभ्यता के निर्माण में सबसे मूल्यवान रत्न है। पत्थर हो, फिर भी रत्न है। उसको लेकर वह सचराचर सृष्टि पर अपने को शीर्षस्थ अनुभव कर आता है। किन्तु इस चरम स्वास्थ्य के पार ही नग्नता के स्वाद का स्थान आता है। झुका अपने को वह सकता है जो सफल हो लेता है, लुटा वह सकता है जो सम्पन्न हो चुकता है। उसी भाँति पर को और सबको अपना वह सकता है जो आत्मवान हो जाता है। ढकना किसके प्रति? उघड़ना किसके प्रति? जिसकी आत्मता सिद्ध हुई, उसके लिए भिन्नता कहाँ रही। दिशाएँ उस पर नहीं, उससे होती हैं, इससे वह दिगम्बर स्वरूप है।

मैं नहीं जानता कि क्या बात है। क्या यह है कि जन्म से दिगम्बर जैन परम्परा में पला हूँ। जो हो, लेकिन दिगम्बरता के आदर्श की पकड़ मन पर से छूटती नहीं है। जितना सोचता हूँ जान पड़ता है जिसको आत्मता में नहा आना है, उसे नग्नता के डर को पहले उतारे रहना है।

होगा कुछ जो कुत्सित है, घृण्य है, जुगुप्सा और लज्जाजनक है। पर कुत्सा और घृणा और जुगुप्सा और लज्जा ब्रह्माण्ड में कहीं और से नहीं आती हैं, हमारे अपने मानस में से उपजती हैं। ब्रह्माण्ड निरावरण है, आवरण छोड़कर ब्रह्माण्ड के प्रति खुल आयें तो कहाँ रहता है वह सबकुछ जो कदर्य है। हवा अणु-अणु को सिहराती हुई हममें से छनती पार हो जाती है और कोने-कोने को पुलक से भर आती है।

ऊपर की स्थिति परमहंस और परमतीर्थ की ही चाहे हो, पर नग्नता का तत्त्व किसी-न-किसी अंश में हमारे जीवन में काम करता रहता है, तभी हम जीवित भी बने रहते हैं। कोई होता है जिसके प्रति हम अपने को ढकना चाहते ही नहीं, खुल आते हैं और वहाँ से प्राणस्फूर्ति पाते रहते हैं। अभागा है वह कि जो कहीं खुल नहीं पाता। ढका-ढका ही जो रहता है, कहीं जिसे सुविधा नहीं है कि लज्जा और ग्लानि से मुक्त होकर अपने को सर्वथा खोल रहे, वही प्राणी

है जो अपने को घोटकर मारता है; नहीं यह कर पाता तो अपने को विक्षिप्त कर लेता है।

वह सभ्यता जो आवरणों के निर्माण में दत्तचित्त रहती है कि नग्नता से उद्विग्न आये, उसका भगवान ही मालिक है। क्योंकि अनिवार्य है कि उल्लंग बर्बरता का उसमें से जन्म हो।

और क्या आज की सभ्यता के ओर और छोर पर यह दोनों मुखड़े साफ नजर नहीं आ रहे हैं?

मई, 1960.

अश्लील की रोकथाम

स्त्री और पुरुष के मध्य जो आकर्षण है वह परस्पर उन्हें आत्मदाह में मिलाये बिना रह नहीं सकता। यह आत्म-विसर्जन और आत्मदान की अनिवार्यता मूलगत और टिकनेवाली है। यह अब मनुष्य पर है कि उसे अध्यात्म वृत्ति से लेकर उपयोगी करे, या तिरस्कार के भाव से अवहेलित करे।

कई बार पूछा गया है कि अश्लीलता की रोकथाम के लिए क्या किया जाना चाहिए। साहित्य में है, सिनेमा में है, विज्ञापनबाजी में है, समाज तक में उसका प्रदर्शन है। चरित्र बिगड़ रहे हैं। मर्यादा के तन्तु झीने पड़े जा रहे हैं। सारी संस्कृति छिन्न-विच्छिन्न हो रही है। बताइए क्या हो?

मेरा काम बताना नहीं है। लेखक का यह काम होता भी नहीं है। उपदेशक दूसरे जन होते हैं। वे पुरुष अधिक गम्भीर और समर्थ होते हैं। लेखक असमर्थ होता है, या कि होना चाहिए। असमर्थ का आशय कि नेतृत्व नहीं ले सकता। वह चलाता नहीं है, मानो साथ चलना चाहता है। साधु के भी साथ, दुष्ट के भी साथ। कोई उसका अपना अलग मार्ग नहीं है कि सच्चा मानने की वजह से उस पर सबको चलाना चाहे। सब अपनी-अपनी राह चल रहे हैं। भीतर सभी अकेले हैं और निस्संग। राह अकेले दूभर होती है, पर क्या करें। लेखक यहीं सबके साथ को उद्यत होता है। किसी का यह वाद है, दूसरे का दूसरा वाद है। एक धर्म, अथवा इतर धर्म। अमुक मत अथवा पृथक् मत। इस सबके बीच लेखक वह है जिसका अपना कुछ नहीं है, किसी की मति अथवा मत को वह अपने लिए नहीं माँगता। इससे सहानुभूति उसके पास मुक्त है कि सबको दे। अतः वे दया नहीं करते हैं जो लेखक से मार्गनिर्देश चाहते हैं। चाहते हैं कि अपना हाथ उसके हाथ में दे दें और ऐसे अपना खटका टाल दें। नहीं, लेखक वह प्राणी नहीं है। मैं तो हूँ ही नहीं।

अश्लीलता की रोकथाम वाला काम जरूरी न हो सो नहीं। ऐसा हो तो सरकार को या नेता को करने को क्या रह जाए। जो कुछ वे करते हैं जरूरी ही होता है। लोकहित में करते हैं और अनिवार्य होता है तभी करते हैं।

पर अपना-अपना स्वधर्म है। सच में रोकथाम कर पायेंगे वे जो अश्लील को जानते होंगे। उसका ठौर-ठिकाना जानते होंगे, उसके तौर-तरीके जानते होंगे। मुझे उस सबका पता नहीं है।

लेकिन एक मित्र के घर की बात है। एक दिन पुस्तक तकिये के नीचे ही रह गयी। यों ताले में रहती थी। तकिये के नीचे से कन्या के हाथ आयी। वहाँ से इधर-उधर वालों की निगाहों में भी पड़ी। मित्र परेशान थे। पुस्तक अश्लील थी। लेकिन उसका ताले में और तकिये में रखना क्या था? मैं तो मानता हूँ कि यह ही अश्लील था। कह सकते हैं कि यह था इसलिए पुस्तक अश्लील थी।

आप दुकान पर जाइए, आपको अमुक पुस्तक की आवश्यकता है। पुस्तक वह आप कहीं सामने नहीं देखेंगे। बेझिझक पुस्तक नहीं माँगेंगे। एकान्त होने पर मुस्कराकर संकेत से कहेंगे। वह भी ढके-दबे पुस्तक आपको देगा। या हो सकता है कि पहल उसकी ओर से हो। तब वह इशारों में भाँपेगा और पूछेगा। ···यह गुप्त व्यवहार और व्यापार, आप मानिए, अश्लीलता है।

अश्लीलता की सृष्टि कहाँ से है, मैं जानना चाहता हूँ। प्रेम में से है? लेकिन प्रेम तो पवित्र है। काम में से है? लेकिन काम को विवाह में अभिमन्त्रित करके तो हमें गृहस्थ आश्रम प्राप्त होता है; माता-पिता प्राप्त होते और शिशु प्राप्त होता है। कितने उछाह से और, स्नेह से बुजुर्ग लोग नवदम्पती की सुहागरात की व्यवस्था करते हैं। क्या कहीं भी उनके चित्त में मैला रस होता है। उन सबके हृदयों में तब प्रसन्न और प्रशस्त भाव हिलौर लेता रहता है।

तब अश्लीलता की सृष्टि है, तो कहाँ है? आकर्षण स्त्री और पुरुष को अपने बीच निसर्ग से प्राप्त हुआ है। उसको काव्य ने सजाया-सँवारा है। यहाँ तक कि धर्म ने महिमामण्डित किया है। उन रचनाओं को हम मस्तक झुकाते और कृतार्थ अनुभव करते हैं। यह आज कुछ जन चाहे कह उठे हों, पर कभी किसी ने इसमें जुगुप्सा का अनुभव नहीं किया है।

प्रकृति में तो अश्लीलता हो नहीं सकती। सत्य में उसे स्थान कहाँ है। ईश्वर की ओर से वह आ कैसे सकती है। फिर भी मानना होगा कि वह है। प्रश्न है कि कहाँ से है?

बहुत पहले इस पर चर्चा चली थी। एक माने हुए नीति-विचारक ने परिभाषा दी थी, जो वीर्य-वमन को उत्तेजन दे, वही अश्लील।

मैं उसकी याद करता हूँ तो जैसे अश्लीलता की गन्ध पा जाता हूँ। मुझे वह परिभाषा स्वयं अश्लील जान पड़ती है। शायद उन नीति-विचारक ने माना हो कि वह निर्भीक वैज्ञानिक हो रहे हैं, जब इस परिभाषा को प्रस्तुत कर रहे हैं। लेकिन उन शब्दों में मुझे प्रकृति के स्वीकार से भय मालूम होता है। वीर्य-वमन शब्द किसी मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक नहीं है।

स्त्री और पुरुष के मध्य जो आकर्षण है वह परस्पर उन्हें आत्मदान में मिलाये बिना रह नहीं सकता। यह आत्मविसर्जन और आत्मदान की अनिवार्यता मूलगत और टिकनेवाली है। यह अब मनुष्य पर है कि उसे अध्यात्मवृत्ति से लेकर उपयोगी करे, या तिरस्कार के भाव से अवहेलित करे।

एक मानसिकता है जो संसार में मलिनता ही देखती है। इसलिए वह परम निर्बलता को कहीं किसी अपरलोक में प्रतिष्ठित करने में तृप्ति पाती है। संसार उन्हें हेय है; उपादेय है वह मोक्ष जो एकदम दूर और कहीं अलग है। ऐसे वह संसार को और शरीर को काट-छाँटकर निर्मल आत्मकैवल्य प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

ओह, इसकी दृष्टि पड़ गयी, गजब हो गया।···वह छू गया, नहाओ। ···शूद्र है, छिः छिः, हटाओ।···यह मन्दिर है, शिव शिव, अस्पृश्य न आ जाये! ···यह क्या, आप कमरे में अकेले थे? ओह, एकान्त में और स्त्री से बात! यह सब उद्‌गार जिस मनोदशा के द्योतक हैं, उसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता।

एक मोरल रिआर्मामेण्ट नाम का आन्दोलन है। मैं स्वयं मोरल का कायल हूँ। मानता हूँ कि जिससे ब्रह्माण्ड और संसार टिका है, हम टिके हैं, वह नियम नैतिक हैं। अतः कोई आन्दोलन नैतिकता का हो तो मुझमें उसके प्रति अभिलाषा जागे बिना रहती नहीं। लेकिन स्विटजरलैण्ड में इन बन्धुओं के बीच रहने का अवसर आया तो अजब अनुभव हुआ। बाकी सब बहुत ठीक, बहुत स्निग्ध, बहुत सौजन्यपूर्ण था। व्यवस्था ऐसी कि आदर्श। व्यवहार मीठा कि मिसरी। पर जैसे आदमी और आदमी के बीच वृत्ति में वहाँ संशय और अविश्वास हो। जैसे हर दो का काम यह हो कि वे एक-दूसरे की त्रुटि को पायें। जैसे एक-दूसरे पर नैतिक पहरेदारी रखना कर्त्तव्य हो।

पहुँचने के तीसरे रोज मेरे साथी ने मुझे कहा कि यह उनकी रात सही नहीं बीती। सदोष रही और बेचैनी रही।

साथी कोई पैंतालीस-पचास के बीच के अँग्रेज सज्जन थे। बहुत ही सदाशय, उदार, योग्य। बेहद तत्पर और परायण। मित्र की दृष्टि से नम्र और सेवाभावी। बड़े डॉक्टर थे और ऊँचे ओहदे पर रह चुके थे।

अपनी बात कहकर उन्होंने मुझसे पूछा। मुझे किसी तरह का कष्ट इन तीनों

रातों में अनुभव न हुआ था। मैंने यही कह दिया।

कहने पर उनके चेहरे को जो मैंने देखा तो मुझे गहरी सहानुभूति हुई। जैसे उन बेचारे को वंचित रखा गया हो। उन्हें आशा थी कि दोष मिलेगा। पर तीनों रातें मेरी निर्विघ्न नींद की बीती थीं। अपने साथ का क्या दोष उन्हें ढूँढ़कर दूँ? वह कम्बख्त नींद ही ऐसी गहरी आई थी। उस समय उन बन्धु के चेहरे की निराशा देखकर मुझे लगा कि जैसे यह मुझसे पाप हो गया हो कि मैंने तीनों रातें निर्दोष बीतने दीं। एकाध दिन तो स्वप्नदोष होना ही चाहिए था। दोषी बनकर ही मैं उन्हें तृप्ति दे सकता था। उनकी आशा पूरी नहीं कर सका तो जैसे यह मेरे लिए बड़े ही खेद की बात थी!

नैतिकता का ऐसा आग्रह जो हर कहीं अनीति सूँघने को व्यग्र रहता है, मुझे लगता है कि एक ही साथ अश्लीलता और दम्भ पैदा किये बिना नहीं रह सकता।

इसी नैतिक आन्दोलन और मतोत्साह के वातावरण में मैंने देखा कि लोग बद-बदकर मंच पर आते और ऐसे-ऐसे अपने दुष्कर्मों का बखान करते हैं जो उन्होंने कभी किये ही नहीं हैं। उन दुष्कर्मों को सोचकर इसलिए बनाना पड़ता था कि उनकी स्वीकृति पर उतनी ही गहरी वाहवाही उन्हें मिलती मालूम होती थी!

अपने को ऊँचा मानने में दर्प को एक सुख मिला करता है। उसी तरह का सूक्ष्म अभिमान का सुख अपने को खुलकर नीचा बनाने में से लोग लिया करते हैं। दोनों अनिष्ट हैं। दूसरा अधिक इसलिए कि उसकी चुस्की में नम्रता का भ्रम मिला रहता है।

दोनों ही अप्राकृतिक आचरण हैं और मेरे निकट अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि अश्लील प्रकृत नहीं है, अप्राकृतिक है। अर्थात् अश्लील वस्तु के साथ नहीं है, कृत्य के साथ नहीं है वह असत्य के और छल के साथ है। प्रकृत आचरण अश्लील कैसे हो सकता है! पर सभ्य लगनेवाला आचरण भी अश्लील हो जाता है जब उसकी असत्यता उघड़ी और प्रकट दीख आती है।

आदिवासियों में, गोंडों में, संथालों में, नग्नप्राय युवतियों को मैंने खुलकर काम करते और नाचते-गाते देखा है। अश्लील शब्द कहीं भी दिमाग में तब नहीं उठता है। उसके विपरीत कोठे पर बैठी सजी स्त्री को देखा है जिसका कण-कण आवरण से आवृत्त था। कपड़े इतने थे कि आवश्यकता से अधिक। हाथों की उँगलियों के पोर-पोर जैसे आभूषण से ढके थे। चेहरे पर तमाम रूज, पाउडर की पर्त थी। कोई अंश न था जो सहज और निरावृत्त हो। लेकिन देखकर सारा मन भीतर ही भीतर अश्लील अश्लील कह उठा। क्योंकि कपड़े वे मानो घोषणापूर्वक पूछ रहे थे—आओ, मुझे विवस्त्र देखोगे?

क्यों? क्योंकि एक जगह निश्छलता थी। दूसरे उदाहरण में छल-ही-छल था। शरीर दर्शन के साथ अश्लीलता हो सकती तो परिणाम उलटा होना चाहिए था। पर वैसा नहीं हुआ तो साफ़ है कि अश्लीलता का सम्बन्ध मनोभाव से है। झूठ बिना अश्लील हो सकता नहीं और जहाँ झूठ है वहाँ अश्लीलता के बीज अवश्य हैं।

एक सम्भ्रान्त मित्र की याद आती है। वह अब हैं नहीं। उनके जैसा शाइस्ता आदमी दूसरा कोई मुझे मिला नहीं है। उनकी एक अन्तरंग गोष्ठी थी। स्वयं उर्दू के साहित्यिक थे और गोष्ठी में मेरा प्रवेश निषिद्ध न था। ओह, क्या गन्द वहाँ बकी और बिखेरी जाती थी कि कह नहीं सकता। गोष्ठी का प्रत्येक सदस्य शिष्ट, सभ्य, कुलीन था। फिर यह क्या?

लेकिन यही है। सभ्यता हमारी प्रकृत नहीं है तो निश्चय रखिये कि ढकी असभ्यता कहीं न कहीं हमारे भीतर खुल खेलना चाह रही है। और जैसे व्यक्ति का भीतर होता है, समाज का भी कुछ ढका हुआ भीतरी-सार हुआ करता है। समाज के ये दोनों रुख एक-दूसरे को थामे हैं। वह शालीन और शानदार जो ऊपर अपनी आनबान से प्रभावित करता है, नीचे इस वीभत्स और फूहड़ से जुड़ा रहता है!

अश्लीलता का प्रश्न इस तरह सभ्यता का प्रश्न है। सभ्यता कृत्रिम है, तब तक अश्लीलता की रोकथाम जितनी की जाएगी उससे वह अश्लीलता दब-दुबककर उतने ही घोर रूप में दूसरी जगह फूटे बिना न रहेगी।

लोग सेंसर की बातें करते हैं, जब्ती की बातें करते हैं। वह सब ठीक करते हैं। वह ऊपर के लोगों के तरीके हैं। मुझे लगता है कि अश्लीलता के लिए उपाय ऊपरीपन के और ऊपरी स्तर के सुधार से ही शुरू करना होगा।

सच पूछिए तो सभ्यता हमारी अश्लील है। वह छल और झूठ से अपना नाता तोड़ना नहीं चाहती। वह प्रेम पर संशय करती है। वह दोष की खोज रखती है। मानव पर उसे विश्वास नहीं है। प्रकृति पर उसे शंका है। पैसे से ढकती है उसे जो है, और लिबास से और शिष्टाचार से। जीवन, इस नैतिक और औपचारिक के दबाव के कारण, अनौपचारिक क्षेत्रों में अश्लील वृत्तियों के साथ मुक्त क्रीड़ा में उतर आना चाहे तो इसमें विस्मय क्या है!

नैतिकता के ढकनों को ऊपर से दाबने से अनैतिकता शान्त समाप्त हो जाए, यह असम्भव है। सच यह कि अहंमन्य नीतिवाद का दबाव अनैतिक आचरण को और हठीला और बेहया बना देता है। क्योंकि नीति का दर्प अनीति में प्रतिदर्प उत्पन्न करता है। तभी देखते हैं कि कानून के डण्डे से अपराध का कौशल नये-नये आविष्कार की सूझ ही पाता है, मन्द और परास्त तनिक नहीं हो पाता। अपराध

और अश्लील की रोकथाम के लिए मुझे लगता है कि नीतिवादी और शासन-दण्डवादी वृत्ति में परिष्कार आने की आवश्यकता है। आवश्यकता है कि वे लोग शालीन चाहे कम समझे जाए पर अपनी जगह पर प्रकृत बनें। सभ्य चाहे कम हों, ईमानदार अवश्य रहें।

जुलाई, 1960.

भाग : तीन
श्मशान

यमराज

मृत्यु जैसे काल का कराल आधात है। वह आघात विकराल है। उसकी क्रूरता दुर्दान्त और दारुण है। इसलिए नहीं कि यमराज का रूप ही वैसा है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे ही भय का रूप है, कल्पना की विकृति है। वस्तुतः विघाता की ओर से ये जो यमराज हैं, वही तो धर्मराज है।

एक पुरानी किताब में चंगेज़ खाँ का चरित्र पढ़ा था। शायद पुस्तक समकालीन थी। चंगेज़ खाँ से बड़ा विजेता इतिहास में हुआ नहीं। वर्णन था कि अन्त समय उसे मौत का कितना डर था!

तालस्ताय के बारे मे अभी एक लेख मिला है। मौत से तालस्ताय बहुत डरते थे।

कल गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की चर्चा हो रही थी। अनुमान था कि मृत्यु से उनकी मैत्री रही होगी। पर पाया गया कि रवीन्द्रनाथ को उसका गंभीर भय था। अन्तिम वर्षों में उन्होंने मृत्यु के अभिनन्दन और स्वागत में जो अनेक कविताएँ लिखीं, उन्हीं से खटके का कारण मिल सकता था कि यह अतिरिक्त प्रीति क्यों? जान पड़ा, कुछ भय है जिसे भगाने के लिए प्रीति के आवेग का आग्रह है।

मृत्यु हमलोगों के लिए भयकारी ही है। कौन है जो होने में राग नहीं रखता। न-होना ऐसी स्थिति है कि जहाँ विचार तक नहीं जा सकता। कुछ लोग आत्मघात कर लेते हैं, तो वे असल में न-होने का सामना नहीं चाहते, होने का उत्कट राग उन्हें मृत्यु तक भेजता है। यानी आत्मघात जीने की विकट लालसा में बनता हक किसी की याद में काँटा बन रहें, इस हिंसा में जीने के लिए वे मरते हैं। लगता है कि ऐसे वे हमेशा 'उस' से बदला लेते रहेंगे। जीवन की लालसा में हत्या की जाती है, तो अपघात अपने पर उलटी पड़ी हत्या है। न-होना किसी तरह अपनाया नहीं जा सकता। इससे मृत्यु का भय अनिवार्य हो जाता है।

कौन नहीं जानता कि मरना है। पर उस पर आँख बन्द रखना भी उतना ही हमारे लिए जरूरी होता है। जानते हुए अनजान बनें तब जीना हो पाता है।

यह यम क्या है, जाना नहीं जा सकता। अपनी अपेक्षा से जितना-जो होता हुआ हम पाते हैं, मृत्यु उस सबकी समाप्ति है। देहान्त कहते हैं, पर वह सर्वान्त ही है। वह अन्त है जो सर्वथा सिद्ध है। इससे कहिए कि मृत्यु ही एक सिद्धांत है।

लोग हैं जिन्हें सिद्धांत से काम नहीं। काम वह जीने से रखना चाहते हैं। इसलिए जीते बने रहना और जीते चले जाना चाहते हैं। सिद्ध अन्त के बारे में भूले रहना चाहते हैं। भूल को अपनी याद में ठसा कर इतने भरे रहना चाहते हैं। कि दूसरा कुछ वहाँ समा न सके। रहने रहने अर्थात् न-मरने के लटके चाहते हैं। आये दिन खबरें सुनते हैं कि जिन्दगी को लम्बा करने का यह अविष्कार निकला है, वह नई जड़ी-बूटी मिली है, इत्यादि।

होकर फिर एक दिन न-हो-जाने की कल्पना असह्य और असंभव होती है। यद्यपि देखते हम यह नित्य हैं। कल था, आज एकदम नहीं है। शुरू मेरी जिन्दगी हुई तो माँ सब कुछ थी। दिन आया कि वे सदा के लिए नहीं हो गयी। सपने में यों कई बार मैं उन्हें खींच लाकर देख लेता हूँ। पर उतना ही और अनुभव पाता है वह सर्वथा नहीं हैं! हर होना देखते-देखते नहीं होता जा रहा है। लगता है जैसे होने का रूप ही यह है, जीना और किसी चीज का नाम नहीं है। जो एक दिन मरता है, वही कुछ दिन जीता है। मरना जहाँ नहीं है, वहाँ जीने को भी समझना मुश्किल हो जाता है। ईश्वर मर नहीं सकता। इसीलिए यह कहना झूठ बन जाता है कि वह जीता है। जीना मरने के साथ है। इसी से ईश्वर को है कहो या नहीं कहो, एक ही बात है। सत्, जी वर्तमान और प्रवर्त्तमान रूप में नहीं दीखता, असत् भी है।

बात शायद सूक्ष्म शब्दों में ऊपर खो-सी गयी लगती हो, पर एकदम साफ है कि जीने वाले के लिए मृत्यु अगम है। वह उसे किसी पद्धति से जान ही नहीं सकता। सूरज अँधेरे को कैसे जान सकता है? इसलिए जीवन के लिए मृत्यु का विचार सर्वथा अनावश्यक विचार होना चाहिए। अर्थ पूरा हो जाता है तो जैसे वाक्य के आगे पूर्ण विराम लग जाता है, वैसे ही वह विराम है। अर्थ से उसका सम्बन्ध नहीं है। भाषा में विराम का आशय है कि आगे वाक्य दूसरा है, जिसका अर्थ दूसरा है। हम जानते हैं, इन छोटे-छोटे वाक्यों से भाषा बनती है। विराम बीच में न हों तो सार्थकता लुप्त हो जाए। विराम में अर्थ हीं है; लेकिन भाव को यदि प्रकट होना हो तो अर्थवाही शब्द और वाक्य को एक दूसरे से अलग रख कर ही उन्हें मिलानेवाले विराम-चिह्न भाषा-प्रवाह के लिए आवश्यक बनते हैं।

ऐसे वह लोग जो मृत्यु को जीत कर व्यक्ति को अमर बनाना चाहते हैं, जीवन के मित्र नहीं, शत्रु ही बनते हैं। जीवन में वे हल नहीं होते। मानो विराम के भय से परिचालित होते हैं और भाषा की आत्मा में अपने शब्द के महत्त्व को

लेकर मिलना और खोना नहीं चाहते। वाक्य एक रहे, समाप्त कहीं हो ही नहीं, तो भाषा नहीं बनती। यह पेड़ खड़ा है, दो-ठाई सौ वर्षों की उमर होगी, कहते हैं इतना और भी जियेगा। लेकिन जीवन के अर्थ के लिए कोई उसे ध्यान में नहीं लेता है। वह हिलडुल जो नहीं सकता है, सो अविचारणीय ही है। हलन-चलन वाली जिन्दगी में से यह हिन्द-स्वराज्य की राजधानी नई दिल्ली जो बनी तो देखते-देखते चार की पचीस लाख उसकी आबदी हो गयी। सड़कें चौड़ी हुई और वह हमारे महाशय वट वृक्ष, जो जटा लटकाए मानो सनातन भाव से वहाँ खडे थे, एक दिन नंगे-बूचे बना दिये गये। शाखें, टहनियाँ एक-एक कर इस बुरी तरह काट दी गयी कि क्या कहिए कोढ से ठुडी बनी हुई उगलियों वाले हाथ जैसे घिनोने दीखते है, वहीं उन वट महाशय का हाल हो आया। फिर एकाध दिन बाद उनको जड़ से उखाड़ डाला गया जड़। समेत वट का टुँडा दो-चार दिन आँखों के सामने पड़ा वीभत्स लगता था। अब वहीं फैंज बाजार की चौड़ी सड़क है और गुलजार मालूम होती है।

क्यों? क्योंकि जिन्दगी चल रहीं हैं। दिल्ली बढ़ रही है। चू-इन-लाई आज यहाँ से जा रहे हैं, कल नासर आये थे और गये। परसों खुश्चेव और तरसों आइजन हावर। यह दिल्ली की जिन्दगी बताइए कैसे रहेगी, कैसे बढ़ेगी, अगर रास्ते के पेड़ों को काटा-उखाड़ा न जाएगा।

तो यह मृत्यु नहीं है जो हमको अपनी मृत्यु लगती है। यह जीवन है। सिर्फ हमारा नहीं है हमसे बड़ा है इसलिए उस रहा जब हमारा अन्त माँगा जाता है तो हमें लगता है जैसे जीवन का अन्त है यहाँ खड़े वट साहब अपने बारे में यही सोचते होंगे। लेकिन बड़े काम आये थे वह जब खड़े थे। छाया देते थे, पक्षियों को बसेरा देते थे। गिरकर भी उन्होंने लकड़ी, ईंधन और जाने क्या-क्या न दिया होगा। पर सबसे बड़ी बात यह कि उखड़ कर उनहोंने दिल्ली की जिन्दगी को रास्ता दिया।

तो मरना जीवन को राह देना है हम कहीं अड़ बन गये होते हैं। काम आ चुके होते हैं और समय हमको समाना चाहता है। लेकिन जैसे एक दिन होकर और कुछ दिन रह कर हम बिसर जाते हैं कि यह होना-रहना काल का ही खेल था। उस खेल के लिए ही अब हमारा न-होना संगत हो गया है। चल तो वह खेल रहा है। हम चलते लगते थे ठीक। पर काल के चलाये चल रहे थे। उसने जाने किस निमित्त से एक दिन हमें कर दिया। तो उस निमित्त से अलग हमारे होने का दावा भला क्या हो सकता है। निमित्त हुआ कि हमारा अपना होना पूरा हो गया। इस थोड़ी-सी अवधि में हो गया हुआ हमारा अपनापन सत्य था तो केवल तात्कालिक वर्तमानता की अपेक्षा में। अन्यथा काल की अन्यथा

काल की अजस्र जय-यात्रा में वह तो एक मिथ्या भ्रम ही था। उस महा सत् के सागर के बीच बूंद की मैं असत् नहीं तो क्या है!

हाय रे मैं! मैं हूं अनादि हूँ, अनन्त हूँ, यह हूँ, वह हूँ। ठीक है मैं हूँ, और यह सब भी हूँ। लेकिन जब कि मैं मैं नहीं हूँ, तब सबका जो मैं है उसमें तत्सम हो गया हूँ। वह मैं कि सब भी जिसका पार नहीं है। जो अकाल है, और काल जिसका केवल एक आयाम है। वह सत् जो सबकी वर्त्तमानता और प्रवर्त्तमानता से परे है। भूत और भविष्यत् जिसमें ऐसे हैं जैसे प्रवाह में बुदबुद। वह अगाध-अनंत सत् हैं। वहीं मैं हूँ, अगर स्वयं के लिए स्वेच्छा से न-होना उपलब्ध कर आता हूँ।

वह है, वही है। इससे अन्त में, मृत्यु के रूप में आए हुए क्षण में, ही मैं नहीं नहीं मरता, बल्कि नित-नित और प्रतिक्षण मरता रहता हूँ तब मैं अमर बनता हूँ। क्योंकि तब में मृत्यु में जीता हूँ। मरने में से जीता हुआ ही जो अमर बनता है अमर रहता है।

इस तरह यमराज धर्मराज हैं। अंतरंग में वह भयंकर नहीं हैं, प्रिय हैं। उनमें दाक्षिण्य है, कारुण्य है। उनमें मातृत्व है, पितृत्व है। शिशु उत्पात करता है, क्रीड़ा में भूला रहता है। यह सब शक्ति जहाँ से उसे आती है, अन्त में हार कर उसी माँ की गोद में आ सोता है। यम वही गोद हैं।

'गृहीतइवकैशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'। मृत्यु सिर पर आ खड़ी है, यह जान रखकर तू धर्म वर्तन कर। सिर पर आयी का मतलब यह नहीं कि डरकर कर। डर से जो होगा वह आचरण अधर्म का होगा। हाय, अब तो घड़ी आ ही पहुँची, अब क्या और क्यों रुकना, क्यों न मन की एक-एक साध पूरी कर लूँ। मौत के साथ यह सम्बन्ध उलटा है और डर का है। तब सचमुच मौत आती और वृथा रह जाती है, जिस सहायता को लेकर आयी थी दे नहीं पाती। आगे की यात्रा का जीव को पता नहीं है। यात्रा है, इसका भी पता नहीं है। सिर पर मृत्यु है का अर्थ है कि यम का वरद स्पर्श प्रतिक्षण प्राप्त है। ऐसा अनुभव करनेवाला प्राणी जान रखेगा कि जीवन-यात्रा का कहीं अन्त नहीं है क्योंकि काल का अन्त नहीं है। उस अनन्तकाल की यात्रा के लिए यम में वह एक साथी को साथ अनुभव करेगा। भूलेगा नहीं कि यह जो उसकी कतिपय दिनमान की संक्षिप्त संसार-यात्रा है उस शाश्वत यात्रा का भाग ही है। तब यम का वह कृतज्ञ होगा, उसका सहारा थामेगा। मुख उस अनंत के प्रति होगा, पग उधर होंगे तो साथी का काम आसान होगा। मेरा काम आसान होगा और अनंत-यात्रा का अन्त ऐसे जल्दी पास आएगा।

यह लीला जो दीखती है, किसकी है? उसका पता हम कभी पा नहीं सके हैं। स्वयं होकर उस होने-अनहोने के पारवाले का कैसे जानेंगे। जानने की साग्रह

चेष्टा आस्तिक्य को खा जाती है और लौटकर अस्तित्व के राग को बढ़ा जाती है। महत्त्वाकांक्षा में तब हम भागते हैं, भूल जाते हैं कि अपने भीतर के भय से केवल यह बाहर की तरफ भागना है। जीतते हैं देश, और धन, और पद और प्रतिष्ठा; अपने को बहकाते हैं कि यह जीतना है। सच यह कि अपनी भीतर की हार के सामनपे से यह बचना ही हैं। बचाव के लिए यह परदा और धोखा अपनी ही आँखों के आगे लाने को हम खड़ा करते हैं। नहीं तो क्यों है कि यह जेता और नेता, मनस्वी और तपस्वी, सत्ता और सत्त्वशाली काँप जाते हैं, जब अन्त देखते हैं। जीत कहाँ उनकी चली जाती है? होती वह जीत तो उनकी ही प्राणों में वह हार बनी क्यों दिखायी देती है?

और यह हाल सबका होता है। उन सबका जो अपने लिए महत्त्व और महिमा का सम्पादन करते हैं। जो जितना बड़ा बना, मरना उसके लिए उतना ही विषम हो गया। भय को उतनी भीमता मिल गयी, मृत्यु को निर्ममता, जितनी हमेन अपने को ममता दी। ममत्व पर जैसे यमत्व काल का कराल आघात हो। वह आघात विकराल है, उस क्रूरता दुर्दान्त और दारुण है। इसलिए नहीं कि यमराज का रूप वह है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे ही भय का रूप है, हमारे विकार की परिणति है। धर्म में से अपने को समझेंगे तो दीखेगा कि यमत्व स्वत्व है हमारा और सत्य है समग्र सृष्टि का। ममत्व यहाँ मिथ्या है। जो हो रहा है सब इसी शर्त पर कि फिर-फिर होने के लिए मिटता जाएगा। इसीसे विधाता की ओर से यमराज हैं जो धर्मराज हैं। जीवन उन धर्मरूपी यम की सुरक्षा में कभी क्षुण्ण और रुद्ध नहीं पायेगा। कारण, मृत्यु का मंत्र उनके पास है; उससे जीर्ण नवीन बनता है। जो नित्य सनातन है वह मृत्यु द्वारा पुरातन को नित नूतन रूप से प्राप्त करता है। ऐसे ही सनातन नित नवीन और लीलामय रहता है।

अप्रैल 1960

मृत्यु का वरदान

मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। वह परमेश्वर का वरदान है। मैं मृत्यु को समाप्त नहीं चाहता हूं। उसके बिना जीवन असह्य हो जाएगा। क्षण मरता जाता है कि समय जिए। व्यक्ति को मरते रहना कि विराट जी सके। आदमी मरे नहीं तो निरन्तरता किस तरह अजस्र रह सकती है। इसलिए जीवन में मृत्यु का विचार मुझे परम कल्याणमय जान पड़ता है।

तीन बजे होंगे, घर पहुँचते ही घबराई पत्नी ने कहा—'सुनो, शास्त्री जी का देहान्त हो गया। फोन आया था।'

'क्या-आ, कब?'

'फोन था कोई दो बजे। अस्तपताल से उन्हें शाहदरे ले जाने वाले थे। तुम कहाँ जाते हो? दूर से आये हो, वे जा चुके होंगे।'

'अस्पताल—'

'लेकिन वहाँ अब कौन होगा।

सुनने को ठहरा नहीं, मैं चल दिया। कहा—'तुम भी तैयार हो जाओ। अभी दफ्तर जाकर पूरी खबर लेता हूं। तुम्हें साथ चलना है।'

झपटकर दफ्तर आया। मालूम हुआ, कोई आधा घण्टा हुआ चन्द्रसेन यहीं से गये हैं। शास्त्रीजी की देह को शहादरा ले जाने की बात थी।

'क्या, ले जा चुके होंगे?'

'हो सकता है'

टैक्सी मंगाई, भगवती को साथ लिया और अस्पताल पहुँचे। देखा, बाहर खुली धूप में लावारिस की तरह एक कम्बल से ढका शास्त्रीजी का शरीर स्ट्रेचर पर पड़ा है। भाभी हाथ से उसका किनारा थामे खड़ी हैं। हाल बेहाल हैं, केश बिखरे हैं, आँखों में ढलते आँसू है। पहुँचने पर वह एक साथ गले लगकर फफक पड़ीं। अलग हुई तो कहा—भाई साहब देखिए तो, देखिए तो अपने शास्त्रीजी को देख लीजिए!

कहकर चेहरे पर से कम्बल हटाया। चेहरा वही था, सिर्फ ज़र्द था और सो रहा था और यह उसकी नींद अनन्त थी। उस चेहरे को अब कुछ कहने को न था, कुछ सुनने को न था। वह कि जिससे यही चेहरा स्मित और स्पन्द से सदा खिला दीखता था दूर जाने कहाँ चला गया था। पत्नी थी, कन्या थी, संगी साथी आस-पास सभी थे, एक वही न था। वह कि जिससे जड़ जीव होता है, इस शरीर से उठ गया था। इसलिए वह शरीर अब स्मृतियों को ही चेता सकता था, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता था। कारण, जो करता धरता था वह बसेरा छोड़ चला गया था। उसने जीवनभर काम किया था। सैकड़ों की संख्या में पुस्तकें लिखी थीं। और वे सैकड़ों ही विषयों पर थीं। वह जो अथक रहा था, अपने मन में उठती हुई उद्भावनाओं को कलम की राह स्याही से कागज पर उतारकर उन्हें मूर्त, स्थिर और स्थायी करने में जिसने दिन को दिन और रात को रात नहीं गिना था; जो मृत्यु की आवाज़ सुनकर भी नहीं सुनता था, जो जीवन को इस तरह अमृत बनाये चलता था, वह पुरुष अपने अस्थिपंजर से छूट भागकर अन्तर्द्धान हो गया था!

'भाई साहब, देखिए, देखिए, अपने शास्त्रीजी को देखिए। देखिए, उन्हें ज़रा बुलाइये तो—'

लेकिन शास्त्री तो सब शास्त्र-शस्त्रको छोड़कर अपने धाम जा पहुँचा था। इससे हमारा विलाप सब ओर उसे ढूँढ़कर अपने पर ही वापस आ लौटता था।

मैंने कहा-भाभी, ऐसे नहीं चलेगा। देखो तुम्हारी बेटी है, देवर हैं, भतीजे-भतीजी हैं। जो गया वह तो अपना काम पूरा कर गया। अब जो घर के बचे हैं सब तुम्हीं पर तो हैं। बचा-खुचा करना भी अब सब तुम पर आ गया है। ठीक है, फफफकर दुःख निकाल सकती हो। पर अगर उसे संजो कर रखोगी तो वही आगे के बड़े काम आ सकता है। उठो, लो संभालो।

यह सब शब्दों में कहा नहीं गया। कहा कैसे जा सकता था? पर भाभी जानती थी कि दुःख विलाप से वह नहीं जाता। सहने को वह तो रहे ही चला जाता है।

और हमारे लिए शेष अब यही था कि उस काया को हम निःशेष कर दें। वह किसी तरह रह न पाए। जब शरीर में से सार निकलकर इस महाशून्य में जा खोया है तो आओ, इस शरीर को भी भस्म करके हम महाभूत में विसर्जित और स्वाहा कर दें। सो जमना गये, चिता चेताई, और दाह देकर अन्त्येष्टि संस्कार समाप्त किया।

घर लौटा तो नौ बज रहा था भगवती ने कहा—

'आले में पत्र रखा है प्रेमीजी नहीं रहे।'

पत्र पढ़ा। यशोघर-विद्याधर दोनों के नीचे नाम थे। उनके दादा नाथूराम प्रेमी स्वर्ग सिधार गये थे!

समझ न आया कि यह क्या होने जा रहा है। नाथूरामजी से मैं लेखक बना था। उससे पहले पता न था कि लिखा छपता भी है और छपने से किताब बनती है। उधर चतुरसेनजी भी वही थे जिनसे मुझे कलम पकड़ना आया था। दोनों क्या मिल जुलकर एक ही रात यों चल देने वाले थे!

प्रेमीजी की याद ने मुझे बुरी तरह मथ दिया। जैसे सिर से अभिभावक उठ गया। ऐसा मालूम हुआ कि जीवन में मेरे लिए मानो प्रामणिकता का आधार ही उठ गया है। प्रामाणिकता उनके अणु-अणु में थी। याद कर सकता हूँ कि मुझे उनके रायल्टी के हिसाब के कागज़ पर निगाह डालना पाप-सा लगता था। मैंने आज तक उस हिसाब पर आँख नही की है और कभी यह नहीं हुआ है कि दीवाली से पहले हिसाब और पैसा पहुँच न गया है। मैं एकदम नया और कोरा था। लेखक के रूप में सिखतड़ तक न था। नए लेखक की रचना छापना ही तब बड़ी कृपा समझी जा सकती थी। लेकिन प्रेमीजी ने टर्म्स पूछी और पूछ-ताछकर मैंने जो लिखी वह पूरी रकम उन्होंने मुझे उगाऊ भेज दी। मेरी माँ जानती थी कि मैं जिन्दगीभर निकम्मा ही बना रहनेवाला हूँ। उस माँ की निगाह में पहली बार इस निकम्मे आदमी की कमाई का पैसा आया तो याद कर सकता हूँ कि इससे आँखों में चमक आ गयी थी। थोड़ी उन्हें तब सान्त्वना हुई थी। मेरे आगे तो जैसे तिलस्म ही खुल गया था। तब जगत्‌भर के प्रति मेरे मन में संशय और डर रहता था। प्रेमीजी के इस व्यवहार से मैंने आविष्कार किया कि दुनिया प्रेम दृढ़ से दृढ़तर होता गया है, कि संसार यह प्रेम पर टिका है। प्रेमी जी ने अनजाने मेरा यह परम उपकार किया है कि मुझ में आस्तिक्य का वपन और सिंचन किया है। रायल्टी का हिसाब तो मैं सदा भूला रहा, पर इस गहरे उपकार पर से तो मेरी याद कभी क्षण को हट पाती नहीं है।

मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। वह परमेश्वर का वरदान है। मैं मृत्यु का समात्प भी चाहता हूँ। उसके बिना जीवन असहज हो जाएगा। क्षण मरता जाता है हिक समय जिए। व्यक्ति का मरते रहना चाहिए कि विराट जी सके। आदमी मरे यहीं तो निरन्तरता किस तरह अजस्र रह सकती है। इसलिए जीवन में मृत्यु का विचार मुझे परम कल्यामय जान पड़ता है। इसमें से भय प्राप्त हो सकता है, वैराग्य प्राप्त हो सकता है। निराशा और उदासीनता प्राप्त हो सकती है। उस उपलब्धि को भी मैं मूल्यवान मानूँगा। गृहीत्इवकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। मौत सिर पर है, यह हम याद रखें तो धर्म आचरण सहज होता है। अन्त में वही धर्म साथ भी जाता है। यों तो जिन्दगी में आदमी खूब

करना-धरना लगाये ही रहता है। पर जाते वक्त उसका यह किया धरा सब यहीं रहा जाता है। राव तब उसी तरह अपने को रीता और बीता पाता है जैसे रंक वहाँ आकार सब समान हो जाते हैं। अन्तर यदि रहता है तो धन और मान की कमाई के कारण नहीं, धर्म की कमाई के कारण रहता है। धर्म की कमाई यानी उसे स्नेह की याद। वह छूटी हुई याद फिर जीवन का निर्माण करती है। इसलिए कुछ लोग हैं जो मर कर ही अमर बनते हैं। वह मृत्यु को जीतते हैं। जीतते इसलिए हैं कि अपने जीवनकाल में वे उसको स्वेच्छा से वरण करते और धन्यभाव से उसे मृत्यु को सदा अपने अन्तरंग में धारण किए चलते हैं। वे ही द्विज होते हैं। वे आकांक्षा और स्वार्थ से जी नहीं पाते। एक स्नेह की ही पूँजी उनके पास होती है जो उनके मृत्युवारण के कारण पुष्ट ही होती जाती है, अहम् के उदय के लिए उनमें कोई अवकाश नहीं छोड़ती।

फरवरी, 1960.

अन्धड़ में श्मशान

राजनीतिक अपनी सत्ता और अपने कर्म के बारे में अपने भीतर गहरे में पड़ी इस श्मशान की भूमिका पर से अगर सोचे? सोचे कि यहाँ का करा धरा चौपट यहीं सब रह जाएगा, मान-सम्मान सब चट जाएगा; लोग आएँगे और उसमें आग दिखा जाएँगे। वहाँ से सोच तो क्या देश के, उसके, हम सबके लिए यह परम शुभ न हो।

फल क्या ऐसे भी होते हैं जिनमें बीज या गुठली ही न हो! कवि सियारामशरण ऐसे ही हैं। यह नहीं कि ढीले-पोच हैं। उनकी सी दृढ़ आस्था अपने परिचय के साहित्यिकों में तो मैंने नहीं पायी पर शरीर उनका अस्वस्थ ही रहता है। उसके नीचे अहंता सर्वथा घुल रहती हो और चित्त सदा के लिए आर्द्र हो आता हो, यह हो सकता है। वहीं साथ घर आये तो मैं और सब भूल गया, उनका ही हो रहा।

तभी फोन आया, 'मैं यहाँ आकर बैठा हूँ, दफ्तर में। हजूर कहाँ हैं?

'ओः, माफ करना, घर पर हूँ। यही न आ जाओ।'

'साथ के जैन तो राह देखकर चले जा रहे हैं। जाना मुझे भी था। पर . .. तो घर आऊँ?

'हाँ, फौरन। नहीं तो चाय ठंडी होगी।'

यह बन्धु रचनात्मक कार्यकर्त्ता थे। मिनिस्टर हुए, अब फिर शुद्ध रचना में हैं। आए और चाय में और बातों में सम्मिलित हो गए।

दरवाजे पर फिर ठकठक हुई। जो महाशय पधारे, अत्यन्त भद्र थे, यद्यपि अपरिचित थे। संकोच तो उन्हें हुआ पर फिर बात में वह भी शामिल हो गए।

थोड़ी देर में फोन खनखनाया, 'सुनिये, डॉक्टर साहब का देहान्त हो गया है। शरीर घर ले आए हैं। आप आ रहे हैं?'

मैंने कहा 'एक घण्टा तो अभी लग जाएगा। कब उठा रहे हैं। वहीं न मिल जाऊँ? कब वहाँ पहुँचेंगे? साढ़े पाँच? अच्छा।'

उन डाक्टर के उठ जाने पर मन बिगड़ आया था। यह नहीं कि जाना असमय

कहा जाए। अवस्था नव्वे के आसपास थी। फिर भी बेतुका लगता है यह कि कल अमुक हम सबके बीच थे, आज एकदम हैं ही नहीं। इतना अजब लगता है यह व्यापार कि होना और जीना भीतर से निरा निस्सार ही हो। पर मन को अन्दर रोका, पता न लगने दिया कि क्या है, और बातों के प्रवाह में शामिल हो गया।

अपरिचित बन्धु जिज्ञासा लेकर आये थे कि बताया जाता है कि धर्म सब एक हैं, लेकिन तत्ववाद सबके अलग हैं। ऐसे वे अनेक ही हैं। या तो तब यह ठीक है कि सबको एक साथ छोड़ दिया जाए और धर्म-मात्र को तिलांजली दे दी जाए। लेकिन अगर धर्म व्यर्थ नहीं है तो सम्प्रदाय को क्यों दोष दिया जाता है? क्योंकि आखिर किसी धर्म को भी मानें, होगा तो वह एक सम्प्रदाय का ही।

मैंने नेता बन्धु की ओर देखा। उन्होंने तत्काल स्निग्ध कृपा भाव से समझाना शुरू किया। सज्जन सच ही जिज्ञासु थे, आग्रही नहीं थे। इसीसे उन्हें तोड़ना या मन्द करना आसान न हुआ। उनके अपने तर्क थे सच यह कि वह अपने धर्म में चुस्त और तत्पर थे। ऐसा पुरुषोत्तम परास्त क्यों हो?

सियाराम अकुला रहे थे। उन्हें चिन्ता थी कि उढा (मैथिली शरण) वहाँ चिंतित होंगे। इसलिए वह तो बीच में ही विदा ले गये। तब मैंने पूछा, 'आप जैन हैं?'

'दिगम्बर'

'जी'

याद आया कि मैंने भी दिगम्बर परम्परा में जन्म पाया है। पूछा, 'जैन धर्म सच्चा है, कि दिगम्बर जैन धर्म?'

'दिगम्बर जैन धर्म'

'तो बाकी जैन धर्म झूठा है न?'

'हाँ... नहीं नहीं...'

'दिगम्बर में भी आम्नाय हैं। है न? पण्डित अनेक हैं, और उनमें मतभेद है। है कि नहीं?'

'जी,'

'दिगम्बर जैन धर्म की आपके मन में जो धारणा है, हो सकता है न कि मेरी उससे भिन्न हो। आप शायद न जानते होंगे कि मैं भी दिगम्बर जैन हूँ।'

'जी, धारणाएँ भिन्न हो सकती हैं।'

'तो फिर क्या धर्म सबके अपने-अपने पास नहीं पहुँचे जाते? ऐसे धर्म अंत में आत्माधर्म हो आता है। क्यों नहीं? असल सब धर्म आत्मधर्म हैं। इस तरह सब एक हैं। अनेक हैं तो इतने नहीं जितने संप्रदाय हैं, पर इतने कि जितने व्यक्ति हैं। उतनी असंख्य अनेकता को जो हर्ष से स्वीकार करता है, वहीं धर्म एक हैं।

उसकी एकता खण्डित हो नहीं सकती। क्योंकि अनेकता से उसे भय नहीं है, बल्कि प्रीति है।'

पर मैंने देखा कि अन्त में ये शब्द ही थे। शब्द में ऐक्य कहाँ रखा है। वह तो मन में होता है। जिज्ञासु बन्धु आश्वस्त होकर गये, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके जाने पर नेता बन्धु ने कहा, ' यह तो हुआ, अब कुछ अपनी बात भी हो जाए। सुना है इधर तुम देश की स्थिति के बारे में सोच रहे हो। गम्भीरता से सोच रहे हो।

मैंने घड़ी देखी और कहा—,'नहीं, आपने सही नहीं सुना।' उन्होंने आपत्ति की, कहा 'लेकिन . . .'

मैंने कहा,—'स्थिति देश से पहले मुझे घर की छूती है। वह इसलिए कि चित्त की स्थिति तो छू आती है। मैं कुछ और नहीं जानता, मन:स्थिति को जानता हूँ। वह मेरी आनन्द की नहीं है, मुक्तभाव की नहीं है। मैं मानता हूँ कि भारत में औसत आदमी का यही हाल है। मानसिक स्थिति उसकी विषम है। योजनाओं की रिपोर्ट क्या कहती हैं, मुझे नहीं मालूम। अखबारों में रोज पढ़ता हूँ, तरक्की धड़ाधड़ हो रही है। वह हो भी रही होगी, पर मन को अपने टटोलता हूँ, दूसरे के मानस को छू पाता हूँ तो वहाँ की धड़कन से आश्वासन नहीं होता। मैं, मेरा परिवार, मेरा घर क्यों देश नहीं है? ये सब लोग क्या देश के नहीं हैं? देश इन सबसे भिन्न कुछ होता हो तो उसे राजनीतिक जानें। मेरा वैसी निरी धारणात्मक संज्ञाओं से वास्ता नहीं है। जो देश लोगों के सुख-दु:ख की धड़कन में बसा हुआ है, उसकी स्थिति को सचमुच मैं अच्छी अनुभव नहीं करता हूँ... लेकिन आइए, उठिए, चलें।'

'कहाँ?...कहाँ चलें? मैं एक सलाह लेना चाहता हूँ। राजनीति से तो अलग ही हूँ, तुम जानते हो। जिस विचारधारा के निकट हूँ, वह गाँधी, विनोबा की है। लेकिन...सर्वोदय से तुम्हें सांत्वना है?

'अब उठो, चलो।'

'तो दो मिनट बैठो। बताओ, सांत्वना है? बात असल कहो जी। राजनीति तुम्हें क्यों खींचती है? नहीं, उसकी कशिश गलत नहीं है। गलत शायद उपेक्षा विमुखता है।....

चुनाव में खड़े हो, या न हो, मैं तो नहीं चाहता लेकिन... यह उलझन है ना?'

'कितने भी स्वतंत्र होओ दलों से। चुनाव तक यह चल भी सकता है। चुनाव के बाद दल में आना ही होगा। अभी तो कह रहे थे, पार्लियामेंटरी डिमोक्रेसी परिस्थिति की मांग से ओछी पड़ रही है। ...लेकिन बस उठो, चलो।

'सुनो तो—।'

'बस वक्त नहीं है।'

'फिर भी कहाँ ले चलोगे।'

'ऐसी जगह जहाँ से हमारी बातों में, काम में, वास्तविकता आ सकती है।'

...हम आए तब चिता लपटें लेकर जल रही थी। डॉ. सुखदेव जो थे जा चुके थे। अब उनका शरीर लपटों में भस्म किया जा रहा था।

ऊपर घने बादल थे। तह-पर-तह वे गहराते ही जा रहे थे। आँधी का आसार था। गर्मी एकाएक सर्दी हो आयी थी। हम ही वहाँ लोग थे जो अर्थी के साथ आए थे। चेहरे गिरे थे, और मन मुरझाया था। शेष मरघट में सन्नाटा था। दो एक चिताएँ और भी दहकी दीखती थीं। पर लपटों में चिंगारी फेंकती हुई हमारी ही चिता जल रही थी।

मैंने मित्र को बांह से पकड़कर अपने पास खींचा। हम दोनों चिता की ओर देख रहे थे। रह रहकर आँख हठात् ऊपर की ओर भी उठ जाती थी। पक्षी चिचियाते हुए एकाएक जोर से उड़ निकले। हवा सरसराती आयी। देखते-देखते आँधी सिर पर आ टूटी।

उस अन्धड़ के वेग का पार न था। अगले दिन अखबार ने बताया वेग सौ मील था आकाश फूत्कार कर उठा। सब डिगाने और हिलने लगा। पल में अँधेरा आ छाया। उसमें चिता दहकती सुर्ख अङ्गार बन चमकी। आँधी में उसकी ज्वालाएं ऐसी उठीं कि लपलपाती लहू की जीभें हों। जैसे सब आकाश को चाट जाएँगी। शोले उड़-उड़कर धूमकेतु से दूर तक जाने लगे। हम बचाब करते छत के तले भागे। पर बचाव वहाँ था कहाँ। अँधेरा शून्य था और हम थे और चारों ओर विकट हुँकार की गर्जना थी और अग्नि छोड़ती अग्निजिह्व शिखाएँ थीं।

वह संध्या भूलने की नहीं है। दो घण्टे हम श्मशान में ही कैद रहे। उस काल वह श्मशान हमारे भीतर गहरा उतरता चला गया। आखिर देर सबेर सबको वहीं तो पहुँचना है। लगा कि ठौर एक सही वही है, वही है।

धर्म अनेक हैं। दल अनेक हैं। हम अनेक हैं। पर अन्त में इस श्मशान में आकर एक न एक दिन क्या हम सबको एक नहीं होना है?

मैंने तब सोचा और अब सोचता हूँ। सोचता हूँ कि राजनीतिक अपनी सत्ता और अपने कर्म के बारे में अपने भीतर गहरे में पड़ी इस श्मशान की भूमिका पर से अगर सोचें? सोचें कि यहाँ का करा-घरा चौपट यहीं सब रहा जाऐगा। मान-सम्मान सब चट जाऐगा। लोग आएँगे और उसमें आग दिखा जाएँगे। वहाँ से सोचें तो क्या देश तो क्या देश के, उनके, हम सबके लिए यह परम शुभ न हो!

मार्च, 1960.

आयु और समय

इन्जील ने कहा, क्राँस। गीता ने कहा, यज्ञ। कुरान ने कहा कुरबानी तो क्या यही जीवन का अर्थ है? सार है? लक्ष्य है?

घर में एक खूबसूरत गुलदस्ता रखा है। दो साल हुए कोई बच्चा चार या छः आने में खरीदकर लाया था। फूलों के रंग किसी कदर फीके तो हो गये हैं, फिर भी वह बदस्तूर है। दो-चार साल अब भी इसी तरह चलने का इरादा रखता मालूम होता है।

उस दिन स्वामीजी आए। लोगों ने बड़े आदर से भारी-सा गजरा उनके गले में डाला। घर पधारे तो उतारकर वह उन्होंने बच्चे को दे दिया। उसकी महक का क्या कहना। घरभर सुरभि से भर गया। लेकिन अगले रोज देखें तो यहाँ-वहाँ कूड़ा करकट फैला है। गजरा गुरझाकर कूड़ा बन गया है और उसे बाहर फेंक देना पड़ता है!

पहली चीज नकली है। दूसरी चीज असली थी।

अजब मालूम होता है यह कि सिर्फ कागजी है, बनाया गया है, वह गुलदस्ता तो कायम है। जो असल फूलों का था, इस कदर तरोताजा और खुशबूदार था, ज़रा में कुम्हला गया और कूड़ा बन गया। पर नकल और असल में यही फर्क है। असल में जान होती है, जो चंचल है और समान नहीं है। नकल में जान कहाँ कि अन्तर पड़े। जैसी धर दो वैसी बनी रह जाती है।

तो जान की यहा पहचान है। ज्यों-का-त्यों-पन वहाँ नहीं दीखेगा। लहरें होंगी और रूप अदले-बदलेगा। पत्थर वैसा का वैसा रहता है। जीव ज़रा भी होगा तो हलन-चलन करेगा। निर्जीव बस है, सजीव होता रहता है। यह होते-रहना यों कोई सुखकारी दशा नहीं है। उससे आयु घटती है। जो केवल मात्र है, होते-रहने से मुक्त है, उसकी आयु का आदि-अंत नहीं। उसका जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं नहीं। आयु अर्थात् समय का मान, परिवर्त्तन और परिणमन की योग्यता। आदमी आयु रखता है, आशय बच्चा होता है, जवान होता है, बूढ़ा होता है, खत्म

होता है। यह सब जिसमें नहीं हो सकता, वह जीता ही नहीं। जीना वह जिसमें कुछ आय होती है, कुछ व्यय होता है। जो अपने से बाहर की ओर बढ़ता है और भीतर की ओर उतरता है।

जीवन का यह चित्र बहुत सुन्दर नहीं है। हँसते से उठते हैं ओर जवानी पार करते-करते चिंता में घिर आते हैं। फिर एक दिन रोते हुए मर जाते हैं। इसके मुकाबले क्या यह ईंट-पत्थर का मकान बड़े मजे में न कहा जाएगा कि खड़ा है तो पीढ़ियों से खड़ा ही है। न इसे आने-जाने की जरूरत है, न करने-धरने की। अपनी चिंता नहीं है, किसी की चिंता नहीं है। बस है तो है।

कई बार लगता है कि होना, जिसमें करना समाया है, एक बला है। होना ऐसा हो कि जैसी ममी होती है, तो मजा है। सदियाँ और सहस्त्राब्दियाँ होती रहती हैं और आप, सर्वथा स्वरूपस्थ, अपनी एक ही मुद्रा में सोये रहते हैं। स्विट्जरलैंड में एक एक्स की ममी देखी थी। तीन हजार साल से ज्यादा पुरानी थी। यह हजरत जीये होंगे तो यही कोई साठ-सत्तर बरस। ममी की शकल से लगता था कि इतने बरस भी नहीं। चालीस-पचास के बीच कहीं यह महाशय मर लिए होंगे। उसके बाद ममी के रूप में हजारों हजार बरस ऊपर से गुजरे चले जा रहे हैं और उनकी नींद में विध्न नहीं डाल पाते हैं। यह मरे हुए रहना अच्छा है कि वक्त जिसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, या जीना अच्छा है कि जिस पर जरा वक्त झुर्रियाँ और फिक्रें डाल जाता है और फिर दाव देख चुटकियों में खत्म कर डालता है!

क्या तत्त्व है यह कि जिसे जीवन कहते हैं। क्यों पतंगा हो पड़ता है और लौ के आसपास जरा देर मंडराकर गिरता और मर जाता है! नये-नये, चित्र विचित्र, नाना वर्ण के पंख पाकर क्यों तितली हो उठती है कि तनिक-भर के लिए धूप की ओर उड़े, फूल को चूमे और इतने में पंख तोड़कर मर जाए! घण्टे दो घण्टे के जीवन की यह विवशता क्या है? क्यों है?

सोचने बैठता हूँ तो जान पड़ता है कि लौ की यह लगन, धूप का वह दर्शन, फूल का वह प्यार शायद छोटी चीज़ नहीं है। छनभर सिर्फ उतने के लिए हो-आना और फिर सदा के लिए न-हो-जाना शायद ग़लत चीज़ नहीं है। जीना इसके सिवा क्या है कि हम होते हैं, जगते् हैं और विस्मय में अपने से शेष के प्रति बाँहें खोल आते हैं!

निश्चेतनता स्थिर अस्तित्व का नाम है। चैतन्य अस्तित्व को अस्थिर कर देता है। उसमें, उसके होने में, तनाव भर देता है, स्पृहा जगा देता है, मैं पैदा कर देता है। मैं का त्रास उपजाता है, फिर उस मैं को जलाकर खत्म कर डालने की प्यास पैदा करता है। यही जीवन का चक्र है। हम होते हैं और फिर बड़े

चाव से इस होने को होम करते और समाप्त हो जाते हैं!

इन्जील ने कहा, क्रास। गीता ने कहा, यज्ञ। कुरान ने कहा, कुरबानी। तो क्या यही जीवन का अर्थ है? सार है, लक्ष्य है?

मन भटक गया है। बड़ा वैसा मालूम होता है। जीने के इस सार का सामना नहीं करना चाहता। जीना चाहता है और ऐसा लगता है कि सार बिना भी जीना चाहता है!

ओह, कैसी विडम्बना है कि जीने के रस का इन्कार करते है ओर जीना फिर भी चाहते हैं! तुच्छ, मन्द, चिंतित रह लेंगे। धूप में नहीं खिलेंगे, कि कहीं झुलस न जाएें। रोशनी पर नहीं रीझेंगे। प्यार से बचेंगे!

हाय रे, अभागे मनुष्य! पतंगा होता है और उड़ता है। तितली होती है और धूप में पंख खोलकर तिर आती है। होने के आनन्द में नाचते हुए सभी मृत्यु से भेटने-उठते चले आ रहे हैं। तू फिर किस द्विधा में पड़ा है। क्या यह तमाम तैनें अपने चारों तरफ रच लिया है, जिसको उपयोगी कहता है और जो तुझे रोकता है। और अभागे, घड़ी दो घड़ी का जीवन है। संक्षिप्त है इसीसे तो है। ओर देख, सूरज ऊपर है और चाँद और सितारे और आसमान। देख, कैसे रंग वहाँ छिटके आ रहे है। कैसी इन्द्रधनु की कमान कभी तन आती है और आसपास कैसे रंग-बिरंगे फूल हैं। बोलते हुए फूल, चहकते हुए फूल। अरे, कहाँ है कि तू डस गया है। क्यों है कि तू उठता नहीं हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि नियम तेरे हों जो तेरी जकड़ बने हैं। मन में से तेरी ही दुविधा ने निकलकर तो तुझे पाश मे नहीं ले लिया है। दिन तेरे पास गिनती के ही हैं, गिनती पर पहुँचकर तुझे समाप्त हो जाना है। अरे, बैठा-बैठा, पड़ा-पड़ा क्या मरता है। आगे बढ़कर ले उसको कि जो मृत्यु है और तुझे पता चल जाऐगा कि जीवन का स्वाद क्या होता है।

होना सत् है। उससे आगे जो चित् है सो जान-बूझकर होना है; होने का प्रतिक्षण कष्ट अनुभव करते हुए होना है। अपने को अपने में पाना और इस तरह सबसे वियुक्त पाना है। यह विरह का बोध चित् का मूल बोध है। यह अनादि दुःख जीवन की अनन्त निधि है। इसी में से नाना प्रेरणाएँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं। यह करता है, वह करता है, और बराबर बेचैन रहता है। कभी अपने-पन को फुलाता है, कभी लुटाता है। यह लूट उसका आनन्द है। सच्चिदानन्द है। लेकिन आनन्द हममें खुलता नहीं है, क्योंकि चित के दुःख को पूरी तरह हम अपनाते नहीं हैं। 'मैं' का होना दुःख रूप है। इससे गति हमारी अनिवार्य न-होने की और है। मैं हूँ, लेकिन क्यों हूँ कि शेष से अलग हूँ? अतः सब शेष को लूँगा और सबमें एक हो जाऊँगा। मैं मैं नहीं रहनेवाले हूँ, सब हो जानेवाला हूँ। प्यार की यह चहुंमुखी माँग कहती है, यह क्रास है ले, यज्ञ है उठ, कुरबानी

है बढ़। आ और सदा के लिए आनन्द हो जा। पर हाय, आदमी आता नहीं है, उठता नहीं है, अपने होने में रुक जाता है। रुक जाता है और दुख पाता है। अपनेपन का दुख लेकर सबमें बिखरा दे तो वहीं परिपूर्ण हो जाए। अपनेपन की व्यथा इसी से तो मिली है कि वह उसके मारे रह न पाये और निछावर हो आये। पर दुख पाता है और देखता कि सब ओर आमन्त्रण है, सब ओर प्रतीक्षा है।

कुछ ज्योतिर्धर पुरुष हो गए है उन्होंने आमन्त्रण सुना, फिर रुकना नहीं हो सका। उन्होंने अपने को पूरी तरह दे डाला। रंच भी अपने में नहीं रोका। अकुंठित सबके प्रति विसर्जित करते चले गए। जीवन उनका आनन्द से ज्योतिष्क बन रहा। मानो यहाँ के हों ही नहीं, आलोक के लोक से अवतार लेकर आये हों। जीवन उनका जगमग-जगमग कर आया अन्तर्ज्वाला। को उन्होंने अपने सवांग में अपना जो लिया सो सब उज्ज्वल और जाज्वल्य हो गया। उनका चरित्र जैसे पदार्थ पाठ हो उठा। जीना उनका अपना न था, काल को प्रकाशित करने के लिए था और अपने सार को जैसे सिद्ध और सचित्र कर जाने के लिए।

दिया जलता है, फिर बुझ जाता है बुझने पर जो अँधेरा होता है उसी से दीपक के मूल्य का पता चलता है। आयु समाप्त होती है और अत्यन्त उचित है कि वह समाप्त होती है। जिनके लिए समाप्ति नहीं, उनके लिए समय ही नहीं है। उनका होना न होना एक-सा है। उन्हीं को तो हम जड़ कहते है। घर का गुलदस्ता है, घर की दीवारें हैं। उन्हें पता रखने से क्या मतलब कि रात बीत गयी, है, सबेरा उठा आ रहा है वह देखो सूरज मुँह दिखा आया है, धूप की किरनें जाते अन्धेरे को चूमने आ पहुँची हैं। नहीं पता है इससे ज्यों के त्यों हैं जिसे पता है वह सबेरे पर चहचहा उठता है, दुपहरी को झुलस आ सकता हे, शाम को थककर निढाल हो जा सकता है। वह समय की हर धड़कन के साथ जीता और बीतता है। आज बालक है, कल किशोर होगा, परसों जवान होगा। ऐसे ही समय के प्रति उत्तर देता अन्त की ओर बढ़ता जायगा। जो इस तरह समय का हर पल लेता और अपने को उसके प्रति परिपूर्णता से जीकर रिताता रहता है वह मुक्त और पूर्ण होता है। इस शरीर में भी जाने क्या-क्या रखकर हमें सिरजा गया है। शरीर को इन्द्रियाँ दी गयी हैं कि जिनके द्वारा भीतर को वह बाहर दे सकता और बाहर को भीतर ले सकता है। जीवन जैसे आरम्भ है उसे स्रोत का जिसमें से आदान-प्रदान स्वतः बह निकले। जीवन आरम्भ है सम्बन्ध का जो भिन्न को मिलाए और अभिन्न हो जाए। पाया हो तो दे ले प्यारे, पाय-पाय फिर खोना क्या रे। समय इसीलिए मिला है और इसीलिए बँधा है। देना रुका या चुका कि समय पूरा हुआ। इस बँधे समय को आयु कहते हैं।

आयुष्य सार्थक है उसकी कि जिसका जब अन्त आया तो उसे बेबाक पाया।

मन में शेष कुछ न रह गया। मृत्यु आयी तो मानो पूर्णता ही आयी। मानो परमेश्वर की कृपा ही आयी। जो स्वेच्छा से मरण का वरण करता है वह वायु पारकर काल को जीतता हुआ अकाल पुरुष बनता है 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' उस सबसे पूरी तरह रिताकर कि जिसे भीतर रखकर उसे भेजा गया था वह इस मृण्मय पात्रा को यहीं की मिट्टी पर ज्यों का त्यों छोड़कर अपने निर्माता के पास चला जाता है धन्य मानता है कि आयु बीती और समाप्त हुई। कृतज्ञ होता है उस क्षण के प्रति कि जब वह खाली हो पाता है और उठा लिया जाता है। ऋण नाना हैं, आयुभर ऋण ही तो चुकाते रहना होता है। समूचा का समूचा स्वयं वह ऋण ही तो है। इसलिए अपने को बूँद-बूँद कन-कन देता गया है तो उसे उऋणता का बोध भी प्राप्त होता है। ऐसा प्राणी फिर-फिर होने और होते रहने से छुटकारा पा जाता है।

फरवरी, 1960.

भाग : चार
प्याले में तूफान

प्याले में तूफान

अद्‌भुत के प्रति उत्सुकता सदा रही है और रहेगी। अद्‌भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ है। तीन टाँग का आदमी आज यदि पैदा हो, तो क्या वह जल्दी पुराना पड़ जाएगा?...

तूफान चाय के प्याले में भी आ सक्ता है। कलकत्ता इस बार गया तो ऐसा ही मालूम हुआ। साहित्य का एक तो शौक होता है। दूसरा उसका स्वार्थ भी हो सकता है। इन दोनों में अन्तर है।

जाते ही फोन पर एक मित्र से बात हुई। बोले—'कब आये?...अच्छा, सुनिए, कल यहाँ एक साहित्यिक गोष्ठी है। निमन्त्रण पहुँचेगा। आएँगे न आप? यह क्या! गला भारी है!'

'हाँ,' मैंने कहा, 'सख्त नजला है। हरारत भी मालूम होती है। देखिए, आ सका तो।'

अगले दिन तबीयत कुछ साफ हो आयी थी और लेने मित्र भी आ पहुँचे। गोष्ठी में पहुँचकर आश्चर्य हुआ। दूर-दूर से आये जाने-माने विद्वान उपस्थित थे और विषय था : नयी कविता। नयी कविता वहाँ कही जाने, पढ़ी जाने, गायी जाने को तो न थी, बिचारी और विवेची जाने को अवश्य थी। आश्चर्य सुखद हुआ। क्योंकि कलकत्ता, सुना था, व्यवसाय की नगरी है। नयी कविता मनोरंजन की चीज हो सकती है, पर नयी कविता का प्रश्न न व्यवसाय का है, न मनोरंजन का। कवि-उत्सवों का मेल तो व्यावसायिकता से बैठ जाता है, जैसे क्लब का और रेस का मेल अर्थवादिता से बखूबी बैठता है। लेकिन विचार-विवेचन की गोष्ठी में भी कलकत्ता के कुछ नागरिक थे, देखकर अच्छा मालूम हुआ।

गोष्ठी ने भरपूर दो दिन लिये। वक्ताओं का वक्तव्य इन दो दिन की लगातार बैठकों में तनिक भी समाप्त हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ा—न नयी कविता का आशय और भविष्य मुझ जैसे के निकट स्पष्ट हो पाया।

नयी कविता से पहले कविता और व्यवसाय, और कवि और व्यवसायी—

इनके सम्बन्ध का प्रश्न मेरे मन में उठता है। ऐसी गोष्ठियों में खर्च तो होता ही है, वह द्रव्य क्यों और कैसे प्राप्त होता है, उसके मूल में प्रेरणा सांस्कृतिक है या क्या, यह मेरे लिए साफ नहीं है। मैंने जाना नहीं कि ठीक कितने, लेकिन कुछ हजार रुपए तो इसमें लग ही गये होंगे। शिकायत है कि कविता पुस्तक छपती नहीं है, छप जाये तो बिकती नहीं है। यदि इन कुछ हजार रुपयों से नयी कविता, या अच्छी कविता की पुस्तकें खरीदी जाएँ और पढ़ी जाएँ तो इससे संस्कृति का अधिक लाभ हो या कम, यह भी प्रश्न के रूप में मन में उठता है। व्यवसायी और कवि आज इनके दो अलग द्वीप हैं। मेल मनोरंजन के पुल से हुआ करता है, यों उन द्वीपों के बीच खाई रहती है। मुझे लगा कि नागरिकता का लाभ इसमें है कि वह दो बीच में गहरी खाई डालकर अलग द्वीप बनकर न रहें और आपसी परिचय के लिए यदाकदा काम आनेवाला मनोरंजन का पुल ही साधन न रहे बल्कि व्यवसाय और काव्य में परस्पर अधिक घनिष्ठ और खुले सम्बन्ध हों। व्यवसाय में कुछ कल्पना का रस और रंग हो सके और काव्य को व्यवसाय का यथार्थ कुछ पुष्टि दे सके। सम्बन्ध कुछ गहरा हो, समग्र हो, जिससे नागरिकता अधिक परिपूर्ण बने।

लेकिन वह अवान्तर है। प्रश्न वास्तव में नयी कविता का है और वही विद्वद्जन-विचारणीय है। सामान्य से विद्वान जन का भिन्न होना आवश्यक है, इसलिए विद्वान का प्रश्न सामान्य जन को अनावश्यक लगे तो विस्मय की बात नहीं है; बल्कि उलटे विद्वान के लिए यह गौरव की बात हो सकती है।

संज्ञा के साथ नया विशेषण आम तौर पर कालबोधक होता है। नयी कविता यानी नये क्षण की कविता। यों यहाँ ज्यादा विज्ञान आवश्यक नहीं है, लेकिन बात की पकड़ के लिए वैज्ञानिक दृष्टि मदद देती है। वह दृष्टि यह कि क्षण काल का वह बिन्दु है जिसमें किसी प्रकार का परिमाण नहीं है। ज्यामिति के बिन्दु में लम्बाई-चौड़ाई सर्वथा नहीं हो सकती। इतनी नहीं कि वह बिन्दु कल्पना के सिवा अन्यत्र हो नहीं सकता। कागज पर होते ही वह अ-बिन्दु हो जाता है। यही हाल क्षण का है। उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म 'ड्युरेशन' नहीं टिक सकता यानी क्षण होता नहीं कि बीत जाता है। इस तरह अन्त में नया वह रह जाता है जो नया-सा लगता है।

नये का अधिकांश यही आशय है। अब इस आशय के पास के शब्द और भी हैं, जैसे—अद्भुत, विचित्र, अनोखा, निराला आदि। इन शब्दों में नये से कुछ अधिक ध्वनि है। नये में यदि यह दावा हो कि वह अधिक आधुनिक, अधिक अग्रगामी, अधिक उन्नत, अधिक प्रगत (प्रगति प्राप्त) है तो अद्भुत आदि विशेषणों में इस दावे की गूँज नहीं है। सच पूछिए तो अद्भुत क्षण—नवीन नहीं सदा—

नवीन होता है। तीन टाँग का आदमी आज यदि पैदा हो तो क्या वह जल्दी पुराना पड़ जाएगा? अद्‌भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ होता है।

अद्‌भुत के प्रति आकर्षण रहा है और रहेगा। परन्तु इस आकर्षण में घनिष्ठता की जगह एक दूरी होती है। आत्मीयता वहाँ सम्भव नहीं बनती, एक कुतूहल का भाव बीच में अन्तराय बना रहता है। इसलिए वही नवीनता परम्परा में समाकर सनातन महत्त्व की बनती है, जो अतीत की कड़ी से विच्छिन्न नहीं होती बल्कि संगत होती है।

नवीनता का प्रेम नवीन नहीं है, एकदम पुरातन है। ऐसे लोग फ़ैशनेबल कहलाते हैं। फ़ैशनेबल लोग हर काल हर देश में रहेंगे, वे निगाह के लिए सदा दिलचस्पी का कारण भी रहेंगे। लेकिन कभी इस फैशनेबल वर्ग का महत्त्व नहीं हुआ है। काल गति में समाकर ये जन खो जाते रहे हैं। दीर्घजीवी वह नहीं होता जो क्षण पर जीता है। इस तरह, वह नयी कविता जो पुरानी से सर्वथा टूटी है, सिर्फ नयी ही है, जीवन-सत्त्व से कुछ कोरी होनी चाहिए। कोई नयापन अपने बूते जी नहीं सका है। जब उसमें से कुछ अनादि और सनातन प्रकट हुआ है, तभी वह गति का अगला चरण माना गया है।

हर प्रभात नया होता है, हर सृष्टि नयी है। इसलिए नहीं कि नयापन उसका क्षण पर निर्भर है, बल्कि इसलिए कि उसमें एक सातत्य की अभिव्यक्ति है।

हर क्षेत्र की फ़ैशनेबल दुनिया एक चाय के कप के मानिन्द है। वह छोटी है और उसमें एक फूँक से लहरें आती हैं, जैसे स्टॉक एक्सचेंज मार्केट में लेटेस्ट भाव के उतार-चढ़ाव। वहाँ तहलका ही मचा रहता है। जिनकी जान वहाँ है, उनकी तो पूछिए क्या! लेकिन आम आदमी से दूर की यह चीज है और धर्मयुग के लिए अनिवार्य नहीं है।

एक चालू शब्द प्रयोगवाद था। अब यह नयी कविता आया है। कविता के क्षेत्र में नया प्रयोगवाद था, प्रयोगवाद शब्द अज्ञेय के तारसप्तक से चला। चला एक बार तो चल ही गया। सप्तक के कवियों में कोई एकता न थी, सिवा इसके कि सब वे थे जो कविता में तब तक आत्मप्रतिष्ठ न थे। इस संयोग से और अज्ञेय व्यक्ति के संयोग से यह सप्तक बन आया। फिर तो दूसरा और तीसरा सप्तक भी बनना जरूरी हुआ। चलती का नाम गाड़ी है। पहले के बाद दूसरे संग्रहों में कवि छः, या आठ, या कम-अधिक भी हो सकते थे। लेकिन पहला सप्त-संख्यक था न, इसलिए दूसरे या तीसरे में भला संख्या भिन्न कैसे हो सकती थी! ऐसा नियम प्रकृति में नहीं देखा जाता, पर संस्कृति के लिए कब आवश्यक है कि वह अकृत्रिम हो!

अब आप जानते हैं कि दुनिया में शीतयुद्ध है। दुनिया में है, यानी हर कहीं

है। यह वादों की कृपा है। विशेषकर वादराज साम्यवाद की। निरूपण हुआ कि अद्वैत एकदम नहीं है, मूल है द्वैत। यही डायलैक्टिक्स; अर्थात् कि द्वैत के इस संघर्ष में से प्रगति निष्पन्न होती है। इसलिए जरूरी हुआ कि दो दल हों। साम्यवादीजन यह न भी चाहें, पर साम्यवाद के लिए दूसरा कुछ सम्भव नहीं है। अब द्वैत यदि सर्वव्याप्त है तो शीतयुद्ध से भी बचा कोई कैसे रह सकता है! स्पष्ट है कि शक्तियाँ तो दो ही हैं; जो प्रोग्रेसिव नहीं हैं, वह रिएक्शनरी हैं। प्रोग्रेसिव की कसौटी यदि हम अपने पास बनाकर रख लेते हैं तो रिएक्शनरी अपने×आप छँट जाते हैं। इस छँटाव में अज्ञेय रिएक्शनरी गर्दाने गये। अब जो सप्तकवाद और प्रयोगवाद चला तो जश्न हुआ, प्रगतिवाद क्या करे? प्रगति को आधुनिक तो रहना ही पड़ेगा। इससे आधुनिक के नाम पर कुछ अन्य चल निकले तो प्रगति भला चैन से कैसे रह सकती है! परिणाम हुआ, प्रयोगवाद का अस्वीकार और नये शब्द नयी कविता का आविष्कार! सच यह है कि वर्गीय अस्वीकार ने प्रयोग को एक वर्गीय वाद का बल दे दिया। नयेपन को प्रगति के दल के लिए जीतना और अज्ञेय को रिएक्शन के नाम पर नयेपन से च्युत करना आवश्यक हुआ। यह सब चाय के कप के तूफान की प्रेरणाएँ हैं! सिर्फ घटनात्मक हैं, विचारात्मक मेरे विचार से नहीं हैं, या केवल गुरुजन विचारणीय हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता कविता है। इसीलिए नहीं कि वर्णमात्रा का अमुक छन्द है; बल्कि इसलिए कि व्यंजना में भाव की लय है और अनुभूति की काव्यात्मक भूमिका है। वह सनातन और नूतन दोनों हैं। इसी से काल और देश उससे पराजित रहते हैं। व्यास, कालिदास, दाँते, मिल्टन और गेटे आदि में उसी सूत्र की एकता है। जो क्षणाधीन है, वह कविता कैसे हो सकती है? क्योंकि उससे तो समकालीन लेखक और पाठक तक में एकता नहीं हो पाती!

[मई, 1959]

साहित्य का धर्म

'साहित्य एक से एक के हृदय को छूता है और इस तरह एक ऐसे 'चेन रिएक्शन' को जन्म दे सकता है कि उसका प्रभाव दुर्निवार्य हो आये। पर यह जन-जन के आधार पर ही हो सकता है...'

एक लेखक-सम्मेलन का विचार सुना जाता है। उसका आरम्भ 30 जुलाई को विनोवा की उपस्थिति में और उनके प्रवचन से होगा। प्रवचन का विषय होगा साहित्य का धर्म।

साहित्य से सबको काम है। कौन है जो पढ़ता नहीं है! पढ़ते नहीं हैं, वे सुनते और देखते हैं। कथावार्ता सुनते हैं और नाटक-सिनेमा देखते हैं। मूल में इन सबके साहित्य है।

पहले लोग अपनी या अपनी बिरादरी की सोचते थे। बड़े क्षेत्र तक या तो मनुष्य महत्त्वाकांक्षा में जाता था या मंगलाकांक्षा में। उस समय साहित्य के प्रयोजन के बारे में विवाद की आवश्यकता नहीं होती थी। लोकमानस और लोकचित्त को या तो स्वीकार किया जाता था या अपने कारनामों से उसे चमत्कृत किया जाता था। उसको अमुक दिशा में गढ़ने और उसमें से अमुक परिणाम निकाल लेने की भाषा में सोचना अनावश्यक होता था। आशय, साहित्य में कोई प्रक्षिप्त प्रयोजन न था। वह एक सृष्टि थी, जिसका उत्स आनन्द था और मंगल-कामना। राजकीय या दलीय प्रयोजन अपने अलग रहता था।

यह नहीं कि सम्प्रदाय न थे या वर्ग न थे। असल में पिछले दिनों तत्त्ववाद संगठित हुए बिना नहीं रहते थे और गुरुओं को लेकर पन्थ बन जाते थे। उनके अपने ग्रन्थ और शास्त्र तैयार होते थे। पर यह सब प्रवृत्ति साहित्य की भूमिका से स्वतन्त्र होती रहती थी। साहित्य को दिशा देने की कोई बात न थी। अपनी-अपनी सब कहते थे और जन मानस एक तरह चुनने को मुक्त था। अपनी पसन्द थी और उसके पीछे कोई व्यापक नियोजन न था।

तब से हालत बढ़ आयी है यानी दुनिया छोटी हुई है और व्यवस्थापक की महत्त्वाकांक्षा अब वैयक्तिक से आगे निर्वैयक्तिक और व्यापक हो गयी है। सोचा जाता है कि यह जो साहित्य की शक्ति है, मानस-निर्माण और चित्त-संस्कार की शक्ति, उसका क्या विनियोग और उपयोग हो।

ऐसे समय साहित्य के धर्म की बात मुझे तो बहुत संगत लगती है। साहित्यिक मिलें और स्वधर्म की भाषा में सोचें यानी अन्तःकरण से अपने विच्छिन्न न हों। कर्म का प्रश्न धर्म के विचार से हल होगा क्योंकि कर्म को दिशा धर्म से मिलती है।

उपयोग का शास्त्र धर्मशास्त्र से बहुत विसंगत नहीं होता। सिद्धान्त से व्यवहार सिद्ध और पुष्ट होता है। हम तटस्थ, निष्काम और निष्प्रयोजन होकर प्रकृति में गर्भित नियमों का आविष्कार किया करते और उसमें से नये-नये चमत्कारों का निर्माण करते हैं। कामनाएँ और प्रयोजन लेकर चलने से ज्ञान का उद्‌घाटन नहीं होता। तब हम प्रकृति से अथवा धर्म से समरस नहीं होते, बल्कि उस पर दबाव डालते हैं और परिणाम में विफलता पाते हैं।

प्रकृति के नियमों के स्वीकार पर हमारी यात्रा सुगम होती है। उनसे फिर हमारे बड़े-बड़े काम निकलते हैं। जैसे यह कि चुम्बक की सूई उत्तर की ओर रहती है। सूई के इस स्वधर्म के बारे में अब हम निश्शंक हैं। यह हम नहीं सोचते कि जिधर हम चाहें उधर वह सूई रहे। सूई आपकी चाह से सर्वथा स्वतन्त्र है और स्वधर्म से च्युत नहीं हो सकती, इसी से उसके सहारे बड़े-बड़े काम निकलते हैं। दिशादर्शक यन्त्र कितना ज़रूरी है, यह कौन नहीं जानता।

आदमी अपना स्वार्थ साधता चला गया है। वही उसका पुरुषार्थ रहा है। पर उसका स्वार्थ जो सिद्ध और विकसित होता चला गया है, उसका कारण निष्काम ज्ञान था। पशु सीधा सम्बन्ध बनाता है—भोग का या भूख का। तटस्थ सम्बन्ध का उसे परिचय नहीं है। इससे पशु में नितान्त वेग और बल होते हुए भी प्रगति और उन्नति की सामग्री अर्थात् विवेक नहीं है। विवेक के मूल में यही निस्संगता और तटस्थता है।

साहित्य सहित का भाव है यानी वह अलग नहीं है। इसी से निस्संगता उसका सहज धर्म है। एक के पास होने के लिए हम दूसरे से दूर होते हैं। साहित्य के पास यह सुविधा नहीं है, वह सहित है, हित के साथ है और सबके साथ है। वह बराबर साथ-साथ है। सबके संग है, इससे किसी एक के ही संग कैसे हो। ऐसे निस्संगता उसका स्वधर्म हो जाता है।

साहित्य का खिंचाव सत्य की ओर है, ठीक जैसे चुम्बक का ध्रुव की ओर। इससे दूसरा कुछ हो तो अनन्त दिग्भ्रम हो जाए। साहित्य और सत्य के बीच दूसरी

कोई वफादारी अन्तराय बनकर नहीं आ सकती। देश के लिए, जाति के लिए, मत-धर्म के लिए कोई कुछ भी क्यों न करे, पर साहित्य किसी के लिए भी सत्य से विमुख नहीं हो सकता। यह उसका गुण और स्वभाव यदि पहचान लिया और स्वीकार लिया जाता है तो हमारा उससे बड़ा काम निकल सकता है। तब विश्वसनीय दिशा-दर्शक की सूचिका के तौर पर उस पर निर्भर किया जा सकता है। उसकी अचूक सूई बताती रह सकती है कि मूल्य किधर है और उसकी अपेक्षा से हम जाँचते रह सकते हैं कि सही दिशा में हम जा रहे हैं कि नहीं।

आसक्ति के बिना आदमी टिक नहीं सकता है। पर अनासक्ति के बिना आदमी चल भी नहीं सकता है। आज यदि स्थिति में तनाव बहुत है और युद्ध की आशंका बनी रहती है तो निश्चय ही मूल में दो विरोधी आसक्तियाँ काम कर रही हैं। हरेक को अपना देश प्यारा है, रंग-ढंग प्यारा है। इतना कि उस प्यार की रक्षा में द्वेष जरूरी हो जाता है। ऐसी हालत में साहित्य के सिवा सहारा कहाँ रह जाता है कि प्रेम जहाँ अपना हो नहीं सकता, सबका ही हो सकता है।

निश्चय ही यह स्थिति बड़ी कष्टकर है। आप किसी के बन रहते हैं तो जिन्दगी आसान हो जाती है। पर अमुक एक के बनने में दूसरे से बिछुड़ना समाया है। जिसके लिए किसी से बिछुड़ने की इजाजत नहीं है, उसकी स्थिति बहुत ही दुर्गम है। उस स्थिति का निमन्त्रण किसी को नहीं दिया जा सकता। अत: साहित्यिक बनने का प्रोत्साहन देना बड़ा खतरनाक काम है। किसी की दुनिया उजाड़ना शुभ नहीं है। फिर भी जो उधर जाये, उसे साहित्य के धर्म को पहचान लेना चाहिए। आँख खोलकर फिर भी वह बढ़े तो बढ़े। तब उसे शिकायत नहीं हो सकती।

सच से नाता जोड़ने के बाद दूसरे नाते शिथिल बन जानेवाले हैं। वे टूटें तो भी टूटने देना होगा। साहित्य में लिहाज न होगा, न भय ही, न प्रत्याशा। उसमें कामना न होगी। उसमें उपासना होगी, सबकी और सबमें व्याप्त सत्य की। इससे अतिरिक्त किसी दम्भ और दर्प, किसी बल और अभिमान का सम्मान वहाँ न हो सकेगा।

आज की दुनिया की हालत यह है कि आना-जाना और मिलना-बोलना एक कोने से दूसरे कोने तक बेहद सुगम हो गया है। पर बँटी हुई वह देशों में है। देश की सरकारें अन्तर्देशीय व्यवहार-व्यापार का नियमन करती हैं। स्वभावत: यह अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीय स्वार्थों के हित की भूमिका पर चलती है। साहित्यिक राष्ट्रीय हितों के अधीन होकर चलनेवाला प्राणी नहीं है। इससे उसको अपने ही देश और सरकार का सहारा मिले, यह आवश्यक नहीं रह जाता। इसलिए वही व्यक्ति है जो मन से जागतिक होकर भी आज के दिन अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए

गैरजरूरी पड़ जाता है। वह किसी एक कोने में रहता है, किसी एक भाषा में लिखता है। वह उस कोने और उस भाषा का ही बना रहे, इसकी बहुत सम्भावना है। संगठित स्वार्थ और सत्ताधीश उसको बल नहीं दे सकते। पर इसी स्थिति में उसे काम करना है; मानवता को एक करना है और जगत में युद्ध को और उसकी आवश्यकता को नि:शेष करना है।

यहाँ एक सान्त्वना है। वह यह कि सत्य का आग्रह जब साहित्य को और साहित्यिक को निस्संग, सार्वजनिक, फिर भी एकांकी बनाता है, तब सहानुभूति का श्वास और स्वर उसकी वाणी को सार्वत्रिक बनने की क्षमता और सम्भावना दिये रहता है। उसकी अपील हृदय से हृदय को है। संगठित नहीं है, किन्तु उससे अमोघ हो सकती है। साहित्य एक से एक के हृदय को छूता है और इस तरह एक ऐसे चेन रिएक्शन को जन्म दे सकता है कि उसका प्रभाव दुर्निवार्य हो आये। पर यह जन-जन के आधार पर ही हो सकता है। व्यापक लोकशक्ति का ही उसे भरोसा है। दलीय या वर्गीय या राष्ट्रीय या जातीय स्वार्थ-शक्ति का भरोसा उसे छोड़ देना होगा।

[मई, 1959]

उपन्यासकार और आपबीती

उपन्यासकार की हैसियत से मेरा काम आपबीती से बिलकुल नहीं चला है। यदा-कदा और यत्र-तत्र उसके खण्ड काम आ गये हैं तो आ गये हैं। इष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूँ।

प्रश्न है कि मैंने उपन्यास वगैरह में जो लिखा है सो क्या अपने ऊपर लिखा है? जो देखा और भुगता है उसी के आधार पर लिखा है?

नहीं, ठीक-ठीक 'अपने पर' नहीं लिखा है। हाँ, 'अपने को' अवश्य लिखा है।

इन दोनों में जो अन्तर है उसको तनिक खोलने की आवश्यकता है। मेरी आपबीती मेरा बहुत थोड़ा अंश है, वह बहुत सीमित है। इतने वर्षों में जो मेरे साथ हुआ है उतना ही नहीं, उसमें से भी जो याद में बचा रह गया है वही मेरी आपबीती है। सृष्टि इस स्मृति के घरौंदे के भरोसे हो सकती है, इसकी सम्भावना कम है। मेरा भोगा और भुगता थोड़ा ही हो सकता है, अधिक तो वह ही है जो उससे बाहर रह जाता है। आखिर मैं असंख्य अनन्त में से एक होकर कितना कुछ भोग पा सकता हूँ। वह पूँजी अनिवार्यतः बहुत ओछी और उथली ही होती है।

यह भी लगता है कि वह सामग्री उतनी विश्वसनीय नहीं है। विश्वसनीय इसलिए नहीं कि स्मृति और रुचि भी अपना खेल उसके साथ खेला करती है; कुछ इसको प्रिय जानकर अपने पास रोक लेती है, कुछ अन्य अप्रिय को बिसार देती है। इसमें यथार्थ ज्यों का त्यों सुरक्षित रह नहीं पाता, कुछ निजीय का भी समावेश हो जाता है। स्मृति के तन्तुजाल प्रिय के कण की बुन फैलाकर बृहद आकार दे सकते हैं, जबकि घटनात्मक रूप में कुछ बहुत बृहत भी हो घटा हो तो उसको एकदम शून्य कर डाल सकते हैं। रुचि-स्मृति का यह तमाशा अपनी ही आपबीती को मनमाना रूप दे जाता है!

मालूम होता है कि घटना को पकड़ने के लिए हमारे पास जो भी साधन हैं, घटित का रूप उन पर निर्भर करता है। ज्ञान और संवेदन के तन्तुओं से हम उसको ग्रहण करते हैं। इसलिए एक स्थान और एक समय पर हुई घटना का वर्णन अनेक जन अनेक प्रकार किये बिना नहीं रह सकते। किन्हीं दो का वर्णन एक नहीं हो पाता। कारण, वह वर्णन जितना घटना का होता है उतना ही वर्णन करनेवाला का भी होता है।

यह तो हुआ 'अपने पर'। अब 'अपने को'।

मुझ पर बीता जबकि सीमित है, घटन से सीमित और स्मृति से सीमित है, तब स्वयं 'मैं' उतना ही सीमित नहीं हूँ। कारण, शेष जितना बचा रह जाता है उससे मैं भावना, कामना और कल्पना का सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र हूँ। इस सबके सहारे मैं असीम हो जाता हूँ। मेरा अनुभव सीमित हो सकता है, पर स्वप्न उस सीमा को मानकर इधर ही कैसे ठहर सकता है! सो स्वप्नशील कल्पना के सहारे मैं तमाम काल-आकाश में विहरण कर सकता हूँ। घटित जबकि मेरे साथ स्वल्प और सीमित है, तब अघटित सारा का सारा सम्भावना-लोक के रूप में मेरे भीतर क्रीड़ा करता रह सकता है।

प्रतीत होता है कि सृजन का कार्य इन सम्भावनाओं के जगत में से अपनी अधिक प्रेरणा प्राप्त करता है। तथ्य थोड़ा-बहुत काम दे सकता है, पर उस ठोस यथार्थ से जो स्वप्न को गति मिल जाती है, तथ्य का मुख्य दान है तो वह है। तथ्य मनुष्य के संवेदन पर आघात देकर नाना तरंगों को जन्म देता है। अनन्त विकल्प और अनुमानों की सृष्टि उससे होती है। अधिकांश वे लहरें तथ्य से स्वतन्त्र हो जाती हैं। हुआ वह तो अमुक रूप था, जो हो सकता था उसके रूपों का अन्त नहीं रहता। बस, वे लहरें उन अनन्त सम्भावनाओं की ओर बढ़ने लगती हैं, मानो वहाँ व्यक्ति अपनी मुक्ति अनुभव करता है! कर्म बन्धन है, स्वप्न में पहुँचकर उसे मोक्ष का लाभ होता लगता है।

तथ्य घटनात्मक और कर्मात्मक है। उसकी सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। जो है, उतना ही है। ऐसे तथ्य सर्वथा निश्चित और व्यतीत है। मानो वह चुक गया है। देना था वह दे चुका है और अब बीतता बन गया है। यह जो आनेवाला क्षण है, सब तरह की सम्भावनाओं से भरा तो वह है। तथ्य वह नहीं है, इसीलिए उससे हमारा सम्बन्ध तीव्रतर आकांक्षा और घनिष्ठता का होता है। वहीं सब कर्तव्य और सृजन की सम्भावनाएँ भरी हुई रहती हैं।

मेरे अपने साथ उपन्यास लेखक की हैसियत से यही घटित होता रहा है। पहला उपन्यास था मेरा 'परख'। उसमें स्पष्ट आपबीती का प्रभाव है। किन्तु प्रभाव इस रूप में कि वहाँ से कथा उठ पड़ी है। उस कथा को गति जो मिली है सो

घटित तथ्य के आधार पर कैसे मिल सकती थी! घटित ने तो पट का काम भर दिया है। पट पर फिर क्रिया चलती है, कथा गति के बिना तो बनती नहीं। है से वह बढ़ती है हुआ की ओर। क्या हुआ, फिर क्या हुआ, उसके बाद क्या हुआ। इस तरह कथा को सम्भावनाओं में आगे अपनी राह खोजते चलना पड़ता है। 'परख' में आपबीती के खण्ड से आरम्भ करके इन सम्भावनाओं में से तर्क-विचार के सहारे-सहारे मैं आगे बढ़ता गया हूँ। उसी में से परख की कथासृष्टि होती गयी है। नाना पात्र उसी मूल विचार में से अवतार पाते गये हैं। उनके नानात्व के अभाव में सम्भावनाओं के खेल को चित्रित किया नहीं जा सकता था।

तो 'अपने को' देने या पाने की कोशिश में जो मेरा उपन्यास बना है, उसमें 'अपने पर' बीता यदि आया भी है तो सामग्री की भाँति उपयोग में आ गया है। उनसे अधिक महत्त्व उसे नहीं मिल सका है। इस कारण नहीं कि मैं अपने घटित की अवज्ञा करना चाहता था, बल्कि अधिक इस कारण कि मैं अपने को उतना ही मान नहीं सकता था। दूसरे शब्दों में कहें तो भोक्ता मुझमें प्रधान नहीं बन सकता था, उसके ऊपर द्रष्टा और ज्ञाता ही प्रधान बन आता था। जिसने भुगता है वह तो निमित्त ही रह जाता था, उसको चलाने के लिए मानो ऊपर वह हो आता था जो भोग से बँधता नहीं है, जो उसको केवल देखता और जानता है।

जितना विचार करता हूँ इस घटना पर उतना ही विचित्र मालूम होता है। इसलिए कभी यह भी लगता है कि लिखना आध्यात्मिक अभ्यास का काम दे सकता है। मानसोपचार में जो यह कहा जाता है कि अवचेतन की चेतन में लाने मात्र से रोग की ग्रन्थि खुल जाती है सो बात कुछ समझ में आती है। द्रष्टा हम हो जाएँ और अपने ही भोक्ता को सर्वथा दृश्य का रूप दे सकें तो जान पड़ता है कि ऐसे एक दिन भोक्ता का उत्पात कम होने लग जाएगा और द्रष्टा स्वाधीन बनेगा। भोक्ता उससे स्वतन्त्र और निरंकुश आचरण कर नहीं सकेगा।

वह जो हो, उपन्यासकार की हैसियत से मेरा काम आपबीती से बिलकुल नहीं चला है। यदाकदा और यत्र-तत्र उसके खण्ड काम आ गये हैं तो आ गये हैं, इष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूँ। पहला उपन्यास मेरा 'परख' है। पहला है इसलिए अपने से बहुत दूर जाने की मुझे वहाँ सूझ ही नहीं सकती थी। एकदम आपबीती से वह शुरू हो गया है, लेकिन बढ़ा विचार में से है। मेरे मन में उस समय भी एक परिणाम बनकर स्पष्ट होता आ रहा था, वह यह कि आदर्शवाद काम नहीं देता है। आदर्श के नाम पर अपने ही मनोरथों को हम सामने टाँग लेते हैं, पाँव लेकिन परिस्थिति की धरती पर चलते हैं। इस तरह समय आता है कि अपने को स्वीकार करने में आदर्श के साथ हमें समझौता करना पड़ता है। परिणाम एक मिथ्याचार होता है। अतः जान पड़ा कि शायद जीवन

में वह अधिक स्थिर और सफल हो सकता है जो प्रसन्न स्वीकारता से चलता है, आदर्श के दावे को कन्धों पर ऊँचा उठाकर चलता हुआ नहीं दीखता। इस परिणाम पर पहुँचते हुए विचार के हाथ में आपबीती से मिली परिस्थिति पड़ गयी, उसमें से कथा को जो मोड़-तोड़ मिलता चला गया सो चला गया। अन्त में कुल मिलाकर जो 'परख' बनी, उससे मानो यह विचार परिपुष्ट होता हुआ दीखा। सत्यघन महाशय, जो कथा के आरम्भ नायक के रूप में अवतार पाये गये, आगे व्यर्थ हुए और बिहारी नाम के अन्य बन्धु कृत-कार्य बने। बिहारी वहाँ सर्वथा कल्पना में से बन आये हैं और गरिमा भी आपबीती के आसपास से नहीं उपजी हैं। इन दोनों चरित्रों की सृष्टि आवश्यक यदि हुई तो आपबीती के निमित्त से नहीं, बल्कि सर्वथा उस मूल विचार के कारण जिसकी सम्पन्नता की ओर कथावस्तु को बढ़ते और उठते जाना था।

दूसरा उपन्यास मेरा है 'सुनीता'। कथा का आरम्भ वहाँ भी आपबीती नहीं तो आप-देखी में से हो गया है। लेकिन वह हुआ तब जब इसी प्रकार का एक विचार, या कहना चाहिए प्रश्न, लेखक के मन में उदित हुआ और उसके लिए कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा तद्विचाराधीन कल्पना के आधार बुनती गयी है। इतना ही है कि कल्पना मनमानी नहीं चली है, तर्क के साथ-साथ आगे बढ़ी है। ऐसे वह यथार्थता के उपादानों का संचय अवश्य करती गयी है, लेकिन उनकी रक्षा के प्रति कथा ने अपना दायित्व नहीं स्वीकार किया है। यहाँ तक कि तर्क सामाजिक यथार्थ की सम्भावनाओं को पार कर गया है। बहुत ऊहापोह हुआ है उस रचना पर। खासकर उस नग्नता के प्रसंग पर जहाँ पुस्तक का विचार एक परिसमाप्ति पर आया मालूम होता है। उपन्यासकार की हैसियत से मैंने अपना धर्म घटना पर रुक जाना नहीं माना है। कारण, घटना में से अपने-आपमें मैं प्रेरणा ही नहीं पा सका हूँ। अनुमानित सम्भावनाएँ मुझसे लिखाती रही हैं और उन्हीं के आधार पर अमुक कथावस्तु को लेकर मैं रचना करता चला गया हूँ। उस प्रकार की सूझ पास न हो तो मेरा काम आरम्भ ही नहीं हो पाता। इसलिए 'सुनीता' में मैंने कहीं सामाजिक यथार्थ का अतिक्रमण किया है तो उसमें कुछ अयुक्त मुझे नहीं प्रतीत हुआ है। आज भी उस सम्बन्ध में पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय' की यहाँ याद की जा सकती है। सुनीता में उसका भी किंचित् योग रहा है। रवीन्द्रनाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना में मानो रक्षा की है, गिरस्ती टूटी नहीं है। पत्नी द्वारा पश्चात्ताप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप में कथा के आरम्भ में अवतरित हुआ है, अन्त की ओर उसे ही स्खलित और परास्त होकर मुँह बचाकर भाग जाना पड़ा है।

गिरस्ती तो सुनीता में भी नहीं टूटी है, लेकिन जिस भाँति उसकी रक्षा हुई है, वह पलायन का प्रकार नहीं है। 'चार अध्याय' पढ़ते मुझे प्रतीत हुआ था कि समस्या-निदान की दृष्टि से उसमें पूरा न्याय नहीं हो सका है। सुनीता में उस समस्या-विचार को लेकर मैं बीच में रुकने को तैयार नहीं था, न पलायन अपना सकता था। इसलिए हठात् कथा को वहाँ तक बढ़ाता चला गया जहाँ तक तर्क का छोर आता था। यह सब प्रक्रिया जिस आधार पर सम्भव बन सकी, वह भुक्तभोग की अनुभूति नहीं हो सकती थी। वहाँ तो कल्पना और चिन्तन का ही सहारा था।

उसके बाद 'त्यागपत्र' में भी यही है! यहाँ से वहाँ तक वह कथा विशुद्ध कल्पना पर खड़ी है। आपबीती के तत्त्व छिटके-फुटके रूप में यहाँ-वहाँ देखे जा सकते हैं, पर वे कथा के कलेवर में, मकान में ईंट की तरह, चिनाई के काम आ गये हैं। उससे अधिक अर्थ वहाँ उनका नहीं है। सारी कथा अन्त में जैसे यह कहने की ओर बढ़ती जाती है कि अपने दुख-दर्द में से मिलते प्रकाश को अस्वीकार करके जब हम महत्त्वाकांक्षा में उठते-बढ़ते चले जाते हैं तो यह जीवन का और व्यक्तित्व का सही विकास नहीं है, उसमें मुक्ति और पूर्णता नहीं है। उसमें केवल अभिमान का पोषण है, जिसमें शायद आत्मा का शोषण समाया रहता है। कथा कहनेवाला वहाँ न्यायाधीश है, आपबीती के रूप में वह अपने जीवन पर विचार करता है और अन्त में त्यागपत्र देता है। कथा के उस पट को घेरे हुए जो उसकी बुआ मृणाल है, उनका चरित्र सामान्य आँखों से नहीं, उस 'न्यायाधीश' की आँखों से देखा गया है जो संवेदन में से घुलकर निरा-धीरोदात्त हो आया है और इसलिए सच में अपना ही न्यायाधीश है। इस न्याय-विचार में ही सामान्य यथार्थ की सीमाओं पर रुकना नहीं हो सका है।

शेष अपने एक-एक उपन्यास की चर्चा करने की यहाँ जगह नहीं, आवश्यकता भी नहीं है। मैंने लिखा थोड़ा है और सच यह कि उपन्यास के सम्बन्ध में कभी कुछ जाना नहीं है। हो सकता है कि उपन्यास मेरे उपन्यास हों ही नहीं; मनगढ़न्त कुछ ऐसी रचनाएँ हों, जिनको उपन्यास की श्रेणी में कृपापूर्वक ही सम्मिलित किया जा सकता हो। जो भी हो, मेरे साथ आपबीती प्रमुख नहीं रही है, कल्पना प्रमुख रही है। और उस कल्पना में रीढ़ के तौर पर वह विचार प्रमुख रहा है जो कथा को आगे बढ़ाकर उसे स्वरूप देता चला गया है। यहाँ तक कि अन्तिम उपन्यास 'जयवर्द्धन' इस कदर कोरा गढ़न्त है कि हद नहीं। वहाँ काल-देश की तनिक यथार्थता नहीं है, पात्र और चरित्र सब कल्पित और कृत्रिम हैं। साफ और उजागर वे जीवन-यथार्थ की भूमिका पर विचरते नहीं मालूम होते हैं। उपन्यासकार की हैसियत से शायद यह अक्षम्य हो सकता है और मुझसे क्षमा की प्रार्थना की अपेक्षा

रखी जा सकती है। लेकिन उपन्यास मेरे लिए इष्ट था नहीं, है नहीं, कोरा निमित्त है। और यह स्वीकार करने में मुझे तनिक असुविधा और दुविधा नहीं जान पड़ती कि मेरा, या संसार का, अनुभव मेरे लिखने में उतना नहीं है जितना कि एक तत्त्वाश्रित अनुमानवाद है।

[अगस्त, 1960]

भाषा और चिह्न

चिह्न गलत जगह लग जाये तो उससे भीषण अनर्थ हुए बिना न रहेगा। न लगे तो उससे उतनी आशंका नहीं रहती। इसलिए शायद यह उचित ही होगा कि चिह्नों का सहारा यत्किंचित् भी छोड़ दिया जाए।

मेरे एक लेख में दो वाक्य यों छपे हैं : 'चेखव की अनासक्ति उस तरह रागशून्य नहीं है। अनासक्ति तो वह इस कारण है कि चेखव का राग-द्वेष निर्भर नहीं है, वह सबके प्रति अनुरागपूर्ण है।'

क्या इसका कुछ भी अर्थ बनता है? पढ़ते समय मैं स्वयं ही चकराकर रह गया। दूसरे पाठकों का क्या हाल हुआ होगा, मैं नहीं कह सकता। पहले वाक्य का अर्थ तो स्पष्ट है। पर दूसरे वाक्य का, कम-से-कम मैं, प्रयत्नपूर्वक भी कोई अर्थ नहीं बना पाता हूँ। बहुत देर तक सोचता रह गया कि इस दूसरे वाक्य में अर्थ तो है नहीं, फिर गलती है तो कहाँ है। मूल में क्या लिखा गया होगा? पाँच-सात मिनट कुछ सूझ न पड़ा। अन्त में भूल समझ में आयी। वाक्य में 'राग-द्वेष निर्भर' जो छपा है सो 'राग द्वेष-निर्भर' होना चाहिए था। बस, इतनी-सी भूल से अर्थ का अनर्थ हो गया है।

यहाँ भाषा और उसके अंकन का सवाल उठता है। बोलते समय भाषा में आरोह-अवरोह होता है। कहीं बीच में कम रुकते हैं, कहीं ज्यादा रुकते हैं। लिखते समय ध्वनि की यह सहायता भाषा के पास रहती नहीं, इसलिए 'पंक्चुएशन' (विराम चिह्नों) का निर्माण किया गया है। उससे हम भाषा को सँभालते हैं और अर्थ को, जहाँ तक हो, बिखरने नहीं देते हैं। विराम चिह्न के बिना भाषा जैसे अपना पूरा काम अदा नहीं कर पाती।

एक का भाव दूसरे तक पहुँचे, और सिर्फ कागज पर छपे शब्द के द्वारा, यह एक विस्मय ही है। भाषा वही आश्चर्य है। उससे व्यक्तिगत भाव सार्वभौम तक हो जाता है। लेकिन भाषा सहारा बनती है, भाव को अपने में बन्द नहीं बना लेती। वह भाव जगा भर देने का काम करती है। वह प्रतीक होती है, सूचक

होती है। और यदि भाव के साथ तद्‌गतता प्राप्त हो जाये तो भाषागत त्रुटि भी सह्य हो जाती है और भाव-बोध में बाधा उपस्थित नहीं करती।

हिन्दी में विराम चिह्नों का रिवाज हाल में चला है। संस्कृत में पहले एक खड़ी पाई हुआ करती थी। बस, उतने से चलता था। हिन्दी में भी शुरू में उस पूर्ण विराम की पाई से ही काम चला लिया जाता था। इससे साहित्य की विशेष हानि हुई, सो नहीं कहा जा सकता।

पर अँग्रेजी की देखादेखी चिह्नों की भरमार हिन्दी में भी आ गयी है। मैं स्वयं शुरू में अन्धाधुन्ध उनका प्रयोग करता था। 'परख' की प्रति में अब तक उन्हें जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े देख लीजिए। लेकिन आज ऊपर की इस अशुद्धि से मैं बड़े झमेले में पड़ गया हूँ। यों तो क्रमशः विराम चिह्नों का उपयोग मेरे साथ कम होता जा रहा है लेकिन इस ताजा उदाहरण से मालूम होता है कि अगर सिर्फ खड़ी पाई ही हमारे पास रह जाये तो उससे अनर्थ होने की सम्भावना कम ही होगी, बढ़ेगी नहीं।

ऊपर के वाक्य में 'राग' और 'द्वेष' के बीच में 'हाइफन' का चिह्न है। इससे राग और द्वेष दोनों संयुक्त हो जाते हैं, निर्भर अलग जा पड़ता है। मैंने चेखव के बारे में कहना चाहा था कि वह अनासक्त है, पर रागशून्य नहीं। वस्तुतः राग उसका अनासक्ति का अविरोधी इसलिए है कि वह द्वेष-निर्भर नहीं है। इस सारे अर्थ को बीच में 'हाइफन' ने आकर खब्त कर डाला है। ऐसी भूल जब तक 'हाइफन' का चिह्न मौजूद है, होती ही रहेगी। निश्चय ही वह चिह्न मूल प्रति में 'द्वेष' और 'निर्भर' के बीच रहा होगा। किन्तु प्रेस के 'कम्पोजिटर' को हम कमसमझ आदमी नहीं मान सकते। इसलिए इलाज यह नहीं मालूम होता कि कम्पोजिटर को ताकीद की जाये। कारगर इलाज यही मालूम होता है कि इस चिह्न को ही एकदम छुट्‌टी दे दी जाये।

मान लीजिए कि ऊपर के वाक्य में वह चिह्न कहीं छपता ही नहीं। तब मुझे निश्चय है कि भाव के साथ चलनेवाले पाठक के लिए अर्थ भंग का तनिक अवसर न आएगा। वह शब्दों की संगति को ठीक-ठीक पकड़ेगा और चिह्न का अभाव उसके लिए बाधक किसी तरह न होगा। लेकिन जिस हालत में वाक्य छपा है, उससे सावधान से सावधान पाठक भ्रम में पड़ जाएगा। आगे, यदि जैनेन्द्र में उसका विश्वास हुआ, तो उसमें से ऊटपटाँग कुछ भी अर्थ निकाल लेने का आग्रह रखेगा।

मुझे अपने बारे में बड़ा डर रहता है। सम्पादक लोग लिपि को छूते नहीं हैं। पाठक भी कोशिश करता रहता है कि जैसा जो है उसी में से कुछ न कुछ अर्थ पा ले। भाषा की शिक्षा जो मुझे प्राप्त नहीं हुई है, और इस कारण सर्वथा

अपने रूप में ही उसका प्रयोग करने को जो मैं विवश रह जाता हूँ, सो उससे व्यवधान पैदा होता है। आखिर बात उतने ही शब्दों से कहनी है। बस, शब्दों पर वजन के हेर-फेर से ही भाव व्यक्त करना रहता है। इससे भाषा के साथ वर्तन कुछ अतिरिक्त स्वतन्त्र हो जाता होगा। उससे जो अनोखापन भाषा को हठात् मिलता है, उस पर पाठक अपनी ओर से अभियोग नहीं डालना चाहता। यह कारण है कि मेरी रचनाओं में अशुद्धियाँ छपती रहती हैं और शिकायत नहीं होती। शिकायत होती तो यह कि जैनेन्द्र जानबूझकर अटपटी भाषा लिखता है। नाना चिह्न आजकल उपयोग में आया करते हैं। अँग्रेजी में हर चिह्न का एक स्थान है और उस बारे में स्पष्ट मर्यादा भी है। हिन्दी का स्वरूप कुछ भिन्न है। उसमें वाक्य छोटे और गठे होते हैं और क्लिष्ट और मिश्रित वाक्यों की प्रणाली प्रचलित नहीं है। मुझे लगता है कि अँग्रेज़ी में काम आनेवाले अनेक चिह्नों को हिन्दी के लिए हम छोड़ दे सकते हैं। सच यह है कि चिह्नों से वाक्य के भाव को बाँधने की चेष्टा एक सीमा तक ही सार्थक होती है। शेष में तो अभिव्यक्ति का वेग ही पाठक को साथ रखता है। चिह्नों के सहारे से भी आखिर बोली गयी या विचारी गयी भाषा का पूरा प्रतिबिम्ब तो बन नहीं जाता। अन्त में भाव की अन्विति पाठक के मन में भी साथ-साथ उठती चली आये तभी भाषा सार्थक बनती है। इसलिए मुझे जान पड़ता है कि अतिरिक्त चिह्नों के बिना भी पाठक के लिए कोई बड़ी बाधा नहीं होगी।

भाव-प्रवाह की दृष्टि से अभी अँग्रेजी की कविता में चिह्नों के प्रयोग से मुक्ति ली जा रही है। शायद समझा जाता है कि इस तरह भावप्रवाह में रुद्ध व्यक्त होता और बद्ध निर्बाध होता है। अँग्रेजी कविता के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। लेकिन एक पाई के सहारे हमारा जो समूचा संस्कृत, प्राकृत और देशज भाषाओं का वांगमय खड़ा है सो उसे टिकते चले जाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई है।

अव्वल तो यह जरूरी है कि विराम चिह्नों के उपयोग को हिन्दी में निर्णीत और नियुक्त किया जाये। अभी अराजकता है। हमारा व्याकरण वाक्य के अन्य अंग-प्रत्यंग की और विभक्ति-प्रत्यय की सँभाल रखता है, लेकिन इस ओर उसे अभी काफी काम करने को शेष रहता है। जान पड़ता है, सहसा वे विराम चिह्न अभी चलन से गिरनेवाले नहीं हैं। कुछ वे विद्वत्ता के चिह्न भी बन गये हैं। ऐसी अवस्था में चिकित्सा का आरम्भ तो उनके उपयोग में व्यवस्था और मर्यादा लाने से होगा।

बहुत आगे जाकर मुझे प्रतीत होता है कि चिह्नों की टेकन उतनी उपयोगी न रह जाएगी। भाषा इतनी प्रवाही और लचीली बनती जाएगी कि अधिक से

अधिक चिह्न भी न्याय के साथ उसे अंकित नहीं कर पाएँगे। तब लिपि शायद अपरिग्रही बनने में ही उपाय देखेगी। शब्द आपस में किस संगति और सम्बन्ध में जुड़े हैं, इसे पाठक की ग्रहण शक्ति स्वयं उसके आगे स्पष्ट करती जाएगी। असल में, अन्त में तो पाठक की ओर से आनेवाली भावानुभूति ही, शब्दों के बीच के अन्तराल को भरती हुई, भाषा को ऐक्य देती है। शब्द यों तो बिखरे ही छपते हैं। हर दो शब्दों के बीच कुछ अन्तर रहता है। लेकिन शब्दों की इस अनेकता में से जो अर्थ और भाव की एकता प्रस्तुत होती है तो तब, जब वह इधर लेखक के मन से जाती है और उधर पाठक के मन से आती है।

वांगमय कितना विपुल है, अक्षर गिनती के हैं। उन गिनती के अक्षरों से शब्द बनते हैं जिनकी संख्या कितनी भी हो, है सीमित ही। उन शब्दों के परस्पर संयोग से फिर जो अर्थ-भाव और ध्वनि का नानात्व प्रकट होता है, उसकी सीमा अवश्य नहीं है। सच यह है कि साहित्य की भाषा के उपयोग में आया प्रत्येक शब्द अपना अर्थ ही नहीं देता है, बल्कि उससे बहुत अधिक दे जाता है। अर्थ तो बँधा और बन्द-सा रहता है। अर्थवाहक चाकर शब्द मानो साहित्य में आकर मालिक और मुक्त बनता है। उसकी सार्थकता वहाँ परिपूर्ण होती है। इसलिए, साहित्य के द्वारा, हम देखते हैं कि शब्द का अर्थ कहीं से उठकर कहीं पहुँच जाता है। उसकी व्यापकता बढ़ती जाती है और प्रसंगानुसार नाना भाव वहन की शक्ति उसमें पड़ जाती है।

यों देखें तो विराम चिह्नों में अपना कोई भावार्थ नहीं है। लेकिन आज की भाषा में वे चिह्न शब्दों से कम नहीं, कुछ अधिक ही उपयोगी हैं। आपसी व्यवहार में जैसे मौन भी बोलता है, वैसे ही भाषा में शब्द का अभाव भी बोलता है। दो या तीन नुक्ते डालकर जाने हम कितना नहीं कह जाते! छापे में वे नुक्ते जरा-सी जगह घेरते हैं, एक छोटा-सा शब्द भी उस खाली जगह से बड़ा होता है। लेकिन दो नुक्ते अनेक वाक्यों का भाव दे जाते हैं।

आखिर चिह्न चिह्न हैं। वे इसलिए हैं कि मन को मन के पास लाने में सहायक हों। बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि कैसे उन चिह्नों की अधिकता ही दो मनों को निकट के बजाय दूर बना सकती है। सामान्य अनुभव है कि ज्यादा बोलने से दूरी बढ़ने लग जाती है। घनिष्ठता में शब्द कम होते जाते हैं। इसी भाँति, आगे जाकर, हो सकता है कि घनिष्ठ भाषा साज-सज्जा से विहीन, निरी अपरिग्रही हो चले; इधर-उधर का बहुत आडम्बर उसके पास रह न जाये। शब्दों में संगति दरसाने का कोई ऊपरी दिखावा न हो, और सन्दर्भ के अनुसार भाव अनायास मिलता चला जाये।

आरम्भ के अपने दो वाक्यों को पढ़कर मैं सचमुच बहुत हैरान रह जाता

हूँ। यह अनुभव नया नहीं है। किन्तु मैं निश्चय नहीं कर पाता था। लेकिन यह प्रसंग इतना नया है और चूक इतनी छोटी, केवल 'हाइफन' की, है कि उसने मुझे कुछ निर्णय अपनाने के लिए विवश कर दिया है। जान पड़ता है कि आगे के लिए अगर मैं केवल एक पूर्णविराम की पाई का ही उपयोग विहित रखूँ तो, उससे सहारा ही होगा। मेरे और पाठक के बीच अनेक दु:सम्भावनाएँ उससे असम्भव बन जाएँगी। कभी-कभी अर्धविराम को भी छूट रखना आवश्यक मालूम होता है। लेकिन, 'कोलन, सेमी कोलन, डैश, हाइफन' इत्यादि-इत्यादि से मुक्ति ले ली जाये तो शायद यह दु:साहस नहीं होगा।

चिह्नों से आखिर हम साधते क्या हैं? शब्दों में उनके द्वारा हम अप्रत्यक्षतया दूर-पास का सम्बन्ध दरसाते हैं। पर वाक्य के भाव में तो शब्दों का अर्थ उस तरह परस्पर दूर-पास होकर नहीं चलता। वह तो एक सातत्य में प्रवाहित रहता है। फिर, जो उनके परस्पर सम्बन्धों में सूक्ष्म तरतमता है, चिह्न उसे पूरी तरह तो अंकित कर नहीं सकते। इसलिए परिपूर्ण भावप्रेक्षण के लिए शायद यह उचित ही होगा कि चिह्नों का सहारा यत्किंचित् भी छोड़ दिया जाये।

जो हो, यह तो अनिवार्य ही है कि ऊपर जैसा प्रसंग आगे घटित न हो। यह दुर्घटना प्रूफरीडर के भरोसे असम्भव नहीं बन सकती । पर असम्भव उसे अवश्य-अवश्य बनाना है। शब्द की गलत छपाई, हिज्जे की अशुद्धि, विभक्ति में मात्रा का टूटना, वगैरह ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें पाठक समझ लेता है। अर्थ-भंग सहसा उपस्थित होने पर भी एकाएक लगे झटके के कारण पाठक अटकता है और जरा रुककर सावधान हो जाता है; पहचान लेता है कि यहाँ भूल हुई है। पर प्रस्तुत प्रसंग में भूल को पकड़ना असम्भवप्राय हो गया है। कहा न कि मैं खुद दंग रह गया और पाँच-सात मिनट में वाक्य के सही रूप का अनुमान कर सका। चिह्न गलत जगह लग जाये तो उससे भीषण अनर्थ हुए बिना न रहेगा; न लगे तो उससे उतनी आशंका नहीं रहती।

अपने सम्बन्ध में तो मेरे मन में निर्णय-सा ही बना आ रहा है। क्या विद्वज्जन इस विषय में मार्गदर्शन देंगे?

[मई, 1960]

पत्नी और प्रतिभा

पुरुष अपने में पूर्ण हो सकता तो सृष्टि के विधान में स्त्री की आवश्यकता न थी। ऐसे ही स्त्री अपने में पूर्ण हो पाती तो पुरुष अविद्यमान ही रहता। दोनों यदि हैं और परस्परता के बिना चारा नहीं है तो विग्रह कितना भी होता रहे, सन्धि की भूमि अवश्य आवश्यक है। पति-पत्नी-सम्बन्ध विग्रह के बीच सन्धि के लिए एक स्थायी भूमिका देता है।

अनायास मण्डली सी जुट गयी और नाम बीच में आ गया तालस्ताय का। उनकी पचासवीं बरसी मनाई जानेवाली है। जगह-जगह सभाएँ होंगी, स्मरण होगा, विचार होगा। यह सब उन तालस्ताय को लेकर होगा जो शरीर में नहीं हैं, हर मन में जीवित हैं। उनकी रचनाएँ पढ़ते हैं और लगता है तालस्ताय के हृदय की धड़कन हमारी अपनी बनी जा रही है। उन्होंने मानव के हृदय को छुआ है। हम नाम-रूपधारी जन एक-एक कर मरते रहेंगे, पर मनुष्य जियेगा। जिसके शब्द की धड़कन मानव-जाति के हृदय को स्पन्दन देती रहेगी, वह शब्ददाता मर नहीं पाएगा। उसको अमर रखा जाएगा।

विचित्र-सा लगता है यह कि एक आदमी मर जाए, शेष फिर भी उसे जिलाये रखें। मालूम होता है कि इस तरह मरता और खतम होता कुछ वही है जो उस लायक होता है। अनुभूत सत्य मरता नहीं है। जैसे जीवन जीता चला जाता है, उसी के साथ वह भी जीता चला जाता है।

लेकिन जमा हुए हम लेखक बिरादरी के थे। एक तरह तालस्ताय के सजातीय थे। उस आत्मीय भाव में विनय और सम्मान देना आवश्यक नहीं रह जाता है। बेतकल्लुफी का व्यवहार हो निकलता है।

अ ने कहा—क्या खूब आदमी था तालस्ताय। मौत भी अपने ढंग की पायी, अद्वितीय!

ब ने कहा—और क्या! क्या वह घर में खाट पर मरने वाला था। घर से बाहर सबकी शरण में मरा और ऐसे कि दुनिया दहल गयी।

स ने कहा—बात ठीक है। प्रतिभा और पत्नी का योग हो नहीं सकता। पत्नी प्रतिभा को चाट जाती है। तालस्ताय को आखिर भागना पड़ गया अपनी प्रतिभा की खातिर, नहीं तो घर में हरदम झों-झों। मैं कहता हूँ प्रतिभावाला मरेगा अगर शादी करेगा। बीवी की और प्रतिभा की दुश्मनी मिट नहीं सकती। दोनों में से किसी एक को मिटना पड़ेगा।

''देखो बेचारे को! जिन्दगी भर प्यार की सीख देता रहा, उसकी बारीकियाँ खोलता रहा। लेकिन एक पत्नी को न निभा सका। जाने पत्नी के सामने उसके प्रेम को क्या हो जाता था...मैं तो खुलेआम कहूँगा, जिसे कुछ करना है वह ब्याह न करे।''

''क्या करे?''

''करे क्या! रचना करे, सृजन करे, काम करे...''

''रचना खाक करे! मैं पूछता हूँ अपना क्या करे? स्त्री पर पीठ फेर ले? आधी दुनिया को पूरी मान ले? पुरुष होकर स्त्री को इनकार कर दे? यह हो नहीं सकता। किसी तरह नहीं हो सकता।''

''बड़े अहमक हो। मैंने कहा, बीवी, औरत तो नहीं कहा।''

''क्या मतलब? ...व्यभिचार?''

''रखो व्यभिचार को। मैं कहता हूँ गृहस्थी खटराग है। घर-गृहस्थी की, कि आदमी गया। दिमाग नून-तेल-लकड़ी का हो गया। सच्चाइयों में वह फिर कैसे उठ सकता है। समय पार कैसे जा सकता है। सदाकत कैसे थामे रह सकता है। हर समझौते में तब वह गिरेगा। मिशन उसके पास तब रह नहीं पाएगा, सिर पर गृहस्थी का जुआ होगा और वही उसका चक्कर होगा। तब लिखेगा तो पैसे के लिए। मरेगा तो पैसे के लिए। तब वह खाक इनसान रहेगा। आदमी था तालस्ताय। बीवी झींका करे दिन-रात, अन्दर वह उससे कितना ही त्रास पाता रहा, पर सुनी नहीं एक भी। करता अपना गया। निभाव नहीं हुआ, तो घर से निकल भागा। आत्मा को नहीं खोया, गिरिस्ती को खो देना खुशी से मंजूर किया।''

पाठक जानते होंगे कि पत्नी के झगड़े से तंग आकर पकी उमर में तालस्ताय एक रात चोरी-चोरी घर से निकल भागे थे। तभी उन्हें बीमारी ने पकड़ा और राह में एक अनजाने से स्टेशन मास्टर के कमरे में उनकी मौत हुई। काउण्ट थे, अतिशय सम्पन्न थे। दुनिया में नाम था। पर मरने के लिए यही अनहोनी जगह उन्हें मिली!

''निभाव की बात किसने कही थी। मैं उसका क़ायल हूँ। मर्दुमी निबाहते

जाने में है। बीवी को निभा न सके वह क्या आदमी! जरा होशियारी जरूर चाहिए। तालस्ताय कामयाब नहीं हुए। शायद जरूरत से ज्यादा सच्चे रहे होंगे। प्रतिभा यह कब कहती है कि आप सच्चे इतने हो जाइए कि चतुर रह ही न जाएँ। क्यों साहब, क्या खयाल है?''

''प्रतिभा आप किसे कहते हैं?''

''कम्बख्त है क्या वह! यह कि आदमी में लचक न हो, लोच न हो? सीधा, सतर सिद्धान्त हो और मुड़ तक न सके? मैं इसे पागलपन कहूँगा।''

''पागल और प्रतिभावान में ज्यादा अन्तर कब होता है!''

''नहीं होता तो रखिए अपनी प्रतिभा को। मुझे किसी हालत पागल होना मंजूर नहीं है। मैं कहता हूँ , औरत कसौटी है और दुनिया औरत है। यानी दुनिया आदमी की कसौटी है। किताबें लिखीं, ठीक है; पर कसौटी पर तालस्ताय साबित नहीं उतरे तो बताइए क्या किया जाए। लेखक की हैसियत से चलिए तारीफ कर लीजिए। लेकिन इनसान की हैसियत से आप कुछ कहिए, मैं उनका कायल नहीं हो सकता।''

''औरत के लिए आदमी टूट जाए? यह कहाँ की कामयाबी है, उसूल औरत से बड़ी चीज है। मैं नहीं मानता औरत को कसौटी। न दुनिया को औरत मानता हूँ।''

...मण्डली की बातचीत इतनी बिखरी रही कि उसको समेटा नहीं जा सकता। उसमें सार रूप इतना भर देखें कि उस वर्ग का मानस क्या है, जिसका काम अन्तिम सत्य की खोज में रहना है। बातचीत में जिन बन्धु का स्वर सबसे ऊँचा रहा उनकी यही टेक थी कि पत्नी प्रतिभा की शत्रु होती है; विवाह से बड़ा खतरा नहीं है; उठता-उठता आदमी उससे नीचे आ पड़ता है; और जिसे कुछ करना है कृपा कर वह बीवी-बच्चे न करे। रूसो ठीक था कि बच्चे किये तो एक-एक कर उन्हें अनाथालय में डालता गया।

तालस्ताय तो उपलक्ष्य ही थे। उनका अभिनन्दन सभा में जाकर करना होगा, उसके लिए यह स्थान नहीं है। उनके व्यक्तित्व से जो यह व्यक्ति और परिवार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, उसी से थोड़ा यहाँ उलझ लेना है।

देखता हूँ कि परिवार संस्था डगमगा रही है। परिवार मर्यादाओं से बनता है। परस्पर कर्त्तव्य होते हैं, अनुशासन होता है और उस नियत परम्परा में कुछ जानों की इकाई एक हित के आसपास जुट कर व्यूह में चलती है। उस इकाई के प्रति हर सदस्य अपना आत्मदान करता है, इज्जत खानदान की होती है। हर एक उससे लाभ लेता और उसे अपना त्याग देता है।

लेकिन इधर व्यक्तित्व की माँग हो चली है। कुल-प्रतिष्ठा का लक्ष्य जैसे

हट गया है, उसकी जगह आत्म-प्रतिष्ठा ने ले ली है। प्रत्येक अपने व्यक्तित्व का विकास चाहता है, और शेष को उसके लिए चाहता है। व्यक्तित्व की इस माँग ने संघर्ष को तीव्र कर दिया है। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष विवाह द्वारा एक इकाई नहीं बना पाते, दो के दो बने रहते हैं। पहले इस द्वित्व का बहुत कुछ हरण तो विवाह ही कर लेता था, फिर शिशु बीच में आकर उनको और भी एकता दे देता था। लेकिन व्यक्तित्व की इस माँग ने कुछ ऐसी स्थिति ला दी है कि यह बालक नाम का तीसरा सदस्य बीच में आकर एकता नहीं लाता, प्रत्युत केन्द्र को और बिखरा देता है। पुरुष अपना काम करता है, स्त्री अपना काम करती है और बालक जैसे-तैसे अपने को व्यस्त रखता है। पैसा हुआ तो बालक आया के सुपुर्द हो जाता है।

ऊपर प्रतिभा शब्द आया है। शायद प्रतिभा अपने प्रति अडिग ईमानदारी को कहते हैं। यह भी सच है कि अपने को ही सर्वथा अपने प्रेम का केन्द्र बना लेने से मुनष्य को एक पागलपन प्राप्त हो जाता है। पागल वही जो अपने में मुँह गाड़ इतना उलट जाए कि अपनी कल्पनाओं को सच ठहराए और बाहर की यथार्थताओं को झुठला दे। वह अपने मनोलोक को बसाये रहता है और शेष इहलोक से वास्ता तुड़ा लेता है। सिद्धान्तवादी, प्रतिभावादी, व्यक्तित्ववादी के साथ उत्तरोत्तर ऐसा होता हो कि उनका वास्ता व्यवहारलोक से ढीला होकर टूटता जाए और सिद्धान्तलोक से जुड़ता चला जाए तो अचरज नहीं है।

तालस्ताय इतने सफल लेखक हैं कि असफल पति और पिता हों तो इसके लिए मन में शिकायत नहीं होनी चाहिए। जो नाम कमाते हैं, यशकीर्ति कमाते हैं, उनके पारिवारिकजन मानो उसी में से थोड़ा-बहुत रस खींच लेते हैं। जैसे उनसे फिर दूसरा प्रतिदान नहीं माँगा जाता, उनके आत्मदान को स्वतन्त्र रहने दिया जाता है कि जहाँ अर्पित हो, हो। यह स्वतन्त्रता व्यक्ति को बड़े मूल्य पर मिलती है। सामाजिक और पारिवारिक कर्त्तव्य चारों ओर रहते ही हैं। उनमें वह आबद्ध अनुभव कर आता है कि जब उन माँगों को सुनना नहीं चाहता और उनके प्रति अपने को देना नहीं चाहता। ऐसे वह परतन्त्र बन जाता है। स्वतन्त्र बनने के लिए इसलिए या तो मार्ग यह रह जाता है कि वह उन कर्त्तव्यों और मर्यादाओं से तोड़कर अपने को अलग कर ले या फिर उपाय यह है कि यथावश्यक आत्मदान उसका पारिवारिकों को भी मिलता रहे, साथ ही उसकी अपनी निजी लगन को भी मिलता रहे।

यह समस्या सचमुच बहुत ही गहरी है। एक तरह वह केन्द्रस्थ और अनन्त है। व्यक्ति अपने प्रति सारी ईमानदारी मान ले तो वह लोक-कर्त्तव्यों से अपने को ऊँचा उठा लेता है। फिर जो करे वही उसके निकट समर्थनीय हो जाता है।

अर्थात् वह अपने मन पर चलता है, लोक के मत पर नहीं चलता। ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विघ्न-बाधाएँ आएँ और आती जाएँ तो कुछ भी विस्मय नहीं है।

उधर मन की न माने और घर-कुटुम्ब जाति-समाज के मत के लिए ही जिये तो ऐसे भी समस्या का हल होता दीखता नहीं है। कारण, लोकमत की रक्षा होती है, मन उधर मरता जाता है।

जान पड़ता है कि मुक्त और पूर्ण पुरुष दोनों ओर से ही बना जा सकता होगा। कम-से-कम भारतीय संस्कृति ऐसा मानती है। उसके रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। कृष्णचन्द्र मुक्त आत्मलीला के पुरुष हैं। रामचन्द्र कर्त्तव्यनिष्ठ धर्मनिष्ठ हैं। कृष्णचन्द्र का वचन है, 'धर्म छोड़ो, सब धर्म मुझमें देखो'।

मानना होगा कि अन्त में यह आत्मिक और सामाजिक जीवन-विधियाँ एक ही परिपूर्णता पर पहुँचती हैं। लेकिन अन्त में ही पहुँचती हैं, बीच में तो विषमता बहुत झेलनी पड़ती है और उसमें से नाना विडम्बनाओं को जन्म मिलता है।

अब महान तालस्ताय हों कि क्षुद्र हम हों, यह साफ है कि इस जगत् में परस्परता से छुटकारा नहीं है। इस परस्परता के आरम्भ में ही पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष उपस्थित हो रहता है। पुरुष अपने में पूर्ण हो सकता तो सृष्टि के विधान में स्त्री की आवश्यकता न थी। ऐसे ही स्त्री अपने में पूर्ण हो पाती तो पुरुष अविद्यमान ही रहता। दोनों यदि हैं और उन्हें परस्परता के बिना चारा नहीं है तो विग्रह कितना भी होता रहे, सन्धि की भूमि अवश्य आवश्यक है। पति-पत्नी सम्बन्ध विग्रह के बीच सन्धि के लिए एक स्थायी भूमिका देता है। मैं बिलकुल सम्भव नहीं मानता कि किसी भी पति-पत्नी में विग्रह न हो। रगड़ अवश्यम्भावी है। इसी से विवाह सदा एक परीक्षा है। और परीक्षा वह सच्ची और गहरी तब है, जब विवाह एकदम अटूट बनता है। तलाक का सहारा लेकर जो विवाह तोड़ पाते हैं, वे सच में सफल और सुखी होते हैं, ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता। परीक्षा में पड़ते नहीं, उनकी सफलता अप्रमाणित ही रहनेवाली है। अवतारी पुरुष ब्रह्मचारी दीखते नहीं हैं, इसका यही कारण है। परमात्मा उन्हें कसता है अपनी कसौटी पर और स्त्री से और विवाह से बचने नहीं देता है।

जनवरी, 1960.

आस्था का प्रश्न

वह आस्था नहीं है जिसके साथ सहने से अधिक कुछ किया जाता है। जिसका दावा होता है, उच्चार और प्रचार होता है, घोष और विवाद होता है, वह मतवाद का विषय है। आस्था का उससे सम्बन्ध नहीं है। आस्था क्रॉस है, यज्ञ है। प्रेम के अतिरिक्त उसकी कहीं पूर्ति नहीं है...

गया में परिसंवाद का विषय था 'साहित्यकार की आस्था'। आस्था का प्रश्न यों भी बार-बार मुझसे पूछा जाता है। साहित्यकार को अलग से मैं जानता नहीं हूँ। उसे ऐसा ही प्राणी मानना चाहिए जैसे दूसरे। इसलिए आस्था का प्रश्न ही मुझे छूता है, साहित्यकार की आस्था का नहीं। जीविका से सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य की आस्था कोई भिन्न और विशिष्ट हो तो हो सकती है। उस विशिष्टता की चर्चा में मुझे नहीं पड़ना है। वहाँ क्रैफ्ट, शिल्प, विन्यास आदि भी संगत हो सकते हैं। सचमुच उस परिसंवाद में किसी ओर से यह क्राफ्ट शब्द भी चला आया था। मैं साहित्य के शिल्प से कोरा हूँ। इस कोरेपन से मेरा कुछ अहित नहीं हुआ है। इससे उस प्रकार की चर्चा में जैसे मैं एक तरफ़ किनारे ही रह गया अपने को अनुभव करता हूँ।

आस्था को हम जानना चाह सकते हैं। पर प्रेम को तो सब जानते हैं। उस प्रेम का पार किसी ने नहीं पाया। 'ढाई आखर प्रेम' के पढ़कर कोई पण्डित अब तक खतम नहीं कर सका। फिर भी अनुभव में सब उसे जानते हैं। प्रेम से सर्वथा रीता कोई हो नहीं सकता। उस रीत गये को ही हम मृत कहते हैं। जिसे जड़ कहते हैं, शायद प्रेम वहाँ भी सोया है। या हो सकता है कि प्रेम उसके अणुओं में समाया हो, केवल पिण्ड को पता न हो। नहीं तो क्यों लोहा चुम्बक से खिंचता है? क्यों धरती सूरज के चारों ओर असंख्य वर्षों से परिक्रमा दे रही है और असंख्य

वर्षों तक देती ही जाएगी? क्यों चन्द्रमा धरती से बिछुड़ नहीं पाता और अपनी कक्षा में उसके चहुँ ओर चक्कर में घूमता ही जाता है? यह सब प्रेम की ही महिमा है। अर्थात् ज्ञान में चाहे उसे न जाने, पर अनुभव में उसे जाने बिना कोई रह नहीं सकता।

इस प्रेम के सम्बन्ध में एक और तथ्य भी सब लोग जानते हैं, वह यह कि वह कहीं एक ठौर टिककर बँध पाता नहीं है। लोग इस तथ्य से नाराज़ होते हैं, उसे बदल देना चाहते हैं। उस पर काबू पाना चाहते हैं। पर पाते यह अनिवार्य हैं कि वह रुके नहीं, बँधे नहीं, ठहरे नहीं, आगे बढ़ता और फैलता ही चला जाए।

जिसको हम समझना कहते हैं वह क्या है? एक महिला सौ की संख्या को नहीं समझ पाती थी। उसी को जब पाँच बीसी कहा गया तो वह समझ गयी। बीस को जानती थी, पाँच को जानती थी, इसलिए पाँच बार बीस-बीस को समझकर वह मानो सौ की संख्या को पा गयी। तो आस्था को हम प्रेम की भाषा में उतारकर समझें तो शायद सहज समझ पाएँगे।

प्रेम व्यक्ति या वस्तु से होता है तो पकड़ में आ जाता है। पर इसीलिए यह भी है कि उसका आधार चंचल रहा है। अभी आधार में यह पदार्थ या वह व्यक्ति है तो अभी दूसरा है। अर्थात् प्रेम के लिए व्यष्टि तो उपलक्ष ही है, लक्ष पार है। लक्ष शायद समष्टि-गत है। उपलक्ष उपलब्ध होता रहता है और सदा उल्लंघित भी होता रहता है। प्रेम अमुक में इस क्षण तृप्त होता लगता है तो अगले क्षण अतृप्त हो जाता है। तृप्ति असल में वहाँ उपलक्ष में रखी ही कहाँ है; वह तो उप है, लक्ष थोड़े है। इसलिए प्रेम, जो उपलक्ष ढूँढ़ता नहीं लक्ष की ओर एकाग्र है, सहज अडिग बनता है। उसी को कहिए आस्था।

तो आस्था वह प्रेम है जो व्यक्तिगत नहीं, निर्वैयक्तिक है। जो वस्तुगत नहीं, निर्वास्तविक है। आस्था के लिए आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है, कि वह निरा अवास्तविक हो। यह मूल की अवास्तविकता ही उस आस्था का बल होती है। अर्थात् उस आस्था का आधार स्वयं बाहर कहीं रहता नहीं। आस्था इस तरह स्वयंप्रतिष्ठ है, वह स्वयंभव भी है। वह की नहीं जा सकती, बनायी नहीं जा सकती। होती है तो उसे फिर सहना और झेलना ही होता है। वह आस्था नहीं है जिसके साथ रहने से अधिक कुछ किया जाता है। जिसका दावा होता है उच्चार और प्रचार होता है, घोष और विवाद होता है, वह मतवाद का विषय है। आस्था का उससे सम्बन्ध नहीं है। आस्था त्रास है, यज्ञ है। प्रेम के अतिरिक्त उसकी कहीं पूर्ति नहीं है जिसको मैं आप पर डाला चाहता हूँ, आपसे मनवा लेना चाहता हूँ, जिसके वृत्त में मैं आपको और औरों को ले आना चाहता हूँ, उसका मेरे अहंकार

से सम्बन्ध हो सकता है, आस्था से सम्बन्ध तनिक नहीं है।

एक विज्ञ बन्धु ने वहाँ कहा कि आस्था उनमें है, पर ईश्वर के प्रति नहीं। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ। ईश्वर मेरे लिए भी इस तरह अनावश्यक हो जाये तो उसको मैं भला दिन गिनूँ। लेकिन ईश्वर उसके सिवा है क्या कि जहाँ आस्था है। वस्तुगत जो है वह वास्तविक हो सकता है। स्पष्ट है कि अडिग वह नहीं जो वास्तविक है। तो इस जगत में सबसे अवास्तविक परमेश्वर है। उसको वस्तुतः कोई दार्शनिक अथवा धार्मिक अब तक पहना नहीं पाया है। बहुत गुण, बहुत नाम, बहुत आकार, बहुत रूप उसे पहनाए गये हैं, पर सब यहाँ से खिसक-उतर जाते हैं। इस सार सत्य को अन्त में नास्तिक ही आविष्कृत और उद्‌घाटित करता है कि परमेश्वर नितान्त अवास्तव है। नास्तिक की यही महान् महिमा है कि वह आस्तिक को अपनी आस्था का सच्चा आधार देता है। वह इस बड़ी सच्चाई को प्रकट करता है कि ईश्वर की और कोई भाषा या वर्तमानता नहीं है। आस्था ही में उसकी वर्तमानता और वस्तुता है। आस्था हो जहाँ वही ईश्वर।

विज्ञ बन्धु अपनी आस्था जहाँ मानते और बताते हैं, अर्थात् मानव एवं मानवता में उसको और गहरे खखोलकर देखेंगे तो जान पड़ेगा कि उनकी खोज वस्तु से अवस्तु में घुली मिली जा रही हैं। यदि उन्हें अपनी आस्था में, अपनी धारणाओं में, अडिग रहना है तो वह यह अनिवार्य पाएँगे कि उन धारणाओं को जमकर कठिन न बनने दें बल्कि अपनी पीड़ा के साथ उन्हें तत्सम बना लें। तब उनकी आस्था निराकार और निर्गुण होकर यज्ञमय, आनन्दमय, व्यथामय रह जाएगी। पीड़ा और आनन्द एक वस्तु हैं। छोर पर व्यथा और आनन्द, दुःख और सुख दो रहते ही नहीं। अनन्य संवेदन मात्र रह जाता है। एक अग्नि, एक ज्वाला, एक प्राण प्राणता।

परमेश्वर सब कुछ है। साथ ही यह-और-वह कुछ भी नहीं है, असल में वस्तुमात्र नाशवान् है। पर नाश कहीं है नहीं, सत् ही है। इसलिए नित्य नाश की लीला के पीछे जो सनातन भाव से है, उस परम-चरम को वस्तु की भाषा में लें तो कैसे लें, दें तो कैसे दें? अन्त में उस भाषा के पास यही कहने को रह जाता है कि वही परम वास्तव है, क्योंकि वही परम अवास्तव है। काल में वह नहीं है, अवकाश में वह नहीं है, क्योंकि ये दोनों आयाम स्वयं उसमें से हैं। आयाम् मात्र वहाँ से आते हैं और वह सब आयामों से अतीत है। इन्द्रियाँ जो पाती हैं सब उसमें से ही पाती हैं। पर विषय अपने में माया हैं, वास्तव वह तब हैं जब अवास्तव से युक्त हैं।

ऊपर की भाषा कुछ अगम लग सकती है। पर आस्था का उद्‌गम सचमुच ही अगम है। वह ज्ञान में नहीं जिज्ञासा में है, अहन्ता में नहीं अकिंचनता में है,

विज्ञता में नहीं अज्ञता में है। उसमें दृप्त उद्घोष नहीं आता, नम्र प्रार्थना सूझती है। उसमें से वाग्मी तर्क नहीं निकलता, नम्र निवेदन ही प्रस्तुत हो पाता है। उसमें से प्रभुता नहीं सेवा प्राप्त होती है; शासन नहीं, साहित्य प्राप्त होता है; कानून नहीं, कविता की सृष्टि होती है।

इसी से साहित्य किसी धारणात्मक मतवाद के प्रति पक्ष नहीं रख सकती। किसी धर्म पन्थ की शरण में नहीं जा सकता। वह उसका न होकर इसका नहीं हो सकता। भेद सब उसे मान्य हैं, यहाँ तक कि सम्मान्य हैं। कारण, उसकी समग्र आस्था अभेद में है। इस अभेद में जिसकी श्रद्धा पहुँच सके, भेदमात्र के प्रति फिर वह स्वीकार भाव रख सकता है। इसी प्रकार उस बीच के भेद के काँटे निकालकर वह वहाँ फूल बो सकता है।

जनवरी, 1960

भाग : पाँच

धर्म और विज्ञान

पाप का सवाल

स्त्री-पुरुष को और सत्ता-सम्पत्ति को लेकर अक्सर मनों में कामनाएँ उठती हैं, जिनके साथ पाप का बोध चलता है। नैतिक मत-मान्यताएँ उस बोध को उपजाती और तीखा करती हैं। किन्तु उसका निपटारा दुर्जन और सज्जन के दो वर्ग खड़ा करने और उनके विग्रह को तीक्ष्ण करने से नहीं होगा। होगा यदि तो इस पद्धति से कि सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अन्दर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।

पाप का सवाल एक बहुत बड़ा सवाल है। पाप समाप्त हो तो धर्म अनावश्यक हो जाता है। परम आस्तिक और परम नास्तिक दर्शन यही करते हैं। आस्तिक कहता है कि तुम कुछ नहीं करते, सब परमेश्वर करता है। जो कुछ करता ही नहीं, कर सकता ही नहीं, वह पाप कैसे करेगा! दूसरी ओर परम नास्तिक दर्शन भी कर्तृत्व को आदमी से अलग कर देता है। जो हो रहा है, और तुम कर रहे हो, वह विकास में अन्तर्भूत ऐतिहासिक शक्तियों से हो रहा है। हर कोई है वह जो परिस्थितियों ने उसे बनाया है, उसका चाहना और करना इस तरह उसका अपना नहीं है। कुछ और कोई परिस्थितियों से स्वतन्त्र नहीं है, सब 'कण्डीशण्ड' है। पदार्थ की ओर से यह इतिनिश्चिति का (डिटरमिनिस्ट) दर्शन इस तरह पाप को उड़ा देता है। साध्य में लीन हो तो साधन में पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस तरह आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शन एक ऐसी श्रद्धा दे डालते हैं जिसमें पाप के भय से आदमी ऊँचा हो जाता है। पहला आदमी कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, दूसरा मानता है कि इतिहास मैं हूँ। ऐसे अकार्य कुछ रहता नहीं, क्योंकि कार्य ही नहीं रह जाता। बस होनहार होते जाने को रहता है। केवल क्रिया होती है, कर्त्ता और कर्त्तव्य मिट जाता है।

ऊपर की दोनों आस्थाएँ आसानी से नहीं प्राप्त होतीं। बड़े अभ्यास की जरूरत

पड़ती है। इसलिए एक सुगम उपाय भी आदमी ने निकाला है। वह उपाय है, नशा। अन्दर की भावनाओं से पक्कापन पाने में जोर पड़ता हो तो शराब जैसी चीजों के सहारे एक नशा आसानी से सिद्ध किया जा सकता है! योगी जन सुल्फा, गाँजा और चरस जैसे द्रव्यों की सहायता लेते सुने जाते हैं। भारतीय पद्धतिवाले अमरीकी लेखक आल्डस हक्सले ने एक नयी बूटी खोज निकाली है और पुस्तक लिखकर उसका स्तवन किया है। उस बूटी से अध्यात्म-समाधि सहज होती है। ···नशों का लाभ यह होता है कि आदमी इधर-उधर का बहुत कुछ नीचे छोड़ देता है और स्वप्न में अपने को पहुँचा लेता है। तब अन्दर कोई खाने और कुतरनेवाली चीज महसूस नहीं होती और जो सामान्यतः सम्भव नहीं है उसी की सामर्थ्य भीतर से निकल आती है।

कहते हैं नशे के सेवन से मिलनेवाला भ्रम थोड़ी देर ठहरता है, अपने अन्दर के जोर से पकाया गया विश्वास देर तक टिकता है। वह जीवन भर काम दे जाता है। इस विश्वास की पद्धति के सहारे जो पाप से उठते हैं, महापुरुष समझे जाते हैं। इतिहास उन्हें याद रखता है। वे रण की ललकार जगाते हों, और लाखों की जान और करोड़ों का माल नष्ट-भ्रष्ट करते हों, तो भी उनकी महापुरुषता में क्षति नहीं आती। कारण, प्रेरणा उन्हें सिद्धान्त की होती है। नशा वस्तु से मिलता है, सिद्धान्त से मिला 'इन्सपिरेशन' कहलाता है।

ऐसे उत्तर और उत्तम पुरुषों की बात मैं नहीं करता। पाप के सवाल के लिए वे संगत नहीं हैं। शेर शिकार करता है तो क्या पाप करता है? इसी तरह मानव-जाति के सिंह पुरुषों को विचार से बाहर मानिए। पाप करते भी होंगे तो इतना विशाल, इतना महान, इतना चमत्कारी होता है कि उसके आगे माथे को विस्मय में उठाना या स्तुति में झुकाना ही पड़ता है! पाप की बात सामान्यजन की है।

सच यह है कि सब हम सामान्य हैं। शराब हममें से कोई जरूरत से ज्यादा चढ़ा ले तो वही असामान्य दीख आएगा। ऐसी असामान्यता जहाँ प्रकट हो वहाँ हम उसे विचार के लिए अनावश्यक कर देते हैं। 'अरे-अरे शराबी है, बेचारे को रहने दो!' असल में इसी भाव से मानवोतर और मानवोत्तम को फिलहाल अलग किया जा सकता है। यों पाप के प्रयोग से बरी वे भी नहीं हैं। सिर्फ नशा उन्हें तेज होता है, उसमें अन्दर की कुरेद का पता वे खो रहते हैं।

तो पाप है। इसलिए नहीं कि ईश्वर ने उसकी सृष्टि की है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य को उन्नति करनी है। मनुज वर्तमान से आगे भविष्य को देखता है, और वर्तमान को व्यतीत से जोड़कर देखनां चाहता है। यह क्षमता उसमें आकांक्षा और विवेक को पैदा करती है। पशु सिर्फ होता है, चाहना-सोचना उसमें होने से अलग नहीं है। आदमी की चाह असल में होने (प्राप्त) से सदा अनहोने

(अप्राप्य) की ओर जाती है। इस तरह प्राप्त और प्राप्य में मनुष्य के भीतर निरन्तर ही एक तनाव रहता है। इसी में से कर्म उपजता है और मनुष्य प्रगति करता है। जैसे दाएँ-बाएँ पैर से चला जाता है वैसे ही पाप-पुण्य के विवेक से ऊपर को उठा जाता है। पाप का होना इस दृष्टि से सृष्टि-विधान में गलत नहीं रह जाता, बल्कि बेहद जरूरी हो जाता है। कारण, उसके अभाव में स्थिति से भिन्न हम गति की कल्पना ही नहीं कर सकते। तब सारा पुरुषार्थ गिर जाता है और विकास की क्रिया रुक जाती है।

पाप वह जिसमें हम खिंचते हैं और खिंचना नहीं चाहते। जिसे आधा मन चाहता है, आधा एकदम नहीं चाहता। जो हमें स्वाद में अच्छा लगता है, परिणाम में बुरा लगता है। पाप इस तरह आदमी के अपने अन्दर के द्वन्द्व में बसता है। पशु की पशुता में पाप नहीं है, पाप मनुष्य की पशुता में है। अर्थात् पशुता को पाप नहीं कहा जा सकता, पाप का प्रवेश तभी होता है जब प्राणी निरा पशु नहीं है, मनुष्य भी है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पाप की स्थिति बिना पुण्य के हो नहीं सकती।

पाप का क्या करें? कैसे उसे जीतें? कैसे झेलें और भुगतें? पाप को यों ही तो अपनाया नहीं जाता। जैसे अच्छा काम करने में जोर पड़ता है, वैसे ही बुरा काम करने में जोर पड़ता है, बल्कि ज्यादा जोर पड़ता है। किसने चोरी की है और शुरू में डर नहीं लगा? जार कब कायर नहीं हुआ? पाप और भय का अभिन्न संग है। यानी कभी नहीं हो सकता कि पाप को निर्भय मन से अपनाया जा सके। भय में से पाप की उपज है।

यहाँ आवश्यक है हम समझ लें कि पाप अपराध नहीं है। अपराध समाज से बनता है। सन्त जन अपराधी माने गये हैं और दण्डित हुए हैं। गाँधी ने जेल पर जेल पाई, अपराध के कारण ही बार-बार उन्हें कैद में डाला गया होगा। पर इन अपराधों में पाप कहीं था ही नहीं। इस तरह पाप स्वापेक्ष (सब्जेक्टिव) वस्तु है। समाज की ओर से उसका इलाज बन नहीं सकता। चोर को चोरी की सजा में हमने जेल भेजा, पर मन को जेल कहाँ हो पायी? मान लीजिए कि चोरी पकड़ी नहीं जाती, या कि नहीं सिर्फ चाही जाती है, तब पाप तो उग गया; पर समाज किसी तरह उसे छू या छेड़ नहीं सकता। इस तरह समाज की ओर से किये गये सब उपाय अपराध तक रह जाते हैं, पाप तक नहीं पहुँच पाते।

पाप के सवाल को जो चीज छू और सँभाल सकती है, वह है मनुष्य के भीतर चलनेवाली आन्तरिक क्रिया। सत्-असत् में भेद करनेवाली एक अनिवार्य प्रक्रिया है जिसको मनुष्य के भीतर से लाख प्रयत्न करने पर भी मेटा नहीं जा सकता। उसे विवेक कहते हैं। अक्सर उस विवेक से हम सत् से असत् को टकराने

की प्रेरणा लिया करते हैं। यानी माने हुए सत् से अपने में माने हुए असत् को सीधे-सीधे लड़ाते हैं, पाप की वासना को नीति की धारणा से दबाते हैं। इसको संयम कहा जाता है।

कथाओं-पुराणों में असंख्य उदाहरण हैं, और हम सबके जीवनों में उतने ही असंख्य अनुभव हैं, कि उग्र आग्रह खण्डित होता है। हठ टूटता है और जय उस राह साधना की नहीं पाप की होती देखी जाती है। व्यक्ति करता है वह जो नहीं चाहता है कि करे। बहुतेरा-झगड़ता है, पर अन्त में वश ही नहीं चलता। यह आम अनुभव है।

ऐसा क्यों होता है? व्यक्ति का उत्तम क्यों अपने अधम से हारता है? क्यों है कि इस द्वन्द्व से सदा व्यक्ति पराभूत हुआ है? संकल्प क्यों सदा टूटा ही है? क्यों है कि होनहार कभी भी व्यक्ति के अनुसार नहीं होता है, अपने ही अनुसार होता है? इसके मूल में जाएँ तो शायद पता लगेगा कि कुछ है जो हर व्यक्ति और उसके हर संकल्प से अमोघ और अनिवार्य है। उस अमोघ-अनिवार्य का नाम है ईश्वर, वही सत्य है। इस स्वीकृति में से प्रार्थना और अकिंचनता की प्राप्ति होती है। मनुष्य का संकल्प टूटेगा, बिखरेगा, अगर नीचे उसके इस प्रार्थनामय आकिंचन्य का बल न होगा। 'मैं' जीतनेवाला नहीं है, जीतेगा सत्य। इसलिए वह संयम और वह संकल्प जो सारा बल 'मैं' से प्राप्त करता है पाप को जीत नहीं पाएगा। उलटे अन्त में वह पाप की ही विजय का उपादान होगा। अहंकार पाप का निमन्त्रण है और स्वयं पाप है। इसलिए उस आधार पर जड़ जमाकर खड़ा होनेवाला मनोबल (विल पावर) और उसमें से निकलनेवाला स्पर्द्धापूर्ण यम-नियम-संयम और तप-त्याग-तपस्या का सिद्धान्त अन्त में अकृतार्थ ही होगा। कारण, यह अहं-पुण्य के जोर से अहं-पाप को जीतने का उपाय है। पर पुण्य-पाप की तो जोड़ी है और अहंता से जुड़ी है। अतः द्वन्द्व का शमन तो सत्य में है। वहाँ पाप के प्रति हठ नहीं करुणा है और पुण्य में आकांक्षा नहीं समता है। सत्य वह जहाँ अविभक्तता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में और सत्ता-सम्पत्ति को लेकर अक्सर मनों में कामनाएँ उठती हैं जिनके साथ पाप का बोध चलता है। नैतिक मत-मान्यताएँ उस बोध को उपजाती और तीखा करती हैं। उसका निपटारा दुर्जन और सज्जन के 'सु' और 'कु' के, दो वर्ग खड़ा करने और उनके विग्रह को तीक्ष्ण करने से नहीं होगा। होगा यदि तो इस पद्धति से कि सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अन्दर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।

सितम्बर, 1959.

धर्म की जरूरत

दायित्व तुम्हारे ऊपर है तो संसार का और उसकी व्यवस्था का उतना नहीं है, जितना कि शुद्ध अन्त:करण और आचरण का है। नेता सुधारेगा और सुधारता जायेगा। फिक्र करेगा और दुनियाभर की करेगा। व्यवस्था की चिन्ता में लीन रहेगा। कौम के ग़म में डूबा रहेगा। सिर्फ अन्त:करण के बारे में लापरवाह होगा। क्यों? क्योंकि धर्म व्यर्थ है! अर्थ ही यथार्थ है!

उस रोज नागपुर के लिए दिल्ली स्टेशन पर जनता के स्लीपिंग कोच में अपनी बर्थ ढूँढ़ते हुए हम पहुँचे, तो देखा कि कुछ दूसरे लोग भी वहाँ बैठे हैं। मालूम हुआ कि यही कायदा है, रिजर्वेशन दिन में काम नहीं आता।

दिल्ली से अगला स्टेशन नयी दिल्ली है। लोग भूल जाते हैं और दोनों को एक मानते हैं। पर नयी दिल्ली एकदम दूसरी है। उसके स्टेशन पर एक प्रतापी (नेता) पुरुष हमारे साथ होनेवाले थे। व्यक्तित्व की अपनी विभुता हुआ करती है। वह पुरुष आये और देखते-देखते हमारी आसपास की बर्थें खाली हो गयीं! कानून उन्हीं रेलवे अफसर के लिए दिल्ली स्टेशन पर एक था, नयी दिल्ली पर उसमें कुछ दूसरा अर्थ निकल आया। इसी को प्रताप कहते हैं!

ट्रेन चली और बातें भी चलीं। मालूम हुआ कि काँग्रेस की विपत्ति कम लोग जानते हैं। ऊपर से दीखता है कि शासन उसके हाथ में है। पर ऐसे आलोचना शेष सबके हाथों में आ जाती है, काँग्रेस के लिए अभियुक्त की स्थिति रह जाती है। किन्तु लोगों को जानना चाहिए कि इस बीच देश ने क्या और कितना कुछ किया है। अन्तरंग समस्याएँ इधर विकट रहीं, उधर ऊपर से प्रकृति का प्रकोप। फिर भी एक पर एक संकट काँग्रेस के नेतृत्व में देश ने पार किये हैं। जिस पर निर्माण जो हुआ सो अलग। ध्यान रखने की बात यह है कि हम लोकतन्त्र हैं, रूस और चीन की तानाशाही के जोर से काम हम नहीं करेंगे। यह हमारी संस्कृति

है। हमारी आन है। हर आदमी को यहाँ स्वतन्त्रता होगी। भाषा की और विकास की। राज्य वहीं आएगा जहाँ स्वतन्त्रता का दमन होता होगा। इस अपनी आन के साथ देश को हमें उठाना है। इसलिए हमारे निर्माण में अगर उतना वेग नहीं है जो रूस-चीन में कहा जाता है, तो हमें इस पर अफसोस नहीं है। बल्कि फख्र है कि हमारा देश सहयोग से, खुशी से, बिना जोरो-जब्र के कितनी तरक्की कर रहा है। देखिए, यहाँ किसी की मनमानी नहीं चल सकती। संविधान है और सबके लिए अधिकार और कर्त्तव्य नियत हैं। आप समझते हैं जवाहरलाल जो चाहें कर सकते हैं? नहीं, नहीं कर सकते। यह हमारा संविधान है, यह लोकतन्त्र है। नेता, बड़े से बड़ा नेता, अपने में अधिक नहीं है, सिर्फ नागरिक है। आपका वोट है, इसीलिए कहीं पहुँचता तो पहुँचता है। ठीक काम नहीं करता तो अगली दफे आप अपने वोट से उसे गिरा सकते हैं। आज का राज्य सबका राज्य है। यह हालत इतिहास में, भारत के इतिहास में तो कम-से-कम, पहले कभी नहीं आयी। अशोक हुए होंगे तो वह राजा थे, नागरिक नहीं थे। अच्छे हो गये यह दूसरी बात है, पर बुरे होते तो कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। यानी सब उन पर था। आज यहाँ संविधान है। किसी की मरजी पर कुछ मौकूफ नहीं है। सत्ता सबके और एक-एक के हाथों में है। आज जिसको आप उठाते हैं, कल गिरा सकते हैं। लेकिन, अफसोस, देशवासियों को अपनी इस आजादी का, अपने और सबके हाथों में आयी हुई इस हुकूमत का, एहसास नहीं है। दिक्कत है तो यह है। इसी से आदमी बहक जाता है और बहका लिया जाता है। काँग्रेस को इसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन भारत की संस्कृति उसके रक्त में है। सलाह-मशविरे से, मिल-जुलकर, बहस-मुबाहसे के रास्ते से उसे काम करना है। हर पार्टी को स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता है, हाँ, बहकाने की भी । क्योंकि हम दबाकर काम करना नहीं चाहते। हुकूमत एक बड़ी ताकत है; उस ताकत से कुचल दिया जा सकता है, विरोध को खत्म कर दिया जा सकता है। लेकिन वह हमें नहीं करना है। हमने लोकतन्त्र का रास्ता चुना। जानबूझकर चुना, सोच-समझकर, संकल्पपूर्वक चुना। इसी को आप काँग्रेस की कमजोरी मानें तो मानें। लेकिन गाँधीजी हमें यही सिखा गये हैं। अहिंसा को नहीं छोड़ना है। मानव प्रकृति पर विश्वास करना है। लॉ एण्ड ऑर्डर की रक्षा के सिवा कहीं हम जोर से काम नहीं लेनेवाले हैं...

हम सभी खद्दरवाले थे। अलबत्ता काँग्रेसवाले नहीं थे। तो क्या इसी कारण व्याख्यान के पात्र थे? या असमर्थता ही हमारी पात्रता थी? कारण, असमर्थ हो तभी उसके लिए साहित्य (रचना) की शरण आवश्यक होती है। हीन-भाव इसी से साहित्यिक का लक्षण है। राजनीतिक के गुरु-भाव के समक्ष यह हीनता जँचती भी है। मुझे तो यह विषमता सुहावनी तक लगती है!

इससे कहा, ''मंत्रियों के और आई. सी. एस. अफसरों के खर्च ··· तिसपर सरकार का तन्त्र फैलता जा रहा है। पहले काम इतना ही था, बल्कि देश तब बड़ा था। पर कर्मचारी अब दस गुने हैं!''

''जी हाँ, अब सरकार हुकूमत नहीं है, वह लोक-कल्याण है। तब क्या था? अफसर को अपनी हुकूमत से मतलब था। अब जनता की सुख-दुःख की सारी जिम्मेदारी है। राज्य को अभी तो और फैलना है। आजादी ठीक है। लेकिन उसका मतलब यह तो नहीं कि एक-दूसरे का शोषण करे। जमींदारी गयी, रियासतें गयीं और व्यापार-उद्योग पर हमने कर बिठाये हैं। एक स्तर पर तो कर 107 प्रतिशत तक है। यह सब इसलिए कि समाज में समता आये। अमीर और गरीब में खाई न रहे। लेकिन इससे नहीं चलेगा तो व्यापार में भी राज्य को जाना होगा। बड़े उद्योग तो राष्ट्रीय हैं ही। पर लोक-राज्य पर लोक-कल्याण का पूरा दायित्व है। ऐसे केन्द्रित के साथ उसे व्यापक भी होना होगा। लोक-कल्याण की सारी ही प्रवृत्तियाँ उसे करनी होंगी। आप लोग राज्य के कारबार को अन्दर आकर देखें, तो कठिनाइयों का पता चले। लीजिए, आप क्या चाहते हैं? चलिए, मैं जिम्मा लेता हूँ, एक नहीं पाँच गाँवों का जुट आपके सुपुर्द हो जाएगा। दिखाइए कि फिर अपने आदर्श का समाज आप वहाँ कैसे निर्माण करते हैं। कुछ सामने किए और दिखाये बिना तो आलोचना वन्ध्या ही कही जाएगी ना?...''

हम आलोचक न थे, उससे निरीह थे। फिर भी नेता बन्धु के व्याख्यान से सहारा हुआ। अच्छा समय कटा और यात्रा मालूम नहीं हुई। उनका प्रताप साथ था और रास्तेभर डाइनिंग कार के और रेलवे के दूसरे लोग हम सबकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखे रहे। आसपास बराबर एकान्त रहा और चर्चा-भाषण की सुविधा अखण्ड बनी रही।

मानना होगा कि तर्क उनके पास भरपूर था और उसका उत्तर न था। फिर भी स्थिति में यदि सन्तोष और चैन नहीं है, तो नेता को या उनके तर्क को दोष कैसे दिया जा सकता है? स्पष्ट ही तर्क तीखा था और माननीय बन्धु निस्पृह और तत्पर थे।

फिर भूल कहाँ है? पुरानी कहानी याद आई कि ''लेखा ज्यों का त्यों, फिर कुनबा डूबा क्यों''? इस प्रश्न का लाल बुझक्कड़ महाशय अन्त तक कोई उत्तर नहीं पा सके। नदी की चौड़ाई नापी थी, बीच की गहराई नापी थी और औसत निकालकर गाड़ी को नदी में बढ़ाया था। फिर गाड़ी को डूबना क्यों चाहिए था?

अब भी यदि लाल बुझक्कड़ कुनबे के डूबने पर अफसोस इतना नहीं मानते हैं, जितना अपने हिसाब-किताब के सही होने के बारे में आग्रही हैं तो इसके लिए दोष कैसे दिया जा सकता है?

ठीक इसी जगह मालूम होता है कि धर्म आवश्यक है। धर्म जो सोच-विचार में से आपको अपने को बाद देने की इजाजत नहीं देता। धर्म जो कहता है कि आप उद्धारक नहीं हो सकते, उपकारक, लोक-कल्याणकारक नहीं हो सकते। जो कहता है कि आप कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर भी है। जो कमियों को अकर्म की सीख देता है; जो बताता है कि दायित्व आपके ऊपर है तो संसार का और उसकी व्यवस्था का उतना नहीं है, जितना अपने अन्तःकरण और आचरण का है। नेता सुधारेगा और सुधारता जाएगा, फिक्र करेगा और दुनियाभर की करेगा, व्यवस्था की चिन्ता में घुला रहेगा, कौम के गम में डूबा रहेगा। सिर्फ अपने अन्तःकरण के बारे में लापरवाह होगा!

क्यों? क्योंकि धर्म व्यर्थ है, सेक्युलर ही यथार्थ है!

सितम्बर, 1959.

धर्म और कर्म

धर्म आवश्यक है, उसी तरह जैसे कमान के लिए नींव आवश्यक होती हैं। वह न हो तो मकान खड़ा ही नहीं हो सकता। कुछ-कुछ खड़ा कर भी लो तो टिक नहीं सकता। कर्म की सफलता के लिए धर्म की स्थिरता जरूरी है। प्रवृत्ति में दम शायद उतना ही आ सकेगा, जितना भीतर निवृत्ति में बल होगा।

धर्म क्या बताएगा, लोग यों ही खुली आँखों देखते हैं कि यहाँ का सब यहीं रह जाता है और आदमी चल देता है। शरीर जो पड़ा रह गया है, सो अपने सगे मरघट में ले जाकर उस शरीर को फूँक फाँक देते हैं। हड्डी तब भी बच-बचा जाती है तो नदी में बहा देते हैं। कुछ उसका बाकी नहीं रहने देते।

इसलिए सबके मनों में साफ है कि यहाँ कुछ किसी का नहीं है। दुनिया फानी है, काया आनी-जानी है। मेरा-तेरा किस दिन का। आया है तो चन्द गिनती के दिन इस सराय में रह लेना है। फिर उठकर आगे की राह पकड़नी है। अरे भोले, क्या यहाँ माया-ममता में फँसता है। अपनी यात्रा की फ़िक्र कर। दो दिन के लिए क्या भूलता है। चौरासी लाख योनियों में से चलकर जो राह पूरी करनी है। उस मंजिल की सोच। असल तू वह मुसाफ़िर है। सराय कौन तुझे ज्यादा रोक लेगी। तू भूले भी तो चलानेवाला तुझे कब भूलता है। इससे छन आएगा तो तुझे उठकर चल देना ही होगा। पल भर रुकना नहीं हो सकेगा। कितना भी तब चाहे रोये, झींके, वह जो ऊपर बैठा है सो तेरे सफ़र को भूलनेवाला नहीं है। उसके कारकुन महाशय यमदेव हिसाब में पूरे और पक्के हैं। साँस-साँस वह गिनते हैं। जितनी उनके खाते में लिखी हैं उससे एक साँस अधिक तुझे मिलनी नहीं है। फिर भोले, किस चीज को अपनी कहने और बनाने चला है। अरे, चलाचली के मेले में अपनी असल गठरी सँभाल, वह जो आगे सफर पर काम आएगी। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उस तेरी गठरी को यह रात-दिन के चूहे कुतर-कुतर

कर खाली किये डाल रहे हैं। उसे सँभाल नादान, छाती पर यह माल दौलत मानकर क्यों कंकड़-पत्थर जमा कर मरा जा रहा हैं। फेंक इन्हें और अपने धरम का धन संभाल जो काम देगा। उसे लुटाकर क्या बटोरे जा रहा है अभागे, कि जो बोझ है और रह जाएगा, साथ कन तक न जा सकेगा।

धरम की और मरम की ऊपर की बात एकदम सही है। चाहे रोज भूलते हों पर रोज याद भी करनी होती हैं। आसपास मौत किस घड़ी नहीं होती और मरघट कब-कब हमें नहीं जाना पड़ता। चार आदमियों के कन्धों चढ़कर जब जाएँगे वह दिन देर-सबेर कभी आये—और तब आँखें हमारी मुँदी होंगी—पर क्या आँख खोले आये दिन हमें श्मशान नहीं जाना होता है? कितने भी भूले हों, वहाँ जाकर सब याद आ जाता है। याद आ जाता है कि यह सब भंगुर है और मरघट के किनारे से शुरू होनेवाला जो पार है वही सच है। घर वहीं है, यहाँ तो पड़ाव भर है।

ऐसे हम आदमी अनगिनत हैं। हर एक हममें से जानता है, क्योंकि हरएक जीते जी बार-बार, बार-बार, मरघट पर पहुँचकर पहचानता रहता है। पर इस गहरे ज्ञान के बावजूद हम गिनती में बहुत-से हैं और जीते हैं तब तक अलग-अलग कुछ खाते, रखते, जोड़ते और बरतते रहते हैं। जो खाता हूँ, रखता, जोड़ता, बरतता हूँ, वह मुझ तक रह जाता है। मेरे पेट में गया खाना दूसरे की भूख में जरा भी नहीं पहुँच पाता। इसलिए जान पड़ता है कि यह गुरु-गम्भीर ज्ञान मेरी कितनी भी मदद करता हो, मुझे विरागी बनाता हो, उदार बनाता हो, अनासक्त बनाता हो, अपरिग्रही बनाता हो—पदार्थ की और उसकी व्यवस्था की समस्या को शेष रही छोड़ जाता है।

धर्म आवश्यक है। उस तरह आवश्यक जैसे मकान के लिए नींव आवश्यक होती है। वह न हो तो मकान खड़ा ही नहीं हो सकता। कुछ-कुछ खड़ा कर भी लो तो टिक नहीं सकता। पर मकान ऊपर बनता है, नींव नीचे खुदती है। नीचे से नीची नींव खोदकर देंगे, तो मकान उतना ही ऊँचा जा सकेगा। ऊँचे के लिए इस तरह नीचाई जरूरी है और कर्म की प्रवृत्ति के लिए धर्म की स्थिरता जरूरी है। प्रवृत्ति में दम शायद उतना ही आ सकेगा, जितना भीतर निवृत्ति में बल होगा।

लेकिन गहरी अपनी कुरेद में तो हम जाएँ, परिणामों का सूक्ष्म विश्लेषण करें, तत्त्व के पर्त पर पर्त खोलें। पर उन्हें फिर ज्यों का त्यों छोड दें और उन बुनियादों पर अपने अमल को खड़ा करें नहीं तो क्या होगा?

एक बहुत बड़ी योजना बनी थी। पड़ौस की यह बात है, जोर-शोर से काम शुरू हो गया। हजारों मजदूर लगे और कटाई-खुदाई ऐसी हुई कि योजनों तक

धरती पर गोरखधन्धा-सा बिछकर फैल गया। फिर मालूम नहीं क्या हुआ कि एकाएक काम बन्द, शायद मतभेद हो गया और आपस में मुकदमा चल गया। तभी बरसात का मौसम आ पहुँचा। अब उस जगह की हालत पूछिए नहीं। लोग अपने को खाली करने वहाँ पहुँचने लगे। खाइयों में पानी भर गया जो सड़ने लगा। सड़ांध और बू के मारे वहाँ जाना मुश्किल। नीवें नालियाँ बन आयीं और जहाँ महल होने को था वहाँ नरक हो आया।

नीची नींवें देना जरूरी है। पर अगर ऊपर मकान चिनना न हो तो सतह को खामखाह खोदना बेकार ही नहीं, खतरनाक है।

मरघट पर जाइए और वहाँ से ज्ञान लेकर घर पर बस उसी में रमे रह जाइए तो क्या होगा? आप निकम्मे बन जाइएगा। मरने से पहले मरने लगिएगा। आप कोरमकोर बोझ बन जाइएगा। तब आप ढोर के मानिन्द ढोने और ढोये जाने के लिए रह जाइएगा।

ज्ञान वह तब कहलाएगा जब आप उस पर कर्म को खड़ा करेंगे। ज्ञान अगर गहरे में और अव्यक्त में जाता है, तो कर्म प्रत्यक्ष पर उठता और व्यक्त को सँभालता है। आप ज्ञान से निरहंकारी बनते हैं, अनासक्त बनते हैं, अपरिग्रही बनते हैं, तो अर्थ है कि आप अहंकार, आसक्ति और परिग्रह के क्षेत्र के लिए समर्थ और अधिकारी बनते हैं। वैराग्य है तो सार्थकता इसमें है कि उसके आधार पर आप समाज में रोगों को नियमन दें। आप जानते हैं कि आपका कुछ नहीं है, तभी सम्भव है कि बेटों में अगर अपनी-अपनी खींचतान होने लगे तो आपसे उन्हें न्याय मिले। क्या किसका है, यह प्रश्न जब उनमें पैदा होता हो तब कौन उसका फैसला करेगा? निश्चय ही ऐसे समय अनासक्त और अपरिग्रही ही स्थिति सँभाल सकता है।

और, समाज-विचार के लिए आज यही मूल प्रश्न है कि क्या किसका है? क्या किसका हो?

जाने कितने न वाद हैं। समाजवाद है और उसके जाने कितने प्रकार हैं। केवल समाजवाद, प्रजा समाजवाद, वैज्ञानिक समाजवाद, काँग्रेस समाजवाद इत्यादि-इत्यादि। सब इसी से जूझते हैं कि क्या कितना किसका हो। एक तरफ व्यक्ति है, उसका अन्त:करण और उसकी स्वतन्त्रता है। दूसरी ओर सर्वहारा का वर्ग है, उसकी आवश्यकता है और प्रभुसत्ता है। इनके बीच अधिकार का और स्वत्व का कैसे कहाँ सन्तुलन किया जाए, यह बहस समाजशास्त्री और समाज-मानी को व्यस्त और मुखर रखती है। इसमें इतना ग्रन्थ और बोध छप-छपकर बँट और बिखर रहा है कि लोग अघा गये हैं। समाज-तत्वज्ञों का बहस का ठेका है, तो राजनीतिज्ञों के पास दलबन्दी का। हर दल सहमत है कि सब सबका है और कुछ किसी

का खास नहीं है। आदर्श समाज के बारे में मतभेद नही हैं। राज्य सब कुछ हो, यह माँगनेवाला भी आदर्श में यही देखता है कि राज्य अन्त में अनावश्यक हो जाएगा। बस सामयिक तौर पर जो यह नियत और न्याय करने का अधिकार है कि क्या किसका हो, सभी दल वह अपने लिए हथियाना चाहते हैं। अर्थात् राज्य हमारे दल का ही हो, तब देखिए कि एकदम न्याय का और सुख का राज्य आ जाता है कि नहीं। दलों का सबका यह दावा है।

जीवन और जगत् की समस्या का मुख्य प्रश्न यही है। हर एक को आवश्यकता है, लेकिन पदार्थ परिमित है। इस तरह आवश्यकताएँ टकराती हैं और पदार्थ पर स्वत्व का प्रश्न पैदा होता है। मामले-मुकदमे, लड़ाई-झगड़े, युद्ध और विप्लव होते हैं। इनका अन्त नहीं आता। अन्त इसलिए नहीं आता कि आवश्यकताओं और तृष्णाओं का अन्त नहीं है।

इस संघर्ष में से उन्नति हुआ करती है। आदमी काम करता है और मेहनत करता है। आवश्यकता के चाबुक के नीचे वह चलता ही जाता है। आराम में कहीं रुका कि फिर आवश्यकता उसे चलाती है।

पर विस्मय होता है यह देखकर कि संघर्ष के बीच न्याय और निर्णय के लिए ऊपर पद पर आने को आदमी वह आतुर और उत्सुक है, जो स्वयं संघर्ष का भाग है। वह त्याग में नहीं रहता, बल्कि अधिकार हथियाने और सत्ता को शस्त्र की नहीं तो वोट की गिनती के जोर से छीनने की जोड़-तोड़ में रहता है।

और जो मरघट में से, या धर्मशास्त्र, गुरु, नीति और आदर्श में से त्याग और अपरिग्रह को अपनाता है, वह ऐसे में क्या करता है? करता यह है कि अलग खड़ा हो जाता है, कहता है—'ओह, यहाँ क्या किसका है?' और कहकर मानो कृतार्थ हो लेता है!

अतः क्या किसका हो, इसके निपटारे से धार्मिक जन बाहर रह जाते हैं, संसारी जन ही बस आपस में निबटने को बचे रह जाते हैं। तब आपाधापी या गुटबंदी का समाज-जीवन में मूल्य न बढ़े तो क्या हो। और बड़े राष्ट्रों के पास आपस की लड़ाई के फैसले का उपाय युद्ध ही न बने तो क्या बने?

यों कहिए कि धार्मिक जन नींवें यहाँ खोदते और उन्हें गहरी से गहरी करते चले जाते हैं, जबकि निर्माण का काम कहीं दूसरी जगह होता और दूसरे लोग करते हैं। वह काम होता रहता और ढहता रहता है, परिणाम नहीं ला पाता। क्योंकि इधर नींव है और चिनाई नहीं है, उधर चिनाई है और नीचे नींव नहीं है। अर्थात् ज्ञान और कर्म अलग-अलग जूझे जाते हैं। ज्ञान इधर निष्फल रहता है, कर्म उधर व्यर्थ चक्र की रचना करता है। कारण, धर्मी को इस लोक से कुछ लेना नहीं है, कर्मी को परलोक को कुछ देना नहीं है।

धर्म सिद्धान्त बहुत मूल्यवान और शक्तिशाली हो सकते हैं, अगर आधा चक्कर काटकर वे रुक न जाएँ। अपरिग्रह अगर अपने में तुष्ट होकर रुक जाता है तो परिग्रह का दम्भ उससे कटता नहीं है, बल्कि ऐसा अपरिग्रह उसमें सहायक हो जाता है। निवृत्ति जब अपने में से प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न करती है तो अनायास दुष्प्रवृत्ति के हाथ का साधन बन रहती है। अनासक्त भक्त आसक्त लौकिकों के हाथ के कठमोहरे बन जाते हैं।

धर्म और कर्म के बीच का यह विच्छेद धर्म को निस्तेज और कर्म को प्रमत्त कर रहा है। धर्म शासन नहीं बन पाता और कर्म शासन करता है तो मालूम होता है कि सिद्धान्तियों का काम केवल समर्थन ही रह गया है।

इतिहास में एकाध बार ही अवसर आया है कि धर्म-पुरुष कर्म पर भी प्रधान बनकर बैठा हो। अवतारी पुरुष अवश्य हो गये हैं जो राजा और ऋषि दोनों एक साथ रहे हैं। इतिहास में जब यह विस्मय घटित हुआ है, तब से नये युग का सूत्रपात हो गया है। लेकिन वह समन्वय एक में न मिले तो इन दोनों को लेकर एक धुरी का निर्माण हो सकता है। भारत में तो वह परम्परा रही है। हमारे यहाँ पराक्रम के लिए शिवा थे, तो प्रेरणा के लिए रामदास थे। कर्म का नेता सदा से धर्म की प्रेरणा और आशीर्वाद के नीचे काम करता रहा है। और नहीं तो राजा अमुक देव-मूर्ति के प्रति समर्पित रहा है। उसी के नाम पर निवेदित भाव से उसने शासन चलाया है। भारतीय संस्कृति में केवल शासक कभी विभु नहीं बना है, वह प्रतिनिधि और साधन ही अपने को मानता रहा है।

यह तो नयी ही बात है कि राज्य सर्वोपरि मूल्य हो ठहरा है। नेता के ऊपर कोई न रह जाए तो क्या होगा? जो ऐसी अवस्था में हो सकता है, वही हो रहा है। पार्लियामेण्ट और संविधान भाषा में ही ऊपर हैं, यथार्थ में नेता उन्हें अपने नीचे ले लेता है। परन्तु ईश्वर है ही वह जिसे लिया जाए तो ऊपर ही लिया जा सकता है। क्योंकि वह विधान में नहीं, विश्वास में होता है। क्या धर्म में शक्ति होगी कि वह कर्म की अपर्याप्तता को प्रगट करे और स्वयं उस कर्म को सम्पूर्ण करने का व्रत उठाये?

अप्रैल, 1960

धर्म और विज्ञान

गिरने और मरने की आज़ादी देकर शायद ईश्वर ने आदमी को मौका दिया है कि अनुभव से सीखे। यही सीख सच्ची और कायमी रहती है। मैं समझता हूँ कि पाप की यह स्वतन्त्रता मनुष्य को भगवान की अनन्त कृपा में से मिली है।

उस रोज़ एक माननीय बन्धु चर्चा में अपना दुःख प्रगट कर रहे थे। कह रहे थे कि जाने इस पीढ़ी का क्या हाल है, धर्म की ओर से एकदम ही सबने मुँह फेर लिया है। क्लब जाएँगे, मौज-शौक में वक्त गँवाएँगे, पर मजाल कि सत्संगत की ओर मुड़ें, ध्यान-स्वाध्याय में समय दें। अभी तो जवानी है, पीछे पता चलेगा कि धर्म को खोकर क्या उन्होंने नहीं खो दिया।

फिर एक-एक अपने बच्चे की तफसील दी। बड़ा इंजीनियर बना है। शादी हो गयी है, साढ़े पाँच सौ के करीब महीना पाता है। ऊपर की आमदनी भी होगी। पर घर पर कुछ भेजना क्या, उलटे हर महीने यहीं से और खर्च मँगाता है। दूसरे साहब मेडिकल कर चुके हैं, पर नौकरी हाथ नहीं आयी, और पिछले साल पाँच हज़ार लेकर जो प्रैक्टिस करने मुफस्सल में बैठे हैं तो लगातार दूकान के लिए ऊपर से कुछ मँगाते ही जाते हैं। तीसरे एम.ए. करके आई.ए.एस. की तैयारी में हैं और ठाट से रहना अपना ज़रूरी फर्ज़ मानते हैं। लड़की छोटी है तो किसी से कम नहीं है। एस.ए. प्रीवियस में है, लेकिन पूछिए नहीं ...

बन्धु को असन्तोष है। सन्तोष वह धर्म से लेते हैं। अपने जमाने में ठेकेदारी से काफी पैसा कमाया था। अब भाव विरक्त रहता है और सब पीछे छोड़ एक साथ महीने-महीने बाहर कहीं तीर्थ पर गुज़ार आते हैं।

दुःख उनका निर्वैयक्ति और सैद्धान्तिक विशेष है। कभी थोड़ा विचार अवश्य होता है कि घराने की जाएदाद की आय सीमित है, बल्कि घट रही है, और खर्च बराबर बढ़ता ही जाता है। लड़कों के ढंग देखकर निश्चिन्तता मिलने की आशा

नहीं है। फिर भी यह विचार उन्हें असुविधा देता है, त्रास नहीं देता। गहरा त्रास जो उन्हें मिलता है सो जमाने के सारे रुख को देखकर, सब एकदम उलटा है। बाहरी माया पर लोभ है, आत्मिक गुणों पर उपेक्षा है। वह अनुभव करते हैं कि कलयुग इसी को कहते हैं। घोरता बढ़ती जाएगी और अन्त में इसी तरह प्रलय आ पहुँचेगी। यह विचार उनके मन को बड़ा ही कष्ट देता है, उनकी आस्तिक भावना तक पर दबाव डालता है।

देखता हूँ कि मैं उनको सान्त्वना नहीं दे पाता। वह ईश्वर से नाराज हैं, गो अन्त में शरण भी उसी की जाते हैं। आस्तिक के पास, मेरे विचार में, सदा प्रसन्न रहने का उपाय हो जाना चाहिए। पर दुनिया से आँख मोड़कर नाम-जाप में वे आश्वासन पाते हों तो पाते हों, दुनिया पर आँख खोलते ही उनमें दर्द हो आता है। उस दर्द की दवा मेरे पास नहीं है।

कहता हूँ, 'हटाइए भी रायसाहब दुनिया को। जाए जहन्नुम में चाहे तो, आपका क्या अटका है।...पर ईश्वर के इस विधान में भी कुछ सार है। गिरने और मरने की आज़ादी देकर शायद ईश्वर ने आदमी को मौका दिया है कि अनुभव से सीखे। यही सीख सच्ची और कायमी रहती है। मैं समझता हूँ कि पाप की यह स्वतन्त्रता मनुष्य को भगवान की अनन्त कृपा में से मिली है ...'

'तो आप भी मानते हैं ना कि दुनिया रसातल को जा रही है।'

मुझे करुणा हुई। वैसे रायसाहब मुझसे कुछ बड़े ही होंगे। दुनिया में ज्यादा कामयाब भी माने जाएँगे। पर उस पर अब उनकी पकड़ ढीली हो गयी है, मेरी कुछ वह मजबूत मानते हैं। कहा, 'लगता तो है।'

'तो क्या किया जाना चाहिए।'

'शायद दुनिया के लिए कुछ नहीं किया जाना चाहिए। अपने-अपने लिए हो तो हो भी सकता है। रायसाहब, आपका उपाय ठीक है—अर्थात् धर्म का ध्यान।'

रायसाहब आते हैं और चले जाते हैं। जानता हूँ कि दुनिया की सारी गति सूरज के चारों ओर है। न इसमें ऊर्ध्व की गुंजाइश है, न अधः की। यों पृथ्वी पर छोटी-मोटी घटनाएँ होती रहें, वह स्वयं आसपास किसी प्रलय में लीन होनेवाली नहीं हैं। लेकिन रायसाहब को धर्म के ध्यान की जो अन्त में बात कहता हूँ सो एकदम ग़लत नहीं है। धर्म-ध्यान वृथा नहीं है, वह परम विज्ञान भी हो सकता है।

धर्म के क्षेत्रों में अक्सर विलाप सुनता हूँ कि श्रद्धा उठ रही है, भौतिकता और नास्तिकता बढ़ रही है। धर्म की प्रभावना होनी चाहिए, उसके प्रचार के लिए यह और वह किया जाना चाहिए। इस शिकायत के विपरीत विज्ञान का अनायास प्रभाव फैलता देखता हूँ। वैज्ञानिक एकान्त में विज्ञान की साधना करता है, प्रचार

के लिए कुछ नहीं करता। लेकिन लगता है कि जैसे बाकी सारी दुनिया उसकी खोज के आविष्कार को पाने को आतुर है। विज्ञान का अन्वेषित सत्य सहज ही जगत् का सत्य बन जाता है। धर्म के सत्य पर प्रवचन होते हैं, शास्त्रार्थ होते हैं, फिर भी लगता है कि वह शास्त्र में रह जाता है, मनों में नहीं लिया जाता।

क्यों ?

मैं आस्तिक हूँ। मानता हूँ कि यहाँ अकारण कुछ नहीं होता। ईश्वर के नियम से बाहर भी कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् विज्ञान की यह माँग और उसकी यह शक्ति अकारण और अनिष्ट नहीं है। न धर्म से वह विपरीत है। प्रत्युत् धर्म के कारण है।

धर्म के कारण इसलिए है कि वैज्ञानिक अपनी प्रतिज्ञा के प्रति परायण रहता है। वह सदा श्रद्धा परायण है, उस पर अडिग है। उसी के मनन में वह अपना जीवन होमता है। उसके इस धर्माचरण के परिणामस्वरूप ही विज्ञान में सत्यता की और शक्ति की सृष्टि होती है।

विज्ञान की कक्षा में जाते ही मैंने सीखा कि उसकी मूल श्रद्धा है कि—

1. पदार्थ है।

2. वह अविनाशी है।

विज्ञान, और वैज्ञानिक, अपनी इस श्रद्धा के प्रति सदा प्रवृत्त और परायण रहा। अमुक पदार्थ इस घड़ी दीखता है, अगली घड़ी नहीं दीखता। पर दीखने-न-दीखने के छल से विज्ञान विचलित नहीं हुआ; उसने श्रद्धा रखी कि दीखता भले न हो, पर है वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य। इस श्रद्धापूर्ण आग्रह और अन्वेषण से विज्ञान ने पा लिया कि सत् है। विज्ञान के सारे आविष्कार इस मूल प्रतिज्ञा पर अटल बने रहने से प्राप्त होते गये कि सत् असत् नहीं हो सकता। विज्ञानी का आचरण इस तरह आरम्भ से अन्त तक धर्माचरण है, प्रतिज्ञ और सश्रद्ध आचरण है। इसी से महान वैज्ञानिक अनायास सन्त दीखता है। वह शिशु के समान सरल और निष्कपट होता है। सच्चाई से अतिरिक्त वह कुछ चाहता नहीं, जानता नहीं।

इधर धर्म की प्रतिज्ञा है कि ईश्वर है, वह सर्वत्र है, सार्वकालिक है लेकिन धार्मिक इस प्रतिज्ञा के प्रति तनिक भी तत्पर नहीं दिखाई देता। उसे झट दीख आता है कि अमुक दुष्ट है, यह कलिकाल है, इत्यादि। दुष्ट में और कलियुग में वह ईश्वर को देखने के प्रयत्न की ही नहीं सोचता। ऐसे धार्मिक का आचरण अपनी मूल आस्था के प्रति अनायास धर्महीन और श्रद्धाहीन हो जाता है। तब उस धर्म में से शक्ति प्रकट हो तो कैसे।

पर धर्म परम-विज्ञान है, यह इस युग में अभी हमने देखा। धर्म का वह

महान वैज्ञानिक था गाँधी। उसने इस श्रद्धा को कि ईश्वर ही है एक बार पकड़ा तो अपनी हर साँस में उसे ज्वलन्त रखा। क्षण के लिए भी उस श्रद्धा से वह डिगने को तैयार नहीं हुआ तत्परायण आचरण की उसने साधना रखी। और आज जगत् साक्षी है कि उससे बड़ा आत्मक्षेत्र का चमत्कार इधर सदियों के इतिहास में दूसरा नहीं प्रकट हुआ। सहस्त्रों एटमबम की शक्ति उसके सामने फीकी है।

गाँधी शक्ति का स्रोत बन सका तो क्यों? केवल इसलिए कि धर्म-श्रद्धा को उसने जीवन में उतारा। यह श्रद्धा कि ईश्वर है, एकमेव वही है और वही परम वास्तव है। इस साक्षात्कार में से गाँधी ने मृत्यु को तुच्छ कर दिया और दीन को दिव्य बना दिया।

विज्ञान अनासक्त है वस्तु के प्रति। उसे वस्तु का सार, सत्व, आत्म चाहिए। अत: वैज्ञानिक आसक्त हो भी सकता है स्वयं के प्रति। पर धर्म है अन्त:-बाह्य अनासक्ति। वस्तु के प्रति, साथ ही निज के प्रति भी। ऐसे वह परम विज्ञान है।

अब क्या हमारा धार्मिक परम वैज्ञानिक होकर दिखा सकेगा?

यह हो तो विज्ञान एक क्षण में वरदान बन जाए और शस्त्रास्त्र की विभीषिका में से ही विश्वास की उषा का उदय फूट आए।

दिसम्बर, 1959.

फिर धर्म और विज्ञान

वस्तु कहीं भी व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं है। वह मानव के उपयोग से जुड़ी है। इस परस्पर-सम्बन्ध के सन्दर्भ में वस्तु को और मानव को समझना उस वैज्ञानिक के लिए पूरी तरह सम्भव नहीं हो सकेगा, जिसमें तादात्म्य का भाव जाग्रत नहीं है। यह तादात्म्य की साधना धर्म की मूल साधना है। यही अहिंसा का सर्वस्व है।

विज्ञान और धर्म के बारे में कुछ भाई मुझसे खुलासा चाहते हैं। उन्हें देखने में कठिनाई है कि धर्म कैसे परम विज्ञान हो सकता है। धर्म भावनाशील है, विज्ञान उससे मुक्त है। ऐहिक और प्रस्तुत से ही विज्ञान का सम्बन्ध है। धर्म इनको लाँघकर परलोक और परकाल में अपना ध्यान जमाता है। इस तरह धर्म उनकी निगाह में विज्ञान का राहु हो जाता है। अर्थात् विज्ञान उनकी दृष्टि में जब समर्थता है, तब धर्म असमर्थता।

मैं उन बन्धुओं से सहमत नहीं हो पाता हूँ। पहले तो शायद शब्दों के अर्थ में सहमति न हो। फिर आगे विचार में भी।

विज्ञान अपने से बाहर जाता है। वह पदार्थ-सत्य को लेता है। फिर वापस वह आत्म-सत्य तक नहीं आता। इस तरह उसका सत्य आत्मनिरपेक्ष रहता है। इसका बहुत लाभ है, लेकिन यह यात्रा रहती अपूरी है। यात्रा पूरी तब हो जब परत्व के गर्भ में जाकर फिर वापस वह स्वत्व तक आ सके और इस तरह आत्मत्व को विस्तार दे सके। तब उससे समष्टि मात्र में एक विद्युतधारा प्रवाहित हो सकती है जो नानात्व में एकत्व का भाव पिरो दे।

इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे धर्म का आरम्भ विज्ञानात्मक ही है। मूल में आस्था अवश्य है, पर उसकी प्रगति के चरण बौद्धिक और वैज्ञानिक हुए बिना नहीं रह सकते। वैज्ञानिक वृत्ति से आरम्भ में ही एक बड़ा फल प्राप्त होता है;

वह यह कि दिमाग में से एक ही साथ अवगुण सब नष्ट हो जाते हैं। पसन्द-नापसन्द की जकड़ टूट जाती है, राग-द्वेष के बन्धन से व्यक्ति खुल आता है। इच्छाओं के काँटे की नोंक अन्दर से टूट जाती है। जो सचुमच ही है, आदि है और अन्त है, उसकी खोज जाग जाती है। लालसा तब घेरती नहीं। परिणाम में आतंक और आदर नहीं रह जाता। चीजों को समेटने और बटोरने के लोभ से अनायास छुटकारा मिलता है। वस्तु के प्रति हमसे न्याय होने लगता है। तब सोने की तिजोरी में बन्द करने की बात ही मन में नहीं आती और उसके उपयोग की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

विज्ञान वस्तु को रुचि-अरुचि या तुल्य-मूल्य से नहीं पकड़ता। लोहे के प्रति उसमें यह भाव नहीं होता कि वह सोना क्यों नहीं है। पीतल को उस कारण मूल्यहीन समझा जाए और सोने से कम पसन्द किया जाए, यह आवश्यकता विज्ञान को नही है। अर्थात् पीतल का पीतल होना उसी तरह गुण है जैसा सोने का सोना होना। यों अवगुण सब कहीं समाप्त हो जाता है। यह गुण है विज्ञान में ज़हर का कि वह ज़हर है ज़हर की मात्रा अधिक है, उतना ही शुद्ध ज़हर है। अर्थात् विज्ञान के क्षेत्र में अवगुण के लिए कहीं स्थान नहीं है। वहाँ प्रत्येक का प्रत्येक स्वभाव सम्पदा (प्रापर्टी) है।

स्पष्ट है कि विज्ञान की यह वृत्ति समाज-हित में बड़ी इष्ट सिद्ध होती है। विज्ञानी को यदि सोने की आवश्यकता है तो अपने प्रयोग के लिए उसकी वह कम-से-कम मात्रा चाहेगा। परिमाण उसके लिए सर्वथा अनावश्यक हो जाएगा। ब्रह्माण्ड को पा जाने की उसे नयी राह मिल जाएगी, अर्थात् वह पिण्ड में से ब्रह्माण्ड का सत्य ढूँढ़ लेगा। राग-द्वेष छीन-झपट उसे वृथा और निस्सार जान पड़ेंगे। अधिकाधिक को वह कम-से-कम में पाने का सार पा जाएगा। अणु के सत्य को पाने के साथ ही यह घटित हुआ न कि चाँद तक हम पहुँच गये, सूरज तक भी जा पहुँचे! विस्तार को लाँघ आने की यह सामर्थ्य किसी बाहरी महत्त्वाकांक्षा में से विज्ञान को नहीं प्राप्त हुई। वह तो ध्यान को परिणाम और विस्तार से हटाकर सर्वथा एकाग्र अणुसत्य में केन्द्रित रखने से प्राप्त होती गयी है।

मानना होगा कि धर्म के नाम पर चलनेवाली अधिकांश प्रवृत्तियों में यह निरपेक्षता नहीं है। उन्हें बहुत कुछ इस दुनिया का चाहिए। धन चाहिए, बल चाहिए, पूजा-प्रभुता चाहिए, मान-प्रतिष्ठा चाहिए। शंकराचार्य और विनोबा जैसे कुछ सन्तों की बात छोड़िए। उन्होंने तो पैदल भारत छान मारा, पर कुछ उसका पास न लिया। विस्तार में उन्हें आकांक्षा थी ही नहीं। उनका मन सत्य में था, इससे विस्तार उन्हें शून्यवत् था। हज़ारों-हज़ार मील फैलाव उनके मन में शीघ्रता या लालसा का भाव नहीं लाता था। उन्हें जल्दी नहीं थी, क्योंकि आकांक्षा नहीं

थी, जैसी विजेता सम्राट में होती है। लेकिन धर्म में वैसी लोकाकांक्षा का आज अभाव नहीं देखा जाता। विज्ञान में जो एक शान्त और सन्तुष्ट सांसारिक उदासीनता है, वह धर्म में नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ संसार-लोलुपता दबी और ढकी होने से कुछ अधिक ही तीखी और गन्धीली है।

वह सब आडम्बर धर्म नहीं, यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मूल में वह आस्था है। क्रिया-काण्ड का सम्बन्ध संस्था से है, आस्था से नहीं। आस्था यदि भीतर सजीव हो तो संस्था भी समर्थनीय हो जाती है। पर आस्थाहीन संस्था के उदाहरण से स्वयं धर्म के प्रति अवज्ञा मन में लाना भूल भरा होगा।

हम देखते हैं कि वस्तु-विज्ञान काफी नहीं है। निरा वैसा वैज्ञानिक आज असहाय भी है। वैज्ञानिक को वेतन कौन देता है, काम कौन देता है, काम के लिए सुविधा कौन देता है? क्या कारण है कि वैज्ञानिक अणु-शस्त्र नहीं चाहते, उनका उपयोग नहीं चाहते, फिर भी वे सभी उन अस्त्रों के निर्माण में योग दे रहे हैं? यहाँ उस वैज्ञानिक की असमर्थता और निरीहता प्रकट हो आती है। बेचारा लाचार है कि अपने काम के लिए वह ऊपर अपनी सरकारों की ओर देखे, सरकार जैसा करने को कहे वैसा करे। वह वैज्ञानिक अपने पास सत्य का सार रखते हुए भी क्यों इतना दीन और दुर्बल रह जाता है? क्यों वह चाँद तक यान भेजने का मन्त्र सिद्ध करके भी इतना नगण्य है कि अपने लिए आवश्यक धन-जन नहीं जुटा सकता? उसे पराश्रित और राज्याश्रित क्यों रहते जाना पड़ता है?

उत्तर यही हो सकता है कि उसके पास का वस्तु-सत्य शायद अधूरा था, परिपूर्ण सत्य न था।

इस तरह वस्तु-विज्ञान की पूर्ति के लिए एक-दूसरे विज्ञान की भी आवश्यकता है। वह है जीवन-विज्ञान। उसी को कहें ब्रह्मज्ञान।

इस जीवन-विज्ञान या जीवन-धर्म की साधना, कहना होगा कि, राजनेता जिस सफलतापूर्वक कर पाता है, उतना धर्म का नेता नहीं। राजनेता पोथी-पत्रा पढ़ा नहीं होता, शास्त्र-सिद्धान्त नहीं जानता। जीवन ग्रन्थ के अभ्यास में से ही वह अपना योग साधता है। भगवद्गीता में योग को कर्म का कौशल कहा है। उस कर्म-कौशल की कसौटी पर योगी आज किसे माना जा सकेगा? दूसरे योगियों के लिए तो विशेषण लगाना जरूरी होता है, जैसे हठयोगी, ध्यानयोगी, आसनयोगी इत्यादि। निरायोगी तो मानना होगा उसको जो जगज्जीवन में केवल लोकमत के आधार पर विभुता प्राप्त कर आता है।

तो जीवन-विज्ञान के साथ जीवन-कला का योग हो तब उसे धर्म कहना चाहिए। सिद्धान्त उसका व्यवहार से भिन्न नहीं होता। न ज्ञान आस्था से भिन्न होता है यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की सम्यक एकता मोक्ष देनेवाली कही गयी

है।

वस्तु-विज्ञान और आत्म-विज्ञान परस्पर विमुख नहीं हैं, बल्कि पूरक होने चाहिए। वस्तु और व्यक्ति के प्रति पूरा न्याय करने की क्षमता सही तौर पर उसी में आ सकेगी जो आतमविज्ञानी भी होगा। वस्तु कहीं भी व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं है। वह मानव के उपयोग से जुड़ी है। इस परस्पर-सम्बन्ध के सन्दर्भ में वस्तु को और मानव को समझना उस वैज्ञानिक के लिए पूरी तरह सम्भव नहीं हो सकेगा, जिसमें तादात्म्य का भाव जाग्रत नहीं है। यह तादात्म्य की साधना धर्म की मूल साधना है। यहीं अहिंसा का सर्वस्व है।

धर्म का यह रूप प्रकट हो तो मालूम हो कि वह कोरा तत्वज्ञान ही नहीं है, बल्कि शासन-स्वरूप भी है। उत्तरोत्तर राज्य-शासन को आत्मानुशासन का रूप लेते जाना है। शासन-मुक्त समाज का आशय यही आत्मानुशासित समाज हो सकता है। वह इष्ट केवल पदार्थ-विज्ञानियों के बल पर आ जानेवाला नहीं है। वह लक्ष्य प्राप्त होगा तब जब मन को और धन को, काम को और अर्थ को मानव-सम्बन्धों के सन्दर्भ में वैज्ञानिक निष्पक्षता से देखा और समझा जा सकेगा। यह सम्भव बनेगा उस व्यक्ति के द्वारा जो चराचर जगत् को आत्मवत मानेगा। ऐसे व्यक्ति के लिए परमेश्वर और पंचभूत दो तत्त्व नहीं रह जाएँगे। समस्त सृष्टि में वह अपने स्रष्य की लीला को देख और पहचान सकेगा और तद्रूप आचरण करेगा।

परम विज्ञानमय यह धर्म बौद्धिकता को सम्पूर्ति देनेवाला होगा। उसके स्पर्श से इधर आधुनिक विज्ञान की जीवन-सम्बन्धी असमर्थता दूर होगी, उधर राजनेता की अहम्मन्यता को भी संस्कार मिलेगा?

फरवरी, 1960.

धर्म को चुनौती

क्यों है कि धर्म सम्प्रदाय रचता और उसी में घिरा रहता है? क्यों वह दलदल में दीखता है और उससे उबर नहीं पाता? क्यों है कि वह राजनीति का बस दास है और उसको दिशा नहीं दे सकता?....कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि बाहर की ओर से बचने के लिए लोग धर्म में शरण लेते हैं और वहाँ अपनी निर्बलता को पोषण देते रहने में रस लेते हैं।

एक जैन पत्रिका में समाचार है—

श्रीमती...का 25 तारीख को संथारा सिद्ध हुआ....इस समय आपकी साठ साल की उम्र थी। पिछले चालीस वर्षों से आपने 12 व्रतों को धारण कर रखा था एवं नौ वर्षों से अणुव्रती थीं... ? आपने लगभग तीन हजार उपवास किये थे तथा अन्य फुटकर तपस्याएँ भी की थीं। बेला 55, तेला 15, चौला 45, पचौदा 40, छह दिनों की 20, 6/25, 8/4, 9/16, 10/2, 11/2, 12/8, 13/1, 14/1, 15/1, 19/1।

समाचार पढ़ने के अगले रोज सद्‌भाग्य से उस पन्थ के एक जैन मुनि पधारे। मैंने पूछा 'मृत्यु को सिर पर ही उतर आई देख जो अनशनपूर्वक देह त्याग है उसी को संथारा कहते हैं ना?

बोले, हाँ! लेकिन मृत्यु का एकदम सामने आ रहना जरूरी नहीं है। कभी ऐसा भी होता है कि वैराग्य की दृढ़ता में ऐसा निश्चय कर लिया जाता है। अभी की बात है कि एक सन्त ने संथारे का आरम्भ किया है। चालीस वर्ष पहले उन्होंने निश्चय किया था कि साठ वर्ष से आगे उन्हें अपनी आयु नहीं रखनी है। साठ वर्ष पूरे होने आ गये हैं, इसलिए अब कमशः अनशनपूर्वक वह देह त्याग देंगे।

मैं सुनता रहा और सोच में रहा।

पत्रिका के उसी पृष्ठ पर तपस्याओं के और अनेक समाचार थे। ऊपर के

उदाहरण में स्वर्गवासिनी महिला ने तीन हजार व्रत रखे। यूँ कहिए लगभग नौ वर्ष वह निराहार रहीं। उनकी तपस्याओं का हिसाब ऊपर दिया ही गया है।

यह सब धर्म है। इसका प्रचार होता है। प्रशंसा होती है। वातावरण ऐसा बनता है जैसे यह मोक्ष की साधना है। देह की विजय है, इन्द्रियों पर जय है।

हम संसारी लोग जो नित्य दो से अधिक बार खाते हैं इन अनशनों की तालिका पर विस्मित और विमुग्ध रह जाते हैं। जीवन का हमें तो कितना मोह है, उसी जीवन के प्रति संथारा के इन उदाहरणों में कितनी उदासीनता और उपेक्षा दीखती है, स्वाभाविक है कि हम उन पर दंग रह जाएँ।

पहले सती प्रथा थी। अब भी उस 'सती' के प्रति लोगों में गहरी भक्ति-भावना है। सती का समाचार यदा-कदा पत्रों में अब तक पढ़ने को मिल जाता है। सती का मन में ऊँचा आसन है, लेकिन लोकमत आज उसे ग्राह्य नहीं मानता है। सब मानते हैं कि वह कुप्रथा थी।

'सती' यदि सर्वथा स्वेच्छा से हो तो भी जान पड़ता है कि आज प्रबुद्ध लोकमत उसे स्वीकार नहीं करेगा।

निश्चय ही हम उस लोकमत को प्रबुद्ध कहते हैं जो सती के देह-त्याग पर मुग्ध और प्रसन्न होने का कारण नहीं देखता। और मैं अपनी ओर से उस लोकमत को प्रबुद्ध मानूँगा जो इन संथारों के उदाहरणों पर भाव-विभोर नहीं हो रहता है, बल्कि समीक्षा की दृष्टि से विचार करने को तैयार है; उसे इसमें प्रसन्नता का कोई कारण नहीं है।

भारत देश धर्मप्राण है। मैं इसको बहुत बड़ी बात मानता हूँ। यह घटना इस देश को दुनिया का सिरमौर भी बना सकती है। लेकिन आज भारत पिछड़ा हुआ है। आगे बढ़ रहा है तो धर्मनिरपेक्ष पद्धति से। धार्मिक भारत आज के दिन किसी के लिए भी विचारणीय नहीं है। इसका कारण मेरे निकट सिर्फ यह है कि धर्म यहाँ ज्वलन्त और सामाजिक नहीं है, उसको जड़ और असामाजिक बना डाला गया है। ऐसे वह सज्जनों, सन्तों और मुनियों के नमूने पैदा करने में समर्थ हो जाता है, लेकिन देश और समाज में जान नहीं डाल पाता। क्यों है कि धर्म सम्प्रदाय रचता और उसी में घिरा रहता है? क्यों वह दलदल में दीखता है और उससे उबर नहीं पाता? क्यों है कि वह राजनीति का दास है और उसको दिशा नहीं दे सकता? क्यों वह धर्म जो मनुष्य को परिपूर्णता देता बताया जाता है इतना असमर्थ और क्लीव है कि आश्वासन नहीं दे पाता? कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि वह मानव-सम्बन्धों में व्याप्त होने से घबराकर और कतराकर स्व के और स्वकीय के चक्कर में घूमता रह जाता है। इस तरह निर्माण की शक्ति उसमें से नष्ट हो रहती है, और शनैः-शनैः उसे व्यसन का स्वरूप मिलने लगता

है। बाहर की ओर से बचने के लिए लोग धर्म में शरण लेते हैं और वहाँ अपनी निर्बलता को पोषण देते रहने में रस लेते हैं।

बहुत जरूरी है कि धर्म का बल प्रकट हो। धर्म से निरपेक्ष होकर जगत् जो धड़ाधड़ उन्नति करता जा रहा है उससे संकट टलता नहीं दीखता, बल्कि कुछ बढ़ ही रहा है। मानव-जाति की तीन-चौथाई के लगभग शक्ति ऐसे उत्पादन में लगी हुई है जो भय उपजाने या उससे बचाव साधने के लिए है। उन्नति जो भय पैदा करती है और उसी को संगठित करती है, अन्त में हमें कहाँ ले जाएगी? शान्ति और सुख की ओर वह हमें कभी नहीं ले जा सकती। धर्म की इसी के लिए जरूरत है कि वह उन्नति की बागडोर को अपने हाथ में ले और विनाशकारी की जगह निर्माणकारी क्षमता उसे दे। क्या भारत का अध्यात्मवादी कहा जानेवाला धर्म यह कर रहा है या कर सकता है?

धर्म जब तक अपनी मूढ़ताएँ पैदा करके वहीं रस लेता चकराता रहेगा तब तक वह राजनीतिकों के हाथ का खिलौना रहेगा। उसमें शक्ति नहीं होगी कि जीवन को शासन दे। शासन जिन तत्त्वों के हाथ रहेगा वह धर्म से स्वतन्त्र होंगे। परिणाम यह कि धर्म स्वयं अधीन बनेगा, वह मोक्षदाता का होने के बजाय दीनता और अधीनता का सूचक होगा।

बूँद को अलग कीजिए समुद्र से, सिवा इसके क्या होनेवाला है कि बूँद सूख जाए। धर्म अगर व्यक्ति को समाज से अलग कर लेता है तो भाग्य इसके सिवा दूसरा न हो सकेगा। कायक्लेश की उग्रता को जब तपस्या और साधना माना जाता है तो उसके नीचे धारणा यही है कि व्यक्ति स्वयं अपना है; अपने को सुखा सकता है, गला सकता है, मार सकता है; वह स्वयं में अपने को मुक्त कर सकता है। शेष अन्य पर है, वह स्वयं स्वयं है। यह ऐकान्तिक धारणा व्यक्ति को अपने सन्दर्भ से तोड़ देती है। तब वह अनोखा और निराला बन सकता है, लेकिन भीतर संवेदन के तन्तु उसमें जड़ पकड़ चुके होते हैं और उसे सहारा केवल अपने आग्रह और हठ का रह जाता है। उसकी ग्रहणशीलता ठिठुर जाती है और वह अपने को ही चूसता हुआ बीतता जाता है। पन्थ और सम्प्रदाय जो अपने में ही लिप्त और लुप्त रहते हैं सो यही प्रमाणित करते हैं।

देह मेरी है, इसका मैं जो चाहे करूँ—यह जड़ धारणा है। यह जीर्ण हो चुकी है। अपरिग्रह का धर्म लोगों के मनों में घर करता जा रहा है और यह बात समझ में उतरती जा रही है कि जैसे सम्पत्ति मेरी नहीं है वैसे शरीर भी सर्वथा मेरा नहीं है। धनसम्पदा जैसे औरों के और सबके लिए है वैसे मनुष्य की शरीर सम्पदा भी औरों के और सबके लिए है। इसलिए शरीर से जिसको सचमुच अनासक्ति और निर्मोह सिद्ध हो सका है उसका लक्षण तो यह रह जाना चाहिए

कि शरीर उसका सर्वथा स्वस्थ, तत्पर और सेवारत रहे। व्रत, उपवास इसी की सामर्थ्य दें तो सार्थक बनते हैं अन्यथा उनमें अहं-सेवन भी रह सकता है।

इतने अपघात होते हैं—क्या यह माना जा सकता है कि आत्मघातियों को जीवन का निर्मोह प्राप्त हुआ है? स्पष्ट है कि निर्मोह नहीं, गहरा और घना मोह है जिसमें अपघात सम्भव होता है। तपश्चर्या कठोर से कठोर दीख सकती है जिसके मूल में स्वराग हो। वह अध्यात्म जो परिधि के रूप में स्व को ग्रहण करता है और शेष से अपने को छिन्न मान लेता है खतरनाक हो सकता है।

कायिक तपश्चर्या के लिए जैनी जन विख्यात हैं। मैं स्वयं जैन हूँ। लेकिन मुक्ति की ओर संसारी यात्रा की प्रगति के निर्देश के लिए जो चौदह गुण स्थान बनाये गये हैं मुझे उनकी याद आती है। चौदहवाँ स्वयं मोक्ष है; परन्तु उससे पहले जो ग्यारहवाँ गुण स्थान है अहं-मूढ़ तपस्या व्यक्ति को वहाँ ले जा सकती है। उसका आशय यही है कि व्यक्ति केवल अपने में चढ़कर गिरता और डूबता ही है; वह अपने को मुक्त औरों में और सबमें, अर्थात् निखिल में ही कर सकता है। अन्यथा कोई और कहीं मुक्ति नहीं है।

भाषा भिन्न हो सकती है, धर्म एक और अखण्ड है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, मुस्लिम, खिस्त आदि विशेषणों से उसमें अन्तर नहीं आ सकता। हर भाषा से प्राप्त जो करना है, जीवन का वह साध्य शब्द के हेर-फेर से बदल नहीं जाता।

अतः धर्मज्ञों, धर्म-व्यवस्थापकों और धर्माचारियों के लिए, फिर चाहे वे किसी मत-सम्प्रदाय के हों, यह चुनौती रह जाती है कि जिसको वे सृष्टि को धारण करनेवाला सत्-धर्म मानते हैं, वह प्रबल होकर जगत् और जीवन की बागडोर को अपने हाथ में सँभाले। छोटे-छोटे सन्तोष जो प्रचलित धर्म अपने को देते रहते और इस तरह स्वयं में मग्न और मत्त बने रहते हैं, उससे आज काम नहीं चलने वाला है। विज्ञान बहुत बढ़ गया है। यदि क्षमता हो तो धर्म को भी उतना बढ़कर दिखाना होगा। दिखाना होगा कि विज्ञान की शक्तियों का सत्उपयोग ही होगा, विनाशक उपयोग हो नहीं सकेगा। यदि चैतन्य का प्रकाश धर्म से दीप्त होनेवाला हो तो अनिवार्य है कि चेतना को मन्द और निश्चेष्ट करनेवाली प्रवृत्तियाँ धर्म के नाम पर प्रतिष्ठित न हों और उनको बड़ाई न मिले।

मार्च, 1960.

सपना

''धर्म और क्या है? यह अवतार और पैगम्बर और मसीह क्या हैं? व्यथताएँ हैं जिनको अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि कुछ उनके सहारे प्रभु बनें, दूसरे दास बने रहें।''

—एक पात्र

रात का समय होगा। कहीं एक बजे वह सो पाये थे। नींद उन्हें आती कब है। काम उन्हें इतना रहता है, इतना, इतना, इतना कि क्या कहिए। सहारा एक ही है, कि अन्त:करण पर वह बोझ नहीं लेते हैं। असल में वह उसे मानते ही नहीं है। आत्मा और कांशेंस आदि वहम ही हैं। हृदय है तो वह शरीर में अपना काम करता है। हाथ-पैर हैं, जिगर है, वैसे ही हृदय है। इसके आगे जो जाते हैं वे शोषक बने रहने के लिए समाज को अफीम के घूँट देते हैं। धर्म ौर क्या है? यह अवतार और पैगम्बर और मसीह क्या हैं? व्यर्थताएँ हैं जिनको अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि कुछ उनके सहारे प्रभु बनें, दूसरे दास बने रहें।

काम उन पर सब दायित्व का है और लोकहित का है। इसलिए गहरी सुरक्षा में उन्हें रहना पड़ता है। फिर सब चौकियों और पहरों को पार कर यह कौन चले आ रहे हैं!

अधिपति ने कहा, ''कहिए?''

''सुनता हूँ आपने मुझे याद किया था।''

''आप कौन हैं?''

''मैं हूँ ही नहीं।''

''आप जानते हैं मेरे पास समय नहीं रहता। पहेलियाँ न कहिए, अपना आशय कहिए।''

''मैं हूँ नहीं, तभी न आपने मुझे याद किया है। मैं यही कहने आया था कि आपको मेरे सम्बन्ध में किसी चिन्ता का कारण नहीं है। क्योंकि आप जानते

हैं मैं नहीं था, नहीं हूँ। आपने कहा, आपको समय नहीं रहता है। इसीलिए और भी आवश्यक है कि आप समय बचायें और मुझ पर वृथा एक क्षण भी न खोएँ।''

''तुम हो कौन?''

''ईसा! क्या मतलब! ईसा मसीह?''

''लोग कहते होंगे। पर मैं था नहीं, हूँ नहीं। आप आराम से सोइए।''

''ठहरो, मेरी नींद में खलल डालने पर तुम कैसे आये?''

''मैं नहीं आया हूँ। आप सो ही रहे हैं। खलल नींद में न पड़े, इसलिए कहने आया हूँ कि मैं आदि से नहीं था, नहीं हूँ। और क्या नींद में, क्या जाग में, आपको मेरे सम्बन्ध में सोचना भी नहीं चाहिए।''

''अहं, कौन सोचता है!''

''आप सोचते हैं जब इन्कार करते हैं।''

हाँ, मैं इन्कार करता हूँ। तुम मिथ हो। तुम कुछ नहीं हो। तुम घड़न्त हो, आडम्बर हो। तुम मिथ्या हो। तुम हो जिसने मानवता को दास बनाये रखा है। अच्छा है कि तुम सामने आ गये, मैं चाहता था कि तुम्हें बताऊँ कि किस तरह मैं तुम्हें नहीं मानता हूँ और तुम्हारी जड़ों को उखाड़ फेंक कर रहूँगा।''

''आप अपने आवेश से मुझे हठात् जिलाए दे रहे हैं। मैं आपको कष्ट से बचाना चाहता हूँ। मैं एकदम हूँ ही नहीं। जड़ें जिसकी उखाड़िएगा, उसकी पहले जड़ें जमाना आपको आवश्यक हो जाएगा। कृपया निश्चिन्त रहिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सर्वथा नहीं हूँ। नींद में आप याद करते हैं, जाग में याद करते हैं। याद इन्कार करने के नाम पर करते हो, लेकिन उतने से भी मुझे होना पड़ता है। इसमें मुझे कष्ट होता है। मालूम है कहाँ से मुझे आप तक आना पड़ा है? यह जितना तुम्हारा ब्रह्माण्ड है, सत् है। उसके भी पार एकदम असत् लोक से मुझे सहसा होकर आना पड़ता है। तुम्हारे इन्कार में कितनी शक्ति है, यह तुम्हें जानना चाहिए। उसी के कारण मुझे हो जाना पड़ता है। इससे तुम्हारी नींद तक में बाधा बड़ती होगी। ओह, मैं नहीं हूँ, बाधा एकदम नहीं बन सकता हूँ। सुनो, आराम से सोओ, आराम से जियो। तुम जानते हो आत्मा नहीं है, कोन्शन्स नहीं है; मानवता की आत्मा माने गये वे जीवन भी नहीं हैं। मिथ बनाकर जिन्होंने रखा उन्होंने रखा हो, पर तुम जानते हो कि मिथ तक बनाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। फिर, वत्स, तुम क्यों चिन्ता करते हो। कर्म करते जाओ यही चाहते हो न? निरद्वन्द्व बने रहो, यही चाहते हो न? तब द्वन्द्व क्षण भर को न लाओ कि मैं था या नहीं था, हूँ या नहीं हूँ। तुम हो, क्या तुम्हारे लिये यह काफी नहीं है? वत्स, मैं कहने के लिए आया हूँ कि तुम और भी पक्के हो जाओ कि तुम्हीं हो, तुम्हारे सामने किसी की भी और हस्ती नहीं है।

"ठहरो, ठहरो, तुम ईसा हो, यही न? लेकिन वह तो नम्र था, बेचारा था। तुम कौन हो कि ऐसी प्रभुता से बोलते हो। जानते नहीं मुझे? मैं—"

"देखो-देखो, कोई वह न था जो नम्र था। न है अब जो तुम पर प्रभु हो सकता है। आराम करो। सवेरे से तुम्हें काम पर होना है। मैं हूँ नहीं, और अब हूँ तो सपने से भी कम हूँ। मानो, तुम सपना देख रहे हो। सपने के साथ मैं उड़ जाऊँगा। बस तुम सोच में न पड़े रहो। मुझ में जड़ नहीं हैं, मुझ में प्रभुता नहीं है। सत्यता ही नहीं है। लो, मैं चला। और सुनो, सपने बच्चे देखते और सच मानते हैं। तुम समर्थ हो, तुम बच्चे नहीं हो। तुम पर जगत् का बोझ है। तुम सर्व-सम्मति से चुने गये अधिपति हो। सब तुम्हारी तरफ देखते हैं। काम सब तुमसे चलता है। जानता हूँ चर्च की कुछ थोड़े जहाँ-तहाँ बचे हुए हैं। पर अपनी प्रतिभा में विश्वास रखो। वहम का सहारा कब तक लोग रख पाएँगे! तुमसे उन्हें विज्ञान मिलेगा और बुद्धि मिलेगी और प्रकाश मिलेगा। तुमसे उन्हें व्यवस्था मिलेगी और सब चीजों की इफरात मिलेगी। थोड़ा अफसोस यही है कि तुम कभी-कभी दुर्बल हो जाते हो और जो नहीं है उसी को अपने मुँह के शब्द में लाकर जैसे वास्तविकता दे दिया करते हो। अपने निराकार, निर्गुण, निर्व्यक्त और निश्शेष देश में जब यह सूचना पहुँची कि तुम तक में यह दुर्बलता है तो मुझे रूप लेकर आना पड़ा। तुम जानते हो कि इतिहास तुम्हारे वश से बाहर की चीज नहीं है। मैं चाहता हूँ कि कुछ भी तुम्हारे वश से बाहर न रहे। मेरी याद जब तुम करते हो तो इस तुम्हारी त्रुटि पर मुझे प्रसन्नता नहीं होती। जानते हो सपना आदमी को क्यों आता है? इसलिए कि वह बँटा होता है, और इसलिए कि भीतर से चाहता है उसी को ऊपर से नहीं बी चाहता है। इस द्वंद्व से तुमने संकल्प किया था कि तुम ऊँचे उठोगे। मनुष्य पैदा हुए हो, मशीन बनकर दिखा सकोगे। अपने को अपने से भरपूर भर लोगे। मुझ जैसी व्यर्थताओं और निस्सारताओं से उत्तीर्ण रहोगे। फिर, बच्चे, यह तुम में क्या देखता हूँ कि नींद में तुम करवट लेते हुए बेचैन हो आते हो!"

"निकल जाओ यहाँ से जो भी हो। दया का दम्भ करते हो!"

"यह ठीक है। लेकिन नींद में मग्न हो जाओगे तो मैं तो निकला ही हुआ हूँ। धक्का देकर निकालने की कोशिश में से ही तो तुमने मुझे अपने इतने पास खींच लिया है। देखो, ऐसा न हो कि मुझे तुम्हारे भीतर बैठ जाना पड़े। अधिक प्रयत्न से यही होगा।"

"अरे, कोई है? बचाओ! निकालो!"

सोते व्यक्ति को मालूम हुआ कि बोल रहे है, पर आवाज निकल नहीं रही है। डर के मारे घिग्घी बँध आयी है।

"डरो नहीं, डरो नहीं बेटा!"

आगत मूर्ति ने अपना करुणा का हाथ उसके मस्तक की ओर बढ़ाया। उसे लगा कि ओह, जैसे वह परमेश्वर का डंक ही न हो। वह बेहद घबरा आया। जैसे मौत का पंजा उसे दबोचने आ रहा हो। एकाएक उसमें से चीख निकली जो रात के सन्नाटे को चीरती हुई चली गई। रक्षक पहरेदार चारों तरफ से दौड़ते हुए आए।

प्रकाश किया गया। देखा, उनके महामान्य का चेहरा पीला पड़ा हुआ है। शरीर पसीना-पसीना हो रहा है।

"क्या था?"

"क्या है?"

"क्या हुआ?"

अधिपति ने एक क्षण बदहवासी में चारों ओर देखा। देखा कि सब ओर उसके ही अनुचर और अंगरक्षक हैं। उसका ही दुर्ग है, उसका ही कक्ष है। अगले ही क्षण मुस्कराकर कहा—"कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

सबको सान्त्वना हुई।

व्यक्ति ने कहा—"पानी!"

और एक गिलास पानी पीने पर पसीना उसका शान्त होने लगा। तब उसने फिर सोने का उपक्रम किया।

मार्च, 1960

भाग : छह
पैसे का सत्य

समाज और निजता

कल्पना की गई कि व्यक्तित्व नहीं रहेगा तब समाज का एक-त्व अवाधित और परिपूर्ण होगा। वह अवस्था होगी जब राज-तन्त्र समाज में गर्भित हो जाएगा। अलग से विधान की पोथी और दण्ड संस्था के रूप में उसे रहना न पड़ेगा।

शायद पन्द्रह बरस पहले की बात है। राह चलते एक भीड़ दिखाई दी। पास पहुँचने पर देखा कि एक आदमी एक स्त्री को बुरी तौर पर लात-घूँसों से मार रहा है। लोग खड़े हैं, तमाशा देख रहे हैं। कोई कुछ सोचता भी है कि मदद करे और कदम बढ़ाता है तो लोग कहते हैं—उसकी बीवी है, वह मालिक है। कोई बीच में पड़नेवाला कौन होता है।

उस समय था कि आप जितना चाहे कमाइये और चाहे जितना खर्च कीजिए, आप मालिक थे। कोई कुछ कह नहीं सकता था।

आज बात पहले सी नहीं है। मैं अपनी ही कहता हूँ। रात ग्यारह बजे का समय था और पड़ौस से शोर आना शुरू हुआ। कोई साहब देर से लौटे थे और शायद कुछ चढ़ाये हुए भी थे। होते-होते बात का पारा चढ़ा, गाली तक की नौबत आई। फिर शायद हाथ छूट बैठा। दो-चार मिनट तो बर्दाश्त हुआ। लेकिन फिर सीधा उनके घर पहुँचा और कहा—यह क्या शोर है? अरे भाई, लड़ना है तो ऐसे लड़ो कि औरों की नींद में खलल न पहुँचे। सुनो, आगे शोर न हो।

इस पर सचमुच बात फिर ठण्डी हो गई, शोर-शराबा नहीं आया। न गलती मुझे मालूम हुई, न दखल उन्हें मालूम हुआ।

इसी तरह आज कमाने और खर्चने के बारे में आपकी आजादी उतनी नीहं है, कानून की आँखें दोनों पर हैं। पहले वे आँखें घर के बाहर रुकी रह जाती

थीं, अब भीतर ही नहीं कमरे-कमरे तक पहुँचती हैं। और यह बतौर हक।

मालूम होता है एक दायरा बढ़ रहा है और वह समाज का है। दूसरा दायरा घट रहा है, वह निज का है।

एक विचार चला जिसे समाजवाद कहते हैं। वह मूलतः यह है कि व्यक्ति स्वयं पर है नहीं, इससे स्वयं का नहीं है। वह औरों के साथ है; इतना ही नहीं, उन पर निर्भर है। इसलिए सत्य समाज है, व्यक्ति तो अंग है। अतः सत्ता का अधिष्ठान समाज में होगा। अधिकार वहाँ रहेगा। व्यक्ति समाज के प्रति अर्पित हो, यह यों निरी भावना की बात रह जाती है; अर्थात् व्यक्ति पर छोड़ें तो यह भी हो सकता है कि समर्पित न हो। नैतिकता कर्तव्य तक रहती है, इसेस अधीरू चीज़ है। वह व्यक्ति से अपेक्षा करके रह जाती है; यानी तब; अधिकार व्यक्ति के पास पहुँचता है, समाज सिर्फ आशा रख सकता है। समाज का वाद इसीलिए मानता है कि यह गलत है; अधिकार समाज के पास होगा, व्यक्ति से समर्पण न आये तो समाज उसे बलात् लेगा। सीधी तरह समाज के हित में व्यक्ति रहे तो अच्छा ही है, नहीं तो टेढ़ी तरह दण्ड और कानून के जोर से उसे रखना होगा। संक्षेप में सत्ता और अधिकार समाज के पास रहेंगे, व्यक्ति अधीन होगा।

यह तो वाद हुआ। अब प्रश्न होता है कि समाज के पास कुछ चीज रहेगी कैसे? समाज वह है कहाँ? मान लीजिए कि अपना फाउन्टेनपैन मैं समाज को देना चाहता हूँ, तो बताइए कैसे दूँ? लाख उपाय करके भी यह सम्भव नहीं हो सकता। कारण, समाज संज्ञा है तो धारणावाचक है, व्यक्तिवाचक नहीं है। इस तरह यह मानने के बाद भी कि सत्ता और अधीनता समाज की हो, आवश्यकता रहती है कि समाज का कोई मूर्त रूप हो। समाज स्वयं अमूर्त है, मेरी मुलाकात उससे अब तक नहीं हो पाई है। इससे वाद की बात जब काम की बनती है तो समाज को मूर्त करना पड़ता है। वह मूर्त रूप बनाया गयाः राज्य।

राज्य क्या है? पहले राजा होता था। एक शूरवीर आदमी निकला और कबीले-के-कबीले ने उसको सरदार स्वीकार किया। कबीले ने उसे सरदार बनाकर अपने को जत्थाबन्द जमात बनाया। फिर वह उसके वंशजों से निभता चला गया; पर यह ढंग होते-होते विचार में पिछड़ गया। यों अब भी इक्का-दुक्का राजा मिल जाएँगे, पर जमाना प्रतिनिधियों का है। समूह, जिनको राष्ट्र कहते हैं, वोट के जरिये अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। और वे समाज के अन्तःकरण-धारी के रूप में सत्ता-धारी बनते हैं। यह प्रतिनिधि कैसे बनें, कब तक रहें, आदि-आदि के बारे में अलग लोगों ने अपनी अलग धाराएँ बना ली हैं। इन बातों को विधान कहते हैं। पर राज्य के तन्त्र का यह तो नीति-निर्माण वाला पक्ष हुआ; उस नीति के पालन के लिए जिस विभाग का निर्माण होता है, वह चुनाव-निर्भर नहीं स्थिर

होता है। प्रतिनिधि बदलते रह सकते हैं, कर्मचारी जल्दी बदल नहीं सकते।

तो समाज की ओर से सत्ता और स्वत्व को इस यन्त्र के पास रखा जाता है। समाज की अधीनता, समाज का हित, समाज के प्रति समर्पण अन्ततः इस यन्त्रारूढ़ वर्ग के प्रति देय के रूप में परिणत कर्तव्य बन जाता है।

समाजवाद के वैज्ञानिक विचार से मालूम हुआ कि अन्त में राज्य के यन्त्र को अनावश्यक होकर बिखर रहना चाहिए। तब क्या होगा? जान पड़ता है कल्पना यह है कि जो काम अब शासन नाम के तन्त्र से साधा जाता है, वह काम अव्वल तो उतना जटिल और विकट नहीं रह जाएगा; फिर यत्किंचित् जो शासन की आवश्यकता रह भी जाएगी, वह समाजानुशासन में से पूरी हो जाएगी। शासन धीरे-धीरे अनावश्यक इसलिए होता जाएगा कि अनुशासन बढ़ता जाएगा।

यह अनुशासन क्या चीज है? मालूम होता है कि शासन यदि वह है जो बाहर से और ऊपर से आता है तो अनुशासन वह है जो अन्दर से और स्वेच्छा से आता है।

अनुशासन बढ़ता जाए, यह शासन को भी इष्ट हैं। बढ़े हुए अनुशासन में फिर व्यक्ति और समाज इन दो वृत्तों को परस्पर क्या सम्बन्ध होगा?

समाज का वाद तो समाज के ही एक वृत्त को चाहता है, दूसरे वृत्त को समाप्त देखना चाहता है। इसलिए वैज्ञानिक के नाम पर वह वाद कड़ीबद्ध तर्क के जोर से उस समाज-व्यवस्था के निर्माण में प्रवृत्त होता है जिसका तन्त्र राज में केन्द्रित हो और उससे स्वतन्त्र न हो। जो व्यक्ति अब तक अपनी व्यक्तिमत्ता से मुक्त नहीं हो सके हैं, उन पर यह समाज बहुत कृपा करे तो जेलखाने में रख सकता है; न्याय में तो उन्हें समाप्त करना ही होता है। राज्य व्यक्तियों को मार रहा है, इस रूप में प्रश्न ही वैज्ञानिक समाजवाद के समक्ष नहीं आता। वह केवल समाज-हित में असामाजिक वृत्ति के बीजाणुओं को समाप्त कर रहा होता है!

कल्पना की गई है कि व्यक्ति-त्व नहीं रहेगा तब समाज का एक-त्व अबाधित और परिपूर्ण होगा। यह अवस्था होगी जब राजतन्त्र समाज में गर्भित हो जाएगा, अलग से विधान की पोथी और दण्ड की संस्था के रूप में उसे रहना न पड़ेगा।

मान लीजिए, राष्ट्र में साठ करोड़ आदमी हैं। स्त्री हैं और पुरुष हैं। अनुपात भी विषम नहीं है। अब तक चलता यह है कि एक स्त्री और एक पुरुष के संगम के आधार पर घर की इकाई बनने दी जाती है। इस संस्कार को विवाह कहते हैं और स्त्री-पुरुष पति-पत्नी बनते हैं। सन्तति होती है और वह माता-पिता की कहलाती है। दोनों आपस में चाहे काम के क्षेत्र में बाँट लेते हों, एक का घर दूसरे का बाहर, पर दोनों मिल-जुलकर उत्पादन करते और उपभोग करते हैं,

मिल-जुलकर कमाते खाते हैं। इस तरह कुटुम्ब का एक अपना स्वार्थ बन जाता है और उस प्रेरणा से वे श्रम करते हैं और जीवन को उपयोगी बनाया करते हैं।

लेकिन इस पद्धति से परिवर समाज से प्रधान भी बन जाता है। बड़े परिवार या कुछ परिवार मिलकर एक न्यस्त स्वार्थ का रूप ले लेते हैं, यह वेस्टेड इण्टरेस्ट्स पूँजीवाद का निर्माण करते हैं। इसमें स्वतन्त्रता होती है, पर स्पर्धा और शोषण की स्वतन्त्रता वह अधिक हो जाती है, सहयोगी और साजिक इतनी नहीं रह पाती। परिवारों के स्वार्थ रगड़ में आते हैं और एक दूसरे को क्षति पहुँचाते हैं; इससे समष्टि-रूप समाज को घाटे में रहना होता है।

सोचनेवालों ने सोचा, बहुत सोचा, और एक शास्त्र खड़ा किया। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच से स्पर्धा और संघर्ष को हटा दिया जाए, स्वत्व का आपस में झगड़ा-दावा न हो, सब आपस के न होकर सीधे समाज के हों, अधिकार केवल समाज का हो और दफ्तर के द्वारा हो, परस्पर के प्रति किसी प्रकार का वह अधिकार न रह जाए, सब काम करें और एक जगह से दाम पाएँ, यथाशक्य करें, यथावश्यक पाएँ—तो ऐसे समाज खूब फले-फूलेगा।

कल्पना में कोई कमी न थी, न तर्क में, न गणित में।

केवल कठिनाई थी मनुष्य की, अर्थात् उसके मानस की और मानस-परिवर्तन की। पुरानी परम्पराओं में पलकर आदमी जाने किन मान्यताओं से चिपट गया था। अपने में किसी आत्मा को मानने लग गया था, अपनेपन को पवित्र और अन्तिम गिनता था। ऐसे पृथक् व्यक्तित्व की धारणा बना ली गई थी और उस पर जोर डाला जाता था।

यह मिथ्या अब भी सत्य बना हुआ है। अब करना केवल यह है कि यथार्थ और गणनात्मक के सत्य को प्रतिष्ठित करना है।

जैसे यह कि घर अलग हैं, रसोइया अलग है, बच्चों का लालन-पालन अलग-अलग है। अगर रहने के लिए बैरक हों; स्त्रियों के लिए एक, पुरुषों की दूसरी, या मिली-जुली सही; मेस हों जहाँ खाना हजारों के लिए एक साथ बने,—तो क्या इससे मानवशक्ति की बचत न होगी? तब सब एक लय और धुन में काम करेंगे, बच्चे पाँच-सात व्यक्तियों के किसी कुटुम्ब के न समझे जाकर सारे समाज के समझे जाएँगे। कुटुम्ब जैसी-तैसी परिस्थितियों में उन्हें पालपोसकर बड़ा करने के दायित्व से छूटेगा और दायित्व वह व्यवस्थित न होगी? स्त्री-पुरुष समागम परिस्थिति और विवाह-प्रथा पर निर्भर न रहकर मुक्त और वैज्ञानिक हो तो क्या परिणाम में अधिक स्वस्थ और सुन्दर और विपुल अथवा नियोजित सन्तति हमें न प्राप्त होगी?

फिर उत्पादन लीजिए। अभी छोटे-छोटे टुकड़े बाँटकर तो हम बोते और बनाते

हैं। उसमें पूरे राष्ट्र की आवश्यकताओं का विचार उतना नहीं रहता है। दूसरे, बड़ी मशीनों का पूरा लाभ भी इस तरह नहीं लिया जा सकता। इसलिए अपने-अपने खेत, अपने-अपने घर, अपने-अपने बच्चे, अपने अलग पति और पत्नी न होकर सब समाज का हो और राज्य की ओर से विधिवत् अनुशासन के साथ सब व्यवसथा का हो और राज्य की ओर से विधिवत् अनुशासन के साथ सब व्यवस्था हो तो क्या हमारा समाज अधिक सन्तुष्ट और सम्पन्न न दिखाई दे आएगा?

एक चीज है निजता। उसको लेकर बन खड़ी हुई है बीच में मर्यादा, पवित्रता। यह भावुक धारणाएँ हैं और जीवन के प्रवाह को जहाँ तहाँ काटती और रोकती है। निजता की जगह समाजिकता को दी जाए तो केवल आत्मवान होने की व्यर्थ चेष्टा से बचकर व्यक्ति उपयोगवान होने लगेगा। हम देखेंगे कि समुदाय का उससे लाभ हुआ है, अलग-थलगपन कम हुआ है और कोई व्यक्तिगत साधना के नाम पर समाज के बिछुड़ा रहकर अपने को सार्थक और श्रेष्ठ मानने की भूल नहीं कर सकता है!

आज के अखबार में देखा कि चीन में कुछ इस धारणा के आधार पर व्यापक प्रयोग होने जा रहा है। कुछ पहले सुनते हैं रूस में प्रयोग हुआ था; सबके लिए सबको और भोग को सुलभ बन जाने देने का प्रयत्न किया गया था। निजी शब्द जीर्ण और बुरजुआ बन गया था। सुनते हैं वहाँ यह शब्द फिर उठ रहा है और प्रतिष्ठा पाता जा रहा है। अपनी आय होने लगी है, परिवार होने लगा है और पति-पत्नी सम्बन्ध में पवित्रता के भाव को बढ़ावा मिल रहा है।

जहाँ कुटुम्ब की नींव को मजबूत किया जा रहा है वह रूस शायद पुराना पड़ रहा होगा! चीन नया उभरता हुआ देश है, उसे तरक्की करनी है और काम ज़ोर से करना है। उसे जो आशा है कि वह मानवता का भविष्य बनेगा उस आशा है कि वह मानवता का भविष्य बनेगा उस आशा पर तुषार डालने का काम मैं नहीं कर सकता।

केवल इतना विचार होता है कि मानवता ने हजारों वर्षों में जो प्रयोग किये हैं, शायद उनमें चीन का कुछ बहुत अनोखा प्रयोग न सिद्ध हो। शायद चीन अपने पूर्वजों को भूलकर कोई बड़ा अपूर्व काम न कर रहा हो और हो सकता है कि अन्त में नया चीन भी पाए, जैसे कि उसके पूर्वजों ने पाया और बताया था, कि व्यक्ति वृथा नहीं है। कि व्यक्तित्व से समाजत्व नष्ट होने के बजाय सही अर्थ में पुष्ठ ही होता है और व्यक्तित्वहीन व्यक्तियों से जो बनता है वह समाज नहीं छत्ता होता है, अधिक-से-अधिक वह छावनी हो सकता है जो फिर मानवता का भूषण नहीं है।

मई, 1960

कमाई का मूल्य

टोटेलीटेरियन और वेलफेयर स्टेट की धारणाएँ लगभग समूचे समाज को उस तल पर ले आती हैं जहाँ कमाई को ही मूलभूत मूल्य माना जाता है और उसी हिसाब से व्यक्तियों को स्तर और स्थान दिया जाता है। व्य-मान और आय-मान ही जीवनमान बन जाता है और मानव-मूल्य बाजार-दर की वस्तु हो जाता है। इस संकट में से हम गुज़र रहे हैं।

पड़ौस से कल हमारे यहाँ भाजी आई तो मैं सामने ही पड़ गया। पूछा, यह क्या है?

''जी, बात पक्की हो गई है।''

''ओः, अपनी उषा की? बड़ी खुशी की बात है।''

देखता हूँ सब लोग खुश हैं। लड़का आठ सौ कमा रहा है। अभी उम्र क्या है, आगे ढाई तीन हज़ार तक पहुँचेगा।

दूसरी जगह रिश्ता लड़के का हुआ है। वह खुश हैं, क्योंकि उधर लड़कीवाले रईस हैं। पचास हजार शादी में लगाएँगे। पिछले ही साल उन्हें मिल में आठ लाख का मुनाफा हुआ है। वह वकील साहब हैं कि चार हज़ार की प्रैक्टिस है। आधा केस तो उनकी शक्ल से समझिए जीत जाता है।

अँह, उसकी कमाई क्या है। महीने में कुल ढाई सौ! और क्या ढाई सौ वाले महाशय अपने को उसी लायक समझते हैं!

एक हैं जिन्हें काम मिल नहीं रहा है। छः महीने हो गये भटकते हुए। कालेज से आये थे तो क्या रंग था, अब चेहरे पर हवाइयाँ हैं। लोगों का खयाल है कि और कुछ महीने इस तरह निकले तो कहीं दिमाग पर असर न आ जाए। कारण, कमाई उनकी सिफर है!

तो ये तरह-तरह की कमाइयाँ हैं। सूखे सिफर से लेकर असंख्य तक।

असंख्य इसलिए कह रहा हूँ। कि लोग हैं जिन्हें सचमुच अपनी कमाई की कूत नहीं है। हर मिनट कितना उनके नाम में बहा चला आ रहा है, इसका हिसाब कने बैठें तो खुद चकरा जाएँ।

स्पष्ट है कि यह कमाई बड़ी चीज है। आदमी उसी ज़ोर से बड़ा-छोटा बनता है; खुश और उदास बनता है, मालिक और चाकर बनता है। गहरी चीज है यह कमाई और इसलिए करीब सभी इसके पेर में हैं।

हाँ, चन्द जरूरी जान-बूझकर इसके चक्कर से बाहर होते हैं। या तो बेबस होते हैं या उसके स्वाद से भर आते हैं, या निगाह उस चक्कर से उनकी ऊँची उठ जाती है। जो हो, वे थोड़े हैं और इस समय विचार के लायक नहीं हैं।

मुझें उनमें गिनिये जो कमाई चाहते हैं, जानते नहीं हैं, मैंने खाक कभी कमाकर नहीं दिया। गिरस्ती कैसे चली यह राम जाने। कुछ कह जाता है, लिख जाता है, छप जाता है, बिक जाता है। उसमें से पैसा भी कुछ बना चला आता है। पर कमाई होती है, इस भेद का पता नहीं चलता।

फिर भी एक बार पता लगा था। उस कमाई का थोड़ा दर्शन और थोड़ा रस मिला था। उस पर मैं शर्मिन्दा हुआ था और एक व्यवसायी मित्र रुष्ट हुए थे। उसके बाद से फिर अवसर नहीं अपनाया। पर देखता रहा हूँ कि कमाइयाँ हो रही हैं, जबरदस्त से जबदस्त ढंग पर हो रही हैं। पर नहीं, अपना बस नहीं चलता है।

वह बात यों हुई। सवाल था ही क्या किया जाए। एक प्रकाशक बन्धु ने सलाह दी कि दो किताबों के पैसों का इन्तजाम कर दो; फिर सब मुझ पर छोड़ दो और देखो क्या होता है। उन्हें विश्वास था कि ऐसे मेरा बड़ा उपकार हो जाएगा। मुझको भी मित्र पर भरोसा था। उसमें सवाल कागज का आया। कागज का बाजार ऊँचा था; कहा गया कि दाम क्या, कागज़ ही लाकर दे दूँ तो अच्छा है। एक नमूने का शीट लाकर मैंने मित्र को दिखाया। काग़ज़ उन्हें पसन्द आया। उन्होंने भाव पूछा। मुझे जाने क्या हुआ कि भाव मैंने दो पैसा ऊपर बताया। कागज़ उन्हें पसन्द था और मुझे याद नहीं है कितने, लेकिन कुछ रीम उन्होंने उस कागज़ के अपने लिए भी माँगे। मेरी आँखें खुली रह गईं! यानी ठीक उस पल कहना चाहिए कि मैंने ढाई सौ रुपये कमा डाले थे! मेरी कुछ समझ न आया। ढाई सौ रुपये मेरे लिए बड़डी चीज थी। लेकिन बिना कुछ किये-धरे सिर्फ दो पैसा कीमत मुँह से ज्यादा कह देने से सीधा ढाई सौ रुपया मेरे हाथ आ गया था। उस समय मैं मन-ही-मन मान रहा था कि मैं झूठ कह गया हूँ; मेरे अन्दर उसकी लज्जा थी, ग्लानि थी। पर वही सब एक क्षण में होशियारी बन आई, वही कला कमाई की हो गई!

आखिर जहाँ से कागज़ आया मित्र का उनसे साक्षात्कार हुआ। तब मालूम हुआ कि मैंने दाम दो पैसा अधिक बताया था और अन्तर का मुनाफा स्वयं रखा था।

यह अनुचित समझ गया। मैं भी अनुचित समझता हूँ।

पर कमाई की भाषा में वह सर्वथा उचित है। कौशल है जो वैश्य को सिद्ध होना और करना चाहिए। अनुचित वहाँ यह हो सकता है कि जब गुंजाइस अधिक की थी तो लाभ सिर्फ दो पैसा करके बस क्यों माना गया!

यदि वह अर्थानुयोग उचित न था तो इस कारण कि मैं लेखक था और लोगों को हक था कि आशा करें कि मैं अकुशल रहूँगा। मेरे पास यह विज्ञापन न था कि मैं वेश्य हूँ और व्यवसायी हूँ। लेखक का मतलब यह विज्ञप्ति है कि वह सन्तोषी है, अर्थ और आवश्यकता और लोभ से परे है, किसी भी अवस्था में वह लाभ नहीं चाहता है, घाटा अवश्य उठा सकता है। तो यह दो नीतियाँ हुईं। एक तो यह कि मैं मित्र का नफा करूँ और उसमें सहायक के निमित्त अपना श्रम और विसर्जन दूँ, मित्र को मित्र मानूँ, व्यवसायी मानूँ ही नहीं। दूसरे यह कि व्यवसाय के निमित्त से जब वह कागज चाहते हैं और अमुक भाव पर लेने में प्रसन्न हैं तो यह दायित्व वृथा न ढोऊँ कि ख़रीद का भाव बताऊँ। बाजार में बैठे हैं, अपना निर्णय वह कर सकते और हित सँभाल सकते हैं, मेरी हितैर्षिता पर निर्भर नहीं हैं।

पहली नीति हिसाब की और कमाई की नहीं है। दूसरी नीति कमाई की है।

अक्सर सोच होता है कि इस दुनिया का काम कैसे चलना चाहिए। यह सूत्र तो नाहक है कि प्रेम से चलना चाहिए। क्योंकि जीवन में सूत्र नहीं, व्याख्या चलती है। अब कुछ यहाँ हिसाब के लोग हैं, कुछ बेहिसाब हैं। अपने को जो हृदय के हाथ देकर चलते हैं वे दूसरे का हित पहले सोचते हैं। ऐसे लोग एकदम ग़लत तो नहीं कहे जा सकते, साहित्य उन्हीं की महिमा गाता है। पर हिसाब की ज़मीन पर वे भी मूरख बनते हैं।

अगर हमारा काम-धाम ऐसे चले कि यह मानवता का हार्दिक नमूना जगह-जगह अपने को वंचित ओर मूर्ख अनुभव कर आए तो मानना होगा कि वह समाज सभ्य नहीं है। तब आवश्यक है कि उस समाज का चलन दूसरी रीति-नीति के मुताबिक है, यानी असभ्य है। अर्थात् उसमें नफ़ाख़ोर आदमी की प्रधानता है जो परस्पपर आवश्कयताओं के आदान-प्रदान के व्यापार में अपने लिये लाभ का अवसर रखना आवश्यक समझता है। यदि समाज का मूल्य यह दूसरा है तो ऊँचा आदमी वह बनता है जो दूसरे की जरूरत को अपना मौका मानता है!

आज जिसकी भ्रष्टाचार कहते हैं, वह क्या है? आपकी कुछ आवश्यकता है, उसकी पूर्ति का साधन तनिक अमुक के हाथ है। इस अवसर को वह जाने

नहीं देता और उसका उपयोग कर लेता है। आपको परमिट चाहिए, वह क्लर्क हैं। उसके हाथ परमिट बख़्शना नहीं सिर्फ उसका फार्म तैयार करना है। फार्म तैयार न हो तो आगे बात चलती ही नहीं। इस तरह वह है कि आपको अटका सकता हूँ। अब आप सामने करते कुछ नोट हैं जिसे रिश्वत कहा जाता है। वह हाथ बढ़ाकर ले लेता है और फार्म तैयार कर देता है। वह क्यों न उसे हक माने?

क्लर्क के परिवार है, बच्चे हैं। दूध उनको मिलना चाहिए, जरूरी ख़ूराक मिलनी चाहिए। उसको, मान लीजिए, सौ रुपया मिलता है और महँगाई वही है जो है। अब किससे जाकर कहे कि हिसाब सही फैलता नहीं है, सही फैलाएँ तो बच्चे को दूध मिलता नहीं है। क्या हक यह है कि बच्चे को दूध न मिले? कई बार वह देखी-अनदेखी कर गया है। भूख है तो है, ईमानदारी क्यों छोड़ें, ऐसे जबतक हो सका है उसने धरम को पकड़े रखा है। पर चारों तरफ देखता है कि कमाई की जा रही है, महिमा उसकी ही दीखती हैं। धर्म को भी देखता है कि ऊँची कमाई से ऊँचे तौर पर किया जा सकता है। तब जरूरतमन्द खुशी से कुछ सामने करता हैं तो वह ले लेता है। पहले मन मारकर लिया था, पीछे हक मानकर लेता है।

अजी, ऐसे उसे रिश्वत लेने के लिए सज़ा हो सकती है। जानता हूँ हो सकती है। पर अव्वल तो यह होशियारी से काम लेता है। पकड़ा ही न जाए तो होगा क्या? मान लो पकड़ा गया, तो होगा तो भुगत लेगा। पर इस बीच घर तो पलेगा, इज्ज़त तो बनेगी। ज़रूरतें पूरी होंगी, लड़की का ब्याह हो सकेगा। चार जनों को खर्च करके खुश रख सकेगा।

एक काला बाजार है, दूसरा सफेद बाज़ार। सफेद और काले के बीच की लकीर को देखने चलते हैं तो वह कागज़ी से गहरी नहीं रहती। सरकार के बीच में आने से सफेद और काले में भेद पड़ता है। वह जब तक न आये सब सफेद ही है। अमुक की आवश्यकता को अपना अवसर मानना गैरक़ानूनी नहीं है, उसमें अनीति नहीं है। तब कानून को आकर लकीर और खींचनी पड़ती है और कहना पड़ता है कि लकीर को लांघा तो उसके लिए हमारे पास यह डण्डा है।

सच यह है कि कानून की उन धाराओं को कितना भी पकड़े और कितना भी उन्हें स्पष्ट करें, लकीर वह रहती ही है फर्जी और आरज़ी। हमेशा उसमें तर्क की गुंजायश होती है। हिसाब के कागज-पत्र रखने का ढब आनां चाहिए कि कानून की बहुत कुछ भरपाई हो जाती है। नीति-नीति की लकीर जब तक मन में ही नहीं पैदा होती है तब तक कागज पर खींचने से काम पूरी तरह चलता नहीं है।

व्यापार, व्यवसाय का एक स्तर है। उस स्तर से अलग हटाकर उसको

चलाया नहीं जा सकता। उसका मूल लाभ है, त्याग नहीं है। उस बुनियाद को समाप्त करने में तो सब ढह जाता है। वे लोग जो लाभ की भाषा में सोचते और चलते हैं, उनकी शक्तियों के उपयोग से समाज को वंचित करना घाटे का सौदा होगा। यह वैश्य वर्णी समुदाय है जो हिसाब में चौकस रहता है। तदनुकूल उसकी वृत्ति है। माँग और पूर्ति पर उसकी निगाह है। उस नब्ज की उसे पहचान है। उसे इस विषय का विशेषज्ञ ही कहिए। उसके संस्कार में, रक्त में, यह गुण-बीज है। वह उस प्रेरणा से जीवन-भर अथक काम करता आ सकता है, क्योंकि इसी अर्थलाभ में उसे आत्मलाभ अनुभव होता है।

किन्तु वह एक वर्ण हैं। समाज में और भी वर्ण और गुण के लोग हैं। जैसे ब्राह्मण ही है। हो सकता है कि किसी की अर्थ लाभ में तृप्ति हो, इस व्यक्ति को अर्थ-त्याग में ही तृप्ति दीखती है। किसी को वस्त्र की जगमग अच्छी लगती होष कुछ को सादगी ही भाती हो। एक क्षत्रिय वर्ण है, उसके लिए आन और मान ही सब कुछ है; एक आन पर लाखों का लाभ वह कुरबान कर देगा। वह बहादुरी की भाषा में जीवन की कीमत मानता है। उसी तरह कुछ लोग हैं जो अपनी से अलग किसी व्यापक मांग और पूर्ति की बात को पकड़ ही नहीं सकते, वे निज की आवश्यकता को लेकर चलते हैं और दूसरे के काम आने को उद्यत रहते हैं। इन सभी प्रकार के लोगों से समाज बनता है। सभी अपनी-अपनी जगह उपयोगी हैं और वैश्य की सेवा समाज के लिए किसी से भी कम आवश्यक नहीं है। आवश्यकता और पूर्ति के सन्तुलन की माँग में वह हवा की तरह यहाँ से वहाँ दौड़ जाता है। आवश्यकता यहाँ है, पूर्ति का साधन हजार कोस दूर है। वैश्य उसको सूँघ लेगा, दौड़ जाएगा और वहाँ से लाकर वस्तु को यहाँ सुलभ कर देगा। जैसे कुछ विशेष नस भीतर रखकर उसे सिरजा जाता है कि वह लाभ भाँपता रहे और काम करता रहे।

लेकिन अर्थलाभ के आधार पर विनिमय और विनियोग का मूल्य वैश्य-मूल्य है, समाज और संस्कृति का मूल्य वह बनेगा तो अथाह हानि होगी।

जो समाज और राज्य और जो सभ्यता उसको सर्वोपरि और केन्द्रीय मूल्य बना लेगी वह फिर युद्ध और पाप में घिरे बिना रह न पायेगी।

औद्योगिक सभ्यता वही आर्थिक सभ्यता है। उस प्रवाह में हम यहाँ तक आ गये हैं। कि राज्य को राष्ट्रीय-रूप में एक व्यापारिक करता है तो त्याग और शौर्य के मूल्य पीछे पड़ जाते हैं और आपसी सम्बन्धों में शालीनता और औदार्य का स्थान स्वाथमय स्पर्धा की वृत्ति ले लेती है।

टोटेलीटेरियन और वेलफेअर स्टेट की धारणाएँ समूचे समाज को उस तल पर ले आती है जहाँ कमाई ही मूल-भूत मूल्य माना जाता है और उसी हिसाब

से फिर व्यक्तियों को स्तर और स्थान दिया जाता है। व्यय-मान और आय-मान ही जीवन-मान बन जाता है और मनुष्य बाजार के मोलभाव की वस्तु हो जाता है। इस संकट में से हस गुजर रहे हैं।

जून, 1960

सवाल पेसे का : चेतावनी राज्य को

मुद्रा की संस्था के इस तरह केन्द्रित होते जाने और औसत आधमी से इससे विलग होते जाने से सुभीता बढ़ा है तो समस्याएँ भी बढ़ी हैं। समस्या यह कि जिसके हुकुम से सिक्का ढलता या नोट छपता है, उस केन्द्र की कृपा के वृत्त में जो जितना निकट है, वह उतना ही भाग्यवान हो जाता है और दूर वाला अभागा बन जाता है।

सवेरे ही सवाल हुआ कि नौकर जा रहा है। पचास रुपये तनख्वाह से ऊपर माँगता है। उसकी बीवी के चोट आ गई है। इलाज के लिए चाहिए।

श्रीमती जी ने इसके बाद याद दिलाया कि तैयारियाँ कर रहे हो कि नीहं? पन्द्रह हज़ार से कम शादी में नहीं लगनेवाला है।

तदनन्तर सनातन विलाप कि यह जिन्दगी सारी यूँ ही चली जाएगी, यह भी नहीं कि आराम से बैठने को एक मकान तो होता। अरे पच्चीस-तीस हज़ार में छोटी सी एक काटेज ही डल जाए तो बहुत है।

ग्यारह बजे एक सज्जन आए। उनकी समस्या कि लड़का इन्ट्रेस में फर्स्टक्लास आया है, पढ़ने में तेज है। आगे पढ़ना चाहता है। लेकिन छात्रवृत्ति हो तो चले। बताइए क्या करूँ?

वह बुजुर्ग भी उसी रोज पधारे। कहने लगे कि और तो सब ठीक है, पर लड़का क्लर्क है। सिर्फ डेढ़ सौ पाता है। प्रमिला की आँखों में अभी नशा है, पर सोचिए डेढ़ सौ में से कैसे चलेगा। माना जायदाद है, दो-चार सौ उसके आ जाते हैं। लेकिन...प्रमिला आपको बहुत मानती है। मेरी निगाह में एक रिश्ता है, उम्र होगी बत्तीस-चौंतीस। आमदनी ढाई हजार। पर लड़की मानती नहीं, कहती है दुहेजा है। है तो क्या हुआ। दो ही तो बच्चे हैं। इससे तो और जिम्मेदारी सीखने का मौका है। बड़ी बात है पक्का कारोबार। और आमदनी अब ढाई हजार है, बढ़कर पाँच-सात दस हजार भी हो सकती है। आप प्रमिला को समझाइएगा।

में बापू हूँ, मेरी क्यों वह सुनने लगी। क्यों भाभी जी, ठीक है ना?

उनकी भाभी, अर्थात् हमारी श्रीमती, से उन्हें समर्थन ही मिलता है। क्योंकि श्रीमती ने अनुभव पाया है कि पैसे बिना जिन्दगी बेकार है।

और अभी-अभी लेखक मित्र गये हैं। उनका लड़का यह छः सौ की पोस्ट पा जाए तो चिंता कटे। फिर बस साहित्य सेवा हो। देखिए, ख्याल रखियेगा। यह नाम, एप्लीकेशन का यह नम्बर। भूलिएगा नहीं।

इस तरह जिन्दगी में जो भँवर आते हैं पैसा उनके केन्द्र में दीखता है। समस्याएँ हृदय की हैं, प्रेम की हैं। अपमान और सम्मान की हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हैं, कुछ कहो, मालूम होता है कि उनके निदान-समाधान में पैसे का स्थान प्रधान है।

यह कोई अनहोनी बात नहीं है। ग़लत बात भी नहीं है। शरीर में जैसे रक्त है, समाज में वैसे पैसा है। उस प्रवाही द्रव्य की ओर से उपेक्षा जिसमें है, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। जीना तक उसे दूभर बन जा सकता है।

जब से हमने समाज का रूप लिया है और पैसे का चलन चला है, तब से कम अधिक यही हाल है।

लेकिन उसी समाज में से ऋषि-मुनि निकले जिन्होंने अपरिग्रह की बात कही। उन्होंने धन छोड़ा और भीख का रास्ता लिया। घर-घर से कौर माँगा और इस तरह जीवन चलाया। तिस पर समाज ने मानाकि असल में इन लोगों ने जीवन का सार और सत्य प्राप्त किया है। उनको दुनिया के लोगों ने पूजा और प्रतिष्ठा दी।

यह दो बातें उल्टी दीखती हैं। लोग कह छूटते हैं कि सरस्वती और लक्ष्मी में बैर है। संसार और भगवान को भी विमुख माना गया है। पर ऐसा मान लेने से सिर्फ माननेवालों को छुट्टी मिलतीहै, बात की गाँठ खुलती नहीं है। पहले मेरी याद तक में कौड़ी एक सिक्का थी। इतनी कौड़ियों का छदाम और इतने छदाम का एक पैसा होता था। कोड़ी कोई बनाती नहीं थी। समुद्र के किनारे से बीन लाइए और ऐसे उनसे पैसा पा लीजिए। यानी सिक्का वह चीज थी जो आम आदमी की पहुंच से एक दम अलग नहीं थी। श्रम से जुड़ जाती थी। श्रम बेचे बिना भी चल सकता था।

अब सिक्का धातु तक का कम रह गया है; आवागमन और यातायात बहुत बढ़ गया है और कागज के नोट से सुभीता होता है। दस हजार का सोना बाँधना भारी पड़ता है, चाँदी की तो बात क्या है। अब भुगतना लाखों-करोड़ों में जो होता है सो कागजी सिक्के से यह फैला कार-व्यौहार आसान हो जाता है। इसलिए निश्चय ही यह कागजी मुद्रा की संस्था सभ्यता की उन्नति की प्रतीक है। कागज

क्या है, उसका अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। उस पर जो साख की मोहर है, वही उसकी कीमत है। उस छापे में जितना लिख दिया गया, उतना ही उसका मूल्य हो गया।

कागज ऐसे एक से दस हजार रुपये तक का हो सकता है, या जितना भी हुण्डी पर लिख दीजिए।

मुद्रा की संस्था के इस तरह केन्द्रित होते जाने, और औसत आदमी से इसके विलग होते जाने, से सुभीता बढ़ा है तो समस्याएँ भी बढ़ी हैं। समस्या यह कि जिसके हुक्म से सिक्का ढलता या नोट छपता है, उस केन्द्र की कृपा के वृत्त में जो जिता निकट है वह उतना ही भाग्यवान हो जाता है और दूर वाला अभागा बन जाता है। उस केन्द्र की कृपा की, और फिर कृपा-प्राप्त की कृपा की, शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि जीवन जैसे सब उस धुरी के चारों ओर घूमने लगता है। यों समाज के शरीर का स्वास्थ्य कुछ विषम और चिन्तनीय बनने लगता है।

मान लीजिए कि फेफड़े तो सबको मिलें, लेकिन हवा हर कहीं व्याप्त न हो, तो क्या हो? हवा अगर अगर के अधिकार और ठेके की चीज हो जाए, बेच-खरीद की चीज बन जाए, तो जीवन भी फिर उसी तरह कुछ तक सीमित होकर सिमट-सिकुड़ जाए। पैसे के आगे भी यही समस्या है। सोशलिस्ट पैटर्न, कम्युनिस्ट आर्डर वगैरह वगैरह जितनी बातें हैं सबका सार यह है कि किस प्रकार सब भरपूर दें और भरपूर पायें। पाने में रोक नहीं रहेगी तो चाहने की तृष्णा भी बेहिसाब न होगी। तब एक दूसरे के लिए लोग सहारा होंगे, शिकार न होंगे। शोषण की जगह स्नेह होगा। यह किस प्रकार होने में आए, यानी सिक्का कैसे सर्वसुलभ बने, उसमें से शोषण की शक्ति का कैसे लोप किया जाए, सामाजिक चिन्तकों के लिए यही सोच-विचार और मीमांसा का विषय बना रहा है।

राज्य समाज की केन्द्रीय संस्था है। उसके अधीन सब व्यवस्था चलती है। न्याय उसके हाथ है और मुद्रा नीति का नियमन राज्य करता है। इस तरह राज्य पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। राज्य का धन प्रजा ही है, प्रजा अपना विश्वास देती है और कर के रूप में अपने श्रम का अंश दिया करती है। लोगों द्वारा दी हुई यह श्रम-शक्ति राज्य-शक्ति होती है। राज-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, स्वयंम् नहीं है। प्रदान और प्रतिनिधित्व धारा राज्य को पहुँचती है। इस तरह राज्य पर जिम्मा आ जाता है कि लोक-शरीर का कोई अंग मुरझाने और सूखने न पाए और व्यापक लोक-हित के ऊपरस्थापित स्वार्थों के फुंसी-फोड़े पनप न सकें।

यह धर्म और दायित्व राज्य द्वारा पूरा होता रहे, इसकी देखभाल और रोकथाम के लिए काफी प्रयत्न किये जाते हैं। विधान उसी रोकथाम का प्रतीक है। लेकिन जाग्रत और प्रबुद्ध लोक-चेतना न हो तो विधान कागज पर रह जाता

है। शासन का साम्यवादी या लोकतांत्रिक जो भी रूप है तो इसलिए कि दुःखदैन्य किसी कौने में न रहे और प्रबल निर्बल का शिकार न करे। अपने आप में न तो साम्यवाद और न लोकतन्त्र समर्थित है, कसौटी दोनों की फल में है। इसी से गांधी ने आदर्श शासन के लिए कोई राजनीतिक शब्द नहीं दिया। उन्होंने कहा तो रामराज्य कहा, यानी वह जहाँ दुःख और दीनता नहीं है, जहाँ आवाज छोटे के पास भी और वह सुनी जाती है।

यह तो दायित्व की बात रही। वह निश्चय ही बहुत बड़ा है। उसी के अनुसार फिर अधिकार भी राज्य के पास बहुत बड़ा है। यह अधिकार ही उसका अभिशाप है। जब धर्म कम और अधिकार अधिक हो जाता है, तब राज्य रक्षा का नहीं त्रास का कारण बनता है। और यही अधिकतर हुआ करता है।

तब उपाय एक ही है। वह यह कि धर्म के प्रतीक कुछ पुरुष हों जो अखिल के अन्तःकरण की भाँति समाज में रमकर रहें। वे निर्भीक हों और व्यथा के पुरुष हों। वे जनता के दुःख दर्द के साथ समरस होकर रहें और उसके अभाव अभियोगों को वाणी देते रहें। यह लोग होंगे जो अधिकार न चाहेंगे पैसा न चाहेंगे। पैसा राज्य से बहकर ाता है, पर वे राज्य की कृपा से स्वतन्त्र होंगे, वे प्रजा की कृपा के भिखारी होंगे। इसलिए प्रजा-वत्सल होने के कारण राज्य को अन्त में उनके आशीर्वाद का भिखारी होना पड़ेगा।

वह जमाना सुनते हैं कभी था। क्या अब भी होगा? हो सकेगा तभी लोगों को सुख-चैन भी मिलेगा। नहीं तो भाषा में साम्य का हो या लोक का हो, राज्याभिमानी होकर राज्य के किसी तन्त्र से प्रजा का सही भला न हो पायेगा।

यह चेतावनी इतिहास देता आया है। वर्तमान की स्थिति में यह चेतावनी भरी हुई है। क्या समय रहते राजन्य वर्ग सुनेगा?

सितम्बर, 1959

पैसे का सत्य

अच्छा है कि वह गाँधी उठ गया और काँग्रेस को 'सही' समझ आने का मौका मिल गया। काँग्रेस नेता अब उस गाँधी की खाम ख्याली में नहीं हैं। भगवान का थोथा आसरा उन्होंने छोड़ दिया है। सरकार की मजबूत चौखट उन्होंने पकड़ ली है। आइडियलिस्ट नहीं हैं, प्रैक्टिकल हैं। नैतिक और बायवी नहीं हैं। आर्थिक और वास्तविक हैं।

इधर तीन रोज से मैं बेहद परेशान हूँ। कारण, पैसा।

सोचता हूँ, पैसा दुःख का कारण कैसे हो सकता है या फिर सुख का। भगवान की ओर से तो बनकर आया नहीं है यह पैसा। जीवन अलबत्ता वहीं से बना है। फिर बात क्या है कि दुःख और सुख पैसे पर आ टिकता है।

यह सवाल बरसों-बरस से मेरे साथ है। हल जरा भी नहीं हो पाता है। मैं आस्तिक हूँ और असत् की सत्ता नहीं मान सकता। पैसे में असत् देखता तो उसमें शक्ति नहीं मान पाता। शक्ति तो माननी ही होती है। इससे मेरे लिए तय है कि उसमें असत् नहीं देखूँगा। सत् देखने की ही कोशिश करूँगा।

तो वह क्या सत् और सत्य है जो पैसे को शक्ति देता है? शक्ति है, यह मानने के लिए तो कहीं दूर जाना नहीं है। खुद मुझमें उसका प्रमाण है। आसपास चारों तरफ प्रमाण-ही-प्रमाण है।

पड़ौस के वकील साहब हजार रुपया रोज की फीस ले लेते हैं, तब कदम आगे रखते हैं। लालासाहब मिल पर मिल बनाते जा रहे हैं। पैसे की जरूरत नहीं है, फिर भी कुछ है जो उनमें करोड़ से आगे एक अरब चाहता है। कुंदन मेरे यहाँ तीस रुपये पर काम करता है।

'क्या मतलब?'

'ऐसा मालूम होता है कि त्याग का आदर्श आप पर सवार है। उसी से फिर

झगड़ा भी है। नहीं तो घबराहट क्यों?...लेकिन सच मानिए मैं त्याग का एकदम कायल नहीं हूँ। में उसमें बड़ाई देख नहीं पाता। मेरे अन्दर उसकी महिमा का भाव रंच मात्र नहीं है। मैंने कहा था कि गाँधी-तत्त्व-विचार में मुझे न ले चलिए। गाँधी की व्याख्या मैं नहीं दे सकूँगा। दूँगा तो हो सकता है वह गाँधी की रह न जाए, मेरी हो जाए। गाँधी का लोगों ने त्याग लिया, गाँधी का लाभ किसने लिया। त्याग छिलका था, लाभ सार था। मैं नहीं मानता कि गाँधी को उसने तनिक भी पाया है जिसने छिलका लिया है, सार फेंका है। अन्दर आनन्द का भाव नहीं है तो त्याग दम्भ है।

सच यह कि प्रश्नकर्त्ता बन्धु साधक व्यक्ति थे, सात्विक थे और आचरण के सम्बन्ध में तत्पर थे। कठोर आदर्शवादी भी थे। लोकसेवा के कार्यों में रस लेते थे। वहीं से उनके मन में आलोड़न चला। आत्म से विपरीत समाज के तत्त्व की और समाजवादी की भाषा उनके मन में उतरी। समाजवादी साहित्य और उसकी चर्चा कानों पर आयी। उनको साफ दिखाई दिया कि आत्म को जबकि ढूँढ़ने जाना होता है तब समाज तो समक्ष ही है। समाज से बचने के निमित्त से भी आत्म की शरण में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। परिग्रह-अपरिग्रह, हिंसा-अहिंसा की बातें, उन्हें लगा कि, विवाद की हैं। विवाद में डालकर प्रश्न को टाल दिया जाता है; ऐसे प्रश्न को कर्म का न रखकर विचार का बना दिया जाता है। बस विचार में उतरकर हम समस्या के सामाजिक दायित्व से और उसकी तात्कालिकता से छुट्टी पा लेते हैं। यह सब उधेड़बुन उन बन्धु के मन में उठती थी और यद्यपि वह सात्विकभावी और सेवाकर्मी थे, लेकिन विचारों में द्वन्द्व पड़ने लगा था। फिर भी त्याग वह आधार था जिस पर उन्होंने अब तक के अपने जीवन की रचना की थी। बुद्धि में किंचित् विद्रोह शुरू हुआ हो, पर उनके संस्कारों में त्याग जड़ किये बैठा था। अतः उन्हें अच्छा नहीं लगा और बोले, हम संग्रह के महत्त्व को बढ़ा नहीं सकते। आप यह क्या कह रहे हैं? संकट ही सारा यह है। सब अपने-अपने लिए चाहते हैं। राजनीतिकों में सबको मिनिस्ट्री चाहिए। मिनिस्ट्रियाँ गिनती की हैं और इसलिए संकट सदा सवार रहता है। समाज के क्षेत्र में भी सबको पैसा प्रतिष्ठा चाहिए। सो वहाँ भी दौड़धूप, छीना-झपटी मची रहती है। यह परिस्थिति सँभलेगी तो क्या तभी नहीं जब महत्त्व त्याग का होगा? यह स्पर्धा और होड़, जो सबको एक-दूसरे के खिलाफ डाल रही है, रहेगी तो लोकतन्त्र टिकनेवाला नहीं है। तब उस शासन को आना होगा जो डण्डे के बल से लोगों को अनुशासन में रखेगा। यह डिक्टेटरी अवस्था मानव-जाति के लिए कलंक के रूप में होगी। ऊपर आतंक की छत्रछाया लेकर नीचे से मनुष्यता का विकास नहीं किया जा सकता। आतंक का राज्य, अर्थात् पशु का मूल्य। अब निश्चित है कि

विकास ही क्रम है इतिहास का। हम पीछे नहीं लौट सकते। काल सदा आगे बढ़ता है। इसलिए प्रगति पुरुष की पशुता से उलटी चलेगी। छीन-झपट जंगल का नियम है। संग्रह को और संचय को हम बड़ाई देते हैं तो आपाधापी छीन-झपट का ही दृश्य समाज में न होगा तो और क्या होगा। आज वही दीखता है। त्याग और अपरिग्रह के मूल्य ही ऐसे समय हमारी रक्षा कर सकते हैं।

'ओह, आप तो त्याग के समर्थक निकले!'

'जी, लेकिन त्याग का रूप वह जो सामाजिक है। आध्यात्मिक त्याग नहीं, जिससे आदमी महात्मा बनता है, नागरिक नहीं रह जाता। आपका त्याग, महात्मा गाँधी का त्याग···'

'महात्मा गाँधी को छोड़ दीजिए। वे यहाँ हैं नहीं। जीते और बैठे हम हैं और समस्या हमारी है। मैं एक ही त्याग को जानता हूँ। आत्मिक-सामाजिक आदि वे कुछ नहीं हैं। त्याग हैं, यह तक हम याद नहीं रखते हैं। उसमें प्रयत्न नहीं होता। त्याग जैसा वह लगता ही नहीं। उसमें एक क्षण के लिए भी यह अवकाश नहीं हो पाता कि मानें त्याग हम कर रहे हैं। उसके सिवा जो भी और त्याग है, मैं उसको समझ नहीं सकता। चाहे फिर वह समाज के लिए हो और सामाजिक हो या मुक्ति के लिए हो और आध्यात्मिक हो। वह सब वृथा है। क्योंकि वह होता नहीं है, आदमी करता है। जिसमें कर्तृत्व है, जिसमें है कि मैंने किया, तुम करो, वह त्याग एक क्षण के लिए मेरी समझ में नहीं बैठता है। उसमें से कोई हित, सामाजिक या आत्मिक, हो सकता है, यह मैं किसी तरह देख नहीं पाता हूँ।'

बात कुछ उलटी पड़ गयी। अपेक्षा थी कि मैं त्याग की बातें कहूँगा। यह समझकर ही बन्धु ने प्रश्न और आपत्ति की थी। पर उन्हीं पर अब मानो त्याग की रक्षा का दायित्व आ पड़ा। प्राण-प्रण से उन्होंने वह रक्षा की और मैं प्रसन्न हुआ। कारण, त्याग जीवन में ऐसा गर्भित और अनिवार्य है कि उसका निवारण या खण्डन हो नहीं सकता। खण्डन तब होता है जब मण्डन होता है। मुझे लगता है कि यदि त्याग का मण्डन कम हो जाए तो सांसारिक के व्यवहार में उसका खण्डन भी कुछ कम दिखाई दे जाए। महिमा इधर त्याग की बढ़ाते हैं, उधर अनायास बढ़ती दीखती संग्रह की है।

सच यह कि त्याग कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। वह व्यवहार में गर्भित है। जीवन का कोई व्यापार देखिए। हर तरह के देन-लेन में आप उसे पा जाइएगा।

मेरे कमरे में मान लीजिए मेज आई है जिसका सौ रुपया मूल्य है। मुझे सन्तोष है कि मेज कमरे में हो गयी। कब से सोचता था कि मेज होनी चाहिए। मेज आई और इस आने में सौ रुपये गये। यानी, सौ रुपये का मैंने त्याग किया।

उधर उन व्यापारी के यहाँ से मेज गयी, सौ रुपये आये। उनको भी सन्तोष

है। उन्हें त्याग मेज का करना हुआ।

यहाँ किसी को इसकी अटक नहीं है कि क्या गया, खुशी इसकी है कि क्या आया। मेज जाने का उन्हें रंज नहीं, सौ जाने का मुझे दुःख नहीं। दोनों में से किसी को पता नहीं कि यह उन्होंने त्याग किया है। मैंने सो रुपये त्यागे, क्योंकि वह मेरे लिए कम थे, मेज का उपयोग उनसे ज्यादा था। व्यवसायी महोदय ने मेज अपनी दूकान से निकाल दी, क्योंकि सौ रुपये का मूल्य उनके लिए अधिक था।

अब दोनों ओर त्याग है कि नहीं! पर महिमा की बात क्या है? यदि मैं मेज की बात की चर्चा करूँ और कहता फिरूँ कि सौ रुपये दिये थे मैंने, अजी सौ रुपये, तो मेरा हलकापन ही इसमें प्रकट होगा। इसी तरह दूकानदार अगर मुझ पर एहसान गांठे कि लिए मैंने सिर्फ सौ रुपये ही हैं, पर देखिए न क्या चीज आपको दी है, तो यह उसका दावा ही उसे हलका बनाएगा। त्याग का महत्त्व इस तरह एक हलकापन पैदा करता है।

अपनी-अपनी रुचि है। मुझे मेज चाहिए थी, उसे पैसा चाहिए था। जो कम चाहिए उसे हम छोड़ते हैं, अधिक चाहिए उसे लेते हैं। जीवन अन्यथा सम्भव नहीं बन सकता। छोड़ें नहीं तो हम ले नहीं सकते, दें नहीं तो पा नहीं सकते। यह जीने की अनिवार्य प्रक्रिया है। प्रतिक्षण श्वास-प्रश्वास लेते हैं, यानी हवा लेते और निकालते हैं। निकालते तब हैं जब उस ली हुई हवा में से अपना प्राप्य प्राप्त कर लेते हैं। शेष को उच्छिष्ट की भाँति त्याग देते हैं। दिन में क्या हमें पता भी रहता है कि हमने कितने साँस लिये? मूर्खता ही होगी कि एक साँस को तोलकर आदमी हिसाब से चौबीस घण्टे के बाद गर्व से बखान करें कि दस हजार साँसों का त्याग हुआ! मूर्खता इसलिए होगी कि सब जानते हैं कि त्याग बिना लाभ के होता ही नहीं है। निश्चय है कि जिसने जितना त्याग किया है उसने उतना ही लाभ लिया है।

लाभ जिसने पाया नहीं, वही अभागा है जो त्याग का महत्त्व दिखाता है। सामाजिक वातावरण में जितना त्याग का महत्त्व डाला जाता है, उतना ही देखते हैं पदार्थ का महत्त्व बढ़ता है। उसने इतना त्याग किया—मान लीजिए दस हजार रुपया, या बीस हजार का मकान, या उसी रकम का और कुछ सामान। तो महिमा के केन्द्र में रुपया, मकान और सामान आ जाता है। उससे बढ़कर जो देनेवाले ने वस्तु पायी होगी वह विचार से बाहर छूट जाती है। यदि दान सच्चा है तो हम मान लें कि उस भौतिक पदार्थ के तोल से जो दिया गया, वह आत्मिक सुख बढ़कर है जो लिया गया।

हमें पता नहीं है, लेकिन त्याग और दान की महिमा गाने से हमारा अनिष्ट अधिक हो रहा है। लोग उस त्याग और दान को अपने शरीर पर और हथेली पर लेकर दिखाते हैं और भीतर से दीन और दरिद्र बने रह जाते हैं। वस्तु को

छोड़ने की सार्थकता कम नहीं है; लेकिन वह सार्थकता इसमें है कि उस प्रकार चैतन्य का हमें लाभ होता है। लाभ ही प्रधान है, वस्तु का छोड़ना तो निरा अनुषांगिक है।

सत्पुरुष, सन्त और महात्मा आते हैं और हम देखते दिखाते हैं कि उन्होंने कितना त्याग किया। त्याग करके जो पाया उसे न देखना चाहते हैं, न दिखाना चाहते हैं। इसलिए उनकी नकल में कोरमकोर वस्तु तो हमसे छूटती है, कोई बड़ी तृप्ति नहीं प्राप्त होती। परिणाम में हमें ऐसे नमूने प्राप्त होते हैं जो त्यागी हैं और तपस्वी हैं, पर चिड़चिड़े और अनुदार हैं। त्याग ऊपर उजागर है, इससे तृष्णा भीतर होकर सिर्फ ढँकी है। वस्तु-त्याग में से आत्मलाभ उन्हें मिला होता तो त्याग कहीं आसपास झलकता भी नहीं, उनके चेहरे पर से और चरित्र में से आत्मलाभ की ही किरणें विकीर्ण हुआ करतीं। तब त्यागी पुरुष तृप्त, प्रसन्न और आत्मवान पुरुष दिखाई देता और उसमें से प्रेरणा का प्रकाश मिलता। पर यदि वैसा नहीं है, शुष्कता और निस्सत्वता उस क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है, तो शायद कारण यह भी है कि हमने महत्त्व ऋणात्मक को दिया है घनात्मक को ओझल रखा है।

व्यापार का सीधा नियम है कि लाख डालते हैं तो करोड़ कमाते हैं। अधिक के लिए थोड़ा छोड़ते हैं। बाजार के वस्तु-व्यापार का ही नियम हो सो नहीं, गम्भीर जीवन व्यापार का भी नियम इससे दूसरा नहीं है। और यह सच है कि जिसे सच पाना है, उसे झूठ छोड़ना है। आत्मा को पाना है, तो वस्तु को छोड़ना है; समाज को पाना है तो अपने को छोड़ना है। जीवन के उत्कर्ष के साथ हमारी लाभ की धारणा भी उठती ही जाएगी और वह स्थूल से सूक्ष्म होगी। प्रगतिशील जीवन का यह सहज धर्म दीखेगा। तब जान पड़ेगा कि धन का सार मन है और मन को रखने के लिए धन को छोड़ना प्रिय होता है।

यहाँ सामाजिक और आध्यात्मिक दो रह नहीं जाते। जीवन विभक्त है ही नहीं। जो एक जगह सच है, सब जगह वही सच है। त्याग का उपदेश हो कैसे सकता है, जबकि त्याग फल है भीतर की विवशता का। फल पकने पर डाल पर रहे तो कैसे रहे? पानी भरे बादल में से गिरे नहीं, तो वहाँ थमे कैसे? मन भरता है तो आँसू ढरता है। त्याग अत: भराव में से न आये, यह हो नहीं सकता। उसी तरह यह भी कैसे हो सकता है कि भीतर अभाव हो तो वहाँ से त्याग बाहर आ जाए। लाभ की भाषा में जब हम त्याग को बताते नहीं हैं तो यही अकाण्ड घटित होता है। गाँधी जितनी घुटने तक की धोती चल जाती है, आत्मा तो महात्मा नहीं होती। तब त्याग ही तरकीब के साथ तृष्णा का आयुध बन जाता है।

मई, '1960.

क्यों त्याग ?

त्याग का उपदेश कैसे फल ला सकता है जबकि त्याग फल है भीतर की विवशता का। फल पकने पर डाल पर रहे तो कैसे रहे? पानी भरे बादल में से गिरे नहीं तो वहाँ थमे कैसे? मन भरता है तो आँसू में ढरता है। त्याग अत: भराव में से न आये यह हो नहीं सकता।

गोष्ठी गांधी तत्त्व विचार की थी। थोड़े लोग थे, मगर सब अभ्यासी और जिज्ञासु। पर कुछ आरम्भ हो इससे पहले ही एक भाई ने मुझ पर निगाह डालकर सवाल किया—'आप त्याग की कहेंगे, लेकिन त्याग क्यों?'

'मैं त्याग की क्यों कहूँगा, भाई।'

'और नहीं तो क्या। गाँधीजी जो कहते थे।'

'गाँधीजी क्या कहते थे?'

'यही त्याग, और क्या?'

'मुझे नहीं मालूम। लेकिन मेरे मन में तो त्याग की कोई बड़ाई है नहीं।'

'क्या कहा आपने? त्याग की बड़ाई नहीं है? तब तो गाँधी तत्त्वज्ञान सबका सब गिर जाता है। वह देखिए चित्र जो गाँधीजी का आपके पीछे है। सब छोड़ महात्मा बने कि नहीं, और उपदेश त्याग का किया। लेकिन चारों तरफ इतनी चीजें हैं, तो उनके त्याग का मतलब? क्या वे ऐसे कम होंगी, मिट जाएँगी। फिर त्याग से, सिवा इसके क्या होता है कि आप उनसे कम होते हैं।'

'आप त्याग से नाराज मालूम होते हैं। गाँधी ने कहा, कोई और कहता है, तो उससे क्या बनता है। आखिर आप जानते हैं उसमें सार नहीं है। फिर भी नाराजी है तो क्यों!'

वह काम क्यों कर रहा है। दिन-रात लगा रहता है कि तीसवें दिन तीस रुपया हाथ आएगा। महीने में आठ आने अपने ऊपर खर्च करता है, साढ़े उनतीस घर के लिए बचाता है। घर का मतलब यह कि उसकी सात सौ रुपये में शादी

हुई—बीवी की कीमत का कर्ज धीरे-धीरे चुकाना है··· । यानि पैसा सबको चला रहा है।

पास में एक काम दिलाऊ दफ्तर है। काम कितनों को दिलाता है, भगवान जाने। पर रोज सात बजे से लंगार लगनी शुरू हो जाती है। दस बजे दफ्तर खुलता है। तब तक हजार का क्यू तो हो ही जाता होगा। इस क्यू में कभी-कमी नहीं देखता हूँ। नाम लिखाने आते हैं कि बिकने को तैयार हैं, कोई भलामानस काम ले और पैसा दे।

इस पैसे के बारे में पढ़ा भी है, लिखा भी है। पर ऐसा नहीं लगता कि उसका सच समझ आया है। खुद पैसा पास नहीं आया, यह छोटी बात है। मन थोड़ी देर को उसके लिए अकुला भले आता हो, पर उसका सत् मिले वह हरदम की अकुलाहट है।

पैसे की संस्था के बारे में, उसकी प्रणालियों के बारे में, तो अर्थशास्त्र की पुस्तकों में बहुत कुछ ज्ञान पड़ता है। पर पैसे को आत्मा से परिचय उनके द्वारा हुआ नहीं जान पड़ता। मैं उसी को चाहता हूँ।

दो बातों की तरफ ध्यान जाता है। दस बजनेवाला है। जरा बाहर सड़क पर देखिए। लोग घरों से निकलकर साफ कपड़े पहने हर बस स्टैण्ड पर क्यू में खड़े होते जाते हैं। बसें भर-भरकर जा रही हैं। उनसे अनगिनत साइकिलें। फिर रिक्शा, स्कूटर, टैक्सियाँ। नौ से लगाकर दस तक बस इस दिल्ली नगर में जहाँ देखिए यही हाल है। कहाँ जा रहे हैं ये सब लातादाद लोग? दफ्तर जा रहे हैं। दफ्तर एक मीलों तक में फैले हुए मकान का नाम है, जिसमें हजारों हजार कमरे हैं और हरएक में मेज-कुर्सी लेकर आदमी दस से पाँच तक बैठते और कुछ-कुछ किया करते हैं। इसके अलावा भी अनेक-अनेक मकान हैं और वे भी दफ्तर हैं। पाँच बजे के बाद फिर बाढ़ लौटती है। लोग निकलते हैं और फिर बिखरकर अपने दड़बों में पहुँच जाते हैं।

यह नित्य का क्रम है। इन सब लोगों को तीसवें दिन पैसा मिलता है। जहाँ से यह पैसा मिलता है उसे सरकार कहते हैं। सरकार किसी आदमी का नाम नहीं है। मशीन का भी नाम नहीं है। चीज वह क्या है जिसका नाम सरकार है, कहना मुश्किल है। पर वह है और वहाँ से इन सब सवेरे दस पर आने और पाँच के बाद जानेवाले अनगिनती लोगों को बराबर पैसा मिला करता है। पैसे में कागज मिलता है और उस कागज पर छपी इबारत में वचन होता है कि इसको दिखाओगे तो इतना पाओगे।

यह तो हुई एक बात, यानी सरकार।

अब दूसरी बात, यानी भगवान।

कल बैसाखी का मेला था। ओह क्या पूछिए। जाने किस-किस ढब की सवारियों पर गाँव-गाँव से बेतहाशा लोग-लुगाई चले आ रहे हैं, चले ही आ रहे हैं। जिनके पास और नहीं दो टांग हैं वे उन्हीं पर चल रहे हैं। यह जमात कुछ अलग है। बाबू लोगों की नहीं, देहातियों की है। पर जान पड़ता है संख्या में हेटे यह भी नहीं हैं। जाने दूर-पास कहाँ-कहाँ से आ निकले हैं और कहाँ जा रहे हैं। शायद जमनाजी जा रहे हैं, या गंगाजी। वहाँ क्या होगा? नोट मिलेंगे, या कुछ और मिलेगा? दफ्तर में तो महीने पर दस्तावेज मिलता है, जिससे मजे में गुजर-बसर चलती है। यहाँ ये सब क्या पाने जा रहे हैं। क्या, पुण्य? वह क्या चीज होती है, कुछ नकद चीज होती है? हुण्डी होती है? जी,—जी नहीं। लेकिन उससे प्रसन्नता मिलती है। प्रसन्नता!—ओह, छोड़ो। लाभ क्या मिलता है, लाभ? तभी तो जाहिल हैं। लुटाते हैं अपने को और फिर धन्न भाग मानते हैं!

इसी के सिलसिले में गीता की पोथी में लिखा कृष्ण भगवान का वचन याद आता है कि मुझको भजो, योगक्षेम तुम्हारा मैं निबाहूँगा। कृष्ण भगवान की सरकार का सेक्रेटरियट कहाँ है, पता नहीं। कहाँ जाकर उनकी मुहर छाप का चैक लेना होगा और किस बैंक में जाकर उसको भुनाना होगा, पता नहीं।

इधर जो छापे में लिखा है, 'आयी प्रोमिज टु पे आन डिमांड' उसके नीचे दस्तखत करनेवाला आदमी मौजूद है और उसके ऊपरवाली सरकार मौजूद है। चलकर देखिए कितना जबरदस्त सेक्रेटरियट है। दूसरे लवाजमात देखिए। दंग रह जाइएगा। इसीलिए इस जीती-जागती सरकार का भरोसा रखकर चलनेवाले लोग वे हैं जो समझदार हैं, अंग्रेजी जानते हैं, पैंट पहनना और अच्छा-खासा रहना-सहना जानते हैं। तभी सरकार में होकर वह पूरे सुभीते और इन्तजाम के साथ दुनिया का काम चलाते रहा करते हैं।

और वे देहाती दहकानी हैं, अपढ़ और नासमझ हैं जो अपनी जेब का खरच कर, तन पर मुसीबत उठा, गंगा या जमना मैया में डुबकी लगा राम और किशन की जय बोलते हुए मगन भाव से बस लौट आते हैं। पूछो कि राम और किशन कहीं कभी हुए भी थे? इतिहास में है भी कहीं उनका ठीकठाक पता? और हुए होंगे तो हुए होंगे, कौन वह अब बैठे हैं कि हमारा कुछ भला कर जाएँ। अहं मूढ़ गँवार हैं ये देहाती, और क्या?

तो यह दो बातें मन में उठती हैं। एक सरकार, दूसरे भगवान। पैसे की आवश्यकता को जानते भी अपनी अयोग्यता को देखकर मैं तो भगवान को ले बैठा हूँ। अपने बस का तो कुछ है नहीं, वह जाने उसका काम जाने। मैं कौन माँगने गया था उससे जिन्दगी। चाहे तो ले जाए यह जान वापिस। अपने बस का भाई

कुछ और है नहीं।

जानता हूँ, नोट धड़ाधड़ छप रहा है और बँट रहा है। घी के नाम पर तेल, दूध के नाम पर पानी, खाद्य के नाम पर अखाद्य, औषध के नाम पर रोग, शिक्षा के नाम पर सनद आदि-आदि पदार्थ खूब बिक रहे और एवज में पैसा ला रहे हैं। ऐसे में मंदता ही खाली रह सकती है, चतुरता तो निहाल ही रही है। देखता हूँ यह और यह भी कि स्वराज है। लेकिन चाहे तो अयोग्यता ने मुझे आस्तिक कर दिया है, चाहे यह कहो कि आस्तिकता ने अयोग्य कर दिया है। जो हो, उधर अपना बस नहीं चलता है।

और याद आता है एक आदमी गाँधी। खासा खाता-कमाता बैरिस्टर था। क्या सूझा जो बैरिस्टरी छोड़ दी। कमाई ही हमेशा के लिए छोड़ दी। था सो सब दे डाला। जैसे लंगर तोड़ नाव को भगवान भरोसे छोड़ दिया।

आदमी बैरिस्टर रह चुका था। अंग्रेजी जैसी हुकूमत की भाषा में मजे का बोल और लिख लेता था। दलील में कमजोर न था। फिर यह क्या अनहोना हुआ कि सरकार का उसने मुकाबला किया और भगवान का सहारा लिया। इस दुर्घटना का आरम्भ दक्षिण अफ्रीका में हुआ।

भारत आया तो यहाँ गाँधी ने अपना अजब पन्थ चलाया। काँग्रेस बड़े समझदारों की जमात थी। नामी-गिरामी लोग उसमें हुआ करते थे। सरकार के हाथों काँग्रेस के जरिए वे अक्सर सर बना करते थे। गाँधी ने वहाँ पहुँचकर गंगा उलटी बहाना शुरू की और सचमुच उस वक्त उसकी बेवकूफी लोगों के सिर भी चढ़ गयी। काँग्रेस से लोग सरकार के ऊँचे ओहदों पर जाने के बजाय जेलखानों में पहुँचने लगे। कमाई और ओहदेदारी भूल गये। जिन्होंने उस जमाने में भी कमाई को याद रखा, उन पर बोझ आया कि इन सिरफिरों को जिलाये ही नहीं, अपने सिर पर भी मानें। नेता वे बने जिन्होंने अपने घर को चौपट किया।

अच्छा है कि वह गाँधी उठ गया और कांग्रेस को सही समझ आने का मौका मिल गया। काँग्रेस नेता अब उस गाँधी की खाम-ख्याली में नहीं हैं। भगवान का थोथा आसरा उन्होंने छोड़ दिया है। सरकार की मजबूत चौखट पकड़ ली है। आइडियलिस्ट नहीं हैं, प्रैक्टिकल हैं। नैतिक और वायवी नहीं हैं। आर्थिक और वास्तविक हैं।

सच ही गाँधी की बात तर्क से असिद्ध है। सोचिए कि जरूरत पर भगवान कहाँ से, कैसे, क्या भेज देगा? उसका कोई गोदाम है, कारोबार है, कारिन्दे हैं? बताइए, अपनी आप फिक्र न कीजिएगा तो भगवान वह कहाँ से आकर आपकी फिक्र कर लेगा? लेकिन तब की कहते हैं जब गाँधी अभी हिन्दुस्तान में आये ही थे, जमे न थे। अस्पृश्यता उन्हें समझ न चढ़ी और एक हरिजन बालिका को

उन्होंने अपना बना लिया। इस पर पैसा आना बंद हो गया। खासी मण्डली साथ थी। व्यवस्थापक ने बताया, पैसा खतम है, एक-दो दिन भी चल जाए तो बहुत समझिए।

नशा ही कहना चाहिए यह कि गाँधी पर उस कारण चिन्ता की रेखा भी नहीं पड़ी। कहा कि तैयारी करो, हरिजनों में चलकर रहना होगा।

कि लीजिए, अगले रोज कोई आते हैं और तेरह हजार रुपये वहाँ डाल जाते हैं! कौन थे इसका पता ही नहीं चलता।

इन संयोगों को, अजी, तर्क तो नहीं कहा जा सकता। करिश्मों पर जिंदगी की बुनियाद रखना गलत नहीं तो क्या है। गाँधी के रहते कुछ हुआ तो हुआ होगा, अब तो मिथ और मिथ्या है। और सुनिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे न। अब तो सरकार उनकी शताब्दी पर जाने क्या कुछ अपना धन मन नहीं बहा देनेवाली है। पर एक समय था कि वह ऋण में घिर गये थे। बड़े ही परेशान। पैसे के सामने गिड़गिड़ा तक आये। पर पैसा अपनी धुन पर था, इन ठाकुर की तरफ मुड़ता तो क्यों मुड़ता। कविता ही तो करते थे। कौन सत्ता की शक्ति थी उनके पास कि पैसा झुकता। हाँ, पैसा परचेजिंग पावर अवश्य है। पर शायद रवीन्द्रनाथ शान्ति निकेतन को लेकर पैसा चाहते होंगे, बिकना न चाहते होंगे।

अस्तु, कविगुरु व्यथा में घुलें तो घुलते रहें। कर्ज का तकाजा सख्त होने लगा। आखिर मण्डली को लेकर नाच-नाटक दिखाने और रिझाकर पैसा जुटाने के लिए बेचारे निकले। अवस्था उस समय उनकी सत्तर के आसपास होगी। नोबुल पुरस्कार मिले बरसों-बरस बीत चुके थे। कमर झुक आयी थी।

दिल्ली में मिले गाँधी, तो रवि ठाकुर ने दुःख प्रकट किया। गाँधी ने कहा, ''आप तो भगवान का काम कर रहे हैं। सो सब वह जानेगा, वह करेगा। आप क्यों चिन्ता लेते हैं।''

और अगले दिन साठ हजार रुपया ठाकुर के पास पहुँच गया। यह कथा तो सब जानते हैं।

पैसे से दुःख का सम्बन्ध है, सुख का सम्बन्ध है। सम्बन्ध इसलिए है कि पुरुष का पदार्थ से सम्बन्ध है। पैसा पदार्थ का प्रतीक वाहन है। इसलिए जो लोग पैसे से उदासीन होते हैं, वह भूल करते हैं। पदार्थ उपभोग के नाते आवश्यक होने के लिए है, साधु तक के लिए वह आवश्यक होता है। इससे पैसे से अछूता कोई नहीं है।

क्यों पैसे का दुःख है? इसलिए कि आवश्यकताएँ हैं और वह चुभती हैं। उन्हें पूरा करने का साधन जो पैसा है सो दुःख-सुख देने की शक्ति उसमें अनायास आ जाती है।

किन्तु कमाई एक कला है। सब उसमें प्रवीण हों, यह सम्भव नहीं है। कुछ उस कला के विशेषज्ञ होंगे ही। पहले हमारी समाज की धारणा ऐसी ही थी कि उस वैश्य चित्त वृत्ति के लोग व्यवसाय के कर्त्तव्य क्षेत्र में रहें, अर्थ वहाँ संचित हो और वहाँ से सबकी आवश्यकताओं के प्रति अनायास बहकर जाता रहे। जिन प्रणालियों से धन एक जगह संचित होता था वे अर्थ और स्वार्थ की थीं; जिनसे उस अर्थ का वितरण, व्यय और उपयोग होता था वे प्रणालियाँ परमार्थ की हुआ करती थीं। अर्थ में परमार्थ की ओर उठने की ललक रहती थी। इस प्रकार न-कमाने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के प्रति आदरभाव सम्भव ही नहीं, सहज होता था। अब परमार्थ की प्रणालियाँ शनैः-शनैः बन्द हो रही हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि रक्त का चक्र आधे शरीर में रुक गया है। इस कारण समाज-शरीर आधा अतिरिक्त गर्म और आधा अतिरिक्त ठण्डा पड़ा जा रहा है। वेलफेयर के नाम पर स्टेट उन पारमार्थिक प्रणालियों को सही तौर पर स्वस्थ और जीवित रख सकती है, इसमें सन्देह है। कारण वेलफेयर हो या कुछ हो, राज्य के अन्तरंग का मूल्य सत्ता का ममत्व है। उसके लिए प्रभुत्व परमार्थ बन आता है। इसलिए धन वितरण की प्रणालियाँ उसकी ओर से कृपा की बन जाती हैं, धन्यता की नहीं रहतीं। और जान पड़ता है कि इस व्यवस्था से समाज का शरीर हरा-भरा होने के बजाय गठिया से पीड़ित और रोग-जर्जर हुए बिना नहीं रहनेवाला है।

अप्रैल, '1960

साधु और समाज सत्ता

कुछ सैकड़ों वर्षों की है यह आधुनिक कही जानेवाली सामाजिक पद्धति। भारतीयता हज़ारों वर्षों से टिकी चली आई है। नाना उत्पात, उपद्रव और झंझावात उसने झेले हैं। पर नींव उसकी डिगी नहीं है। इसे नये झोंके में वह व्यवस्था टूट जायेगी, या बुनियाद उसकी झूठी साबित होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

कुछ बन्धु जो समाज में सुधारवादी बनकर रहना पसन्द करते हैं। इस समुदाय के सभी सदस्य अच्छे कारोबारी हैं और खुशहाल हैं। वाद उन्हें प्रिय है, और सुधार उन्हें प्रिय है। उनके पास नारा है, झण्डा है, और वह समाज-क्रान्ति और समाज-सुधार का है। नारे का शोर कम हो और उनका झण्डा समाज के शीर्ष पर सबसे ऊँचा फहराता न दीखे तो इसमें अपना गौरव कम हुआ जान पड़ता है।

इन बन्धुओं को एक बड़ी चिढ़ है। वह चिढ़ है साधु से और धर्म से धर्मवाली चिढ़ को तो छोड़ दीजिए, क्योंकि कहीं वह ठीक जाकर बैठती नहीं है। मूर्ति, स्तान, मत, व्यक्ति से धर्म घिरा नहीं रहता, वह अमूर्त्त भी रहता है। लेकिन साधु की चिढ़ में आसानी से नोक बन जाती है, क्योंकि साधु सामने चलते-फिरते दिखाई देते हैं। वे अमूर्त नहीं हैं, बल्कि अधिक ही प्रत्यक्ष हैं। वेष-परिवेष उनका अधिकांश रंगा होता है और दूर तक से दीखता है। कहीं वह रंगा नहीं भी होता, पर अलग दीखने लायक अवश्य होता है। इसमें नये गाँधी-पन्थी साधु को भी सम्मिलित समझिए, उसकी चाल-ढाल भी नियुक्त है जैसी कि और साधुओं की होती है। ऊपर का यह सुसंस्कृत, सुस्म्पन्न और सुबुद्धि समुदाय सुख से है। बस, साधु की शक्ल उसे दुख देती है।

सच भी है। साधु अपने वेष-परिवेष से ही समाज के आगे एक प्रश्न चिह्न की भाँति हो आता है। दुनिया काम कर रही है, आपका न-करना ही काम है।

वह कमा रही और इज्जत पर मर रही है, आप दर-दर भीख माँगते लजाते नहीं हैं। कितनी हौंस-हबिस से लोग अपना ठौर-ठिकाना बाँधते हैं, आप ठाठ से बेठौर बेठिकाने हैं। सबको अपनी-अपनी चिन्ता है, आप अलमस्त हैं। अपनी नहीं है, चिन्ता हो तो औरों की भले हो। उन्हें सगा-पराया नहीं है, नाता-नेह नहीं है। घूमते रहते हैं और सम्बन्ध में कोई घनता या लगाव नहीं कहीं आने दे सकते हैं। रिश्ता गाढ़ा बना तो वासना कहकर आप उससे दूर भागते हैं। इस तरह समाज से कुछ ऊपर और बाहर, अलग और थलग रहकर आप अपने को निबाहते हैं। भोजन जहाँ जैसा पा गया ठीक। औरों की दो दुःख की बातें सुनीं, दो सीख की बातें कहीं, और चले आगे। ऐसे आप जाने क्या पाने की टोह में निरन्तर चलते ही रहते हैं!

यह परिव्राजक प्राणी निश्च ही समाज के लिए एक सवाल बन आथा है। वह मानो हमारे आगे स्थायी प्रश्नवाचक है। राज्य के लिए वह असुविधा का कारण हो सकता है। वह बालिग ही नहीं अनुभवी और बुद्धिशाली होता है, फिर भी वोटर नहीं होता। न कर देता है, न कृपा लेता है। एकदम गिनती से अपने को वह बाहर किए रहता है, कह दीजिए नगण्य। मर्दुमशुमारी में भले शुमार हो, पर अपने विधि-विधान में उसकी आप शुमार नहीं कर सकते। नागरिकता से वह बाहर है; उसके न अधिकार माँगता है, न कर्तव्य ओढ़ता है।

इस अनोखे प्राणी की हमारे भारत में सदा समुचित संख्या रही है। इतना ही नहीं, भारत उसके आगे शीष भी झुकाता है रहा है। इतिहास में जिसको भारत ने महान करके माना और सदा के लिए हृदय पर धारण किया, जान पड़ा कि उसने इसी नीति-रीति को अपनाया है और फिर उसी को बढ़ाया है। सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में ऐसे लोग खड़े कर हैं। जो घरबार की चिन्ता से अपने को तोड़कर जाने किस अपर चिन्ता के नाम पर बाहर आ गये हैं। वे फिर संसार से कुछ नहीं माँगते। तन पोषम के निमित्त जो मिल जाए ले रहते हैं और उतने के लिए संसार के प्रति आशीर्वाद से भरे रहते हैं।

अपने यहाँ समाज चार वर्णों से बना बताया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। चार नहीं अंधिख मान लीजिए। जीवन जटिल हो गया है, स्तर और वर्ग बढ़ गये हैं, तो चलिए संख्या दो-चार अधिक टहरा लीजिए। लेकिन यह साधु समाज किसी वर्ग और स्तर में नहीं आता है। वहाँ वर्ण रहता नहीं। वह चतुर्वर्णातीत है। साधु में सभी वर्ण एक समान हैं। पूर्वाश्रम तक वहाँ टिकता नहीं। ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व इधर ही रह जाता है, साधु तक नहीं पहुँच पाता।

वर्ण ये चार समाज के हुए। फिर जीवन के चार आश्रम गिनाये गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त। पहले तीन समाज के वित्त में आ जाते हैं।

लेकिन जीवन का चौथा आश्रम जैसे समाज के वृत्त से बाहर हो जाने पर आरम्भ होता है।

जीवन और समाज की यह आर्य और आर्ष कल्पना मुझे बहुत उपयुक्त जान पड़ती है। कारण, समाज में जीवन सचमुच समाप्त नहीं है; जीवन यात्रा का इष्ट पार है। यात्रा समाज में से चलती है, पर इष्ट तीर्थ का प्रतिष्ठान और भी आगे रहता है, प्रगति का ध्रुव वही हो सकता है। सन्यासी वह यात्री है जिसकी अभिलाषा समाज से पार हो आए। न उसे अब समाज की मान्यता चाहिए, न सत्ता चाहिए। समाज की अवज्ञा भी अब उससे नीचे रह जाती है। मानापमान संसारी के लिए बहुत ही महत्त्व की बात है, संन्यासी को वह छूता भी नहीं है।

अर्थात्, सामाजिक लक्ष और आध्यात्मिक लक्ष एक नहीं हैं। सामाजिक लक्ष उपयोगिता की परिभाषा में बनता है। उपयोगिता पारस्परिक वस्तु है। मसाज की भाषा ही परस्परता की है। लेकिन जीवन परलक्षी हो नहीं सकता। आत्मलक्षी होकर ही उसमें दृढ़ता और दिशा आती है। वैसा कुछ लक्ष न हो तो अनेक स्वार्थों को लेकर संसार में जो जाल बनता है, व्यक्ति के लिए वह जंजाल हो आता है। तब उसमें से तैरा नहीं जा सकता है, उसे पार नहीं किया जा सकता है। फँसकर उसमें अकुलाते ही रहा जा सकता है। स्वयं का भी स्वार्थ हो तो स्वार्थों का गोरखधंधा हमसे कैसे सुलट सकता है। तब गाँठ उलझे और उसमें उलझाएगी ही। उस ग्रन्थि के लिए यों देखें तो अनुपयोगी वह नहीं रहता बल्कि अधिक उपयोगी हो जाता है, जो स्वार्थ से सर्वथा छूटता है। लेकिन स्पष्ट ही ऐसा व्यक्ति ग्रन्थि का अंग नहीं होता, वह 'कन्सर्न्ड पार्टी' नहीं रहता। इससे संसार विग्रह के लिए यों संन्यासी को हम अनावश्यक भी कह सकते हैं, पर वर्णों में, वर्गों में, और इस तरह समाज में, यदि सन्तुलन और सामंजस्य की आवश्यकता हो तो यही उत्तीर्ण व्यक्ति है जो शरण स्थल सिद्ध हो सता है।

इसी से भारतीय संस्कृति ने चतुरवर्णात्मक समाज की कल्पना की तो सन्यासी को बाहर रखकर भी उसे शीर्ष पर रखा। अर्थात् व्यवस्था और विधान से अवश्य बाहर था वह संन्यासी, पर हित और उपयोग के लिए तो वह उस कारण समाज के प्रति अधिक निकट और समर्थ हो आता था। तभी समाज को उसका सत्कार और अभिवन्दन प्रिय रहता था।

आज भारतीय समाज कुछ हिल रहा है। कारण दिये जा सकते हैं ऐतिहासिक और अन्य। विज्ञान की बात कही जा सकती है और औद्योगिक क्रान्ति की। उस सबमें यहाँ नहीं जाना है। सच अवश्य है कि समाज का ढाँचा हिल रहा है। भाषा है कि इकोनोमी बदल रही है, कृषिमूलक नहीं उद्योगमूलक हो रही है।

जीवन केन्द्रित होता जा रहा है, क्योंकि द्रुतता होने के साथ केन्द्रितता को बचाया नहीं जा सकता। आदि-आदि वाद व्याख्या देने और मन रखने को हैं। पर यहमानना कि भारहतीय समाज को अभारतीय होकर ही रहना होगा, मानना कि भारतीय जीवन-पद्धति की सम्भावनाओं का अन्त आ गया है, अधीर और अधिश्वासी बन बैठना है। कुछ सैकड़ा वर्षों की है यह आधुनिक कही जानेवाली समाज पद्धति। भारतीयता हजारों वर्षों से टिकी चली आई है। नाना उत्पात, उपद्रव और झंझावात उसने झेले हैं। पर नींव उसकी डिगी नहीं है। इस नये झोंके में वह व्यवस्था टूट जाएगी, या बुनियाद झूठी साबित होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं है। जो अपने को उपयोगी और कारबारी गिनते हैं, जो सभा समाज-संगठन के कृत्यों में सचेष्ट और कृतिशील रहते हैं, ऐसे लोककर्मी और राजकर्मी जन अपने धन और पद का मद भी रख सकते हैं। उस मद में भारत के इस सनातन साधु को दाग देकर वे कह सकते हैं कि वह अनुत्पादक और अनुपयोगी है। पर उनका भ्रम है। भ्रम इसलिए कि सकर्मक उत्पादक और उपभोक्ता बनने की कोशिश में सभी यदि लग जाते हैं तो राग-द्वेष और वैर-विग्रह का वह तीव्र फेन और विष फलित होता है कि जिसको अपना भोग बनाकर पीनेवाला फिर कोई बच नहीं जाता है। ऐसे कर्म और राज्य की सर्वोपरि सत्ता आ बनती है और उससे युद्ध अपरिहार्य और अनिवार्य बनता है।

जमाना बहुत नहीं बीता है और उसे स्वर्गस्थ गाँधी को हम राष्ट्रपिता भी कहते हैं। अच्छा-खासा बैरिस्टर था। काम-धन्धा, घर-गृहस्थी छोड़ वह बना तो क्या? अभिलाषा ही रही कि वह किसान और जुलाहा बने, लेकिन बन वह महात्मा गया। बदन नंगा हो रहा। काम सब उसके लिए बस एक सत्य का साक्षात्कार हो गया। मानो यह अकर्म ही उसका कर्म था। और देखा गया कि उसी गाँधी से भारतीय समाज को कोई राष्ट्रता मिलती है और राष्ट्र को स्वतन्त्रता मिल आती है।

क्या किया था गाँधी ने? असल जादू था उसका यह जीविका के सवाल को उसने अपनी एक फूँक से आदमी के सामने से उड़ा दिया था। यह सवाल घेरे रहता है हर आदमी को। जीवन भर आदमी उसी में चकराता चला जाता है। जैसे जीना भँवराना हो, तैरना न हो। गाँधी को देखकर लाखों की संख्या में लोग निकल आए जिन्हें अपनी फिक्र न थी और कल का ध्यान न था जिन्होंने आज को लिया और उसी पर अपने को झोंक दिया। जिन्हें बलिदान ही भोग हो गय॥ गाँधी से मानो जो साधना साधु की होती है, वह देश की साधना बन गई। जीवन को मन्द था उमंग से भर आया। सेतने और पोसने की जगह अपने जीवन को निछावर करने में धन्यता अनुभव हो आई।

गाँधी के दान को और काम को समझेंगे तो मालूम होगा कि वह मूलतः यही था। व्यक्ति को स्व-अर्थ से और स्व-कर्म से उठाकर उसने परम-अर्थ और परम-कर्त्तव्य में प्रतिष्ठित किया। मानव ने अनुभव किया कि इसी में उसकी स्वभाव पूर्ति है। स्वार्थी उससे सन्यासी हो आया और जगत्-कर्मी ने इस सन्यस्त-कर्मी अथवा सेवा-कर्मी को मस्तक झुकाने में अपना गौरव माना।

क्रान्ति थी वह मूल की, मूल्य की क्रान्ति। अब वह मिटी-सी जान पड़ती है। औद्योगिक इकोनोमिक आदि-आदि तर्क सर्वथा वृथा हैं। सच यह कि जब हम भारतीय व्यवस्थ को अपर्याप्त और पुरातन मानकर नये बहाव को स्वीकार करते हैं तो अपनी मूल्य-निष्टा की त्रुटि को ही प्रकट करते हैं। संकट उस कारण है। आर्थिक आदि कारणों से उतना नहीं।

तो यह जो साधु है, जो करता नहीं दीखता, वरन् भावना और प्रार्थना में ही अधिक दीखता है, हमारी और की एक लांछना का ही पात्र नहीं है। समाज के नेता प्रतिनिधि बनकर उपयोगिता के नाम पर जो इस साधु को दुरदुरा ही सकते हैं वे अपनेपन के नशे में भूलते ही हैं। अपनेपन से तनिक उबरेंगे तो पायेंगे कि वह साधु न केवल व्यर्थ नहीं है, बल्कि कदाचित स्वयं उनसे अधिक उपयोगी हैं। उन्हें पता नहीं है कि उनकी धन की सम्पन्नता शायद नीचे के स्तरों पर भारी पड़कर उन्हें दबाए रख रही है। पता नहीं है इसी से वे आत्मतुष्ट हैं और इसी कारण तर्क-तीव्र। अपनी जगह पर आराम से हैं, इसलिए आलोचना की उन्हें पूरी सुविधा है। साधु के पास वह सब नहीं है। वह पर यदि है तो उनके ऊपर है जो स्वयं उन्हें ऊपर लेकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। अन्यथा साधु तो सबसे नीचे ही है। भला उससे बढ़कर कौन सर्वहारा है!

प्रत्येक महापुरुष ने अपने लिए यही स्थिति और यही स्थान स्वीकार किया है। स्वत्व मात्र से छुट्टी पाई है और अपने अधीन कुछ रखना नहीं चाहा है। वह भिक्षुक बना और सेवक बना है। जीवन उसने सरल से सरल बनाया है और सर्वथा बे-पैसा। इसी आस्था और दीक्षा में उसने अनेकों को दीक्षित किया, सिखाया कि आवश्यकता से तनिक अधिक न लो और आवश्यकता को कम से कम रखो। फिर जो तुम्हारे पास है, सब देते और लुटाते घूमते रहो, समयक् दर्शन का धन, सद्ज्ञान का धन, सद्भाव का धन। वह धन लेने से बढ़ता, देने से भी बढ़ता है। न उसके लेने में संकोच करो, न देने में कृपण बनो। इसी पंक्ति के मनुष्य को कहा गया, साधु।

आज विनोबा ने पुकार दी है कि आधार छोड़ दो, और सब जनाधारित निर्वाह करो। सब समय सबको दो और अपने तन के लिए जो सब दें उस पर गुजारा करो।

किन्तु लोकतन्त्र में सत्ता का इतना बड़ा जो भीम भीषण यंत्र खड़ा है, वह भी अपने को जनाधारित जताता है! उसका बजट अरबों-खरबों को पार कर जाने कहाँ पहुँचना चाह रहा है। सब यह जनाधारित ही है, क्योंकि जन जब-सागर होता है तो उस शक्ति का पार नहीं रहता। इसलिए जनाधारित आधार ही सबसे दृढ़ और गहरा है, इसमें सन्देह नहीं है।

लेकिन सत्ता और साधु दो हैं। वे विपरीत तक हैं। दोनों कुछ अपने लिए नहीं करते हैं, केवल बताते और व्यवस्था देते हैं। दोनों जनाधारित हैं।

तो फिर? फिर यह सोचेंगे।

मई, 1960

भाग : सात

नवाब और आदर्श

नवाब और आदर्श

यथार्थवाद का एक दौर आया। कुछ ऊपरवालों ने चाहा और इसका इन्तजाम हुआ। सबसे ज्यादा इसके वार की जरूरत वहाँ हुई जहाँ आदर्शवाद की जगह थी। आदर्श की जिन्हें रक्षा करनी थी, उन्हें बताया गया कि वह रक्षा की नहीं खत्म कर डालने की चीज़ है। आदर्श जहर है, वह बेईमानी है। ईमानदारी यथार्थ से इधर-उधर जा नहीं सकती।

एक नवाब साहब बड़ी धुन और लगन के आदमी थे। उन्हें ख्याल हुआ कि सब कुछ जमीन से पैदा होता है। फल-फूल, गल्ला, मेवा। इसलिए उन्होंने वजीर को बुलाया और पूछा—बता सकते हो मैना क्यों उड़ती है?

वजीरे आला ने दाढ़ी पर हाथ फेरा और कुछ सोचते रह गये। होशियार आदमी थे और बात का रुख देखा करते थे। सोच-कर बोले-आपकी इजाजत है, उड़ लेती है। नहीं तो कैसे उड़ सकती है।

''सही कहते हो!''

''हाँ हुजूर। हुक्म को हो तो मैना का उड़ना बन्द हो सकता है।''

''सुनो,'' नवाब साहब ने फरमाया ''आसमान एकदम खाली है। पैदा सब जमीन से होता है। अब अगर मैना उड़ती है तो क्यों न माना जाए कि यह उसकी बददयानती है।''

''बजा फरमाते हैं हुजूर!''

''हमारा ख्याल है कि जमीन की पैदावार बढ़नी चाहिए। मैना और दूसरे खूबसूरत परिन्द हमारे बागों में फूलों के साथ खिलें, वहाँ फुदकें, चहचहाएँ, चमन को गुलजार करें। यह क्या कि आसमान में उड़ते-फिरते हैं। इससे कोई फायदा नहीं। क्या कहते हो, फायदा है?''

''जी नहीं।''

"तो इसका इन्तजाम करो। खूबसूरती मुफीद होनी चाहिए।"

इन्तज़ाम हो गया। अब आकाश साफ था। पक्षी होंगे तो वहाँ नहीं जा पाते थे।

ऐसे एक जमाना गुजर गया। नवाब साहब एक दफा सोच में बैठे थे। हुक्का हुआ, वजीर को बुलाया जाए। आने पर वजीर से कहा—यह क्या हम सुनते हैं कि हमारी हुकूमत में किसी को ताब नहीं है कि आसमान में परवाज कर सके। तुम से कहा गया था कि हम किसी कौम से पीछा रहना नहीं चाहते हैं। यह शम की बात है कि बुलन्दपरवाजी में हम पीछे मान जाएँ। हमारे परिन्दों को क्या हुआ है?

"हुजूर, चमन में चहचहाते और फुदकते हैं—'

"आसमान में नहीं जा सकते?"

"जमीन को रौनक बख्शने का फर्ज अदा करते हैं।"

नवाब साहब नाराज हुए, बोले—फूल बाग में होता है, फल बाग में हो सकता है। दरख्त वहाँ हुआ करता है। वह कौन जाहिल है जो परिन्दों को वहाँ कैद रखना चाहता है। वह उड़ने के लिए है। आखिर पर और पंख उसे किस लिए अता फरमाये गये हैं।

धीमे से वजीर ने कहा—जी, वह नहीं हैं।

"क्या कहते हो!" नवाब ने तैश में कहा—"वे क्या हुए?"

"हुजूर, पहले हुआ करते थे। वह जमाना कदीम था। फिर पर कतर दिये गये और उनकी एकदम मुमानियत हो गई। इस तरह उनका उड़ना बन्द हो गया। परिन्द अब उन पर शरमाते हैं।"

नवाब साहब ने कहा—"तुम बरखास्त किये जाते हो!"

वजीर हट गये। लेकिन राजा का आसमान वीरान है। क्योंकि पर नये आने में वक्त लगता है। और नवाब साहब परेशान हैं कि क्योंकर इस मामले में और मुल्कों के बराबर पहुँचे और परेशानी से बचें!

...यथार्थवाद का एक दौर आया। कुछ ऊपरवालों ने चाहा और इसका इन्तजाम हुआ। सबसे ज्यादा इसके वार की जरूरत वहाँ हुई जहाँ आदर्शवाद की जगह थी। आदर्श की जिन्हें रक्षा करनी थी, उन्हें बताया कि वह रक्षा की नहीं खत्म कर डालने की चीज है। आदर्श जहर है । वह बेईमानी है। ईमानदारी यथार्थ से उधर-उधर जा नहीं सकती।

इन्तजाम पूरे तरीके के साथ निकया गया। यहाँ तक कि ईमान के सबूत के तौर पर जरूरी समझा जाने लगा कि लिखनेवाले के लिखने में यथार्थ जरूर सतह पर झलके। यथार्थ से अधिक उसका वाद झलके। यथार्थ फूहड़ हो सकता

है, घिनौना और वीभत्स हो सकता है। वह सब चल सकेगा। जो चीज नहीं होने दी जाएगी वह आदर्श, क्योंकि आदर्श एक फरेब है, वह बहकाता है। तबीयत को कुछ चैन और सकून देता मालूम होता है। जरूरत जिसकी है वह है बेदारी और बदअमनी। मीठा स्वाद गलत, क्योंकि जरूरत कड़वाहट की है।

और यह दौर इस कदर चला कि जो रंग पर न चढ़ सका वह अपने पर शर्मिन्दा हुआ। पंख रखने पर रेंगना आसान नहीं है। उस काम के लिए बदन की बनावट दूसरी चाहिए। मुमकिन हो सकता है कि दोनों हाथों से भी पाँवों का काम लिया जा सके और इस तरह चारों पाँों को जमीन पर टेककर चला जाए। पर आदमी जो सीधा चलना सीख गया है, इसलिए जिसके दो हाथ तरह तरह की कुशलता पा गये हैं, उसे उन हाथों को पाँव बनाकर चलने में जोर पड़ता है। आदमी के लिए आसान नहीं हो पाता चौपाया बनना। पर इससे आगे सारे तन को धरती पर लगाकर रेंग पाना तो और भी उसके बस का काम नहीं है। लेकिन वजीर के पास हुक्म आया तो उसके बाद कारकुनों का काम हो गया कि करतब दिखाएँ। तब मानो प्रचारित हुआ कि आदमियत इसमें है कि रेंगा जा सके। लोग प्रदर्शन करने लगे कि कैसे सफलतापूर्वक और गौरवपूर्वक यह किया जा सकता है। यह प्रचार की कुशलता और महिमा थी।

लेकिन इधर कारकुनों और वजीरों से ऊपर नवाबी तल पर कुछ और ही सोचा जाने लगा। वहाँ मालूम हुआ कि आदमी के लिए रेंगने से चलना अधिक स्वाभाविक है। गति भी उसमें अधिक होती है। इसलिए जब अपने मुल्क की प्रगति का नाप वे नवाबी तल के लोग लेने लगे तो मालूम हुआ तो वह तो ठीक नहीं हुआ। पालिसी बदलने की आवश्यकता है।

यथार्थवाद का मार्ग खुला, तो हम धड़ाधड़ बढ़ते ही गये। तनिक बाद मालूम हुआ कि जहाँ आ लगे हैं, वह प्रकृतिवाद तो कहीं नहीं है। क्योंकि इतना नंगा और फूहड़ लिखा जाएगा, यह तो नहीं सोचा था। इसलिए रोकथाम शुरू हुई। बन्धन जो पहले गलत माने गये और जिनका तोड़ना कर्त्तव्य माना गया था वे पवित्र बताये जाने लगे। विदित हुआ कि प्रगति वह है जो नैतिक है। विवाह और परिवार मर्यादा की संस्थाएँ हैं और उनका संरक्षण प्रगति का बड़ा लक्षण है। तख्ता ही पलट गया। प्रगति के नाम पर यथार्थ, और यथार्थ के नाम पर प्रकृत जो चला तो सहसा लगाम खींचना जरूरी हुआ।

अब शुक्र है कि प्रगति की धूमधाम नहीं है। पर कल्पना के पर जो काट डाले थे सो नये आने में समय लग सकता है।

मैं अपनी जानता हूँ। लेकिन मैं औरों से अलग थोड़े ही हूँ। आदमी के यंत्र की गढ़न सब जगह एक सी ही है। कल्पना उससे छूट नहीं सकती। कैसे

हो सकता हैं कि वह सपने न ले। वर्त्तमान में वह बन्द और समाप्त हो नहीं पाता। स्मृति-ज्ञान से पीछे अतीत से नाता जोड़ता है और कल्पना और भावना के सहारे अनागत और आगामी से भी वह जुड़ा रहता है। ऐसे सीमा में रहकर वह असीम है। अनंत उसमें है और अमर उसमें है। यही उसकी सार्थकता है, अन्यथा वह व्यर्थ होता है। आदर्श पर केवल अपना कब्जा जमाकर दूसरे को उधर से असावधान जो करना चाहते हैं सो यह उनका दम्भ है। जिस बिरते वे मानवता को अमुक दिशा देने का दावा करते हैं वह चीज दूसरों के लिए भी उतना ही जरूरी है। वे निश्चय ही अपने पास कोई आदर्श रखते हैं, तो सबके लिए क्यों न छूट हो, बल्कि क्यों न जरूरी हो, कि वे भी अपने आदर्श रखें। उसकी लगन रखें, उसका प्रकाश दें और उसे आचरण में लें। यदि यह आदर्शवाद आदमी के पास नहीं दिया जाता है तो वह घुँट जाएगा। और आदमी को घोटकर अपना काम निकालने की राह सच्ची नहीं है।

जनवरी, 1960

ज्ञान और सृष्टि

विभक्त मानसिकता में से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खण्डित व्यक्तियों के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र में देखने में आते हैं सो अधिकांश इसी कारण कि उनकी वफादारी जीवन और जगत् के प्रति न होकर सिद्धान्तों के प्रति हो आती है।···

प्लेन चला जा रहा था कि कप्तान ने सूचना दी—अब हम भूमध्य रेखा पार कर रहे हैं।

भूमध्य रेखा! जरूर गहरी खाई-सी होगी, वह जो धरती को आधोंआध बीच से काटती है!

हमारे विज्ञ बन्धु ने नीचे आँख फैलाकर देखा। सागर यहाँ से वहाँ तक नीला क्या मटमैला दीखता था। देखा, देखते रहे, देखते रहे। पाँच-दस-पन्द्रह-बीस मिनट हो गये। निगाह हटाई नहीं। पर कोई रेखा कहीं दीखती न थी।

माथे से पसीना पोंछा। फिर नीचे समुद्र पर दृष्टि जमाई कि देखकर रहेंगे। पर क्या दीखता? अन्त में हारकर उन्होंने पास के साथी से कहा—हमने भूमध्य रेखा पार कर ली, आपने देखा नहीं?

साथी ने संक्षिप्त भाव से कहा—जी?

'ओह, कितनी चौड़ी और गहरी थी? कैसी काली दीखती थी। आपने देखा नहीं! अजी एक खासी दरार ही कहिए।'

साथी ने महाशय को अचरज से देखा, बोले—तो आपने भूमध्य रेखा देख ली, गहरी काली थी न?

'जी!'

'अफसोस है, मैं नहीं देख सका!'

'जी हाँ··· लेकिन अब काफी पीछे छूट गयी है।'

'धन्यवाद··· आप कहाँ रहते हैं?'

'मैं··· '

···मालूम नहीं आगे उन दोनों में क्या चर्चा हुई। सच यह कि चर्चा ही नहीं हुई। क्योंकि आखिर किस्सा है और गढ़न्त है।

पर उसमें एक बात है। बात यह कि नक्शा असलियत नहीं है।

हमारे महाशय बेहद वंचित और निराश हो आये जब भूमध्य रेखा भू पर कहीं देख नहीं पाये। मध्य में नहीं, आसपास नहीं, कोने किनारे नहीं, कहीं भी नहीं। अब माना कैसे जाए कि है नहीं। चुनांचे उन्हें और भी जोर से दावा करना पड़ा कि वह तो है, बड़ी गहरी और काली है। अजी देखी जो है!

यह झूठ और आग्रह क्यों? क्योंकि अपने ज्ञान को सच रखना है। भूगोल का काम उस रेखा बिना चलता नहीं। रेखा वहाँ बहुत बुनियादी है। इसी से नक्शे पर सदा मोटी लकीर से उसे बताया जाता है। नहीं तो वह शास्त्र चल नहीं सकता। उस रेखा के महत्त्व के बारे में छुटपन से ही जानना-सीखना होता है। उस सहारे ऋतुएँ समझ आती हैं और प्रकृति सम्बन्धी इतना यथार्थ विदित होता है। वही फिर भूमि पर एकदम अस्तित्त्वहीन हो, यह गलत बात हुई न?

उन महाशय के साथ, जो भूमध्य रेखा के चिह्न तक को लाख आँखें फैलाने पर धरती सागर के अपार वक्ष पर देख नहीं पाये, हमारी गहरी सहानुभूति है। पर उनकी व्यर्थ चेष्टा पर बताइए हम हँसें नहीं तो क्या करें!

उन पर तो हम हँस लेंगे। पर सच यह है कि उसी तरह अपने पर भी हँसने की तैयारी चाहिए। क्योंकि हम भूल जाते हैं कि ज्ञान हमारा अज्ञान भी है। हमारा है यह भूल जाते हैं, एकदम ज्ञान है यह मान लिया करते हैं। और जब देखते हैं कि अपनी मानसिकता से अलग खुले जीवन में वह चलता नहीं है, निभता नहीं है तो खीजते और खिजलाते हैं। तब भी यह नहीं कि मान लें वह अज्ञान था, बल्कि और भी जिद करके अटक और अड़ जाते हैं। बहस करते हैं कि गलत जिन्दगी है, ज्ञान तो एकदम पक्का और साबित और सही है।

ऐसे ज्ञानी लोग अपने ज्ञान की दूकान पर कितने भी विज्ञ दीख पड़ें, जिन्दगी के मैदान में वे ही आसानी से अज्ञ बने दिखाई देते हैं।

जिन्दगी एक साबत चीज है। उसमें खाने नहीं हैं, विभाग नहीं हैं। वह अखण्ड है और समग्र है। लेकिन ज्ञान अखण्ड को कैसे लें? वह विभाजन करके जानता और विभाग में रहता है। यही उसकी सुविधा है। अलग जानना जानने की शर्त है। धरती को हम जानना शुरू करते हैं ऐसे कि वह आसमान नहीं है। यह नहीं है, वह नहीं है, इसी तरह इनकार में चलते-चलते हम उसके स्वीकार तक पहुँचना चाहते हैं जो है। यह ढंग ज्ञान का ठहरा। न इति, न इति।

सो विभाजन ज्ञान का अस्त्र है। यह अस्त्र बाहर चलाया जाता है तो आदमी

को बहुत कुछ प्राप्त होता रहता है। विज्ञान उसी में से मिल गया है। अपने बारे में चलाया जाता है तो भी बहुत कुछ मिल जाता है। मनोविज्ञान उसी में से हाथ आया है। पर इस मनोविज्ञान के लिए आदमी ने अपने को ही नहीं काटा। बाहर के व्यवहार में प्रतिफलित जो अपनी छाया हम देखते हैं, उसी को काट-छाँटकर समझा है। ऐसे उस ज्ञान और विज्ञान को भी हम उपलब्धि कहते हैं।

लेकिन एक और महत्त्वशाली प्रक्रिया है। वैज्ञानिक नहीं उसे नैतिक कहा जाया करता है। उसमें ऊपर से नीचे गुणों में सत्यता को बाँटते हैं। जैसे यही कि सृष्टि में तीन गुण के तीन स्तर हैं। जीवन तीन खण्डों में बँटा खड़ा है—तम नीचे, रज ऊपर, सत्व सबसे ऊपर। जिन्दगी का यह तिमंजिला नक्शा वाजिब और वैधानिक मालूम होता है। पर मान लीजिए कि उस जिन्दगी की इमारत में हमें रहना भी है। तो मकान वह तभी काम दे सकता है, उसमें रहा-सहा जा सकता है, जब उन मंजिलों में आपस में आवाजाही हो। एक जीना हो जो तीनों को जोड़ता हो। एक मुलाजिम हो जो तीनों का खयाल और इन्तजाम रखता हो। बहरहाल इस तिमंजिले जीवन के मकान का सफल स्वामी हो वह सकेगा, जो नीचे की मंजिल का ध्यान उतना ही रख सके जितना ऊपर वाली का। नीचे से खास नफरत न हो उसे, न ऊपर का विशेष मोह।

यह बात सृष्टि को त्रिगुणात्मक बतानेवाले ऋषि के चित्त में उपस्थित नहीं थी, यह नहीं मानना होगा। कारण कि उसने यह भी बताया कि गुणों में तो निवास है, निवासी स्वयं निर्गुण है। वास खण्डों में हो, वासी अखण्ड है, व्याप्त है। वह कटा-बँटा नहीं है। ऊँचा-नीचा नहीं है। कोई मंजिल उसको घेरे और अपनाये नहीं है। सर्ववासी जो आत्मा है वह निरे सत्वगुणवाला नहीं है, न और गुणवाला है। संख्या उसके समक्ष अपनी गणना छोड़ रहती है। तीन वहाँ, तीन नहीं रहते, एक हो जाते हैं। उपयोग योग में खो रहता है।

यह सब इस समय सूझता इसलिए है कि एक पत्र आया है। पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का है। उनका जीवन विसर्जित रहा है। आरम्भ से अन्त तक स्वार्थ का उस जीवन में लेश भी नहीं है। चिन्तन और कर्म का वह अजस्र साधनाशील जीवन है। उनका पत्र है और जान पड़ता है कि रजस और तमस् से उनकी अनबन अटूट है। सात्विक के लिए पुरुषार्थ और प्रयत्न भी अटूट है। इसमें राजसिक आदि भावों का भय और रहता है सतत समझौते का डर। उनकी साधना पर जैसे पाप का हौआ हर पल छाया डाले रहता है।

यह साधक पुरुष अपने को तृप्त, कृतार्थ और तुष्ट अनुभव नहीं करते हैं। साधक हैं और साधना उनके सम्पूर्ण शरीर पर लिखी है। जैसे कस-बाँधकर सुखाया गया व्यक्तित्व हो।

वह कहते हैं कि प्रवृत्ति सात्विकता में से होनी चाहिए, कम से कम वह जो समाज का मंगल चाहे। रजोगुणी प्रवृत्तियों से सावधान रहना होगा। राजनीति अधिकांश रजोगुणी है, अधिकांश क्यों सर्वांश राजसिक है। प्रवृत्ति सौम्य होगी, सौम्य से सौम्यतर, सौम्यतर से सौम्यतम। सौम्यतम की भूमिका पर जाकर जो हो, वह वहाँ देखा जाएगा। इसलिए सत्याग्रह स्थगित, संघर्ष मात्र स्थगित, वह सब प्रवृत्ति स्थगित जिसमें प्रतिकार है, विरोध है, चुनौती है, ललकार है।

नैतिक साधना, अक्सर देखा गया है, इस तरह हमें मानवता के वह नमूने दे आती है, जो पवित्र हैं पर पीले हैं। भले हैं, पर भोले हैं। सज्जन हैं, पर अशक्त हैं। भक्त हैं, पर गऊ हैं। ऊँचे हैं, पर बेबस हैं।

नैतिकता में से यदि यह नमूना ही प्राप्त होता है जो कर्म की और लोक की बागडोर को हाथ में थाम नहीं पाता, हाथ उसके काँप जाते हैं, तो निश्चय है कि नीति को ताक पर रखकर चलनेवाली खुली शक्ति मैदान के लिए रह जाएगी और दुनिया की लगाम को वह हाथ में लेकर चलाएगी।

पर नक्शे की मोटी लकीर जमीन पर नहीं मिली। जिन्दगी पर उसी तरह तत्त्ववादी की लकीरें भी नहीं हैं। धरती एक है और हर बिन्दु पर वहाँ उत्तर-दक्षिण मिला हुआ है। इसी तरह जिन्दगी एक चीज है और उसके हर जीवन-कण पर सत्व, रज, तम, मिल जाते हैं। दिशाओं का पृथक्करण ठीक है जमीन पर, और गुणों का पृथक्करण ठीक जिन्दगी पर। पर कृपया हम बहकें नहीं। इस तरह न जमीन कटती है, न जिन्दगी सच में बँटती है। सिर्फ ऐसे काम ही सधा करता है। काम इसलिए सधता है कि उस प्रकार हमारी मानसिकता सत्य के साथ एक रिश्ता कायम कर पाती है और इस तरह अपना उपयोग वह सत्य को दे पाती और उसका उपयोग अपने लिए ले पाती है।

सृष्टि कैसे होती है? कैसे आविष्कार हो आता है? शिशु कहाँ से अपना आरम्भ पाता है? किस प्रकार कविता फूट आती है, और चित्र और गान और स्तवन? क्या उत्स है तमाम संस्कृति का और सृष्टि का?

मुझे निश्चय है कि सृष्टि विभाजन में से नहीं है। ज्ञान में से नहीं है, क्योंकि ज्ञान विभक्त है। किसी भी आग्रह में से नहीं है जो आदर्श से यथार्थ पर टूटता है। सृष्टि वहाँ से है जहाँ आदमी लीन हो जाता है। जहाँ वह अपनी विभक्ति भूल जाता है। जहाँ वह न अच्छा रहता है, न बुरा रहता है। जहाँ वह बँटा नहीं होता, एकाग्र और समग्र हो आता है। जहाँ वासना और भावना में पृथकता नहीं रह जाती। जहाँ व्यक्ति अपने को पूरा अंगीकार करता और फिर पूरा-का-पूरा निछावर कर डालता है। जहाँ अपने किसी अंश को पीछे रोकता नहीं है और सर्वांश को स्वाहा करके धन्य होता है।

जिन्होंने इतिहास में सृष्टि की, तीर्थ की सृष्टि, धर्म की सृष्टि, साहित्य और प्रकाश की सृष्टि, वे महाभाग भीतर से कटे हुए व्यक्तित्व न थे। मानो वह समस्त थे। एक आग में जो भी उनके पास था, काला या धौला, सु या कु, सब तप गया और दीप्त हो आया। शरीर के साथ जो मलिनताएँ रहती हैं रहीं, पर ज्वाला से वे जैसे उज्ज्वल हो आयीं। जीवन का सन्दर्भ ही बदला; मिटा कुछ नहीं, सब रूपान्तरित हो गया। जड़ ज्वलन्त बना, मंद उस लौ के परस से भीतर की आग में दिव्य हो आया। क्रोध तेज बन गया। अवगुण गुण हो रहा। कठोरता ने कोमलता से सन्धि कर ली। नकार स्वीकार से मिल गया। इस तरह जीवन में से ह्रस्व कुछ नहीं हुआ, एक कण को भी काटकर अलग नहीं किया गया। मानो संयुक्त हो आया जीवन का हर वियुक्त और विच्छिन्न कण और वह सब सामग्री और समिधा बन यज्ञ की वन्हि-शिखा में अर्पण हो रहा।

विभक्त मानसिकता में से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खण्डित व्यक्तित्वों के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र में देखने में आते हैं, सो अधिकांश इसी कारण कि उनकी वफादारी जीवन और जगत् के प्रति न होकर सिद्धान्तों के प्रति हो आती है। कोई सिद्ध अन्त नहीं है, सिवा उस अन्त के जो स्वेच्छा से स्वयं का दूसरों में और सबमें उपलब्ध किया जाता है। वही है परम सिद्धान्त। उसी का नाम है प्रेम। प्रेम से अलग जो भी कोई अपने पास दूसरा सिद्धान्त रखता है, वह भूलता है और बहकता है। वह कटता है और काटता है। परिपूर्ण नहीं करता, न होता है और अपनी हठ में अड़ा रह जाता है कि वह है जो नहीं है।

अप्रैल, '1960.

टूटे हुए लोग

इन्सान चौपायों से ऊँचा इसलिए है कि बुद्धिमान है। ऊँचा तो है, लेकिन क्या इनसे ज्यादा खुश भी है? तब कहीं यह बुद्धि ही इन्सान की परेशानी का सबसे बड़ा कारण तो नहीं है? फिर उपाय क्या है?

एक मित्र की याद आती है। बड़ी तीक्ष्णता थी उनके लिखने में। पर वह कहीं जम न सके। ऐसा जान पड़ता था कि सब उन्होंने खखोल डाला है और मालूम कर लिया है कि सार कहीं नहीं है। बेधक उनका व्यंग होता था। परिणाम यह कि अन्तिम उनके पास कुछ न बचता था जहाँ टिक सकें। कोई मूल्य नहीं, कोई मान नहीं। प्रतिभा उनमें अद्‌भुत थी। वह प्रतिभा ही उन्हें खा रही थी। सहृदय थे, निरीह थे लेकिन अन्त में उनके पास जीने का और उपाय न बचा, सिवा इसके कि होशियारी खेलें। विश्वास किसी को दे नहीं सकते थे, किसी का ले नहीं सकते थे। अन्त में अपने बलबूते रहना ही उन्हें रह जाता था। ऐसे, न कुछ उम्र में ही वह बिराने बन गये।

याद करता हूँ, लखनऊ का स्टेशन था। मेरा मन उनके प्रति आरम्भ में प्रशंसा से भरा था। फिर मन में प्रश्न होने लगा। पर सबसे अधिक उस समय सहानुभूति थी। दीख रहा था कि जीवन की पकड़ उनसे छूट रही है। वह डूब रहे हैं।

सहसा बोले—जिन्दगी मेरी गलत थी। अब देखता हूँ कि काम एक ही है, 'सेल्फ-परफेक्शन'।

यह शब्द 'सेल्फ-परफेक्शन' अब तक मुझे याद आता है। उस समय वह शब्द मुझे चीरता गहरा अन्दर उतरता चला गया था। इतनी तीव्र और कुशाग्र बुद्धि रखनेवाला यह व्यक्ति अगर पहले से इस 'सेल्फ-परकेक्शन' के इष्ट को साथ ले पाता!

बाद में सुना कि यह मित्र कुछ दिन पागल रहे, फिर उनका देहान्त हो गया।

छुटपन के एक और साथी की याद करता हूँ। चौथी क्लास में उसने प्रवेश

पाया था। सारी क्लास कुछ ही दिनों में उसकी अनुगत हो गयी थी। पढ़ने-लिखने में तेज, खेल-कूद में तेज। मैं तो विस्मय-विमुग्ध रह जाता था उसे देखकर। दो-तीन वर्ष बाद हम लोगों की राहें बिछुड़ गयीं। लेकिन उसकी छाप मन पर गही पड़ गयी थी।

शायद ऊपर छः-सात वर्ष और बीत गये। एकाएक दूर के एक नगर में वह दीख पड़ा। विश्वास करना कठिन हुआ। चौड़ी बाँहों का मलमल का कुरता, नीचे लुंगी, दो साथियों के साथ बाजार में चला जा रहा था। साथी ऐसे नहीं थे कि जिन्हें संभ्रान्त कहा जा सके। चाल अजब कि जैसे पाँव धरती को धमकते हुए चल रहे हो। किसी तरह न हो सका कि मैं आगे बढ़कर नाम लेकर उसे पुकारूँ और बात करूँ। लेकिन अगले रोज उसने ही मुझे पा लिया। बात की तो मालूम हुआ कि एक साथ उसमें शेखी है और प्रार्थना है। मेरे लिए सहना मुश्किल हुआ। मेरे मन पर उसका बहुत ऊँचा स्थान था। एकाएक उसी को प्रार्थी के रूप में पाकर मन को गहरा धक्का लगा। यह व्यक्ति शायद दस वर्ष और जिन्दा रहा। बत्तीस तेंतीस की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी।

अन्य एक बन्धु की याद कर सकता हूँ। वे अभी जीवित हैं। जब मिले उनकी विचक्षणता से दंग रह जाना पड़ा था। उनमें चौमुखी प्रतिभा जान पड़ी थी। निश्चय था कि लोक-जीवन में शीर्ष पर पहुँचे बिना वे न रहेंगे। लेकिन बाद के जीवन में वह बात सच होती न दिखाई दे सकी। कहीं उनका बन नहीं पाया। सबको स्वीकार करना पड़ता था कि विचक्षण हैं, पर यह विचक्षणता ही उन्हें अलग काट देती थी। जहाँ गये, जो किया, छिटककर अलग दूर हो रहे। सहयोग में सहयुक्त न रह सके। योग्यता ही इसमें बाधक हो जाती थी।

इन उदाहरणों से मन चक्कर में पड़ जाता है। कभी होता है कि कह दिया जाय, भाग्य मनमाना है, वह बहुत बेतुका है; तर्क उसमें है नहीं। पर यह कहकर अपनी रक्षा ही होती है। समझ को सहायता नहीं मिलती।

यह ठीक है कि सृष्टि का तर्क पूरा-पूरा हमारे हाथ नहीं आ सकता। यदि और कुछ नहीं तो इसीलिए कि हम स्वयं उसके अंग हैं। अंश पूर्ण को कैसे पाये? फिर भी जब हम बिगड़ते हैं, भाग्य आदि कहकर मानो उस पर अपनी अप्रसन्नता फेंकते हैं, तो यह ठीक नहीं करते। शायद इस तरह हम अपने लिए मनमानापन अपनाना चाहते हों। पर अन्त में भाग्य के साथ मेल मिलाये बिना चलता नहीं है, और आवश्यकता बनी रहती है कि समझें कि भाग्य का यदि कुछ विधान है, तो वह क्या है?

लोग आते हैं और बहुत कुछ कर जाते हैं। बाज लोग तो वह जबरदस्त पराक्रम दिखाते हैं कि दुनिया दंग रह जाती है। वह हलचल, वह धूमधड़ाका

कि क्या कहिये। पर इस सबके बाद अन्त में वह हाथ मलते-से ही जाते हैं कि कुछ हुआ नहीं, कुछ किया नहीं। इतना जो उन्होंने अपनी जिन्दगी में किया-धरा होता है सो एक ही साथ अगर उन्हें व्यर्थ बना दीखता है, तो क्या?

जान पड़ता है कि उस नियम को जो विधाता का है आदमी को पहचानना ही होगा। बुद्धि मिली है इसीलिए। वह भरमाती है इसीलिए कि आदमी भटके, त्रास पाये और सीखे। इसीलिए बुद्धि जिन्होंने पाई नहीं, वे पशु सुख से हैं। अपने अन्तर्भूत नियम से तद्गत होकर जीते-मरते हैं और व्यर्थ परेशान नहीं होते। मनुष्य को बुद्धि जो मिल गई है, इससे परेशानी भी बढ़ गई है। उसके लिए अवसर है कि विधाता के मन से न चले, अपने मन से चले।

यह बड़ी कठिनाई है। यह कि उसमें दो मन रहते हैं। एक तो गहरा मन जो विधाता ने उसमें रख दिया है। उससे छुटकारा नहीं। फिर दूसरा उसका अपना मन। इससे भी छुटकारा मुश्किल होता है। इन दो मनों के बीच बिचारा पिसता ही रहता है।

अब जो वस्तु है बुद्धि, वह क्या है? निश्चय ही वह इन दो मनों के तनाव में से पैदा होती है। अपना मन हारना नहीं चाहता और आदमी को अपनी तरफ खींचे रखता है। बुद्धि इसी सहायता में उपजती है। इसका लक्षण 'मैं' है। 'मैं' में से विद्रोह उत्पन्न होता है।

ऊपर जिन बन्धुओं का जिक्र है, अखिर वे क्यों टूटे? क्यों अधूरे रह गये? क्यों वह शक्ति आगे तक उन्हें नहीं ले जा सकी, जिसका प्रकाश आरम्भ में दीखा था? कारण इसके सिवा कुछ और नहीं मिलता है कि उनका बल 'मैं' का था। यह बल राह में ही क्षत-विक्षत हुए बिना कैसे रहता? भाग्य यदि कुछ होगा तो अविरोधी होगा। 'मैं' तो अनेक हैं। 'मैं' का बल इसलिए अनिवार्य विरोध में पड़ जाए तो विस्मय क्या है! टिकनेवाला अन्त में तो वही बल रहेगा जो 'मैं' का न हो, या कहो 'अनेक मैं' का हो।

यह बात मन में उठती है तो दुनिया का जैसे नक्शा ही बदल जाता है। जीवन का ही स्वरूप कुछ का कुछ होने लगता है। और उन बन्धुओं की याद उकसाकर मैं इस समय उसी चक्कर में पड़ गया हूँ।

चक्कर यह कि एक होना है, दूसरा करना है। होने का क्षेत्र आन्तरिक है। करने का बाहरी। हम बाहर के प्रति करते हैं। सारे करने का मुँह उधर ही है। लेकिन होने की साधना का मुख जैसे अपनी ओर हो आता है।

वह मन जो गहरे में है, जब वह खींचता है तब हमारा आचरण एक ढंग का होता है। जब ऊपर का हमारा मन चलाता है तब व्यवहार दूसरी तरह का हो जाता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध शायद ऊपरी मन के साथ है। सब इन्द्रियाँ जगत्

पर खुलती हैं। उन्हीं के नाते से वस्तु-जगत् हमारे साथ जुड़ता है। आँख है, इसलिए हमारे रूप भी है। यों रूप-स्पर्श-गन्ध-वर्णमय जगत् हमारे लिए हो ही नहीं आता, इच्छा का विषय भी हो जाता है। इसमें से कर्म निकलता है। वस्तु-जगत के प्रति हम चलते हैं और इस तरह अपनेपन का विस्तार साधते हैं। आदमी यों फैलता है। कह सकते हैं, यह उसका विस्तार जिस आयाम में होता है वह देश है। उसमें दिशा है तो बाहरी दिसा है। जो आदमी बहुत करता-धरता है तो उसका यह सब करतब इस देश-दिशा के आयाम में हुआ करता है। उसमें से राजनीति फलित होती है। राजनीति में से व्यक्तिमत्व विस्तार पाता और संघर्ष में आता है। क्षेत्र एक का उसमें फैलता तो वह दूसरे के क्षेत्र पर दबाव लाता है। आफ आवश्यक पाते हैं कि इस-उस सम्मेलन के लिए देश-विदेश जाएँ, तो यों सहज ही वायुयान की यात्रा से दुनिया आपके लिए सिमटती जाती है। आप फैलते हैं, दुनिया सिकुड़ती हैं। यहाँ तक कि आदमी आपके 'मैं' के लिए बिन्दु बन आता है। आप देशों की बात करते हैं जिनकी जनसंख्या इतने करोड़ या उतने करोड़ हैं। आदमी उस अरबों-करोड़ों की संख्या के बीच एक अंक बन आता है और आप ठीक उसी समय अनुभव कर रहे होते हैं कि आप जन को पार कर जनता तक फैल रहे हैं। मनुष्य को पार कर मनुष्यता का काम कर रहे हैं। मानव की इकाई से आप उठ जाते और मानव-जाति तक पहुँच जाते हैं!

अब यह भाषा है कि इस घटना को आप किस रूप में कहें। चाहे तो कहिये कि आपका विस्तार बढ़कर जनता-मनुष्यता तक और मानव-जाति तक हो गया है। चाहे कहिये कि जनता-मनुष्यता और मानव-जाति आप तक सिमट आई है। जो हो, राजनीति से यह घटना घटित हुआ करती है। और राजनीति कर्म का एक प्रधान और प्रकाण्ड रूपहै। कर्म उठते-उठते अन्त में राजकर्म का रूप लिए बिना चैन पाता नहीं।

उधर दूसरी ओर होना है। इसका आयाम भिन्न है। देश की जगह उसको चाहे तो काल कह दीजिए। इस काल के आयाम में देश-विस्तृत राजनीतिक पुरुष क्षण से अधिक टिकता दिखाई नहीं देता। आज अगर मरता है तो कल के लिए जीने को शेष नहीं बचता। राजनीति स्थान-प्रधान होती है। स्थान खाली रहता नहीं, प्रकृति खालीपन सह नहीं सकती। काम-काज कुरसी खाली कैसे छोड़े! कुरसी खाली पड़ी कि जाने कितने उसके उम्मीदवार मौजूद हैं। असल में वह बाट ही जोहते हैं कि कुरसी कब खाली हो। कायदा यह अब भी एकदम पुराना नहीं हुआ है कि राजी की कुरसी के लिए इन्तजार अच्छा नहीं है, जाने कब अपने आप मरे या उतरे। इसलिए आगे बढ़कर उस कुरसी पर बैठे राजा आदमी को मार देना अनुचित नहीं समझा जाता है। लोक-कल्याण के लिए दावे के साथ

यह किया जाता है और ऐसे जो बना हुआ नया राजा आता है, उसका हृदय से जय-जयकार किया जाता है।

तो काल का आयाम दूसरा है और देश-सफल पुरुष काल-विफल बनते दिखाई देते हैं। यह काल शायद कुछ और माँगता है। करना नहीं, शायद होना माँगता है। क्या तुमने किया यह नहीं, अन्दर से क्या हो यह दिखाओ।

विधाता के दरबार में बहीखाता सँभाले जो धर्मराज मुनीम हैं, जब वह खाता खोलकर चिट्ठा पेश करते हैं कि इस आदमी ने जीवनकाल में यह-वह कार्रवाई की तो विधाता महोदय उस तलपट से अनुमान और निर्णय यह करते हैं कि वह महाशय अपने भीतर क्या थे, और क्या चाहते रहे। उसी हिसाब से फिर आगे के लिए आदेश देते हैं।

करने का मूल्य भाव में है। भाव का मूल्य हेतु में है। काम बढ़ा-चढ़ा हो, लेकिन मान लीजिए भाव उसके पीछे घटिया हो तो उस सारे काम का मूल्य बढ़िया नहीं ठहराया जा सकेगा। और यही हुआ करता है। बड़े दबदबेवाले लोग जिनके आगे उस समय सब झुकते थे, इतिहास में ऋण मूल्यवाले रह जाते हैं।

इसीलिए कर्म-विचार के लिए धर्म-विचार आवश्यक हो जाता है। धर्म का विचार बाहर की ओर के फैलाव को महत्त्व नहीं देता। वह भीतर की ओर जाता है। करने में वह होने को देखता है। सज्जन का स्वल्प कर्म उसके निकट अधिक मूल्य रख सकता है। बृहत् कर्म के पीछे यदि सत् न हो तो वह धर्म-न्याय के लिए उतना ही नगण्य हो जाता है।

तो धर्म की दृष्टि के लिए यह होने-करने की बात बहुत महत्त्व की हो जाती है। अर्थात् धर्म 'किया' नहीं जा सकता। करने की भाषा में उसे दिया या लिया नहीं जा सकता। अन्ततः धर्म के लिए सिवा स्वयं धार्मिक बनने के दूसरा उपाय रह नहीं जाता। इसके अतिरिक्त धर्म के सम्बन्ध में जो प्रचार-प्रभावना है, जो प्रवृत्ति-आंदोलन है, उसका मूल्य सहसा संदिग्ध हो आता है। मूल्य नहीं है, यह कहना गलत होगा। लहरें तो उससे किसी न किसी प्रकार की फैलती ही हैं। किन्तु मूल्य और उपयोग वह स्वार्थिक है या पारमार्थिक है, यह अवश्य शोध का विषय रह जाता है।

यदि होने की भाषा में धर्म के सार को हम देख सकें, तो जान पड़ेगा कि विविध धर्म, अपना अलग मन्दिर, तत्ववाद और आम्नाय रखनेवाले विविध मत, मूलतः एक हो आते हैं। उस 'होने' से युक्त जो 'करना' है वह भी उन धर्मों की एकता को विभक्त नहीं करता। लेकिन उस अन्तरात्मता से जो कर्म विहीन और वियुक्त हो जाता है, वह फिर धर्म में सहायक कैसे हो सकता है?

जून, 1960

राजनीतिक, दार्शनिक, साहित्यिक

दार्शनिक जिन्हें सिद्धान्त कहता है, राजनेता उन्हें वहम देखता है और राजनेता जिसे पद और प्रभुता मानता है दार्शनिक उसे माया का खेल और फरेब देखता है।...यह दोनों क्योंकि नायक पुरुष होते हैं और उनमें अहं का और आग्रह का तेज होता है इसलिए बीच में सेतु बना साहित्यिक दोनों की अवज्ञा के योग्य रह जाता है। उसमें हठ हो तो कैसे हो? इसलिए उसमें तेज की जगह विनय ही हो सकता है और यही उसकी परीक्षा है।

उस दिन नाटक का निमन्त्रण मिला और अनुरोधपूर्वक कहा गया कि देखिए, अवश्य आइए, साढ़े पाँच बजे आ जाइए।

मैंने कहा, खेल तो सवा छः से है।

''जी हाँ, पर नैपथ्य भी देखिएगा। आप लेखक हैं, शायद वह अधिक पसन्द करें।''

स्टेज पर नाटक दीखता है, नैपथ्य में तैयार होता है। स्टेज पर राजा राजा होता है, चाकर चाकर। सब वहाँ अपने-अपने रोल में काम करते हैं। नैपथ्य में रोल होता नहीं, बताया जाता है। वहाँ मैंने यह तमाशा भी देखा कि चाकर राजा को सिखा रहा है कि उसे राजा बनकर क्या और कैसे करना चाहिए!

कल खबर थी कि विज्ञान के उन डॉक्टर महाशय ने आत्महत्या कर ली। आत्महत्या सनसनीखेज चीज है और अखबार के लायक है। वह डॉक्टर पीछे चार खत छोड़ गये—उन खतों से अब उस कृत्य के कारणों की जाँच की जाएगी।

वहाँ गोली चली, इतने हताहत हुए। कारण की खोज के लिए कमीशीन बिठाया गया है।

तो एक तो यह दुनिया है जो रूप में सामने है और दीखती है। इसे क्रिया-जगत या घटना-जगत कह लीजिए। पीछे इसके नैपथ्य जगत है जो दीखता नहीं

है। दीखने के लिए वह है भी नहीं। पर वहाँ से दीखनेवाला सब कुछ बन बनकर आता है। वह कारण जगत।

इन क्रिया-जगत और कारण-जगत दोनों में किसी को प्रधान और गौण कहने का कुछ अर्थ नहीं है। अपनी-अपनी रुचि या संस्कार है। क्रिया और घटना की दुनिया का जीव राजनीतिक है। उसका हाथ खबर की नब्ज पर रहता है और मन इसीलिए अखबार में रहता है। दृश्यरूप उसके लिए गौण नहीं है। खबर में क्या कहाँ दीखता है, यह उसके लिए कम महत्त्व की बात नहीं है। क्या चार कालम शीर्षक में है, क्या दो कालमों में, पहले पृष्ठ पर है, तीसरे या पाँचवें पृष्ठ पर है, यह उसकी चिन्ता के लिए काफी संगत विषय है। कुर्सी उसके ऊपर कितनी हैं, उसके नीचे कितनी हैं, स्थान उसका कहाँ है, दूसरे का कहाँ है—इत्यादि से वह निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसका काम ही वहाँ का है। वह वर्तमान पर है। और जानने से अधिक कर गुजरने में उसकी सफलता है। एक्शन का गुर उसे साधी रखना है। राजनीति तात्कालिक संभावनाओं का खेल है और कुशल के हाथ उसकी बाजी है। यहाँ की चीज सिद्धान्त नहीं है, सफलता है।

इसके विरोध में एक दूसरा प्राणी है। उसको दार्शनिक कहिए। कार्य में उसे रस नहीं, प्रवृत्ति से वह निवृत्ति चाहता है। घटना में वह अनुरक्त नहीं है, उसके पीछे के कारण जगत में वह रस रखना चाहता है। फिर तात्कालिक कारण नहीं, उसके भी भूल कारण में उतरना चाहता है। उसे सबके आदि कारण की खोज है। जानना ही उसके लिए काम हो जाता है। इसके अतिरिक्त जरा भी काम उसे बोझ के मानिन्द होता है। मानो वह साधनापूर्वक निकम्मा बनता है। दुनिया भाग-दौड़ कर रही है, और वह आकाश में या पाताल में देखने में मग्न है। वह सिद्ध-अन्त को चाहता है। दूसरी सफलता उसके लिए कुछ रह नहीं जाती। कोई नई सूझं उसके हाथ आ जाए कि जिससे उस समक्ष जगत-व्यापार की गुत्थी सुलझती दीखे, तो उसी में वह अपनी धन्यता पा लेता है। वह लीजिए, आफ हँस रहे हैं और प्रसन्न हैं! पूछिये कि ऐसा क्या आपको मिल गया है? तो अव्वल तो वह कुछ बता नहीं सकते, बताएँगे बी तो वह कुछ ऐसा सूत्र होगा जिससे खाक-पत्थर समझ न आए। पर उसी को वह मानेंगे सत्य। और अपने इस सत्य के अटपटे सूत्र पर दीखने वाला सारा वास्तव और यथार्थ कुरबान करने को तैयार हो जाएँगे। सुकरात साहब आज मशहूर चाहे कितने ही हों, पर क्या उनके घर-परिवार का, रहने-सहने का ठीक-ठिकाना था? आखिर आप जहर पीकर मर गये। सिर्फ इसलिए कि कुछ शब्द आप में अटक गये थे जिनके आगे जिन्दगी उन्हें ना-चीज बन गई। उन शब्दों के साथ मरना उन्हें पसन्द हुआ, उसके एवज़ में जीने को वह तैयार न हुए।

ऊपर का राजनीतिक भी अपना सत्य रखता है। उस सत्य पर लाखों-करोड़ों को वह युद्ध में झोंक दे या हजारों को पर्ज में साफ कर दे तो उसे यह भारी नहीं होता है। उसे हक होता है कि कहे, उसका सत्य देश-सत्य है, युग-सत्य है, जनसत्य है। कारण, वह राजनेता है। अकेला नहीं है, संगठित वहु-संख्यकता उसके साथ है। यह बहु-संख्यकता का बल अन्तःकरण के बल से स्पष्ट ही अधिक प्रचण्ड होता है। न्याय-संस्था का सैन्य उसके साथ होता है, शस्त्र-सैन्य भी। अन्ततः जनमत को भी उसके साथ होना होता है।

दार्शनिक की बिरादरी की हालत दूसरी है। गणनात्मक बल उसके साथ होता नहीं। न संस्था, न समाज। वह कारण जगत में भटकने को बढञ जाता है, तो मालूम होता है कि वह अकेला पड़ता गया। अन्ततः वह है और साथ उसका अन्तःकरण है। अन्दर की उपलब्धि और प्रसन्नता ही समर्थन के तौर पर उसके पास है, अन्यथा वह एकाकी है। उसका सत्य व्यवहारी होता ही नहीं। वह आदर्श सत्य-सा होता है। जाहिरा वह दूसरों को सनकी के हठ जैसा मालूम होता है। मगर जान की उसमें उसमें बसती है तो क्या किया जाए। आखिर लाचार दुनिया को उसे सहीद बनाना पड़ जाता है। कम्बख्त इसके लिए वह खुशी से तैयार भी हो जाता है। मानो बचना ही नहीं चाहता।

मुझे लगता है कि यह दोनों आदमी दो सिरे हैं। दोनों में कुछ तो कि आग्रह हो। एक सत्याग्रह में मर जाता है, दूसरा मताग्रह में मारता चला जाता है। दुनिया दोनों में ही वीरता देखती है। दोनों की प्रशंसा किये जाती है। चक्रवर्ती सम्राटों के स्तवन होते हैं और गाथाएं गाई जाती हैं। सन्तों, द्रष्टाओं के भी पन्थ चलते हैं और विश्वासी बनते हैं। दोनों ही मानव-जाति के नायक पुरुष गिने जाते हैं।

पर इन दोनों में आपस में सही समझ नहीं हो पाती। रोमन सरदार कैसे समझें कि ईसा क्यों चाव से मर रहा है। न ईसा के ही यह समझने की बात है कि रोम के सरदार लोग आखिर अपने उन्मतत्त आमोद-प्रमोद में रस क्या पाते हैं। दार्शनिक जिन्हें सिद्धान्त कहता है, राजनेता उनमें वहम देखता है। और राजनेता जिसे पद और प्रभुता मानता है, दार्शनिक उसे माय का खेल और फरेब देखता है। यह दो बहुत निकट भी हो सकते हैं, परस्पर प्रिय भी हो सकते हैं। लेकिन बीच में एक बड़ी खाई रहती ही है। गाँधी की बात छोड़िये, उसकी तो कोटि ही अलग है। उसका कभछी फिर विचार करेंगे। लेकिन गाँधी के विनोबा हैं कि पाँव-पाँव चलेंगे, और गाँधी के ही नेहरू हैं कि समझ न पाएँगे कि प्लेन से उड़कर वक्त को फिजूल जाया जाने से क्यों न बचाया जाए। एक राज्य से मुँह मोड़ेगा, दूसरा राज्य को कन्धे पर लिए चलेगा। बहुत पास हैं, लेकिन फिर भी भीतर यह दोनों प्राणी परस्पर बहुत दूर हैं।

यह तो हुए राजनीतिक और दार्शनिक। तीसरा बीच में हो सकता है साहित्यिक। उस बेचारे का दुर्भाग्य यह है कि वह न तो कार्य से निरपेक्ष कारण की ओर जा सकता है, न कारण को कार्य की ओट में डालकर उसे अपने से ओझल सह सकता है। उस बेचारे के पैर एक-एक इन दोनों नावों पर रहते हैं और इन दोनों नावों के खेनेवाले परस्पर विपरीत चलना चाहे बिना नहीं रहते। इससे उसके जीवन में फटाव आने का सदा डर रहता है। आदर्श को छोड़ नहीं सकता, न यथार्थ ही छोड़ सकता है। और दोनों को जब एक दूसरे की अपेक्षा में और समन्वय में वह देखना और दिखना चाहता है तो यथार्थ और आदर्श, सिद्धान्त और व्यवहार, एक दूसरे की ओर भृकुटियों को ताने बिना रह नहीं पाते। ऐकांतिक दोनों क्योंकि नायक पुरुष होते हैं और उनमें अहं का और आग्रह का तेज होा है, तब बीच में सेतु बनने वाला यह साहित्यिक दोनों की अवज्ञा के योग्य रह जाता है। उसमें हठ हो तो कैसे हो? इसलिए तेज की जहग उसमें विनय ही हो सकता है। और यही उसकी परीक्षा है।

फरवरी, 1960

व्यक्ति और राष्ट्र

अगर आदमी है और अपने चित्त को लेकर संयुक्त है तो राष्ट्रवाद और उन राष्ट्रों का सीमावाद और अहंवाद भी अन्ततः उसके भविष्य को बिगाड़ नहीं सकेगा। प्रेम है वहाँ भविष्य सुरक्षित है।

मुझे ध्यान था, तो भी दफ्तर पहुँचा तो ढाई बज चुका था। देखता हूँ कि वहाँ इन्तजार में एक विदेशी युवक बैठे हुए हैं। चेहरे मोहरे, वेशबूषा से नहीं मान सका कि वही होंगे। पर दूसरा अनुमान भी न हो सकता था। मैंने कहा—क्या मैं श्री जीन से मिल रहा हूँ।

अभ्यागत खड़े हो आए थे। चेहरे पर सलज्ज विनम्रता थी। सकुचाते हुए कहा—जी, मैं जेम्स जीन हूँ!

''समय क्या आपको तीन बजे नहीं कहा गया था!''

''जी, दो बजे।''

''आपको निश्चय है? शायद मैंने तीन कहलाया था।''

जीन संकुचित हुए, बोले—तो मैं चला जाता हूँ, फिर तीन पर आ जाऊँगा। और वह चलने को हुए।

मैंने कहा—नहीं-नहीं। मेरा आशय यह कि कहीं मैं ही तो लेट नहीं हूँ, बैठिए, बैठिये।

उसके बाद हम लोग बैठ गये और बातचीत हो निकली। मेरे साथ एक महिला आई थीं। सोचता था कि आधेक घंटा उन्हें दिया जा सकेगा। वह इटली देश की थीं, पर वर्षों से पेरिस रहती थी और फ्रेंच ही कहिए। फ्रेंच ही बोलती-लिखती थी। अँग्रेजी समझ लेती थीं और ज्यों त्यों बोलकर अपना काम चलाती थीं। इससे बात में कुछ रस और आनन्द का ही योग हुआ। जीन भोजन करके आये थे, लेकिन मार्गरीटा ने अभी लंच लिया न था। मैंने कहा—''बात का रस छोड़र अभी होटल जाना तो शायद चाहती न होगी। यहाँ का देशी खाना चल

सकेगा?''

''नहीं, नहीं बहुत हाट (चरपरा) होता है।''

''बहुत नहीं, कुछ कम सम्भाल सकोगी?''

''ओ नहीं, नहीं। पर आप चिन्ता न करें।''

इतने लंच का बन्दोबस्त हो कि बात हमारी फलफूल उठी। जीन साहित्य से और कविता से और कवियों से भरे थे। बीच-बीच में मार्गरीटा को भी कुछ कहने का हो आता। पर वह मुश्किल से दो मिनट में दो वाक्य बनाकर कह पाती। साथ उसे अपने हाथों को, ऊँगलियों को, चेहरे को, भवों को, नाना भंगिमाओं में चलाना होता था कि वाक्य कुछ आशय दे सके।

''वह...वो...वो...क्या? इस्तील...वह...स्तील...''

और मार्गरीटा ने ऊँगलियों को हवा में चलाकर मुँह को सिकोड़कर फिर उसे फैलाकर नाना प्रकार से समझना चाहा कि याने क्या? पर हमें पकड़ न आ रहा था। बातचीत के प्रवाह में मार्गरीटा के इस स्टील पर हम दो तीन मिनट अटके रह गये। साहित्य रस में यह स्टील का रोड़ा क्यों आ गया कुछ समझ ही न आया। जीन और मैं अथक उस स्टील से जूझ रहे थे। उधर मार्गरीता भी अपने पूरे शरीर के बल से स्टील को हमें समझा देना चाह रही थीं। शायद पाँच मिनट तक हमारे बीच स्टील के सिवा कुछ न रह गया! बड़े लीन वे क्षण थे। हम तीनों ही हँस रहे थे और स्टील को लेकर व्यग्र भी हो रहे थे।

मार्गरीटा ने अपनी दाहिनी हाथ की उँगलियों को मिलाकर कमलकली की तरह आकाश में उठाते और सहसा उसे प्रस्फुटित करते हुए कहा—'द स्तील इस द मैन।'

आदमी फौलाद है, यह मानने में कोई बहुत बड़ी बाधा तो हमें न थी। लेकिन इस समय इस मार्गरीता के चित्त में फौलादी आदमी है, ऐसा किसी तरह संगत न जान पड़ा।

कि सहसा मुझ में प्रकाश कौंधा। मैं बोला—''ओ स्टाइल तो कहीं नहीं?''

''इस, इस, स्तीइल, इस्ताईल, स्टाइल।''

और हम तीनों बहुत हँसे, बहुत ही हँसे।

इस तरह खाना निबटा और मार्गरीता फिर चली गई। जीन पास रह गये।

हमारे मन में एक प्रतिनिधि चित्र बना रहता है। जैसे यह कि अमरीकन अक्सर पैसा प्रतिष्ठ-व्यक्ति होता है। बहुधा हम आदमियों से नहीं मिलते, नेशनल्स (देशवासियों) से मिला करते हैं। जड़ मुसीबत की यहीं है। ऐसे जहाँ एकता है, अर्थात् मानवता, वह स्तर हाथ नहीं आता। आसपास राष्ट्र रह जाता है। यानी जैनेन्द्र और जीन नहीं मिलते, भारतीय और अमरीकन मिलते हैं। यों

मानव गौण और राष्ट्र प्रधान आ बनता है। राजनीति और राजनेता की प्रधानता से यही अनिष्ठ घटित हो रहा है। उस कारण मानवता का आविष्कार ही नहीं हो पाता, राष्ट्र-भ्रान्तियाँ परस्पर उपलब्धि में आड़े आती हैं।

जीन शाम तक मेरे साथ रहा। [एक बचन इसलिए खिल रहा हूँ कि उसका आयु मुझसे कहीं कम लगभग तीस वर्ष थी] मुझे नहीं अनुभव हुआ कि यह व्यक्ति स्वदेशी अथवा विदेशी हो सकता है। वह इतना खुला और स्वयं था। सचमुच मुझे विस्मय हुआ कि कोई व्यक्ति इतना हरा भी हो सकता है। अमरीका को हम दौलत का देश मानते हैं। पर वह भी मानव प्राणियों का देश है, जैसे कि और सब देश हैं। जीन को जानकर मुझे स्पष्ट हो गया कि अगर कभी दुनिया एक होगी तो वह संयुक्त राष्ट्र के भवन या जतन में से उतनी नहीं होगी जितनी मानव व्यक्तियों के परस्पर खुले चित्त के व्यवहार से होगी। व्यक्ति आएँ-जाएँगे, वैसे ही जैसे कि हवा। बीच में संशय होगा नहीं और मन को खोजता हुआ मन अनायास ढुलकर उसमें आ मिलेगा। तब मालूम होगा कि जो अन्तराय थे वे ही उपाय बन गये हैं और बीच में पड़े हुए भाषा-भूषा और वर्ण के भेद उलटे परस्पर में उत्सकुता, नवीनता और जिज्ञासा का रस पैदा कर रहे हैं।

मार्गरीता को ही लें। वह कोई चौतीस-पैंतीस वर्ष की महिला होगी। सुन्दरता की दृष्टि से निश्चय ही इटली फ्रांस से बढ़कर है। आकृति से वह कोमल थी और उँगलियाँ बारीक थीं। उन उँगलियों की मदद से समझाते हुए उसने कहा—
—देट...किचन...किचिन यु नो।'

किचन हम जानते थे रसोई को कहते हैं। लेकिन वहाँ रसोई से क्या वास्ता था। हम इसलिए समझने की कोशिश में उसे देखते रह गये। जीन की आँखों में मार्गरीता के प्रति रस भर आया था और वह उत्साह से अपनी कविता और चित्रकला की बात कहता जा रहा था।

पूछा, ''किचिन! किचिन व्हाट?''

मार्गरीता ने वही हाथों से कोमलता के भाव को मूर्त करते हुए कहा—
''देट स्माल किचिन, यु नो, टेन्डर, स्माल...।'

तब मालूम हुआ कि किचिन तो चिकिन है और हम बेतहाशा हँसे!

आप चाहे मानिये कि हमारे मिलन में इटली, अमेरिका और भारत के ये तीन देश मिल गये। लेकिन वह हँसी, मुक्त और उल्लासमय, इन तीनों अथवा अनेक देशों के मिलन से कहीं पवित्र और ऊँची बस्ती थी। चित्त का मेल राष्ट्र की संधियों से कहीं अधिक सारवन्त और सफल तथ्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

मैंने पूछा—जीन तुम आये कैसे?

"यों ही घूमने।"

"पैसा बहुत है?"

"पैसा!" और वह हँसा। "वह है ही कहाँ?"

"फिर?"

"ऊपर से छीका जो टूट गया! पैसा ऐसे सिर पर आ गिरा तो मैं क्या करता? सोचा, घूमूँगा और सबसे मिलूँगा।"

"छीका ऐसा क्या टूटा भाई?"

"अरे पिता मर गये और एक मकान छोड़ गये। मुझे उसमें रहना कब था। बेचबाच कर अलग किया और चला आया। अब सालभर सिर्फ घूमूँगा।"

"फिर?"

"फिर क्या?"

"लौटकर क्या करोगे? लिखकर कमाओगे? ऐसे हो जाती है कमाई?"

"नहीं होती, बिल्कुल नहीं होती। पर चित्रकारी से तो भी लिखना अच्छा है। लिखूँगा और ऊपर से कोई काम ले लूँगा।"

"बस, इतनी ही अभिलाषा है?"

"अभिलाषा नहीं...मिसटिक लोग मुझे प्रिय लगते हैं जो बस निष्काम होते हैं।"

तो बातें हुईं, इधर की औरक उधर की। वह पैदल चलता था। सस्ती से सस्ती सवारी में बैठता था। बम्बई भेंडी बाजार में रह चुका था। कहता था, वहाँ कोई मेरी अँग्रेजी नहीं जानता था, मैं हिन्दी नहीं जानता था। लेकिन दिक्कत कोई नहीं हुई। भाषा बीच में समान न होने से ज़िन्दगी मज़ेदार और आसान होने में बल्कि और सहायता हुई।

सभी बातें हुईं। प्रेम की, पैसे की, काम की। हरियालापन इन तीस वर्षों में उसमें तनिक न सूखा था। और वह मेरे पास से गया तो ऐसे सरक कर गया कि जैसे सब कहीं उसे ठौर हो और हर कोई उसे अपना हो।

और जाने पर मुझे लगा कि अगर आदमी है और अपने चित्त को लेकर युक्त है तो राष्ट्रवाद और उन राष्ट्रों का सीमावाद और अहंवाद भी अन्ततः उसके भविष्य को बिगाड़ नहीं सकेगा। प्रेम है वहाँ भविष्य सुरक्षित है।

जून, 1960

ऐतिहासिक और अनैतिहासिक

भारतीय चिन्तन ने उस दृष्टि को महत्त्व नहीं दिया। दृष्टि उसकी एहिक की जगह नैतिक रही। काल की गिनती ने उसे विशेष नहीं अटकाया। उसका ध्यान उस मूल नीति, अर्थात् धर्मनीति की खोज में रहा जिसमें से घटनाओं की सृष्टि और उनका समाहार है।

अभी एक विद्वान बन्धु इतिहास का महत्त्व बतला रहे थे। उस सिलसिले में कुछ दिन पहले पढ़ी एक खबर की सहसा ही मुझे याद आ गई है। खबर शायद लाहौर की थी। लिखा था कि इतिहास की अमुक पाठ्यपुस्तक बदली जाएगी। कारण, उसमें बताये गये भारत के इतिहास में गाँधी और नेहरू को जिन्ना साहब से अधिक स्थान मिला था।

उससे पहले ऐसी ही खबर रूस से मिली थी। तब तक वहाँ का इतिहास स्टालिन से भरपूर था। उसके बाद शायद वह उस इतिहास में छोटी काली बिन्दी के मानिन्द बन रहनेवाले थे। सुनते हैं, हर कुछ वर्ष बाद वहाँ इतिहास की नई मरम्मत हुआ करती है।

तो इतिहास का यह हाल है।

आरोप है कि भारत इतिहास को नहीं जानता था। यह तो अब सभ्यता ने पश्चिम की ओर से आकर उसे इतिहास का महत्त्व सिखाया है। क्या था पहले? पुराण थे, किंवदन्तियाँ और कथानियाँ थीं। उसमें से यथार्थ को ढूँढ़ा नहीं जा सकता था। तथ्य के साथ कल्पना ऐसी मिला डाली गई थी कि वह सब कुछ एक भाव-पिण्ड के मानिन्द हो जाता था। इति वृत्त की कोई क्रम श्रृंखला ही नहीं मिल पाती थी। इस तरह उसके पास विधानपुष्ट कोई राष्ट्रीयता भी न थी। भावना की कुहेलिका में रहनेवाला यह तो देश था। इसी से पराधीन बनता चला गया। स्वाधीनता की देन उनके भाग्य में नई है और पश्चिम की उदारता में से वह प्राप्त हुई है।

और इस आरोप के समर्थन में कही-जानेवाली ऐतिहासिक-दृष्टि को बढ़-चढ़कर-महत्त्व दिया जाता है। मानो सब ज्ञान का समर्थन इतिहास में हो। दलील इतिहास में खोजी जाती है और हर नवीनता के लिए पुष्ट इतिहास से निकालकर दी जाती है। जैसे इतिहास में सबका कारण है और कार्य का निश्चय वहीं से होगा। इस कारणकार्य के आधार पर बननेवाली नीति को परिपुष्ट नीति कहा जाएगा। यही है ऐतिहासिक नीति।

लेकिन हमने देखा कि पिछली बीती को इतिहास का स्वरूप हम यहाँ वर्त्तमान में बैठकर योजनानुसार दिया करते हैं। इतिहास को गढ़ा जाता है। अमुक आशय उसमें पहले डाला जाता और फिर वहाँ से निकाला जाता है। आगे हम क्या चाहते हैं, इस इच्छा के अनुरूप पीछे अब तक क्या होता रहा है इसको जमा-बिठाकर पेश किया जाता है। इतिहास घटनाओं का क्रममात्र नहीं है। उन घटनाओं को अपनी ओर से देकर जिस अर्थ की लड़ी में पिरोया जाता है, वह इतिहास है। उसमें से फिर एक ऐहिक दर्शन और कार्यक्रम निकल आता है।

बेशक भारतीय चिन्तन ने उस दृष्टि को महत्त्व नहीं दिया। दृष्टि उसकी ऐहिक की जगह नैतिक रही। इस तरह उसके मनन के लिए घटनात्मक इतिवृत्त सामग्री से अधिक नहीं हो सका। कालानुक्रम ने उसे विशेष नहीं अटकाया। उसका ध्यान उस मूल नीति अर्थात् धर्मनीति की खोज में रहा जिसमें से घटनाओं की सृष्टि है और उनका समाहार है।

इस अनैतिकहासिक दृष्टि का परिणाम भारत के हित में अशुभ नहीं हुआ। घटनाएँ बड़ी बनकर उसके मन पर नहीं बैठ सकीं। घटनाओं की भूमिका पर उठने और गिरनेवाले छत्रपति और सम्राट उसकी याद को छा नहीं सके। उनके घटाटोप का आतंक भारतीय हृदय को आकुल नहीं कर सका। इतिवृत्त की दृष्टि से नगण्य माने जा सकनेवाले सत्पुरुष भी इस कारण उसके अन्तःकरण में गहरे उतर सके। भारतीय चेतना नैतिक मूल्यों से प्रभावित और गठित रहती चली गयी है। यह नहीं कि उसके लौकिक जीवन में विग्रह और युद्ध के दृश्य उपस्थित नहीं हुए। वह सब यहाँ भी होता रहा, लेकिन इस सब कलह कोलाहल से उसकी अन्तश्चेतना क्षुब्ध नहीं हो पाई। उसकी निष्ठा अक्षुण्ण रही। और देश यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बराबर कटाफटा रहा, पर उसके नीचे देश की सांस्कृतिक सत्ता संयुक्त और समन्वित रही चली गई।

इसके दो चमत्कारी परिणाम हुए। भरत-खण्ड अखण्ड और अविच्छिन्न रहा। उसकी संस्कृति की कड़ी बीच से कभी टूटी नहीं। उसकी रचना सम्राट पर और युद्ध पर निर्भर नहीं रही और भारत कभी साम्राज्यवादी नहीं हुआ। कभी कहीं उसने चढ़ाई नहीं की।

दुनिया में आज भारत ही वह देश है जिसके पास संस्कृति की अजस्र परम्परा है। अन्यान्य संस्कृतियाँ चढ़ीं और गिरीं, फिर वह मिट भी गईं। भारत के साथ ऐसा नहीं हुआ।

क्यों? उत्तर एक ही है। वह यह कि जिस दृष्टि और नीति के अधीन भारत का जीवन रहा और पनपा वह अनैतिकहासिक थी, धर्म-नैतिक थी।

यह ऊपरी निगाह से ही त्रुटि मानी जा सकती है। गहराई से देखेंगे तो यह विशेषता विश्व संस्कृति के लिए भारत का मौलिक अवदान सिद्ध होने योग्य है।

भारत के पास रामायण और महाभारत हैं। मानना चाहिए कि यह दोनों ही महाकाव्य इतिहास में कभी हुए दो युद्धों के चारों ओर गूँथे गये हैं। लेकिन यह काव्यग्रन्थ अनायास धर्मग्रन्थ बन गये हैं। क्योंकि ऐतिह्य वहाँ मुख्य नहीं है, वह सर्वथा उपादान बन सका है। वहाँ मनुष्य के साथ देव-दानव, राक्षस, वानर भी मिल गये हैं। इस तरह वे महाकाव्य युग के या युद्ध के चित्र नहीं बल्कि शाश्वत मानसिक अन्तविग्रह के रूपक बन गये हैं। उनसे परिचय से अधिक प्रकाश मिलता है, बोध से अधिक स्फूर्ति प्राप्त होती है। राम और कृष्ण वहाँ सेनानायक नहीं हैं, अवतार हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन, हनुमान, विभीषण आदि भी अपने कारनामों के कारण मन में ज़गह नहीं घेरते हैं; बल्कि अपनी अन्तरंगता के कारण वहाँ गहरे उतरते हैं। उस दृष्टि से भारत ने कुछ खोया नहीं है, पाया ही है। उसको मूर्त्त आदर्श प्राप्त रहे हैं और जनमानस का वे सम्यक नियोजन करते रहे हैं। यहाँ के लोकमानस की प्रेरणा उस कारण धर्म़मूलक बनी रही है और इसी कारण सम्मिलित रूप से किसी प्रचण्ड राष्ट्रीय हुँकार में उसे नियोजित नहीं किया जा सका है।

आज जो दुनिया का कारबार चल रहा है उसमें ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि प्रधान है। उसको बौद्धिक और वैज्ञानिक भी माना जाता है। राजशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र यहाँ तक कि नीतिशास्त्र भी आज का उससे परिभाषा पाता है। विज्ञान ने उस दृष्टि को और पुष्ट कर दिया है। उत्पादन के, आवागमन और यातायात के साधन ऐसे बन गये हैं कि उनके योगपूर्वक इस दृष्टि से चलकर कुछ चतुर और बुद्धिशाली लोग शक्ति और सफलता के शीर्ष पर जा पहुँचते हैं। विज्ञान ने यही सम्भव नहीं कर दिया है कि यहाँ बटन दबाने से वहाँ महा-भीम यन्त्र अपना खेल दिखाने लग जाए, सम्भव यह भी हो गया है कि ऊपर आसन पर बैठे एक आदमी के भँवों में सिकुड़न आने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहसा ही तनाव और संकट पैदा हो जाए।

इतिहास जब स्वयं प्रतिष्ठ बनता है तो उसमें से शक्ति को ही नीति मानना

पड़ता है। यदि शक्ति ही निर्णायक नीति हो तो युद्ध-परीक्षा के सिवाय अन्तिम फैसले के लिए दूसरी कोई कसौटी नहीं रह जाती। और वही हो रहा है। अणुशास्त्र उसी होड़ के परिणाम और प्रमाण हैं। लेकिन यह भी पता चल गया है कि शक्ति द्वारा निर्णय की कसौटी कभी खरी साबित नहीं हो पाई। अब तो वह साफ ही झूठी हो गई है। क्योंकि अणु-स्फोट के युद्ध में जीत या हार का कोई पक्ष रहनेवाला नहीं है, सबका सफाया हो जानेवाला है।

ठीक इस जगह ऐतिहासिक और राजनैतिक से कोई ऊँची दृष्टि चाहिए जो काम दे सके। मेरी नम्र पर दृढ़ मान्यता है कि भारत की परम्परा में जिस दृष्टि का व्यापक सामाजिक प्रयोग हुआ है, उसमें वह सम्भावना हैं। वह अनैतिहासिक है, नैतिक है। कोरी भावात्मक रहकर यदि वह किसी ओर से निर्बल दीखती भी हो तो आवश्यक बौद्धिकता और वैज्ञानिकता डालकर इसे युगानुकूल बनाया जा सकता है। पर इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि तथा मान्य ऐतिहासिक दृष्टि से भारतमान्य अनैतिहासिक धार्मिक दृष्टि कहीं निरापद है।*

मार्च, 1960

□□□

---

* भारतमान्य से आशय आज की काँग्रेस और सरकार द्वारा मान्य दृष्टि का न लिया जाए।

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार
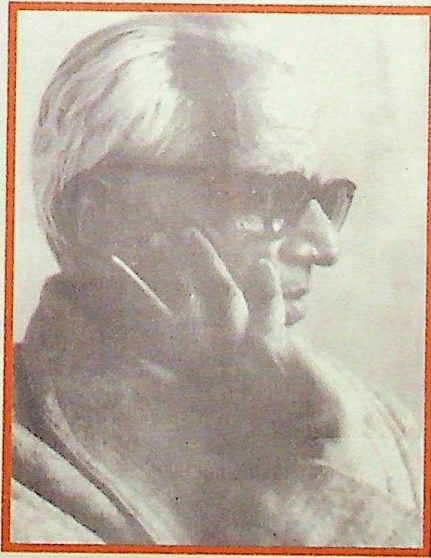
भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन